सत्यं

शिवं

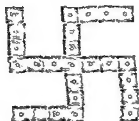
सुन्दरम्

प्रथम भाग

जनवरी सन् १९५९ में
राजस्थान विश्वविद्यालय में
पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत
शोध-प्रबन्ध का प्रथम भाग

सत्यं शिवं सुन्दरम्

[साहित्य का सांस्कृतिक विवेचन]



लेखक—

डा० रामानन्द तिवारी "भारतीनन्दन"

एम० ए०; डी० फिल्०; पी-एच० डी०; दर्शन-शास्त्री

महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर (राजस्थान)।

प्रकाशिका—
श्रीमती शकुन्तला रानी, एम० ए०
संचालिका "भारती-मन्दिर"
गोविन्द भवन, चौबुर्जा
भरतपुर (राजस्थान)।

मकर संक्रान्ति सम्वत् २०१६ विक्रमी
१४ जनवरी, १९६३ को
प्रथम बार प्रकाशित।

श्री रमेशचन्द्र शर्मा द्वारा
शर्मा ब्रॉदर्स इलैक्ट्रोमेटिक प्रेस, अलवर (राजस्थान) में मुद्रित।

समर्पण

सहधर्मिणी श्रीमती शकुन्तला रानी को
जिन्होंने मेरे एकाकी जीवन में प्रवेश कर
समात्मभाव के रहस्य को
मेरी अन्तरात्मा में प्रकाशित किया
तथा
चिरंजीव विनोद, प्रमोद और अर्चना को
जिन्होंने सत्यं-शिव-सुन्दरम् को
हमारे जीवन में साकार बनाया।



निवेदन

'सत्य शिव सुन्दरम्' आधुनिक युग मे साहित्य और सस्कृति का गायत्री-मन्त्र बन गया है। गायत्री मन्त्र की भाँति ही आध्यात्मिक साधना से लेकर सामाजिक अनीतियो के भूत प्रेत आदि की बाधाओ के निवारण तक के लिए इसका उच्चारण और उपयोग होता है। गायत्री-मन्त्र के समान ही यह सरल किन्तु गम्भीर अर्थ से परिपूर्ण है। अधिकाश जन जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक किन्तु बिना अर्थ के समझे हुए गायत्री मन्त्र का पाठ करते हैं, उसी प्रकार 'सत्य-शिव सुन्दरम्' की भी अनेक प्रसगो मे दुहाई दी जाती है। भू, भुव और स्व की तीन व्याहृतियो से युक्त गायत्री का त्रिपाद मन्त्र जीवन के त्रिकाल मगल का सूत्र है, इसीलिए धर्म और साधना की परम्परा मे उसके विस्तृत भाष्य हुए। 'सत्य शिव-सुन्दरम्' का त्रिपद सूत्र भी मानवीय सस्कृति की कल्पना का व्यापक और गम्भीर मन्त्र है। उसमे जीवन के समस्त मूल्यो का समाहार है। अत जहाँ एक ओर मानवीय सस्कृति की पूर्ण कल्पना को स्पष्ट आकार देने के लिए 'सत्य-शिव-सुन्दरम्' के लघु सूत्र का विशद और विशाल व्याख्यान अपेक्षित है, वहाँ दूसरी ओर अध्ययन और अधिगम की विस्तृत अपेक्षाओ के कारण यह व्याख्यान अत्यन्त कठिन है।

'सत्य शिव-सुन्दरम्' को विषय बनाकर यह रचनात्मक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने मे मैने इस कठिन कर्म का उत्तरदायित्व केवल उसी रूप मे लिया है, जिस रूप मे बालक चन्द्रमा को प्रकाशित देखकर उसे ग्रहण करने अथवा उसके पास जाने की कामना करता है। अल्पज्ञान और अल्पक्षमता की स्थिति मे कल्पना के मनोरथ पर ही चन्द्रलोक की यात्रा सम्भव है। विज्ञान और अनुसधान के द्वारा बालचन्द्रो का निर्माण करके सस्कृति के इस चन्द्र-लोक की यात्रा को सत्य, शिव और सुन्दर बनाने का कठिन कर्म तो साहित्य और दर्शन की समर्थ प्रतिभायें ही कर सकेंगी। मेरा यह बाल-कौतूहल मेरी अल्प योग्यता और क्षमता की महत्वाकाक्षा नही है। वह केवल साहित्य और सस्कृति के प्रति मेरे आन्तरिक अनुराग की सहज अभिव्यक्ति है। साहित्य और सस्कृति के महान मन्दिरो के अधिकारी और अनुरागी मेरे इस प्रयास को देवता की देहली पर पत्र पुष्प के समान दिव्य विभूति के प्रसाद का पुण्य

प्राप्त करने का अवसर द, यही मेरा विनम्र निवेदन है। एक साधारण भारतीय अध्यापक की साधना और सुविधाओ से विहीन परिस्थिति मे कुछ साहित्यिक कार्य को सम्भव बनाने के लिए ही राजस्थान विश्वविद्यालय की एक उपाधि को निमित्त बनाकर यह लघु कार्य सम्पन्न हो सका है। अध्ययन की अपूर्णता, विचार की कठिनता, पुस्तको की दुर्लभता तथा परिस्थितियो की अन्य सीमाओ और बाधाओ के कारण यह कार्य सन्तोषजनक नही हो सका है, यह कहना अनावश्यक जान पडता है, किन्तु साहित्य और सस्कृति के अधिकारियो के प्रति क्षमा-याचना के रूप मे एक अकिंचन अध्यवसायी के लिए इसका पूर्व कथन उचित ही है।

विश्वविद्यालय के नियमो के अनुसार इस शोध प्रबन्ध के मौलिक पक्ष का निर्देश करना आवश्यक है। विषय की मौलिकता उसके नाम से स्पष्ट है। साहित्यिक व्यवहार मे बहु प्रचलित होते हुए भी हिन्दी मे सत्य शिव सुन्दरम् के सास्कृतिक सूत्र की साहित्य के प्रसग मे कोई विशद व्याख्या उपलब्ध नही है। आलोचना के प्रसग मे इसका इतना प्रचलन होते हुए भी हिन्दी के विद्वानो ने साहित्य के प्रसग मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के विवेचन की ओर यथेष्ट ध्यान क्यो नही दिया यह आश्चर्य की बात है। शिव पार्वती के महिमामय चरित की ओर भी हिन्दी के प्राचीन अथवा अर्वाचीन किन्ही कवियो ने ध्यान नही दिया, यह भी मेरे लिए एक आश्चर्य रहा है। शिव पार्वती के महिमामय चरित को आधार बनाकर एक महाकाव्य की रचना से मुझे (अपने मत मे, क्योकि हिन्दी के किसी भी अधिकारी आलोचक ने 'पार्वती' महाकाव्य के प्रकाशन के इन सात वर्षो मे इस सरल सत्य को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करने की उदारता नही दिखाई है) मौलिकता का जो श्रेय मिला है, उससे मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। सत्य शिव सुन्दरम् के सास्कृतिक विवेचन की मौलिकता पार्वती' प्रणयन के उस मौलिक पुण्य का ही फल है। मेरा विश्वास है कि विषय और विवेचन दोनो ही दृष्टियो से मेरा यह प्रबन्ध बहुत कुछ मौलिकता का अधिकारी है।

इस प्रबन्ध के विषय और क्षेत्र के निर्देश की दृष्टि से यह कहना उचित होगा कि इस प्रबन्ध मे सत्य, शिव और सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो के प्रकाश मे कला और काव्य का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। विषय की मौलिकता के साथ साथ इस विवेचन मे कुछ सिद्धान्तो की भी मौलिकता है। सस्कृति, कला और काव्य के

सम्बन्ध मे कुछ मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना का दम्भ एक अकिंचन अध्यापक के लिए उपहास का ही कारण बन सकता है। आधुनिक भारतीय मनीषा के मत मे मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना का अधिकार प्राचीन भारतीय आचार्यो अथवा अर्वाचीन पश्चिमी विद्वानो को ही है। आधुनिक भारतीय प्रतिभा इन दोनो के सिद्धान्तो के विवेचन, व्याख्यान और अध्यापन मे ही अपने को कृतार्थ मानती है। ऐसी स्थिति मे सस्कृति, कला और काव्य के सम्बन्ध मे नवीन सिद्धान्तो की स्थापना का दम्भ एक अकिंचन अध्यापक के लिए अक्षम्य दु साहस ही होगा। फिर भी साहित्य के विद्वानो से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे मेरे दु साहस को क्षमा करते हुए इन सिद्धान्तो का उदारता पूर्वक परीक्षण करे। मेरा यह विवेचन विशेष रूप से काव्य से सम्बन्ध रखता है, किन्तु इसमे काव्य का विवेचन सस्कृति और कला की भूमिका मे किया गया है। इस विवेचन मे सस्कृति और कला के सम्बन्ध मे भी कुछ नवीन सिद्धान्तो की स्थापना की गई है, जो भारतीय प्रतिभा के लिए कुछ असाधारण है। भारतीय परम्परा मे सस्कृति और कला का साक्षात् रूप विपुलता से मिलता है, किन्तु सस्कृति और कला के सिद्धान्तो का विवेचन अथवा उनकी परिभाषाओ का प्रयास बहुत कम दिखाई देता है। काव्य-शास्त्रो मे काव्य के स्वरूप का जैसा विवेचन मिलता है वैसा सस्कृति और कला के स्वरूप का नही मिलता। यद्यपि 'काव्य' कला का एक प्रकार है और 'कला' सस्कृति का एक अङ्ग है, फिर भी भारतीय परम्परा मे (आधुनिक युग मे भी) सस्कृति और कला की भूमिका मे काव्य का विवेचन बहुत कम मिलता है। प्राचीन काव्य-शास्त्र की परम्परा के अनुरूप काव्य का स्वतन्त्र विवेचन ही आधुनिक हिन्दी आलोचना मे अधिक प्रचलित है। पश्चिमी आलोचना मे भी सस्कृति के प्रसग मे कला और काव्य का विवेचन कम मिलता है। 'सौन्दर्य-शास्त्र' के नाम से कला के सौन्दर्य और स्वरूप का निरूपण पश्चिमी परम्परा की एक मौलिक विशेषता है जिसका भारतीय परम्परा मे प्राय अभाव रहा है।

अस्तु, प्रस्तुत प्रबन्ध मे सस्कृति की व्यापक भूमिका मे कला एव काव्य का विवेचन किया गया है। इसमे सत्य, शिव और सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यों के दृष्टि-कोण से कला, विशेषत काव्य, की मीमासा की गई है। कलाओ से मेरा परिचय अत्यन्त अल्प और साधारण है, अत मैने केवल विवेचन की भूमिका के रूप मे उनके सामान्य स्वरूप का ही स्पर्श किया है। अधिकाश प्रबन्ध मे काव्य

का विवेचन ही प्रमुख है। काव्य मे भी हिन्दी के कुछ परम्परागत काव्य से ही मेरा सामान्य परिचय है। अत जिन काव्यो से मेरा थोडा सा परिचय है उनका ही प्रसगत उल्लेख कर मैंने अपने विवेचन को उदाहरणो से स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है। 'नयी कविता' के नाम से प्रसिद्ध हिन्दी के नवीनतम काव्य के स्वरूप और सौन्दर्य की पर्याप्त अवगति मैं अभी तक प्राप्त नही कर सका हूँ। अत उसका प्रासगिक उल्लेख भी इस प्रबन्ध मे न मिल सकेगा। इस प्रबन्ध की रचना पूर्णत सन् १९५७ के भीतर हुई थी। अत इन पाँच वर्षो मे प्रकाशित काव्यो का उल्लेख भी इस विवेचन मे नही है। इस निवेदन मे एक परिशिष्ट के रूप मे मैं यह उल्लेख कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि तत्व और रूप के एक सम्पन्न और सफल समन्वय की दृष्टि से कविवर दिनकर द्वारा रचित 'उर्वशी' आधुनिक हिन्दी काव्य मे 'कामायनी' के बाद दूसरी महत्वपूर्ण रचना है। वर्तमान रूप मे इस प्रबन्ध को प्रधानत सस्कृति और कला की भूमिका मे तथा सत्य, शिव और सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो के प्रसग मे परम्परागत हिन्दी काव्य का विवेचन ही समझना चाहिए। वस्तुत परम्परागत हिन्दी काव्य का विवेचन भी इसमे अधिक नही है। सिद्धान्तो के विवेचन के प्रसग मे केवल सैद्धान्तिक अभिमतो को स्पष्ट करने के लिए कुछ काव्यो अथवा स्थलो का सकेत भर कर दिया गया है। वर्तमान रूप मे इस प्रबन्ध मे सस्कृति, कला और काव्य के सिद्धान्तो का सामान्य विवेचन ही अधिक है। इस रूप मे भी मेरे उद्देश्य और ज्ञान की सीमा के कारण इसमें काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन की प्रधानता है। यदि जीवन मे अवसर मिल सका तो भविष्य मे इस विवेचन को सस्कृति, कला और काव्य तीनों की दृष्टि से अधिक परिपूर्ण बनाने की अभिलाषा अभी मेरे मन मे है। मेरी यह अभिलाषा वर्तमान अथवा भविष्य मे भी अपूर्ण रहने पर साहित्य के अनुरागी और विद्वान् मेरे इस अपूर्ण प्रयास को ही एक अकिंचन अध्यापक की अल्प साधना का पर्याप्त फल मानकर इसे क्षमा और उदारता की दृष्टि से देखेंगे, यही मेरी विनम्र आशा है।

सस्कृति, कला और काव्य के इस सक्षिप्त सैद्धान्तिक विवेचन मे जिन मौलिक सिद्धान्तो की स्थापना की गई है उनका कुछ सकेत कर देना उचित होगा। मूलत इन सिद्धान्तो का सम्बन्ध सस्कृति से है। किन्तु मेरे मत मे कला और काव्य सस्कृति के ही औरस हैं। अत इन सिद्धान्तो का प्रस्तार कला और काव्य के क्षेत्र मे

भी स्वाभाविक रूप से होता है। इनमे सबसे प्रथम और प्रमुख 'समात्मभाव' का सिद्धान्त है, जो मेरे मत मे संस्कृति, कला और काव्य तीनो का सामान्य एवं मौलिक आधार है। भारतीय काव्यशास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र दोनो मे कला और काव्य के सौन्दर्य और आनन्द का विवेचन व्यक्ति को उनका आश्रय मानकर किया गया है। दोनो की ही दृष्टि मे कला और काव्य व्यक्तिगत अध्यवसाय हैं तथा व्यक्ति के आश्रय मे ही उनके सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे मत मे समात्मभाव सास्कृतिक जीवन की मौलिक स्थिति है। समात्मभाव व्यक्तित्व के अनिश्चित बिन्दुओ का आत्मीयता और परस्पर भाव सम्प्रेषण का चिन्मय भाव है। दम्पति और सुहृदो के सम्बन्ध मे यह भाव हमारे व्यवहार मे चरितार्थ होता है। अन्य सामाजिक सम्बन्धो मे भी इसका विस्तार सम्भव है। समात्मभाव वेदान्त के निर्विकल्प कैवल्य तथा मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद दोनो से ही भिन्न हैं। यह वेदान्त की जीवन्मुक्ति के अधिक निकट है, जिसमे कैवल्य और व्यक्तिवाद दोनो का सामजस्य है। कैवल्य अनुभव की एक असाधारण और अनिर्वचनीय स्थिति है। वह समात्मभाव का तात्विक आधार हो सकती है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद भी जीवन और व्यवहार का यथार्थ है। हमारा अनुरोध केवल इतना ही है कि व्यक्ति के एकान्त की स्थिति मे कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द का उदय नही होता। व्यक्तित्वो की अनेकता मे समात्मभाव उत्पन्न होने पर ही सौन्दर्य और आनन्द का स्फोट होता है। यदि वेदान्त के अनन्त ब्रह्म को इस आनन्द का मूल स्रोत माना जाय तो हमे कोई आपत्ति नही है। भेद और अभेद की कठिनाइयाँ हमारी दृष्टि मे बुद्धि की समस्याये हैं। वास्तविक जीवन मे भेद और अभेद दोनो का सहज सामजस्य है। जहाँ इसमे विषमता है, वहाँ सौन्दर्य और आनन्द का उदय सम्भव नही है। समात्मभाव की स्थिति मे अभेद का अनुभव सौन्दर्य और आनन्द को सम्भव बनाता है तथा भेद की यथार्थता उसे समृद्ध बनाती है।

यह समात्मभाव जीवन की कोई असाधारण स्थिति नही है। इसकी पूर्णता चाहे दुर्लभ हो किन्तु इसका आंशिक भाव जीवन मे अत्यन्त साधारण और सुलभ है। इस अंश के अनुरूप ही जीवन का सौन्दर्य और आनन्द होता है। इस दृष्टि से कला और काव्य जीवन की असाधारण स्थितियो की अभिव्यक्ति नही है, जैसा कि प्रायः माना जाता है। क्रोचे ने कला को आदिम वृत्ति के रूप मे साधारण बताया, किन्तु दूसरी ओर एक असाधारण और आत्मगत अनुभूति मे उसकी पूर्णता

मानकर उसे असाधारण और व्यक्तिगत बना दिया। क्रोचे की कलात्मक अनुभूति व्यक्तिगत और निर्विकल्प है। व्याघात के अतिरिक्त इस मत के अनुसार जगत के बाह्य पदार्थ और कला की बाह्य अभिव्यक्तियों का कोई महत्व नहीं है। हमारे मत में समात्मभाव जीवन की एक साधारण स्थिति ही नहीं है वरन् बाह्य माध्यमों में अभिव्यक्ति के साथ पूर्णत संगत है। संगत ही नहीं ये निमित्त और माध्यम उसे अधिक सम्पन्न बनाते हैं तथा इन्हीं के द्वारा जीवन और कला का सौन्दर्य व्यवहार में साकार होता है। कलाकृतियों का महत्व प्रमाणित करने के साथ साथ समात्मभाव का सिद्धान्त काव्यशास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं का अधिक संगत समाधान प्रस्तुत करता है। भारतीय लोक संस्कृति की व्यवस्था में कलात्मक सौन्दर्य के साथ जीवन का जो समीकरण मिलता है, वह समात्मभाव के ही अनुरूप है। असाधारण प्रतिभाओं की कलाकृतियां लोक संस्कृति के सौन्दर्य सागर में समात्मभाव की पूर्णिमा में उठने वाले आनन्द के ज्वार हैं।

चेतनाओं के सामंजस्य और परस्पर सम्प्रेषण के जिस भाव का हमने कला और काव्य का मूल स्रोत माना है, उसे अनुभूति समानुभूति आदि के प्रसिद्ध सिद्धान्तों से भेद करने के लिए हमने समात्मभाव की सम्भूति कहा है। यह समात्मभाव जीवन का एक व्यापक भाव है। यह सौन्दर्य का आदि स्रोत ही नहीं शिवम् का भी मूल है और इसे हम जीवन का सांस्कृतिक सत्य भी कह सकते हैं। सत्य के इस व्यापक रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। किन्तु व्यवहार और साहित्य में हम इन्हें पृथक भी मानते हैं। ऐसी स्थिति में इनके विविक्त रूपों का निरूपण अपेक्षित है। बाह्य सत्ता, प्राकृतिक नियमों और बौद्धिक सिद्धान्तों के अर्थ में 'सत्य' एक स्वतन्त्र और उदासीन तत्व है। सत्य की अवगति चेतना में उसका उदासीन ग्रहण है। यह उदासीन सत्य दर्शन और विज्ञान का तटस्थ दृष्टिकोण है। वस्तुगत सत्यों के अनुसंधान में यह उदासीनता सम्भव है और वांछनीय भी है। किन्तु जीवन के तत्वों के अनुसंधान में अवगति का आलोक अभिव्यक्ति का आह्लाद बन जाता है। हम अपनी भाव सम्पत्ति में भाग लेने के लिए दूसरों को आमन्त्रित करते हैं। इसी आमन्त्रण में सौन्दर्य का उदय होता है। सौन्दर्य व्यक्ति की एकान्त अनुभूति में उदय नहीं होता। एकान्त में भी हम वस्तुओं जीवों और अनुपस्थित व्यक्तियों के साथ कल्पना द्वारा बन्धुभाव की स्थापना करते हैं। काव्य में यह भावना ओत प्रोत है। इस समात्मभाव में ही जीवन की

आकृतियों की व्यंजना होती है जिसे सामान्यतः अभिव्यक्ति कह सकते हैं। विज्ञान और दर्शन में अवगति या अर्थ-तत्व अभिव्यक्ति के समान होता है। अर्थ और अभिप्राय की समभेयता अभिधा का क्षेत्र है। आकृति अर्थ का अनिर्वचनीय अतिशय है, जिसकी अभिव्यक्ति समात्मभाव की स्थिति में होती है। समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना कला और काव्य व सौन्दर्य का मूल स्रोत है।

सौन्दर्य शास्त्र के कुछ पश्चिमी आचार्यों ने सौन्दर्य को अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति का रूप मानकर तत्व से निरपेक्ष माना है। उनके मत में शिव और अशिव का भेद सौन्दर्य के प्रसंग में असंगत है। किन्तु जिस प्रकार अधिकांश काव्य की स्थिति एकान्त व्यक्ति की सौन्दर्य भावना का खण्डन करती है, उसी प्रकार अधिकांश काव्य इस बात का भी खण्डन करता है कि सौन्दर्य श्रेय से निरपेक्ष है। रूपात्मक अभिव्यक्ति भी समात्मभाव में ही सार्थक होती है। इस समात्म-भाव में ही शिव का भी बीज है। अतः हमारे मत में सुन्दरम् और शिवम् अभिन्न हैं। शिव की अभिन्न शक्ति सुन्दरी है और शिव सुन्दर हैं। जब हम अपनी भाव सम्पत्ति में भाग लेने के लिए दूसरों का आमंत्रण करते हैं, तो समात्मभाव की स्थिति में आकृति की व्यंजना में 'सौन्दर्य' का उदय होता है। जब हम दूसरों की भाव सम्पत्ति में भाग लेते हैं अथवा उनकी भाव सम्पत्ति में अपने चिन्मय भाव का योग देते हैं तो इस आत्मदान की अभिव्यक्ति के सुन्दरम् की तुलना में हम सापेक्ष अर्थ में 'शिवम्' कह सकते हैं। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति का फल आह्लाद और शिवम् के आत्मदान का फल आनन्द है। सुन्दरम् केवल एक सृष्टि है, किन्तु शिवम् सृष्टि होने के साथ साथ सृजनात्मक भी है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भाव की सृष्टि में (सत्ता की सृष्टि सम्भव नहीं) कृतार्थ हो जाता है, किन्तु आत्मदान का भाव-योग दूसरे की चेतना को नवीन भावरूपों की सृष्टि की प्रेरणा देता है। 'शिवम' की सृष्टि स्रष्टाओं का सृजन है। इस सृजन में सौन्दर्य भी समाहित है। इस प्रकार सृजन ही जीवन का सत्य है, वही सुन्दर और शिव है। अभिव्यक्ति की भाव सृष्टि के सुन्दरम् और आत्मदान के द्वारा स्रष्टाओं के सृजन में शिवम् चरितार्थ होता है। समात्मभाव इस सृजन की सामान्य भूमिका है। प्राकृतिक सृजन से लेकर सौन्दर्य की भावसृष्टि और स्रष्टाओं के वास्तविक निर्माण तक सृजन के सभी रूप इस समात्मभाव में ही सम्पन्न होते हैं। इस दृष्टि से सापेक्ष रूप में सत्य, शिव और सुन्दरम् के विविक्त होते हुए भी उनका मूल सामान्य समात्मभाव

मे है। सुन्दरम् इसी मूल पर आरूढ सृजन के कल्प-तरु का कुसुमोत्सव है। शिवम् उस सृजन की सफलता है। शिवम् के फलो मे रस और रूप के समन्वय के साथ-साथ अनन्त सृजनात्मक परम्पराओ के बीज अन्तर्निहित रहते हैं।

यह स्पष्ट है कि सत्य, शिव और सुन्दरम् का यह समन्वय पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र की धारणा के विपरीत है। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र सौन्दर्य को सत्य और शिव से पूर्णत स्वतन्त्र मानता है। आधुनिक मूल्य-दर्शन भी इन्हे पृथक मानता है। किन्तु हमारा समन्वयात्मक दृष्टिकोण भारतीय सस्कृति की भावना के अधिक अनुरूप है। भगवान के रूप मे तीनो सास्कृतिक मूल्यो का समाहार है। 'शिव' सुन्दर भी हैं। वेदान्त का ब्रह्म 'शान्तम्' और 'अद्वैतम्' होने के साथ-साथ 'शिवम्' भी हैं। वेदान्त के आचार्यो का ब्रह्मानन्द 'सौन्दर्य-लहरी' मे भी तरगित हुआ है। धर्म और दर्शन मे जो सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय साकार हुआ है वह भारतीय लोक-सस्कृति मे जीवन मे चरितार्थ हुआ है। यह सकेत कर देना आवश्यक है कि यह समन्वय तीन स्वतन्त्र और पृथक तत्वो का सामजस्य नही है। वस्तुत समात्मभाव ही जीवन का सम्पूर्ण सत्य है। इस सम्पूर्ण सत्य मे सुन्दरम् और शिवम् भी समाहित हैं। केवल अभिव्यक्ति के रूप मे समात्मभाव ही सुन्दरम् मे साकार होता है। केवल आत्मदान की अपेक्षा से वह शिवम् मे चरितार्थ होता है। विषमता की स्थिति मे न सौन्दर्य की अभिव्यक्ति सम्भव है और न शिवम् का उदय होता है।

इस दृष्टि से समात्मभाव का सिद्धान्त भारतीय रस-सिद्धान्त से भी पूर्णत सहमत नही है। समात्मभाव के अनुसार रौद्र, वीभत्स, भयानक आदि की विषमतामूलक स्थितियो मे सौन्दर्य और रस की निष्पत्ति सम्भव नही है। क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि वास्तविक मनोविकार हैं किन्तु विषमता-मूलक होने के कारण वे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नही हैं। काव्य-साहित्य मे इन रसो के वर्णन की अल्पता इस धारणा का समर्थन करती है कि ये सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के अनुकूल नही है। जिस समात्मभाव की स्थिति मे सौन्दर्य का उदय होता हैं, उसमे ये भाव विलीन हो जाते हैं। समात्मभाव के अनुरूप हम दूसरो के भाव मे भाग लेते हैं। अत समात्मभाव का सिद्धान्त साधारणीकरण आदि की पहेलियो से भी बच जाता है। वस्तुत समात्मभाव ही मानवीय जीवन और सस्कृति का मौलिक सत्य है। जीवन का अर्थ न व्यक्तित्व की कठोर सीमा मे निहित है और न किसी

निरपेक्ष भाव मे व्यक्तित्व के विलय मे जीवन कल्पनीय है। कठोर इकाई के रूप मे व्यक्तित्व केवल एक प्राकृतिक तथ्य और बौद्धिक प्रत्याहार है। समात्मभाव के सुन्दरम् और शिवम् के द्वारा ही व्यक्तित्व का निर्माण और विकास होता है तथा समात्मभाव मे ही व्यक्तित्व की समृद्धि और उसकी सफलता है। यह समात्मभाव दर्शन का कोई गूढ सिद्धान्त नहीं, जीवन का एक सरल सत्य है। हम एक दूसरे के भावो मे भाग लेते हैं, यह जीवन का एक सरल किन्तु सुन्दर और शिव सत्य है। इसी सत्य को साकार बनाकर भारतीय संस्कृति के उत्सव एव पर्व श्रेय और सौन्दर्य के तीर्थ बनते हैं।

अस्तु, कलात्मक सौन्दर्य जीवन की कोई असाधारण स्थिति नही है। हमारे मत मे वह जीवन का एक साधारण भाव है, जो चेतनाओ के समात्मभाव से सम्पन्न होने के कारण लोक-व्यवहार की बाह्यता और अनेकता के साथ पूर्णत संगत है। संगत ही नही वरन् बाह्यता और अनेकता की स्थिति मे वह समृद्ध होता है। अभिव्यक्ति के बाह्य माध्यम भाव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उपचार मात्र नही वरन् उसके वास्तविक निमित्त हैं। मूलत भावगत होते हुए भी समात्मभाव के सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता के साथ सहज संगति है। माध्यमो के भेद के कारण कलाओ के परम्परागत भेद उपचार मात्र नही हैं। क्रोचे के आत्मगत सिद्धान्त के अनुसार कलाओ के विभाजन का आधार ही उच्छिन्न हो जाता है। वस्तुत विभिन्न कलाएँ सौन्दर्य के सामान्य रूप को अपने माध्यमो की विशेषताओ के अनुरूप आकार देती हैं। इस विशेषता की दृष्टि से सभी कलाओ का तथा उनके सभी रूपो का अपना अपना सौन्दर्य एव महत्व है। जिस प्रकार कृतियो के रूप मे कलात्मक सौन्दर्य की साक्षात् और साकार अभिव्यक्ति हमारे मत मे एक गौण उपचार मात्र नही है, उसी प्रकार कलाओ के भेद भी हमारे मत मे अपने मौलिक महत्व से हीन नही हैं। सौन्दर्य केवल आत्मिक और आन्तरिक अनुभूति मात्र नही है, वरन् वह आत्मभाव की भूमिका मे बाह्य माध्यमो के द्वारा साकार होने वाली सामाजिक अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य की इस अभिव्यक्ति के विविध रूप सौन्दर्य को सम्पन्न बनाते हैं। इस दृष्टि से कलाओ के सौन्दर्य की बाह्य अभिव्यक्ति तथा कलाओ की विविधता जीवन के सौन्दर्य को समृद्ध बनाती है। सम्प्रेषण और विविधता कला के मूल रहस्य हैं। इन्ही रहस्यो के सूत्र से कला समाज की विभूति बनती है तथा उसका

सम्पन्न सौन्दर्य सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे साकार होकर लोक-जीवन को कृतार्थ करता है।

जिस समात्मभाव को हमने सस्कृति, कला और काव्य का मूल आधार माना है वह वेदान्त के निरपेक्ष ब्रह्मवाद तथा अधिकाश सौन्दर्यशास्त्र एव काव्यशास्त्र के प्राकृतिक व्यक्तिवाद दोनो से भिन्न अनेक व्यक्तियो के आन्तरिक सामजस्य का घनिष्ठ भाव है। वेदान्त के ब्रह्मवाद से इसका अन्तर यह है कि समात्मभाव अनुभव की कोई ऐसी अवस्था नही है जो व्यक्तित्व से अतीत है अथवा व्यक्तित्व का तिरस्कार करती हो। इसके विपरीत वह चेतना का एक ऐसा भाव है जो व्यक्तियों की अनेकता मे ही सम्पन्न होता है। इतना अवश्य है कि समात्मभाव की स्थिति मे ये अनेक व्यक्तित्व प्राकृतिक व्यक्तिवाद की भाति अपने व्यक्तित्व की इकाई मे ही सीमित अथवा रूढ नही रहते। इन व्यक्तियो मे एक प्रकार की आन्तरिक पारस्परिकता उत्पन्न होती है और वे एक दूसरे के प्रति साम्य एव सम्प्रेषण के भाव से प्रसारित होने लगते हैं। द्वैत और अद्वैत की दार्शनिक पहेलियों का तार्किक समाधान कठिन है। तर्क की दृष्टि से केवल इतना कहा जा सकता है कि द्वैत और अद्वैत की तार्किक पहेलिया स्वय व्यक्तित्व की इकाई के आग्रह पर अवलम्बित हैं। अनेक व्यक्तित्वो का द्वैत और एकत्व दोनो ही व्यक्तित्व की इकाई की धारणा पर आश्रित है। इसीलिए वेदान्त के आचार्यों ने बडी सतर्कता के साथ अपनी धारणा को 'अद्वैत' की सज्ञा दी है। आत्मभाव अपनी इकाई मे रूढ व्यक्तियो के द्वैत (अथवा अनेकत्व) और पृथक्त्व से अतीत है। वेदान्त के शुद्ध ब्रह्मवाद की स्थिति व्यक्तित्व से पूर्ण निरपेक्ष भी हो सकती है। किन्तु हमारा सास्कृतिक समात्मभाव ऐसी निरपक्ष स्थिति नही है। यद्यपि वह व्यक्तित्व की इकाई मे ही सम्भव नही हैं किन्तु व्यक्तित्व का तिरस्कार न करके वह एक आन्तरिक एव आत्मीय भाव मे उसका उन्नयन और विस्तार करता है। तर्क की अपेक्षा जीवन के साक्षात् अनुभव मे इस समात्मभाव का अधिक प्रभावशाली आभास मिलता है। मनुष्यो के आन्तरिक और आत्मीय सबन्ध मे जहाँ व्यक्तित्व के प्राकृतिक अनुरोधो से ऊपर उठकर एक साम्य एव सम्प्रेषण उत्पन्न होता है, वही समात्मभाव की स्थिति है। इसी समात्मभाव मे सस्कृति, कला और काव्य के अकुर उदित होते हैं तथा सौन्दर्य एव आनन्द के नन्दन खिलते हैं। सौन्दर्य इस समात्मभाव की अभिव्यक्ति का 'रूप' है, आनन्द इसी आन्तरिक 'अनुभूति' का मर्म है, किन्तु ये दोनो पक्ष एक दूसरे से अभिन्न हैं।

इस दृष्टि से समात्मभाव का सिद्धान्त क्रोचे आदि सौन्दर्य शास्त्रियों से भिन्न है, जो कला को केवल एक व्यक्तिगत और आन्तरिक अनुभूति मानते हैं। क्रोचे का कला सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद कहलाता है। किन्तु क्रोचे की अभिव्यक्ति सामाजिक और सम्प्रेष्य माध्यमों के द्वारा साकार होने वाली अभिव्यक्ति नहीं है। यह आन्तरिक अभिव्यक्ति है जो व्यक्ति की आन्तरिक अनुभूति में ही कृतार्थ हो जाती है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति का प्रयोग इस आन्तरिक अनुभूति में स्फुटित होने वाली अभिव्यक्ति के ही अर्थ में किया है। क्रोचे की भाषा में अनुभूति और अभिव्यक्ति समानार्थक हैं क्योंकि वे आन्तरिक अनुभूति और आन्तरिक अभिव्यक्ति को अभिन्न मानते हैं। उनके मन में अभिव्यक्ति-रहित अनुभूति संभव नहीं है। आन्तरिक अनुभूति के सम्बन्ध में तर्क करना करना कठिन है। अनुभूति के तथ्य को प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वयं की अनुभूति के द्वारा ही परीक्षित और प्रमाणित कर सकता है। तर्क तो बुद्धि का धर्म है। सामान्यता और सम्प्रेषण उसका लक्षण है। हमारे मत में संस्कृति और कला न पूर्णरूप से व्यक्तिगत है और न केवल आन्तरिक हैं। वे अनेक व्यक्तियों के समात्मभाव में उदित और विकसित होने वाली मानवीय विभूतियाँ हैं। समात्मभाव के सावित्र (सृजनात्मक) तेज से ही व्यक्तित्व के क्षितिजों पर संस्कृति और कला के सतरंगी इन्द्रधनुष खिलते हैं। हमारे मत में मनुष्य का व्यक्तित्व क्षितिज के समान ही अनिश्चित और विस्तारशील है। एक ओर वह प्राकृतिक इकाई की धरती से उदित (क्षितिज) होता है, दूसरी ओर आत्मभाव के अन्तरिक्ष में उसका अनन्त विकास होता है। यह समात्मभाव पारस्परिक होने के कारण न पूर्णतः व्यक्तिगत है और न केवल आन्तरिक है। अन्य व्यक्तियों की सत्ता और उनके साथ आत्मीय सम्बन्ध इसके लिए आवश्यक है। इस सम्बन्ध के साथ साथ अभिव्यक्ति के माध्यमों में भी इसका बहिर्भाव साकार होता है। अभिव्यक्ति के ये माध्यम क्रोचे के मत के समान कलाकार की आत्मगत सृष्टि नहीं। हमारे मत में ये माध्यम निसर्ग प्रकृति के उपादान हैं। इन माध्यमों के द्वारा होने वाली अभिव्यक्ति समात्मभाव से सम्बद्ध व्यक्तियों के परस्पर साम्य को प्रकृति के साथ सामंजस्य में विस्तृत करती है। कला का यह सिद्धान्त आत्मा, व्यक्तित्व और प्रकृति तीनों में साम्य की स्थापना करता है। साथ ही कला की कृतियाँ भी इसमें उचित महत्व प्राप्त करती हैं। अद्वैत वेदान्त की अपेक्षा हमारा यह मत शैवदर्शन के अधिक निकट है। बाह्य माध्यमों को उचित महत्व देने वाली कला की अभिव्यक्ति

श्री शैव दर्शन की विमर्श-रूपिणी कला-शक्ति शक्ति के सागर की ही तरग है।

हमने अपनी सस्कृति तथा कला-सम्बधी धारणा के आध्यात्मिक आधार को अक्षुण्ण रखने के लिए ही इस सिद्धान्त को 'समात्मभाव' का नाम दिया है। पूर्णतः आन्तरिक न होते हुए भी तथा बाह्य माध्यमो मे अभिव्यक्त होते हुए भी मूलत यह आत्मा का ही भाव है। 'सम्' से लक्षित साम्य इस भाव का विशेषण अथवा लक्षण है। साम्य के अनेक अर्थ हैं। समानता, अविरोध, सामजस्य आदि वे भाव इसमे समाहित हैं। साम्य का सबसे श्रेष्ठ रूप परस्पर सभावन है। कृष्ण भक्ति का "दोऊ परे पैयां" इसी सभावन का सूचक है। शक्ति-रूपिणी चन्द्रकला को मस्तक पर धारण कर शिव भी इसी सभावन को प्रतीक रूप मे चरितार्थ करते हैं। मूल रूप मे यह साम्य आत्मा का ही भाव है। इसीलिए हमने साम्य के उक्त सिद्धान्त को समात्मभाव का नाम दिया है। शरीर, इन्द्रियां, विषय आदि के प्राकृतिक उपकरणो मे भी समानता, अविरोध, सामजस्य आदि के रूप मे साम्यकी प्रतिष्ठा हो सकती है। फिर भी इकाई मे रूढ रहना प्रकृति का स्वभावगत लक्षण है। सचेतन रूप मे परस्पर सभावन का आधार कोई प्रकृति से अतीत तत्व ही हो सकता है। इसी तत्व का नाम 'आत्मा' है। आत्मा स्वरूप से 'सम' है। (समोऽह सर्वभूतेषु-गीता)। 'आत्मा' चेतना का वह रूप है जो प्रकृति के अनुरोधो और अवच्छेदो से अतीत है तथा जिसमे अन्वित होकर प्रकृति के उपकरण सस्कृति एव कला के उपादान बनते है। प्रकृति के स्वभावत भेदमूलक होने के कारण हमने सस्कृति और कला के आधार को समात्मभाव कहना ही उचित समझा, जो व्यक्तित्वो के तादात्म्य से भिन्न एक अपूर्व आन्तरिक साम्य का भाव है। तादात्म्य का अर्थ यदि दो व्यक्तित्वो की 'एकता' है तो फिर वही प्राकृतिक इकाई का अनुरोध प्रकट होता है। समात्मभाव का मर्म भी तर्क से नही वरन् समात्मभाव के साक्षात् अनुभव से ही प्रकाशित होता है। स्नेह, सद्भाव आदि इनके व्यावहारिक रूप हैं। स्वरूप से समात्मभाव सृजनात्मक है। केवल भाव का सृजन भी सभव है। यह भाव का सृजन मानवीय जीवन और सस्कृति के आनन्द का एक अलक्ष्य आधार है। रूप के सृजन मे यह साकार होता है तथा प्रकृति के साथ सामजस्य को मूर्त रूप में चरितार्थ करता है। सृष्टाओ का सृजन इसका सर्वोत्तम रूप हैं। सृजन के इस रूप मे समात्मभाव सस्कृति की एक अमृत परम्परा बन जाता है। यह परम्परा

सास्कृतिक जीवन मे भगवान के अवतार का ही लौकिक भाषा मे अनुवाद है।

सस्कृति और कला का आधारभूत समात्मभाव हमारी प्रथम मौलिक स्थापना है। हमारा विश्वास है कि सस्कृति और कला का आधार निरपेक्ष अध्यात्मवाद अथवा प्राकृतिक व्यक्तिवाद न होकर यही सास्कृतिक समात्मभाव है, जो एक प्रकार से अध्यात्म और प्रकृति का सामजस्य है। इस सामजस्य मे प्रकृति आत्मा के औदार्य से अर्चित होकर सस्कृति की विभूति बनती है तथा आत्मा का अतीन्द्रिय सत्य जीवन मे साकार होता है। कला और काव्य के अधिकाश भारतीय तथा पश्चिमी सिद्धान्त प्राकृतिक व्यक्तिवाद मे ही रूढ रहे हैं तथा इसी कारण वे अनेक समस्याओ का समाधान नही कर सके। कला और सस्कृति के क्षेत्र मे प्राकृतिक व्यक्तिवाद असगत और असमीचीन है। व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त मे सौन्दर्य का बीज अकुरित नही हो सकता। समात्मभाव का सिद्धान्त कला और सस्कृति के उदय एव विकास की अधिक सगत और समीचीन व्याख्या प्रस्तुत करता है, साथ ही कला और काव्य की अनेक समस्याओ का अधिक माननीय समाधान भी प्रस्तुत करता है। नवीन होने के साथ साथ समात्मभाव का सिद्धान्त अधिक सगत और अधिक मान्य भी है।

समात्मभाव के सामान्य सिद्धान्त के अतिरिक्त सस्कृति और कला के स्वरूप के सम्बन्ध मे भी कुछ मौलिक स्थापनाये इस प्रबन्ध मे प्रस्तुत की गई हैं। भारतीय परम्परा मे सस्कृति और कला की विपुलता है, किन्तु इनके सम्बन्ध मे सैद्धान्तिक विवेचन बहुत कम मिलता है। पश्चिमी परम्परा मे सौन्दर्य-शास्त्र के नाम से कला का विपुल विवेचन मिलता है। सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास मे कला की अनेक प्रकार से परिभाषा की गई है। आधुनिक युग मे सबसे अधिक प्रसिद्ध और क्रान्तिकारी क्रोचे की स्थापना है जिसके अनुसार सौन्दर्य और कला पूर्णत एक आन्तरिक अभिव्यक्ति है। कला के सम्बन्ध मे हमारी स्थापना क्रोचे के बिलकुल विपरीत है। इसीलिए भेद और तुलना की दृष्टि से हमारे विवेचन मे अनेक बार क्रोचे के सिद्धान्तो का उल्लेख हुआ है। क्रोचे से हमारा सैद्धान्तिक मतभेद सक्षेप मे यह है कि हमारे मत मे कला पूर्णत आत्मगत व्यापार नही है। आन्तरिक अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति मे ही कला कृतार्थ नही हो जाती और न उसकी बाह्य

अभिव्यक्ति नितान्त महत्वहीन है, जैसा कि क्रोचे मानते हैं। हमारे मत मे कला व्यक्तिगत व्यापार भी नही है, जैसा कि क्रोचे का अभीष्ट है। हमने ऊपर संकेत किया है कि हमारे मत मे व्यक्तित्व के एकान्त मे कला और सस्कृति का उदय नही होता। हमारे मत मे कला और सस्कृति का उदय व्यक्तियो के उस पारस्परिक साम्य मे होता है, जिसको हमने समात्मभाव का नाम दिया है। पारस्परिकता और बहिर्भाव इसके आवश्यक अग हैं, यद्यपि चेतना के व्यापार की आन्तरिकता भी अखण्डनीय है। पारस्परिकता और बहिर्भाव कला एव सस्कृति मे बाह्य माध्यमो को सार्थक बनाते हैं।

इसी प्रकार सस्कृति के सम्बन्ध म भी हमारा मत प्रसिद्ध और प्रचलित मान्यताओ से भिन्न है। अधिकाश पश्चिमी विचारक मनुष्य समाज की समस्त क्रियाओ को सस्कृति के अन्तर्गत मानते हैं। प्रकृति से प्रेरित उद्योग, व्यवसाय, शासन, युद्ध आदि भी सस्कृति मे अन्तर्गत हैं। सस्कृति की यह धारणा उसे 'कृति' का पर्याय बना देती है। दूसरी ओर सभी विचारको के मत मे सस्कृति का कोई अपना स्वरूप नहीं है। सस्कृति एक समूहवाचक पद है। 'सस्कृति' एक प्रकार से कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान, व्यवसाय आदि मनुष्य की विभिन्न और प्राय विरोधी क्रियाओ की सयुक्त सज्ञा है। कला, धर्म, दर्शन आदि सब सस्कृति के अग है और इनका सयोग ही सस्कृति है। यदि सस्कृति को कृति' का पर्याय मान ले तो नि सन्देह सभी क्रियाये उसमे सम्मिलित हो जाती हैं। सृजनात्मक क्रिया के अर्थ मे भी कला, धर्म, दर्शन, उद्योग आदि को सास्कृतिक व्यापार कहा जा सकता है। किन्तु प्रकृति की प्रेरणा और विवशता का विचार करने पर सृजन के आध्यात्मिक एव स्वतन्त्र रूप से उसका विवेक सस्कृति' की इस व्यापक धारणा को भग कर देता है। अध्यात्म का सहज साम्य भी सस्कृति की व्यापक धारणा को असगत बना देता है। समात्मभाव से प्रेरित मनुष्य के वे व्यापार ही सास्कृतिक कहे जा सकते हैं जो सृजनात्मक होने के साथ साथ साम्य के भाव से परिपूर्ण है। इसी प्रसग मे सस्कृति और कला मे भी हमने विवेक किया है। हमारे मत मे कला नवीन रूपो की *रचना है तथा सस्कृति चिरन्तन रूपो की आराधना की सजीव एव* सामाजिक परम्परा है। इस धारणा के अनुरूप कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, व्यवसाय, उद्योग, आदि का इतिहास ही सस्कृति नही है। सस्कृति का सर्वोत्तम रूप भारतीय पर्वो, सस्कारो, प्रथाओ आदि की जीवन्त परम्परा मे मिलता है।

संस्कृति की इस व्याख्या के अनुसार भारतीय संस्कृति का वैभव एवं गौरव संसार में अतुलनीय है।

संस्कृति, कला और काव्य के सामान्य आधार के रूप में समात्मभाव के सिद्धान्त के समान कला के सम्बन्ध में हमारी मौलिक स्थापना यह है कि 'सौन्दर्य' रूप का अतिशय तथा कला सौन्दर्य की अर्थात् रूप के अतिशय की सृष्टि है। 'रूप' अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह अभिव्यक्ति क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति नहीं जो व्यक्तिगत अनुभूति की समानार्थक है, वरन् हमारे मत में इस अभिव्यक्ति का रूप वाह्य और सम्प्रेष्य है। शैवदर्शन के प्रकाश और विमर्श की भाँति इस अभिव्यक्ति में आन्तरिक भाव, वाह्य माध्यम और सामाजिक सम्प्रेषण का समन्वय है। 'तत्व' से विवेक करके 'रूप' को अभिव्यक्ति का आकार भी कह सकते हैं। कला के ऐन्द्रिक पक्ष में इसे माध्यम की व्यवस्था भी कहा जा सकता है। कला के मानसिक पक्षों में 'रूप' के मानसिक पक्ष प्रकट होते हैं। 'अतिशय' की धारणा प्राकृतिक अनिवार्यता और उपयोगिता पर आश्रित है। 'अतिशय' एक प्रकार का वैभव और विलास है। प्रकृति में मनुष्य को प्रायः सौन्दर्य दिखाई देता है, किन्तु अपने आप में प्रकृति की व्यवस्था पूर्णतः उपयोगिता एवं उपयुक्तता पर आश्रित है। उसमें कदाचित् ही कोई 'अतिशय' मिल सके। इतना अवश्य है कि प्रकृति के अनेक रूप संवेदना की प्रियता से सम्पन्न हैं। इन्हीं रूपों को जब मनुष्य निरुपयोगी दृष्टिकोण से देखता है तो वे उसे सुन्दर प्रतीत होते हैं। जो वन्य और ग्रामीण वातावरण कवियों और दर्शकों को सौन्दर्य में मुग्ध करता है, वही उन स्थानों के निवासियों को सुन्दर नहीं लगता वरन् इसके विपरीत उनके लिए वह नीरस और नारकीय होता है। निरुपयोगी दृष्टिकोण के कारण वन्य और ग्रामीण प्रकृति में दर्शकों का जो निरुपयोगिता का दृष्टिकोण रहता है वह उसमें 'रूप के अतिशय' का सौन्दर्य देखता है। निवासियों के उपयोगितावादी दृष्टिकोण में वह 'रूप का अतिशय' नष्ट हो जाता है और उसके साथ सौन्दर्य विलीन हो जाता है।

प्रकृति एक निसर्ग व्यवस्था है। उसमें रूप के अतिशय का सौन्दर्य मनुष्य के दृष्टिकोण पर निर्भर होता है। मनुष्य की रचनाओं में यह रूप का अतिशय अधिक स्पष्ट रूप में सौन्दर्य का कारक बनता है। मनुष्य के मकानों, वस्त्रों तथा अन्य उपकरणों के रूप, आकार, रंग आदि पूर्णतः उपयोगिता से शासित नहीं हैं। उनका

निरुपयोगी पक्ष 'रूप का अतिशय' ही है और उसी मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। कलाओ का 'रूप' भी अतिशय ही है, उसकी रचना उपयोगिता की दृष्टि से नही की जाती। सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि मे जो रूप की रचना की जाती है उसमे उपयोगिता का भाव नही रहता। वह न प्राकृतिक दृष्टि से आवश्यक है और न उपयोगी है। इस दृष्टि से उसे अतिशय कहा जा सकता है। कलाओ की कृतियाँ अपने सम्पूर्ण रूप मे एक 'अतिशय' प्रतीत होती हैं। उनके 'रूप' (आकार) की योजना के अन्तर्गत 'रूप का अतिशय' और अधिक समृद्ध रूप मे रहता है। गीत के भाषागत शब्दो की तुलना मे सगीत के स्वरो का प्रस्तार 'रूप के अतिशय' का एक उत्तम उदाहरण है। स्वरो की इकाइयो और स्वर-परिमाण के प्रस्तार के अतिरिक्त सगीत की लय, राग, तान आदि 'रूप के अतिशय' के ही विविध रूप हैं। 'रूप' की व्याख्या के अतिरिक्त कलाओ तथा अन्य मानवीय व्यापारो मे सामाजिक सम्बन्ध, मानवीय भाव आदि भी 'रूप के अतिशय' की सृष्टि करते हैं तथा जीवन मे सौन्दर्य को स्फुटित करते हैं। इन सम्बन्धो और भावो मे भी उपयोगिता का दृष्टिकोण न होने पर ही सौन्दर्य उदित होता है। उपयोगिता प्रकृति का लक्षण है। मनुष्य जीवन मे यह उपयोगिता स्वार्थ का पर्याय बन जाती है। इस दृष्टि से निरुपयोगिता को आत्मा का भाव कह सकते हैं। समात्मभाव की भूमिका मे उदित होकर ही 'रूप का अतिशय' सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करता है।

अस्तु, हमारे मत मे सौन्दर्य 'रूप के अतिशय' मे ही अभिव्यक्त होता है। सौन्दर्य का रहस्य 'रूप' मे ही निहित है। इसीलिए सस्कृत भाषा मे 'रूप' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बन गया। नारी के रूप मे सौन्दर्य 'रूप के अतिशय' के रूप मे ही प्रकट होता है। नारी के मासल अगो की पृथुलता मे इस रूप के अतिशय की परिमाणगत स्थूलता प्रकट होती है। इन वर्तुल अङ्गो की लय मे 'रूप के अतिशय की अधिक सूक्ष्म और समृद्ध अभिव्यक्ति होती है। इसी सौन्दर्य के कारण नारी ईश्वरीय कला की सर्वोत्तम रचना है। 'सौन्दर्य' कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। सामान्य अर्थ मे 'कला' मनुष्य की रचना है। हम प्राकृतिक वस्तुओ मे भी, जो मनुष्य की रचना नही हैं, निसर्ग सौन्दर्य देखते हैं। इस व्यापक अर्थ मे हम सौन्दर्य को 'रूप का अतिशय' कह सकते हैं। सौन्दर्य की इस परिभाषा मे कला का मानव-रचित सौन्दर्य भी समाहित है। 'कला' को हम 'सौन्दर्य की सृष्टि' कह सकते हैं। यदि सौन्दर्य रूप का अतिशय है तो कला 'रूप के अतिशय की रचना' है। 'सस्कृति'

एक प्रकार से कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। 'संस्कृति' केवल 'रूप की रचना नहीं है, यह 'भाव की सृष्टि' भी है। संस्कृति की रचनाओं में समात्मभाव के सामान्य आधार के अतिरिक्त अन्य विशेष भाव भी साकार होते हैं। ये भाव ही 'संस्कृति' शब्द के 'सम्' को साम्य के द्वारा सार्थक बनाते हैं। रूपों की रचना होने के नाते संस्कृति भी कलात्मक है। किन्तु कला एवं संस्कृति एक दूसरे के पर्याय नहीं और न कला संस्कृति का केवल एक अङ्ग है। 'संस्कृति' कला, धर्म, दर्शन, साहित्य आदि की सामूहिक संज्ञा मात्र नहीं है। उसका अपना स्वरूप और अस्तित्व है। 'कला' नवीन रूपों की रचना है। 'संस्कृति' चिरन्तन रूपों की सामाजिक आराधना की परम्परा है। माध्यम की स्वतन्त्रता एवं सम्पन्नता और रूप के सूक्ष्म एवं अनन्त अतिशयों के कारण संगीत सबसे अधिक कलात्मक कला है। अनेक व्यक्तियों द्वारा रचित स्वर के माध्यमों के सङ्गम से जन्य साक्षात् समात्मभाव की सम्भावना के कारण वह कलाओं में सबसे अधिक सांस्कृतिक भी है। इसीलिए संस्कृति की साक्षात् परम्परा में सङ्गीत का सबसे अधिक योग रहा है। 'काव्य' सङ्गीत का ही बन्धु है। काव्य और सङ्गीत दोनों स्वर के आत्मज हैं। काव्य की लय में सङ्गीत का अन्तर्भाव रहता है। सार्थक शब्द के योग से काव्य में भाव प्रधान हो जाता है। रूप का अतिशय कला की दृष्टि से सङ्गीत की विशेषता है, यद्यपि सङ्गीत में प्राय भाव का योग भी रहता है। भाव का अतिशय काव्य की विशेषता है। भाव का अतिशय आवृत्ति बनकर रूप के अतिशय की प्रेरणा बनता है। भाव के प्रसङ्ग से सत्यम् और शिवम् भी काव्य के रूप सौन्दर्य में सहज अन्वित हो जाते हैं। शुद्ध रूपात्मक कला संभव है। किन्तु भाव के बिना काव्य की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से काव्य संस्कृति की आत्मा के अत्यन्त निकट है। शुद्ध रूपात्मक कला से लेकर भाव और रूप के सामञ्जस्य से युक्त सङ्गीत अथवा काव्य तक कलाओं के सांस्कृतिक नभ का विविध रूप विस्तार है। यह विविधता भी सौन्दर्य की विधायक है। भारतीय पर्वों और संस्कारों में साक्षात् जीवन के साथ समन्वय से युक्त संस्कृति की जीवन्त परम्परा *अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न रूप में मिलती है।*

अस्तु, संस्कृति, कला और काव्य के सम्बन्ध में जिन मौलिक सिद्धान्तों का ऊपर सङ्केत किया है उनके प्रकाश में तथा कला और काव्य के प्रसङ्ग में सत्य शिव-सुन्दरम्' के सांस्कृतिक मूल्यों का विवेचन ही प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रमुख उद्देश्य है। मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना तथा विपुल सैद्धान्तिक विवेचन के कारण इस प्रबन्ध

का रूप शोध-प्रबन्धो की परिचित परम्परा से बहुत भिन्न है। परिचित परम्परा के शोध-प्रबन्धो के समान विपुल अध्ययन और प्रभूत पाण्डित्य से पूर्ण साहित्य का विवेचन मेरे इस प्रबन्ध मे नही है। इसके लिए अपेक्षित अध्ययन और पाण्डित्य मुझे प्राप्त नही है। इसके साथ साथ साहित्य का अध्ययन और पाण्डित्य पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करना इस प्रबन्ध मे मेरा उद्देश्य भी नही रहा है। मेरा उद्देश्य प्रधानत कला और काव्य का सैद्धान्तिक विवेचन ही है। इस सैद्धान्तिक विवेचन को मैने जितनी बुद्धि और प्रतिभा मुझे निसर्ग मे प्राप्त है उसके अनुसार यथा सम्भव गम्भीर एव विशद रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अध्ययन और पाण्डित्य की दृष्टि से मेरा यह प्रबन्ध परिचित परम्परा के शोध-प्रबन्धो के अनुरूप न होते हुए भी कला एव साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन की मौलिकता की दृष्टि से कदाचित् कुछ अभिनव महत्व का अधिकारी है। हिन्दी के काव्यालोचन मे बहुत कुछ सस्कृत काव्य-शास्त्र का पिष्टपेषण ही होता रहा है। व्यापक और आधुनिक अर्थ मे साहित्य की आलोचना भी पश्चिमी साहित्य-सिद्धान्तो पर अवलम्बित रही है। अभिनव गुप्त के बाद सस्कृत साहित्य-शास्त्र मे मौलिक चिन्तन की परम्परा मानो समाप्त हो गई। उसके बाद सस्कृत और हिन्दी के आचार्य प्राचीन सिद्धान्तो की ही व्याख्या करते रहे। हिन्दी के अर्वाचीन आचार्यो का चिन्तन भी बहुत कुछ सस्कृत साहित्य-शास्त्र की परिधि मे ही सीमित रहा। प्राचीन सिद्धान्तो की परिधि मे ही कुछ नवीन सकेत देने का सराहनीय प्रयत्न उन्होने अवश्य किया। उनका यही प्रयत्न पराधीनता के युग मे जन्म लेकर उसी की सीमाओ मे विकसित होने वाली हिन्दी को कुछ प्राण-प्रेरणा देता रहा। परम्परागत आलोचना इन्ही अर्वाचीन आचार्यो के पद-चिन्हो पर चलती रही। अभिनव आलोचना मे पश्चिमी सिद्धान्तो का प्रदर्शन अधिक है। इस प्रकार हिन्दी आलोचना के दोनो ही क्षेत्रो मे मौलिक चिन्तन का शोचनीय अभाव है।

इसके अतिरिक्त हिन्दी के आलोचको तथा अनुसधान-कर्ताओ की रुचि साहित्य के सिद्धान्तो की ओर कम है। काव्य अथवा साहित्य के स्थूल अध्ययन ही आलोचना मे अधिक दिखाई देते हैं। इनका भी आलोचना मे अपना स्थान हैं। किन्तु ये आलोचना के द्वितीय सोपान हैं। आलोचना का प्रथम सोपान कला, साहित्य और काव्य के मूल सिद्धान्त ही हैं। मूल सिद्धान्तो का उद्भावन और अनुशीलन ही साहित्यिक गतिविधि को मौलिक प्रेरणा प्रदान करता है। मेरा

यह अकिंचन प्रयास हिन्दी आलोचना में मौलिकता के अभाव की पूर्ति का किंचित् मात्र भी अधिकारी नहीं है। मैं इसे इस अभाव की दिशा का संकेत मात्र मानता हूँ। यह अभिनव हिन्दी आलोचना का प्रथम सोपान नहीं, किन्तु सम्भवतः उस सोपान की आधार-भूमि बन सकता है। उस सोपान का निर्माण हिन्दी आलोचना के कुशल और योग्य शिल्पी करेंगे। सैद्धान्तिक विवेचन की दिशा में हिन्दी आलोचना और अनुसन्धान की अधिक प्रगति वाञ्छनीय है इसमें सन्देह नहीं। अर्वाचीन आचार्यों के मौलिक सैद्धान्तिक अभिमत भी हिन्दी आलोचना एवं साहित्य को अभीष्ट गौरव प्रदान करने के लिए अपेक्षित हैं। हिन्दी काव्य और साहित्य के प्रति मेरी रुचि एक सहज बाल-कौतूहल मात्र है। अतः साहित्य के आचार्य पद का न मैं अभिलाषी हूँ और न अधिकारी हूँ। अध्ययन और पाण्डित्य की अपूर्णता में विचार और कल्पना के द्वारा कुछ नवीन सिद्धान्तों के प्रस्ताव का दुःसाहस मैंने इस प्रबन्ध में अवश्य किया है। मेरा यह प्रस्ताव अपने आचार्यों के अपार साहित्यिक उपकारों की अल्प गुरु दक्षिणा मात्र है। मेरे व्यक्तिगत अध्यवसाय के रूप में मेरा यह दुःसाहस पाण्डित्य की दीनता में मेरा अवलम्ब और सन्तोष है। अध्ययन की सुविधाओं के अभाव में विचार और चिन्तन से भी हिन्दी साहित्य की प्रगति में कुछ योग देकर मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ। मेरे प्रस्तावित सिद्धान्त अधिक मान्य और महत्वपूर्ण न भी हों, तो भी यदि वे हिन्दी आलोचना और अनुसन्धान के क्षेत्र में सैद्धान्तिक विवेचन तथा मौलिक चिन्तन के महत्व का दिशा-दर्शन कर सकें तो मेरा यह लघु प्रयास भी महान् पुण्य का अधिकारी होगा। साहित्यिक अनुसन्धान को केवल स्थूल अध्ययन मात्र लेने पर साहित्य की मौलिक आकांक्षाएँ मन्द हो जाती हैं। अतः हिन्दी साहित्य की प्रेरणापूर्ण प्रगति के लिए मौलिक सिद्धान्तों और चिन्तन की दिशा में भी अनुसन्धान का आदर करना आवश्यक है। इस दृष्टि से मैं अपने इस शोध प्रबन्ध के अतीव परीक्षकों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होंने अध्ययन, पाण्डित्य और सामग्री संग्रह से रहित इस प्रबन्ध को स्वीकृत कर अपनी अपार उदारता से मुझे अनुग्रहीत किया है। उनका यह अनुग्रह साहित्य चिन्तन की दिशा में मेरे उत्साह का वर्धन करेगा, साथ ही हिन्दी के अनुसन्धान-कर्ताओं का ध्यान मौलिक और सैद्धान्तिक चिन्तन की ओर आकर्षित करेगा।

सैद्धान्तिक विवेचन और मौलिक चिन्तन की दिशा के दुर्गम मार्ग में अपने दुर्बल चरण रख कर मैंने कुछ दुःसाहस ही किया है। मेरा यह दुःसाहस अँगरेज़ी

की उस कहावत को चरितार्थ करता है जिसका आशय यह है कि 'देवता भी जिस मार्ग पर चरण बढाने मे डरते हैं, उस मार्ग पर मूर्ख कूद पडते हैं'। मेरा यह दुःसाहस मूर्खता नही तो बाल-कौतूहल अवश्य है। मेरे इस बाल-कौतूहल को नैसर्गिक कवि कल्पना और दर्शन की शिक्षा का ही अल्प अवलम्ब रहा है। काव्य के बाल्य-सस्कारो का प्रभाव पाठको को सिद्धान्तो की कल्पना के अतिरिक्त इस प्रबन्ध की भाषा पर भी दिखाई देगा। फिर भी मैंने विचार के तत्वो की रूप-रेखाओं को भाषा के इन्द्रधनुषी आलोक मे भी स्पष्ट रखने का प्रयत्न किया है। दर्शन की शिक्षा से विचार का जो कुछ वरदान अपने महान् आचार्यो से मुझे मिला है, उसका यथोचित उपयोग करके मैंने सिद्धान्तो और तत्वो की यथाशक्ति सूक्ष्म एव सगत विवेचना का उद्योग किया है। किन्तु विचार के सूक्ष्म मार्ग मे स्खलन और भ्रान्ति बहुत सुलभ है। योग के समान दीर्घकाल तक सस्कार और सेवापूर्वक निरन्तर साधना के द्वारा ही विचार के अध्यवसाय दृढ भूमि को प्राप्त करते हैं। विदेशी मनीषियो ने ऐसी ही साधनाओं के द्वारा विभिन्न शास्त्रो के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिए हैं। आज के भारतीय अध्यापक के मन मे साधना की निष्ठा होते हुये भी वे सुविधायें उसे सुलभ नही हैं, जिनके द्वारा वह अपने अध्यवसाय को सार्थक बना सके। रचनात्मक विचार के लिए साधना की निष्ठा और सुविधाओं के साथ साथ चिन्तन की मौलिकता भी अपेक्षित है। जैसा कि डा० देवराज ने अपने 'सस्कृति का दार्शनिक विवेचन' की प्रस्तावना मे निर्देश किया है, भारतवर्ष मे मौलिक चिन्तन की परम्परा शताब्दियो से मन्द है। मौलिक दर्शन-सिद्धान्तो की उद्भावना पराजित और पराधीन चेतना के युग मे सम्भव न हो किन्तु स्वतन्त्र भारत के विकास की दिशा मौलिक चिन्तन के अनुकूल होगी। डा० हरद्वारीलाल शर्मा का लघु किन्तु सुन्दर 'सौन्दर्य शास्त्र' तथा डा० देवराज का 'सस्कृति का दार्शनिक विवेचन' मौलिक चिन्तन के मार्ग मे स्वतन्त्र भारत के महत्वपूर्ण और श्लाघनीय चरण हैं। पहला स्वतन्त्र भारत की चेतना के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, तो दूसरा शताब्दियों के बाद जागरित चेतना के गम्भीर और निर्भीक सत्यानुसधान का सूचक है। काव्य और सस्कृति के सबन्ध मे सत्य-शिव-सुन्दरम् के स्वरूप और सिद्धान्तो के विवेचन को इस प्रबन्ध मे विशेष महत्व देकर मैंने सस्कृति के इस त्रिपद सूत्र की व्याख्या को आगे बढाने का प्रयत्न किया है। मौलिक चिन्तन की अल्प प्रतिभा का सदुपयोग करके मैंने काव्य और सस्कृति के सम्बन्ध मे कुछ रचनात्मक प्रस्ताव

उपस्थित किये हैं, जो इस दिशा में अधिक विस्तृत और गम्भीर चिन्तन की भूमिका बन सकते हैं। यदि इस प्रबन्ध के अनुसंधान में कुछ भी नवीन सत्य का उद्घाटन, शिवम् की समृद्ध कल्पना का संकेत तथा सुन्दरम् के स्वरूप का प्रकाशन हुआ है तो विषय की उपयुक्तता के साथ साथ मेरा अध्यवसाय भी कृतार्थ है।

संस्कृति, कला और काव्य के सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ मौलिकता और गम्भीरता के श्रेय का अधिकारी होते हुए भी इस शोध प्रबन्ध में कुछ ऐसे दोष रह गये हैं जिनके लिए क्षमा याचना करना मेरा कर्त्तव्य है। अपूर्णता का दोष तो एक साधारण अध्यापक की सीमाओं को देखते हुए क्षम्य हो सकता है। किन्तु आवृत्ति और अव्यवस्था के दोष ऐसे हैं जिनसे पाठकों को क्षोभ होना स्वाभाविक है। कुछ सिद्धान्तों और प्रसंगों की आवृत्ति इसमें अधिक हो गई है तथा विचार-क्रम में भी बहुत कुछ अव्यवस्था मिलेगी। यह एक गम्भीर आलोचनात्मक प्रबन्ध का गम्भीर दोष है। इस प्रबन्ध की परिस्थितियों का विवरण मेरे अपराध को कुछ क्षम्य बना सकता है। मेरे अन्य सभी गद्य लेखों और गद्य ग्रन्थों की भांति प्रस्तुत शोध प्रबन्ध भी बोलकर लिखाया गया है। अपने हाथ से लिखने में विचारों की संगति में दृष्टि का जो सहयोग रहता है वह बोलकर लिखाने में नहीं रहता। बोलकर लिखाने में कुछ सुविधाओं के साथ मानसिक प्रबन्धन की कठिनाई बढ़ जाती है। अतः उसमें विचारों की अव्यवस्था और असंगति के लिए अधिक अवकाश रहता है। विचारों की सूक्ष्मता और प्रबन्ध के आकार की विशालता के साथ यह सम्भावना और बढ़ जाती है। यह सम्पूर्ण प्रबन्ध सन् १९५७ के एक वर्ष के भीतर ही रचा गया है। इस एक वर्ष में भी मध्यवर्ग के नागरिक की पारिवारिक कठिनाइयों और असुविधाओं में इसे नियमित क्रम से लिखने का अवसर नहीं मिला। अनेक बाधाओं और विक्षेपों के बीच इस एक वर्ष में लेखन का क्रम-भंग आवृत्ति और अव्यवस्था का एक कारण रहा है। समय की अल्पता के कारण मुझे कभी पूर्व-लिखित को देखने तथा विचार-क्रम को व्यवस्थित करने का अवकाश नहीं मिला। ऐसी समर्थ स्मरण शक्ति मुझे निसर्ग से प्राप्त नहीं है कि विचार के पूर्व-क्रम को सहज रूप में स्मरण रखकर मैं ऐसे विशाल और गम्भीर प्रबन्ध की व्यवस्था को सुगठित बना सकूँ। स्मृति का यह दोष मेरे 'पार्वती' महाकाव्य की व्यवस्थित रचना में भी बाधक रहा। समय की अल्पता की कठिनाई इस बाधा को और बढ़ाती रही है। दो वर्ष के रचना काल में गृह कार्य और अध्यापन की व्यस्तता में

'पार्वती' के पूर्व-रचित अश को भी कभी पढने का अवकाश न मिल सका। रचना के बाद उसका प्रकाशन इतनी शीघ्रता से हुआ कि प्रकाशन के पूर्व भी मैं उसका अवलोकन न कर सका। 'सत्य शिव सुन्दरम्' का प्रकाशन तो उसकी रचना के पाँच वर्ष बाद हो रहा है। किन्तु इन पाँच वर्षो मे भी अन्य रचनाओ मे व्यस्त तथा अनेक गृह-सकटो से त्रस्त रहने के कारण मुझे इसके भी अवलोकन का अवकाश न मिल सका। मुद्रण के प्रसग मे गृह-प्रपचो के बीच ही कुछ नए अध्याय तथा अश लिखा कर इसमे जोड दिए गए हैं। इससे भूमिका-भाग कुछ पूर्णतर बन गया है और कुछ अध्यायो मे भी अधिक पूर्णता आ गई है। किन्तु आवृत्ति और अव्यवस्था के दोष के निवारण का प्रयत्न इसके प्रकाशन तक सम्भव न हो सका।

इस प्रबन्ध की रचना और इसके प्रकाशन की उक्त परिस्थितियो के अतिरिक्त आवृत्ति और अव्यवस्था के कुछ आन्तरिक कारण भी हैं। विचार के सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन मे भिन्न भिन्न प्रसगो में सिद्धान्तो की आवृत्ति विवशता से हो जाती है। विचारो की परिधियाँ और सिद्धान्तो के प्रसग तथ्यो की भाँति निश्चित एव सीमित नही रहते। तथ्यो की भाति विचारो एव सिद्धान्तो के क्षेत्र मे एकाचार कठिन है। साथ ही अनेक प्रसगो मे सिद्धान्त का प्रतिपादन आवृत्ति को आवश्यक बना देता है। इसी कारण मौलिक सिद्धान्तो के प्रतिपादक ग्रन्थो मे यह आवृत्ति प्राय देखने मे आती है। स्वय क्रोचे के 'सौन्दर्य-शास्त्र' मे ही उनके सिद्धान्त की आवृत्ति अनेक बार हुई है। सस्कृति और कला की भूमिका को इस विवेचन मे समाहित कर मैने आवृत्ति और अव्यवस्था की आशका को स्वय बढा लिया है। सस्कृति और कला का विषय बहुत व्यापक और अनिश्चित है। इनके विचार को सीमायें भी स्पष्ट और निश्चित नही है। अत विविध प्रसगो मे सिद्धान्तो और विचारों की आवृत्ति इस विवेचन मे हुई है। सिद्धान्तो की मौलिकता का मोह भी कुछ सीमा तक उनकी आवृत्ति का कारण बना होगा। इस आवृत्ति से प्रबन्ध की रचना के सौन्दर्य की हानि हुई है, इसमे सन्देह नही। मौलिक सिद्धान्तो के पुन पुन प्रतिपादन के इस आग्रह को उदार पाठक सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण मे सहायक मानकर ही क्षमा करे। भविष्य मे अवसर मिलने पर इनमें अनावश्यक आवृत्तियो को दूर करने का प्रयत्न मेरा साहित्यिक कर्तव्य होगा। किन्तु प्रबन्ध की अव्यवस्था का सशोधन आवृत्ति की अपेक्षा अधिक कठिन है। भौतिक और व्यावहारिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि के विवेचनो मे व्यवस्था

अधिक सुकर है क्योंकि इनके विचार तत्वों के स्वरूप और उनकी सीमाएं निश्चित एवं स्पष्ट होती हैं। किन्तु केवल मानसिक तत्वों के विवेचन में यह व्यवस्था कठिन हो जाती है। इसीलिए अधिकांश दार्शनिक विवेचन भी उलझ जाते हैं। संस्कृति, कला और काव्य के विवेचन पूर्णत बौद्धिक नहीं हो सकते। उनमें भाव का सश्लेष होने से इन्द्रधनुष के रंगों की सीमाओं भांति तत्वों का निर्धारण दुष्कर हो जाता है। मुझ जैसे अल्पमति अध्यापक की मानसिक क्षमता संस्कृति कला, सौन्दर्य और काव्य के गम्भीर विवेचन के भार को सफलता पूर्वक वहन करने में समर्थ नहीं है। अत रचना प्रणाली और परिस्थिति के दोषों के अतिरिक्त मेरी अक्षमता भी इस प्रबन्ध की अव्यवस्था का एक प्रमुख कारण है। भविष्य में अवसर मिलने पर मैं अपनी क्षमता के अनुरूप ही इस प्रबन्ध को अधिक पूर्ण और अधिक व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न कर सकता हूँ। विवेचन का विस्तार भी कुछ अव्यवस्था को बढ़ा देता है। संस्कृति और कला के जैसे सूक्ष्म और सन्दिग्ध विषय के इतने विस्तृत विवेचन को सुव्यवस्थित बनाना कठिन है। विस्तार के साथ सिंहावलोकन से रहित मौखिक लेखन की प्रणाली इस कठिनाई को और बढ़ा देती है। भविष्य में इस विवेचन को अधिक पूर्ण बनाने के प्रयत्न में विस्तार के कारण इसकी अव्यवस्था बढ़ जाने की भी आशंका हो सकती है। फिर भी मैं अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार इस तरबूज की गठरी को बाँधने का प्रयत्न करूंगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध में आधुनिक हिन्दी काव्य के विवेचन के प्रसंग में अनेक स्थानों पर मैंने अपने 'पार्वती महाकाव्य' का उल्लेख किया है। संस्कृत और हिन्दी के काव्य में सदा से उपेक्षित शिव कथा को काव्य के रूप में प्रस्तुत करके एक अपूर्व पुण्य से मेरी कवि प्रतिभा कृतार्थ हुई है, इसका मुझे गर्व है। 'पार्वती महाकाव्य' में इस अद्भुत कथा के प्रसंग से लोक-मंगल के उन अनेक तत्वों का समाहार हुआ है, जो संस्कृत और हिन्दी के काव्य में प्राय उपेक्षित रहे हैं। इस दृष्टि से हिन्दी काव्य में 'पार्वती' का अपना स्थान और महत्व है। किन्तु 'पार्वती' की रचना से कृतकृत्य होकर उसके सम्बन्ध में मेरा कर्तृत्व भाव इतना मन्द हो गया है कि उससे प्राप्त आत्मगौरव मेरा व्यक्तिगत अहंकार नहीं रह गया है। मैं अपने को 'पार्वती' में प्रतिष्ठित सांस्कृतिक परम्परा का एक लघु निमित्त मानकर ही इतना कृतार्थ हूँ कि व्यक्तित्व के क्षुद्र गौरव के लिए कर्तृत्व का अहंकार अनावश्यक है। भारतीय संस्कृति के विधायकों, उन्नायकों और संरक्षकों तथा अपने अनेक

आत्मीयो और सुहृदो के भाव-योग का शिवम् 'पार्वती' मे साकार हुआ है। समात्म-भाव का सिद्धान्त भारतीय सस्कृति का अमृत तत्व है। मेरे जीवन और चिन्तन मे वह एक बौद्धिक आग्रह के रूप मे रूढ नही हुआ है वरन् जीवन मे प्राप्त होने वाला समात्मभाव ही काव्य और चिन्तन मे मूर्त हुआ है। 'पार्वती' के रूप मे सस्कृति के जो तत्व साकार हुए हैं वे तत्व ही उसकी प्रेरणा के स्रोत भी हैं। 'पार्वती' के प्रणयन काल मे मुझे इन तत्वो का बोध भी नही था। प्रस्तुत प्रबन्ध के रचनाक्रम मे भी वे न जाने कितने अचेतन संस्कारो की अज्ञात प्रेरणा से विवृत हुए हैं। दोनो कृतियो की धारणा मे जो साम्य है उसका आधार मेरी चेतना के सामान्य सस्कारो मे है। न 'पार्वती महाकाव्य' किन्ही सिद्धान्तो के पूर्वाग्रह को रूप देने का सचेतन प्रयास है और न प्रस्तुत प्रबन्ध 'पार्वती' मे मूर्त्त होने वाले सिद्धान्तो का बौद्धिक और सायास समर्थन है। मेरा अनुरोध है कि 'पार्वती महाकाव्य' और प्रस्तुत प्रबन्ध का मूल्याकन स्वतन्त्र रूप से तथा दोनो मे समाविष्ट जीवन और सस्कृति के तत्वो के तटस्थ परीक्षण के आधार पर किया जाय। प्राय विवेचनो के 'अन्त मे' 'पार्वती' का उल्लेख किया गया है, इसका कारण ऐतिहासिक है। ऐतिहासिक क्रम मे 'पार्वती' उन काव्यो मे नवीनतम है, जिनका उल्लेख इस विवेचन में हुआ है। फिर भी चेतना के समान सस्कारो से उदित होने के कारण 'पार्वती' और प्रस्तुत प्रबन्ध की धारणाओ मे समानता होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से दोनो एक दूसरे के पूरक भी हैं।

• 'सत्य शिव सुन्दरम्' के विवेचन के प्रसग मे मैंने 'पार्वती' का उल्लेख काव्य के कुछ लक्षणो के उदाहरण के लिए किया है। प्राय 'पार्वती' की चर्चा 'रामचरित-मानस', 'कामायनी' आदि हिन्दी काव्य की महान् कृतियो के साथ हुई है। विद्वानो और पाठको को इसमें मेरे दम्भ का आभास दिखाई देना स्वाभाविक है। 'पार्वती' का हिन्दी काव्य मे क्या स्थान होगा, इसका निर्धारण तो भविष्य ही करेगा। भव-भूति का 'कालोऽह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' मेरा भी आश्वासन रहा है। 'पार्वती' के प्रकाशन के इन सात वर्षो मे हिन्दी के अधिकारी आलोचक उसके सम्बन्ध मे मौन ही रहे हैं। 'पार्वती' शिव-पार्वती की पुण्य कथा पर आश्रित हिन्दी का प्रथम महा-काव्य है, इस सरल सत्य को भी प्रमाणित करने की उदारता वे नही दिखा सके। इसके अतिरिक्त जिस हिमालय की सुरक्षा का कोलाहल आज देश मे सुनाई दे रहा रहा है, उस हिमालय की महिमा 'पार्वती' मे आदि से अन्त तक व्याप्त है। हिमालय

अनुक्रम

अध्याय | पृष्ठ

भूमिका

१ सत्य शिव सुन्दरम् की भावना [illegible]
२ सत्य शिव सुन्दरम् का आधार ३
३ सत्य शिव सुन्दरम् का स्थान [illegible]
४ सत्य शिव सुन्दरम् का स्वरूप ८[illegible]
५ संस्कृति साहित्य और कला १[illegible]
[illegible] कविता का स्वरूप १[illegible]८
[illegible] काव्य और अन्य कलाएँ १८५
[illegible] सत्य शिव सुन्दरम् से काव्य का सम्बन्ध २[illegible]

सत्यम्

९ सत्य और सौन्दर्य [illegible]
१० सत्य और श्रेय २[illegible]०
११ काव्य और सत्य [illegible]
१२ सत्य और कल्पना २९८
१[illegible] सत्य के दो मुख्य रूप [illegible]९
१४ सत्य के उपभेद और काव्य [illegible]९
१५ काव्य में प्राकृतिक सत्य [illegible]५
१[illegible] काव्य में सामाजिक सत्य [illegible]५
१७ ऐतिहासिक सत्य और काव्य [illegible]९[illegible]
१८ पौराणिक सत्य और काव्य ४०९

अध्याय | पृष्ठ

१६ कथावृत्त और काव्य ४१८
२० मनोवैज्ञानिक सत्य और काव्य ४३१
२१ अलौकिक सत्य और काव्य ४४३
२२ तार्किक सत्य और काव्य ४५६
२३ नैतिक सत्य और काव्य ४७५
२४ धार्मिक सत्य और काव्य ४६१
२५ आध्यात्मिक सत्य और काव्य ५०६
२६ सांस्कृतिक सत्य और काव्य ५२१

की महिमा और देश की सुरक्षा का स्वर 'पार्वती' के कवि ने आज से सात वर्ष पूर्व उठाया था। इसके अतिरिक्त अनीति और अतिचार से राष्ट्र की रक्षा की एक तरुण योजना 'पार्वती' में प्रतिष्ठित है। नारी का गौरव, युवकों का आदर्श, शक्ति साधना से सरक्षित मगलमयी संस्कृति, और संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा 'पार्वती' के दर्शन की दिव्य दिशायें हैं। काव्य का एक गरिमामय रूप 'पार्वती' में साकार हुआ है। 'पार्वती' के काव्य और दर्शन में ऐसे अनेक नवीन और महत्वपूर्ण तत्व हैं, जो गम्भीर साहित्यिक अनुशीलन के क्रम में कभी प्रकाशित होकर मेरे आभास्य अहंकार को विनय का गौरव प्रदान करेंगे। फिर भी मैं प्रकृति के अनुरोध से प्रभूत अपने उस अहंकार के लिए, जिससे प्रेरित होकर मैंने 'पार्वती' की गणना 'रामचरितमानस' और 'कामायनी' के साथ की है, विद्वानों के समक्ष क्षमा याचना करता हूँ और उनसे साहित्यिक न्याय की प्रार्थना करता हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना में अनेक प्राचीन आचार्यों और अर्वाचीन लेखकों की प्रतिभा मेरी पथ-प्रदर्शक रही है। इन दोनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के पूर्व एक बात के लिए विशेषरूप से क्षमा याचना मेरा कर्तव्य है। विवेचन के प्रसंग में भारतीय काव्य परम्परा तथा कुछ कवियों के सम्बन्ध में मैं कुछ अप्रिय धारणा और कटु आलोचना का अपराधी हूँ। सम्भव है मैंने इस सम्बन्ध में साहित्यकार के शील की मर्यादा का भी उल्लंघन किया हो। आलोचना की अशालीनता के लिए मैं क्षमा याची हूँ। किसी भी आचार्य अथवा कवि का अनादर करने की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता। सभी पूर्वाचार्यों और कवियों की मैं अत्यन्त विनय के साथ वन्दना करता हूँ। सिद्धान्तों की आलोचना की दृष्टि से ही मैंने विचारों का खण्डन किया है। प्रस्तुत विवेचन में प्रतिपादित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मेरा विनम्र अनुरोध है कि उदारता और निष्पक्षता के साथ उनकी सत्यता का परीक्षण किया जाय। काव्य की समृद्ध और सांस्कृतिक कल्पना की पूर्णता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्वाचार्यों का पूर्ण आदर करते हुए हम अपनी परम्पराओं के रूढ़ि-ग्रस्त आग्रहों और अभावों का निष्पक्ष और निर्भय पर्यालोचन करें।

जिन अनेक ग्रन्थों के अध्ययन के संस्कारों का सहयोग इस प्रबन्ध के प्रणयन में रहा है, उन सबका उल्लेख असम्भव है। प्रबन्ध के अन्त में कुछ मुख्य आधार-ग्रन्थों की सूची दे दी गई है। उनमें कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका आभार इस प्रबन्ध के प्रणयन में अधिक है। इन ग्रन्थों की सहायता के बिना प्रबन्ध को यह रूप देना

भी सम्भव न था। इनमे बर्नार्ड बोसान्क्वेट की 'ए हिस्ट्री ऑव एस्थेटिक्स' कौलिंगवुड की 'एन आउट लाइन ऑव फिलासफी ऑव आर्ट', कैरिट की 'ए थ्योरी ऑव ब्यूटी', लिस्टोवेल की 'ए क्रिटीकल हिस्ट्री ऑव माडर्न एस्थेटिक्स', डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की 'हिस्ट्री ऑव वैस्टर्न एस्थेटिक्स' और 'हिस्ट्री ऑव इंडियन एस्थेटिक्स', डा० नगेन्द्र की 'काव्यशास्त्र की भूमिका' और 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' डा० वासुदेवशरण-अग्रवाल की 'कला और संस्कृति', डा० देवराज का 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' तथा डा० हरद्वारीलाल शर्मा का 'सौन्दर्य शास्त्र' विशेष उल्लेखनीय हैं। मैं इन ग्रन्थों के प्रणेताओं का विशेष रूप से आभारी हूँ।

अनेक सुहृदों की प्रेरणा और उनके सद्भाव का पुण्य इस प्रबन्ध की पूर्णता में साकार हुआ है। कई वर्ष पूर्व डा० सोमनाथ गुप्त की मौलिक प्रेरणा से विश्वविद्यालय की उपाधि के निमित्त से मैंने इस विषय को अपने अध्ययन और चिन्तन का आधार बनाया। इस कार्य का आरम्भ डा० सोमनाथ गुप्त के स्नेह और उनकी प्रेरणा का ही फल है। आरम्भ के बाद भी उनकी स्नेहपूर्ण प्रेरणा अन्त:सलिला की भाँति इस रचना के कठिन मार्ग को अन्त तक सरस बनाती रही है। इस प्रबन्ध की रचना सन् १९५७ हुई। उस समय गवर्नमेन्ट कॉलेज अजमेर के वर्तमान प्रिंसिपल डा० शारदा प्रसाद कौशिक महारानी श्री जया कॉलेज भरतपुर के प्रिंसिपल थे। उनकी उस छाया में मुझे साहित्य रचना के लिए जो सुविधा और अवकाश प्राप्त हुआ यह प्रबन्ध उसी का फल है। इसके अतिरिक्त डा० कौशिक का मृदुल प्रोत्साहन भी इस कार्य में मुझे प्रेरणा और शक्ति प्रदान करता रहा। उस समय महारानी श्री जया कालेज के वर्तमान प्रिंसिपल श्री कृष्णकिशोर महर्षि वाइस प्रिंसिपल थे। श्री कृष्णकिशोर महर्षि का ओज पूर्ण सख्य और सौहार्द मेरे भरतपुर निवास का सम्पद् है। जिस सहज आत्मीय भाव से श्री महर्षि के साथ मेरे बन्धुत्व के सूत्र दृढ हुए वह उनके ओजस्वी, मधुर और स्नेहपूर्ण व्यक्तित्व की ही प्रसन्न परिणति तथा मेरे अलक्ष्य पूर्व-पुण्यों का प्रत्यक्ष फल है। स्नेह और सौहार्द के अतिरिक्त साहित्य, संस्कृति और दर्शन में श्री महर्षि की गम्भीर रुचि मेरी साहित्य-साधना में एक मधुर प्रेरणा का कार्य करती रही है। जिस समात्मभाव के सिद्धान्त का मैंने इस प्रबन्ध में प्रतिपादन किया है, उसे आत्मीय सम्बन्धों में चरितार्थ कर उन्होंने मेरी धारणा को धन दिया है। आज उन्हें महारानी श्री जया कालेज के प्रिंसिपल पद पर प्रतिष्ठित देखकर मुझे हार्दिक हर्ष और आनन्दि

गर्व है। इस अवसर पर इस प्रबन्ध का प्रकाशन एक ऐसा सयोग है जो मेरे लिए एक विशेष हर्ष और सन्तोष का कारण है। यदि डा० सोमनाथ गुप्त की मौलिक प्रेरणा इस साहित्यिक अनुष्ठान का 'सत्यम्' है, तो डा० शारदा प्रसाद कौशिक का प्रोत्साहन इसका 'शिवम्' है तथा श्री कृष्णकिशोर महर्षि का आत्मीय सौहार्द इसका 'सुन्दरम्' है। मुझे विश्वास है कि उनके कार्यकाल मे उनके सौहार्द का सौन्दर्य साहित्य और सस्कृति की कुछ महत्वपूर्ण रचनाओ मे प्रकाशित होगा।

मेरे अन्य सुहृदो मे जो मेरी साहित्य-साधना मे विशेष प्रेरणा के स्रोत रहे हैं नगर के प्रतिष्ठित चिकित्सक डा० गोपाल लाल शर्मा, तथा महारानी श्री जया कालिज के वरिष्ठ अध्यापक श्री रामशरण सिह एव श्री हरसहाय सक्सैना मुख्य हैं। श्री रामशरण सिह का सरल और आत्मीय सौहार्द सामाजिक जीवन का मौलिक सत्य है। एक योग्य चिकित्सक के नाते डा० गोपाल लाल शर्मा मेरे परिवार का उपकार करते रहे हैं। किन्तु इसके साथ साथ वे साहित्य और सस्कृति के अनुरागी भी हैं। उनका सौहार्द मेरी साहित्य साधना को भी एक स्वस्थ उद्दीपन देता रहा है। श्री हरसहाय सक्सैना साहित्य के अध्यापक होने के साथ उसके पारखी भी हैं। मेरी रचनाओ की मार्मिक अभिशसा के द्वारा वे एक सूक्ष्म और गम्भीर प्रेरणा से मेरी साहित्य साधना को अनुप्राणित करते रहे हैं। श्री रामशरण सिह के सरल सौहार्द की निर्मल गगा एव डा० गोपाल के मधुर स्नेह की गम्भीर यमुना तथा श्री हरसहाय सक्सैना की सद्भावपूर्ण अभिशसा की निगूढ सरस्वती के सगम पर मेरा भरतपुर का कल्पवास सफल हुआ है। मेरे स्नेह-सम्बन्धो की इस त्रिवेणी के सगम मे जीवन और सस्कृति का सत्य, श्रेय और सौन्दर्य भी चरितार्थ हुआ है।

महामहिम आचार्यपाद श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य के पुण्य चरणो के प्रसाद से मेरी साहित्य साधना ही नही मेरा जीवन भी कृतार्थ हुआ है। उनके उदार अध्यात्म की अपार विभूति के प्रसाद का भागी बनकर मैं अनन्त पुण्य का अधिकारी बना हूँ। उसी पुण्य से मेरे जीवन और साहित्य का पथ पवित्र एव प्रकाशित हुआ है। उनकी यह अपार अनुकम्पा उनके पुण्य दर्शन का सहज और सर्वकालिक फल है। जीवन और साहित्य दोनो मे ही उनकी कृपा का अनुयोग अपरिमेय है। श्रीशैव दर्शन के कुछ दुरुह तत्वो को अत्यन्त सरलता से प्रकाशित करके इस प्रबन्ध के विवेचन को उन्होंने जो नवीन दिशायें प्रदान की हैं, उनमे उनके प्रसाद का प्रकाश मुझे अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। ऋषियो के 'फलानुमेय अनुबन्धो' की भाति उनकी

सहज कृपा का अधिक अनुमान मेरी अन्य कृतियों से हो सकेगा। अपार सृष्टि के 'विमर्श' मे प्रकाशित होकर भी आध्यात्मिक विभूति का 'प्रकाश' अनवगाह्य रहेगा। जीवन और साहित्य की साधनायें उस 'प्रकाश' के सत्य के आभास से ही विपुल श्रेय और सौन्दर्य के 'विमर्श' मे कृतार्थ होती हैं।

महामहिम आचार्यपाद श्रीमदमृतवाग्भवाचार्य जी महाराज का चरण-प्रसाद मेरी साधना का मौलिक और महिमामय 'सत्य' है। रामपुरिया जैन कॉलिज, बीकानेर के वर्तमान प्रिंसिपल श्री शान्तिस्वरूप जी ने मेरी साहित्य साधना के 'शिवम्' को स्वरूप दिया है। पन्द्रह सोलह वर्ष पूर्व जब जसवन्त कॉलिज जोधपुर से मैंने अध्यापक का जीवन आरम्भ किया तभी से व मेरे लिए अनेक रूपों म स्नेह, सौहार्द, सहायता और प्रोत्साहन के स्रोत रहे हैं। मेरी साहित्य साधना की एक सबल अभिप्सा के द्वारा वे मुझे निरन्तर प्रोत्साहन और प्रेरणा देते रहे हैं। पिछल चार वर्षो तक व महारानी श्री जया कालिज क प्रिंसिपल रहे। उनके शासन काल के इन चार वर्षो मे मुझे साहित्य रचना के लिये जितनी स्वतन्त्रता और सुविधा मिली वह जीवन मे दुर्लभ है। उनकी इस कृपा के मूल्य का कुछ अनुमान इन चार वर्षो क अल्पकाल मे रचित मेरी कृतियो से लगाया जा सकता है। इन कृतियो मे सैकड़ो साहित्यिक और सास्कृतिक लेखो क अतिरिक्त राजस्थान विश्व विद्यालय मे डी० लिट० की उपाधि के लिये प्रस्तुत भारतीय जीवन दर्शन का विशाल अध्ययन तथा राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत 'भारतीय सस्कृति के प्रतीक' एव 'अभिनव रस मीमासा' विशेष उल्लेखनीय हैं। इस दृष्टि से श्री शान्तिस्वरूप जी का शासन काल मेरी साहित्य साधना का स्वर्ण युग रहा है।

मेरी साहित्य साधना म सबल प्रेरणा और निरन्तर प्रोत्साहन के योग के अतिरिक्त प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रकाशन को सम्भव बनाने का सम्पूर्ण श्रेय श्री शान्तिस्वरूपजी को है। राजस्थान विश्वविद्यालय तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से प्राप्य सहायता के अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रकाशन का शेष सम्पूर्ण व्यय उन्हाने ही वहन किया है। उनकी इस आर्थिक सहायता का परिमाण भी बहुत है, किन्तु इसमे अन्तर्निहित उनका स्नेह और सदभाव अपरिमेय है। जिस सहज आत्मीयता के साथ उन्होने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार स्वीकार किया उसमें मुझे उनके उपकार की अपेक्षा अपने अधिकार का ही आभास अधिक हुआ। वे दीर्घकाल स मेरे आत्मीय अग्रज की भाति मुझ पर छाया करते रहे हैं। उसी आत्मीय सम्बन्ध के अनुरोध से एक

दुर्ललित अनुज के बाल हठ को मान देकर ऐसे भव्य रूप मे इस महर्घ प्रकाशन का प्रबंध, समय की आर्थिक स्थिति के विपरीत होते हुए भी, उन्होने प्रसन्नतापूर्वक किया है। इस भव्य कागज और सुन्दर छपाई की व्यवस्था वे बीकानेर जाने के पूर्व स्वय अपनी इच्छानुसार कर गये थे। किन्तु यह आर्थिक सहायता उनके आत्मीय सम्बन्ध की एक स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है। वस्तुत वे भाव और व्यवहार दोनो के द्वारा मेरे जीवन को साहित्यिक सफलता को अपार प्रेरणा और प्रोत्साहन देते रहे हैं। अपने शासन-काल म उन्होंने मुझे जो असाधारण सम्मान दिया उसी से कृतार्थ होकर मैं राजस्थान सरकार द्वारा बहुमान-पूर्वक प्रदत्त महारानी श्री जया कॉलेज के प्रिंसिपल पद का परित्याग करने का साहस तथा अपने समय को साहित्य-साधना में लगाने का निश्चय कर सका हूँ। उन्होने दीर्घकाल से मेरी साहित्य-साधना को निरन्तर प्रोत्साहन देकर दृढ बनाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की स्वय व्यवस्था कर उन्होंने मेरे साहित्यिक जीवन की व्यावहारिक सफलता का मार्ग प्रशस्त किया है। अपने शासन काल मे अधिकतम स्वतन्त्रता, सुविधा और सम्मान देकर उन्होंने मेरी साहित्य साधना और मेरे जीवन दोनो को ही बहुत कृतार्थ किया है। मेरी भावी सफलताय उनके उदार स्नेह की सम्भावनाओ को ही चरितार्थ करगी।

'सत्य शिव सुन्दरम्' के इस भव्य रूप मे मुद्रण का श्रेय शर्मा आदर्श इलैक्ट्रोमैटिक प्रेस, अलवर के स्वामी श्री रमेशचन्द्र शर्मा को है। उन्होने व्यावसायिक दृष्टिकोण को त्यागकर जिस आत्मीयता और अनुराग के साथ इस ग्रन्थ का सुन्दर एव सुरुचिपूर्ण मुद्रण किया है वह अविस्मरणीय है। महामहिम आचार्यपाद के अनुग्रह का 'सत्य', अग्रज तुल्य आदरणीय श्री शान्तिस्वरूप जी के अनेकविध प्रोत्साहन के 'शिवम्' से सफल और श्री रमेशचन्द्र शर्मा की सुरुचि से इस 'सुन्दर' रूप मे साकार हुआ है। मेरा विश्वास है कि श्री रमेशचन्द्र शर्मा का सौहार्द श्री शान्तिस्वरूप जी द्वारा प्रशस्त मेरे साहित्यिक जीवन की सफलता मे उत्तरोत्तर अपने सराहनीय सौन्दर्य को प्रकाशित करेगा।

मेरी सहधर्मिणी श्रीमती शकुन्तला रानी हमारे दाम्पत्य जीवन के आरम्भ से ही अपने प्रसन्न स्वभाव और सहज समात्मभाव से जो गम्भीर प्रेरणा मेरे जीवन मे भरती रही हैं वह मेरे आत्मबल का अक्षय स्रोत है। दाम्पत्य-जीवन मे ही परिवार के अनेक प्रपचो के बीच अपनी शिक्षा पूर्ण करके वे जिस उत्साह और उल्लास के साथ मेरी साहित्य साधना मे सहयोग देती रही हैं वह अवर्णनीय है। एक साधारण

अध्यापक के जीवन की सीमाओं मे ऐसे लेखन और प्रकाशन की कठिनाइयाँ अनन्त हैं। इस प्रसग के कार्यो मे उन्होने अपने गृह-कार्यो के साथ-साथ अपार श्रम उठाया है। साथ ही एक हिन्दी साहित्यकार को अनिवार्य रूप से होने वाली निराशा के क्षणो मे मेरे 'धीरज और धर्म' दोनों को अपने प्रबल विश्वास और सहज उत्साह से रक्षित कर वे आपत्काल मे 'मित्र और नारी' दोनों के कर्तव्य का पालन कर मेरे आत्मबल को पोषित करती रही हैं। हिन्दी समाज की प्रवृत्तियो से परिचित होते हुए भी उन्होने अपने आभूषणो के मूल्य से मेरे 'पार्वती महाकाव्य' के प्रकाशन की व्यवस्था कर मेरी साहित्य-साधना की व्यावहारिक सफलता का मार्ग प्रशस्त किया। हिन्दी समाज मे उपेक्षित रहते हुये भी पुरस्कार-समितियो ने मेरी साधना और उनके साहस का यथेष्ट सम्मान किया, यह उनके पुण्यो का ही फल है। जीवन की सभी परिस्थितियो मे अपने प्रगाढ सहयोग और गम्भीर समात्मभाव के द्वारा वे सहधर्मिणी के पद को सार्थक बनाकर मेरी प्रतिभा का पथ आलोकित करती रही हैं। उनका सहयोग और समात्मभाव मेरे जीवन का सर्वोपरि मौलिक 'सत्य' है।

मेरी साहित्य साधना मे मेरे अनेक छात्रो का सहयोग इस साधना का शिवम् है। मोहनलाल शर्मा, प्रकाशकुमार श्रीवास्तव, मुकुट विहारी अग्रवाल, महेशचन्द्र कटरपच, राम प्रसाद शर्मा, हरिश्चन्द्र शर्मा पाचाल, विष्णुचन्द्र पाठक, रामचरण शर्मा, घनश्याम शर्मा, उमेशचन्द्र चतुर्वेदी आदि अनेक छात्रो ने 'सत्य शिव-सुन्दरम्' की रचना के प्रसग मे गणेश का कार्य कर अपने मगलमय सहयोग के द्वारा इसे पूर्ण किया है। रचनाओ के लेखन और प्रकाशन के विविध प्रसगो मे अपनी सहज रुचि और अपने सरल उत्साह के द्वारा मेरे बालको ने मेरी साहित्य-साधना के 'सौन्दर्य' को बढ़ाया है।

राजस्थान विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए १०००) की आर्थिक सहायता दी है तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने भी १०००) का अनुदान दिया है। इस आर्थिक सहायता से ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन की कल्पना का आरम्भ सम्भव हो सका। इस आर्थिक सहायता के लिए मैं राजस्थान विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अधिकारियो का हृदय से आभारी हूँ।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्रीजया कॉलेज, भरतपुर
मकर सक्रान्ति सं० २०१६ विक्रमी।

विनीत—
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

भूमिका

अध्याय १

सत्यं शिवं सुन्दरम् की साधना

प्रकृति की उदासीन सत्ता में जीवन का स्फुरण होते ही सत्य-शिव-सुन्दरम् का उदय होता है। उदासीन प्रकृति के रूपों और प्रक्रियाओं में भी मनुष्य सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के दर्शन करता है। प्रकृति को अचेतन मानने पर उसमें सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही मानी जा सकती है, उनकी अनुभूति नहीं। अनुभूति के बिना यह अभिव्यक्ति कृतार्थ नहीं होती और न इसे प्रमाणित ही किया जा सकता। अनुभूति में प्रतिबिम्बित होकर ही यह अभिव्यक्ति प्रतिफलित होती है। किन्तु सत्ता और व्यवस्था के रूप में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य प्रकृति में भी निहित रहते हैं। अभिव्यक्ति की मानवीय चेतना में प्रकृति का यह निधान 'उद्घाटित' होता है। यही सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का आधार है। निःसन्देह इनकी अभिव्यक्ति चेतना के पटल पर होती है, किन्तु इसके साथ-साथ इनकी वस्तु-निष्ठता भी स्पष्ट है। भाषा के व्यवहार में इनके वस्तुनिष्ठ संदर्भ का यही कारण है। अनेक विद्वानों ने इनको पूर्णतया आत्मगत मानने का प्रयत्न किया है किन्तु भाषा के व्यवहार में सामान्यतः सत्य, श्रेय और सौन्दर्य का संकेत वस्तुगत होता है। हम प्रायः किसी बहिर्गत सत्ता को सत्य, शिव एवं सुन्दर मानते हैं। भाषा का यह सामान्य प्रयोग मनुष्य-समाज की व्यापक और सामूहिक चेतना के आधार पर प्रचलित हुआ है, जबकि सत्य, श्रेय और सौन्दर्य को पूर्णतः आत्मगत, अतएव व्यक्तिगत, मानने वाले सिद्धान्त भी आत्मगत एवं व्यक्तिगत हैं। इन सिद्धान्तों की सार्वभौमता सदा संदिग्ध रहेगी।

अतएव सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप और सिद्धान्तों के विवेचन के प्रसंग में इनके वस्तुनिष्ठ आधार की उपेक्षा उचित नहीं है। भाषा और समाज के सामान्य व्यवहार के सूत्र से, वस्तुनिष्ठ आधार से ही इनके स्वरूप के विवेचन का आरम्भ विचार की सही दिशा है। इनके स्वरूप के निर्धारण के लिए वस्तुगत व्यवस्थाओं में इनके लक्षण खोजना आवश्यक है। इतना अवश्य है कि मानवीय चेतना की विकसित भूमि पर पहुँचने पर ही सत्य-शिव-सुन्दरम् के स्वरूप का अनुभव एवं

विवेचन आरम्भ होता है। इतना ही नही चेतना के तत्व इनके स्वरूप मे भी समाहित हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि चेतना की भूमि पर आकर सत्य, श्रेय और सौन्दर्य केवल वस्तुनिष्ठ नही रह जाते, इनके विकसित रूपो मे वस्तुगत सत्ता और व्यवस्था के साथ-साथ चेतना के सूत्रो का भी सन्निधान होता है। हम चाहे तो वस्तुगत सत्ता एव व्यवस्था को सत्य, श्रेय और सौन्दर्य का ताना तथा चेतना के सूत्रो को इनका बाना कह सकते हैं। इसी ताने-बाने से इनका पूर्ण पटल निर्मित होता है। अत इनके केवल वस्तुनिष्ठ अथवा केवल आत्मनिष्ठ मानने वाले सिद्धात एकागी हैं। ये दोनो ही प्रकार के एकागी सिद्धान्त सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के विविध एव सर्वमान्य रूपो की सगत व्याख्या नही कर सकते। प्रकृति की वस्तुगत भूमि और चेतना के आत्मगत आकाश के सगम पर ही सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के अनन्त क्षितिजो का उद्घाटन होता है।

सत्य शिव-सुन्दरम् की यह धारणा प्रकृति और चेतना की दो विरोधी सत्ताओ का सकर नही है, वरन् इन दोनो का सामजस्य है। इस सामजस्य का आधार सिद्धातो के वे सामान्य सूत्र हैं, जो प्रकृति और आत्मा दोनो के क्षेत्रो मे फैले दिखाई देते हैं। विकास की दृष्टि से चेतना मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के आविर्भाव की पूर्ण परिणति मानी जा सकती है। इतना अवश्य है कि चेतना के उदय के बिना इनकी कल्पना कठिन है। विचार मनुष्य का ही विशेष अधिकार है और विचार मे सत्य, श्रेय एव सौन्दर्य की प्रकल्पना चेतना के सूत्र से ही होती है। किन्तु जिस प्रकार चेतना के बिना सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की परिणति सभव नही है, उसी प्रकार प्रकृति के वस्तुगत आधारो के बिना इनकी केवल आत्मगत अभिव्यक्ति भी अकल्पनीय है। इसीलिए शैव-तन्त्रो मे 'शक्ति' को प्रधानता दी गई है तथा 'शक्ति' और 'शिव' के अभिन्न साम्य को सत्य का पूर्ण रूप माना गया है। प्राकृतिक जगत की सभावना का नाम ही 'शक्ति' है। तन्त्रों मे उसकी 'सुन्दरी' सज्ञा है, जो इस बात का सकेत करती है कि सौन्दर्य का रहस्य भी प्राकृतिक सत्ता के वस्तुगत आधार मे निहित है, यद्यपि वह चेतना के आत्मगत आधार से अभिन्न है जिसका नाम तन्त्रो में 'शिव' है। भाषा के सामान्य व्यवहार मे सत्य, सुन्दर और 'शिव' मे चेतना के तत्व की उत्तरोत्तर प्रधानता बढती जाती है, किन्तु दूसरी ओर शिव, सुन्दर और सत्य मे वस्तुगत भाव उत्तरोत्तर अधिक है। मनुष्य मे चेतना का विकास अधिक हुआ है, अतएव चेतना की ओर उसका पक्षपात अधिक है। इसीलिए वह चेतना के तत्वो से निर्मित सत्य, श्रेय और सौन्दर्य

के रूपों को प्राय श्रेष्ठ मानता है। एक सीमा तक यह ठीक भी है क्योंकि इन रूपों में मनुष्य का कर्तृत्व अधिक रहता है। कर्तृत्व की सृजनात्मकता इन रूपों की श्रेष्ठता का समर्थन करती है। किन्तु सन्तुलित विचार से प्रकृति और चेतना के उभयविध आधारों के साम्य में ही सत्य, शिव और सुन्दर का पूर्ण रूप विदित होगा, फिर भी यदि विकास की दृष्टि से खोज कर तो परमाणु से लेकर परमात्मा तक सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के उत्तरोत्तर आविर्भाव का अनुसन्धान कर सकते हैं। मानवीय चेतना इस अनुसन्धान का आवश्यक सूत्र होगी। चेतना के तत्वों की समृद्धि की दृष्टि से हम इस विकास के चरणों में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि देख सकते हैं किन्तु दूसरी ओर साम्य में ही इनका अधिक परिपूर्ण रूप प्रकट होगा। जगत में परमात्मा की व्याप्ति इस साम्य की पूर्णता की ओर संकेत करती है। स्वयं चेतना के स्वरूप में भी इस साम्य का सूत्र सन्निहित है। एक ओर चेतना का लक्षण प्रकृति के विषयों और काल क्रम का आकलन है। किन्तु दूसरी ओर इस आकलन का कर्ता होने के नाते चेतन तत्व इन सबसे अतिक्रान्त रहता है। अतिक्रान्ति में चेतना की श्रेष्ठता का इङ्गित अवश्य है किन्तु व्याप्ति में उक्त साम्य का सूत्र भी स्पष्ट है। सम्भवत अतिक्रान्ति और साम्य का साम्य सत्य, श्रेय और सौन्दर्य का सर्वाधिक परिपूर्ण रूप है। जीवन के पूर्णतर अनुभव की गहराइयों में इस धारणा की सत्यता का आभास मिल सकता है।

विषय के विवेचन के लिए विश्लेषण और क्रम अपेक्षित हैं, चाहे ये दोनों ही अन्तिम सत्य न हों। मनुष्य की समृद्ध चेतना का स्वरूप इन दोनों का सत्कार करके इनका अतिक्रमण करता है और एक शाश्वत साम्य की परमता की ओर संकेत करता है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में इसी शाश्वत साम्य की प्रतिष्ठा हुई है और यही उसका सबसे अधिक गौरवमय तत्व है। किन्तु शाश्वत साम्य का यह पूर्ण सत्य, जिसमें श्रेय और सौन्दर्य के भाव भी समाहित हैं, क्रम और विश्लेषण की पूर्णत उपेक्षा नहीं करता। ऐसी उपेक्षा साम्य के सत्य को खंडित करती है। पूर्णतम साम्य के अन्तर्गत समाहित होने पर विश्लेषण और काल के प्राकृतिक उपकरण सत्य को अधिक यथार्थ, श्रेय को अधिक सम्पन्न और सौन्दर्य को अधिक समृद्ध बनाते हैं। साम्य, विश्लेषण और क्रम के इस प्रसंग में हमें एक ओर सत्य, शिव और सुन्दर के पूर्ण रूप को उनके समन्वित साम्य में देखना होगा, वहाँ इन तीनों के पृथक-पृथक रूपों का तथा प्रत्येक रूप के अन्तर्गत उनके उपभेदों का विश्लेषण भी

करना होगा। साथ ही इन रूपो मे विकास के क्रम का अनुसन्धान भी करना होगा। इन रूपो के सामान्य एव मौलिक तत्वो के आधार पर प्रतिष्ठित होने वाले उत्तरोत्तर विकसित रूपो मे श्रेष्ठता की श्रेणिया निर्धारित करना अपेक्षित है। शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से श्रेष्ठता की इन श्रेणियो का महत्व है। इसके अतिरिक्त साम्य के अनुरूप होने पर ये श्रेणियाँ सत्य, शिव और सुन्दर के पूर्णतर रूप के विधान मे भी योग देती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ मे सत्य-शिव-सुन्दरम् का विवेचन साम्य के पूर्ण स्वरूप की भूमिका मे सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर विश्लेषण और श्रेणी-विधान के अनुसार किया गया है। इन सबका जितना साम्य इस ग्रन्थ मे समाहित हो सका है, उतनी ही इस ग्रन्थ की रचना सार्थक कही जा सकती है।

सामान्य व्यवहार तथा शास्त्रीय विवेचन दोनो मे सत्य, शिव और सुन्दर को पृथक-पृथक माना जाता है। उनके अपने स्वरूप और लक्षण हैं। अपने पृथक रूप मे सत्य उदासीन अवगति का विषय है। सत्य की सत्यता अपने स्वरूप मे ही पूर्ण है। मनुष्य की दृष्टि से स्पृहणीयता अथवा कृतार्थता का भाव उसमे आवश्यक रूप से समाहित नही है। इसी आधार पर कटु सत्य, अप्रिय सत्य, घातक सत्य आदि की सभावनायें सगत होती हैं। श्रेय स्पृहणीय भी है और उसकी साधना मे जीवन कृतार्थ होता है। इस कृतार्थता के अनेक रूप हैं और इसकी अनेक श्रेणियाँ हैं। इसीलिए श्रेय के अनेक रूप हो जाते हैं और उसके सम्बन्ध मे मतभेद प्रकट होते हैं। सौन्दर्य भी स्पृहणीय है, किन्तु सौदर्य का सपूर्ण स्वरूप इस स्पृहणीयता से ही निमित नही होता, वरन् एक प्रकार से यह स्पृहणीयता सौन्दर्य के स्वतन्त्र स्वरूप का सहज एव आगन्तुक फल प्रतीत होती है। सौन्दर्य का स्वरूप श्रेय की अपेक्षा तथा सत्य का स्वरूप सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र और वस्तुगत है। सत्य की अपेक्षा सौन्दर्य मे तथा सौन्दर्य की अपेक्षा श्रेय मे मानवीय चेतना और जीवन के प्रयोजन का अनुपात उत्तरोत्तर बढता जाता है। सत्य-शिव-सुन्दरम् के सम्पूर्ण स्वरूप के निर्धारण के लिए इस विश्लेषण का विस्तार अपेक्षित है। इसी दृष्टि से यह विस्तार ग्रन्थ की रचना का अवलब बना, किंतु इसके साथ-साथ कुछ ऐसे सामान्य तत्व अथवा सिद्धात भी हैं, जो सत्य, शिव और सुन्दर की एकता तथा उनके साम्य के सूत्र बन सकते हैं। अगले अध्याय मे सत्य-शिव-सुन्दरम् के आधार के रूप मे इनका विवरण किया गया है। सत्य, शिव और सुन्दर के पदो एव भावो मे भी जहाँ एक ओर इनके पृथक

स्वरूप के सकेत मिलते हैं वहा दूसरी ओर एकता तथा इनके साम्य के सूत्र भी दिखाई देते हैं।

'सत्य' पद का निर्माण 'सत्' के आधार पर हुआ है। मूलत 'सत्' सत्य का वाचक है। जो कुछ भी 'है', वह सत्य है। इस रूप मे 'सत्य' यथार्थ का पर्याय है किन्तु 'सत्य' का 'सत्' उसकी सम्भवना अथवा कार्यता का द्योतक है। इसी आधार पर वैदिक दर्शन मे प्राय सत्य का प्रयोग 'कार्य सत्य' के अर्थ मे होता है और 'ऋत' के शाश्वत सत्य के अर्थ से उसका भेद किया जाता है। 'कार्य' का सम्बन्ध भावी सत्ता से है। 'भव्य' का भी यही अर्थ है (होने वाला)। किन्तु भाषा के प्रयोग मे इन पदो के अर्थ का विस्तार हुआ है। अर्थ के इस विस्तार मे सत्य, शिव और सुन्दर की एकता तथा उनके साम्य का सूत्र मिलता है। 'सत्' का प्रयोग श्रेय के अर्थ मे भी होता है। 'सत्' एक मगलमय भाव है। गीता मे अर्थ के इस विस्तार का प्रमाण मिलता है (सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते)। विशेषण के रूप मे शुभ, शिव तथा श्रेष्ठ के अर्थ मे 'सत्' का प्रयोग समस्त भाषा मे व्याप्त है। सज्जन, सदिच्छा, सदुपदेश, सद्गति आदि अनेक पद इसके उदाहरण हैं। 'सत्' के योग मे सत्य वर्तमान ही नही वरन् कार्य, अतएव भावी, भी है। इस अर्थ मे वह 'भव्य' का समानार्थक है। किन्तु दूसरी ओर जिस प्रकार 'सत्' भाषा के व्यवहार मे शिव अर्थात् अच्छे का पर्याय बन गया है, उसी प्रकार 'भव्य' भी 'सुन्दर' का पर्याय बन गया है। कार्य और भव्य मे सृजनात्मकता का भी सूत्र है। इसी सूत्र से इन पदो के भावो मे सौन्दर्य का सन्निधान हुआ है। भाषा के ये प्रयोग सत्य के व्यापक रूप मे श्रेय और सौन्दर्य के सन्निधान का सकेत करते हैं।

दार्शनिक विवेचनो मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य को क्रमश जिज्ञासा, सकल्प और भावना का लक्ष्य माना जाता है। ये तीनो मूल्य जीवन की त्रिविध प्रवृत्तियो के साध्य हैं। किन्तु अनेक विचारक सत्य की एक व्यापक धारणा प्रस्तुत करते हैं, जिसके अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य भी समाहित है। प्रेम, अहिंसा, ईश्वर आदि को भी जीवन का चरम सत्य माना जाता है। गान्धीजी इन तीनो को एक तथा परम सत्य मानते थे। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो नैतिक श्रेय को परम सत्य मानते थे। अग्रेजी कवि कीट्स ने अपनी एक कविता मे सत्य और सौन्दर्य की एकता का अभिनन्दन किया है। इतना अवश्य है कि इनमे किसी ने सत्य, शिव और सुन्दर की एकता का प्रतिपादन गभीर मीमासा के साथ नही किया। भाषा मे सत्य का व्यापक प्रयोग

ही इस एकता का सबसे अधिक सबल अवलम्ब है। भाषा के इस प्रयोग में जीवन की एक मूल आकांक्षा ही इन तीनों के बीच एकता का विधान करती है। इस आकांक्षा का मुख्य लक्ष्य एक स्पृहणीय सत्ता है। जीवन की एक ऐसी स्थिति जो उत्तरोत्तर वर्द्धमान होने के कारण अधिक स्पृहणीय हो इस आकांक्षा का समाधान करती है। इस दृष्टि से जीवन की आकांक्षा का यह लक्ष्य श्रेय के अधिक निकट है। भारतीय संस्कृति और साहित्य में प्राय मंगल को ही जीवन का प्रमुख अभीष्ट माना गया है। दर्शनों ने एक तात्विक सत्य के रूप में भी इसकी स्थापना की है। वेदान्त का ब्रह्म और तन्त्रों के शिव इसी स्थापना के फल हैं। इस स्थापना में जीवन का भावी श्रेय सनातन सत्य के साथ एकाकार हो गया है। 'भविष्य में प्राप्य' के अर्थ में भी इस श्रेय अथवा मंगल को जीवन का सत्य कहा जा सकता है। सत्य यह है कि केवल बौद्धिक अवगति की दृष्टि से तात्विक सत्य का स्वरूप जीवन के स्पृहणीय श्रेय से पृथक रहता है। एक प्रकार से बौद्धिक अवगति भी जीवन की एक मौलिक आकांक्षा है तथा इस प्रकार स्पृहणीय होने के कारण श्रेय के अन्तर्गत मानी जा सकती है। केवल इतना स्वीकार करना होगा कि यह जीवन की एकांगी आकांक्षा है। इसमें इच्छा और भावना का समाहार नहीं होता किन्तु दूसरी ओर इच्छा और भावना पर आश्रित श्रेय और सौन्दर्य में ज्ञान का समाहार होता है। इनमें समाहित ज्ञान चेतना का केवल सामान्य अनुभव नहीं है वरन् श्रेय और सौन्दर्य के श्रेष्ठ रूपों में उत्कृष्ट ज्ञान का समाहार होता है। इसीलिए जिस परमात्मा को परम सत्य माना गया है, वह भारतीय धर्म-परम्परा में मंगल का मूल और सौन्दर्य की पराकाष्ठा भी है। सत्य भाषण का नैतिक गुण सत्य को बौद्धिक अवगति के क्षेत्र से खींचकर श्रेय के क्षेत्र में ले आया है।

व्यापक अर्थ में श्रेय अथवा शिवम् को हम सत्य का प्रमुख रूप कह सकते हैं। चेतना से प्रकाशित होने के कारण श्रेय में सत्य का भी समाहार है। श्रेय के इस रूप में सौन्दर्य के लक्षण भी खोजे जा सकते हैं। सृजनात्मक रूप में यह श्रेय सुन्दर भी है। 'सुन्दर' के अर्थ में 'भव्य' का प्रयोग जीवन के भावी साध्य-रूप श्रेय को सुन्दर बनाता है। सत्य की व्यापक धारणा में श्रेय की प्रधानता होने के कारण ही 'शिव' भारतीय परम्परा के सब से प्राचीन और प्रमुख देवता हैं। इसी प्रमुखता के कारण वे 'महादेव' कहलाते हैं। 'शिव' का पौराणिक रूप जीवन के सम्पूर्ण मंगल का प्रतीक है। शिव के इस रूप में सौन्दर्य का भी सन्निधान है।

शिव परम्परा के प्रभाव से ही वैष्णव परम्परा मे राम और कृष्ण के रूप मे भी सौन्दर्य की पराकाष्ठा स्थापित हुई है। कालिदास ने 'शिव' की इस रूप-महिमा का वर्णन 'कुमार सभव' मे विवाह के अवसर पर किया है। शैव तत्रो मे 'शिव-तत्व' के ज्ञान-पक्ष की गम्भीर मीमासा की गई है और बौद्धिक सत्य के साथ उसका सतुलन किया गया है। 'शक्ति सुन्दरी' के साथ अभिन्न भाव से ये 'शिव' व्यापक सत्य के पूर्ण रूप बन जाते हैं, जिसमे श्रेय और सौन्दर्य भी समाहित है। स्पृहणीय होने के साथ साथ श्रेय आनन्दमय भी है। आकाक्षा की पूर्ति मे आनन्द का उदय होता है। आनन्द स्पृहणीय चेतना का स्थायी-रूप है। अस्थायी सुख से उसका यही भेद है। इसी भेद के कारण वह आत्मिक है। वेदान्त मे 'आत्मा' और तत्रो मे 'शिव' को आनन्द स्वरूप माना गया है। भारतीय भाषा और सस्कृति की परम्परा मे 'आनन्द' की धारणा इतनी व्यापक और गम्भीर है कि उसे जीवन के परम सत्य, परम श्रेय और परम सौन्दर्य का समन्वय मान सकते हैं। सत्य, शिव और सुन्दर के पृथक् रूपो मे भी इस आनन्द का स्रोत खोजा जा सकता है। ज्ञान के अनुसन्धान अपने उत्कृष्ट रूपो मे आनन्दमय बन जाते हैं। श्रेय की प्राप्ति मे आकाक्षा की पूर्ति तो स्पष्टतया आनन्दमय है। सौन्दर्य को भी सृजन रूप मे आनद का स्रोत माना जाता है। इसीलिए सौंदर्य का प्रतीक चद्रमा 'आह्लादक ज्योति' कहलाता है। तत्रो मे 'शक्ति' और 'शिव' को अभिन्न माना जाता है। 'शक्ति' सुन्दरी है और 'शिव' आनन्द-स्वरूप है। सौन्दर्य और आनन्द की इस अभिन्नता का तात्त्विक प्रमाण आद्य-शकराचार्य द्वारा लिखित 'सौन्दर्य-लहरी' और 'आनन्द-लहरी' मे मिलता है, जो समान रूप से शक्ति की वन्दना के काव्य हैं।

इस प्रकार किसी सीमा तक सत्य, शिव और सुन्दर के रूपो का पृथक विश्लेषण किया जा सकता है तथा अत मे एक सश्लिष्ट एव पूर्णरूप मे इनका समन्वय भी सभव है। अन्त मे आनन्द के रूप मे इनकी परिणति भी सगत है। आनन्द को इनका फल मान सकते हैं, किन्तु आनन्द के अतिरिक्त इनके स्वरूप में अन्य मौलिक तत्वों का विश्लेषण सभव न होने पर आनन्द को ही हम इनका स्वरूप भी मान सकते हैं। विश्लेषण की इस सीमा के कारण भारतीय दर्शन और सस्कृति मे आनन्द को ही परम तत्व माना गया है। आत्मा अथवा ब्रह्म आनन्द-स्वरूप है। तत्रो के शिव आनन्द के पर्याय हैं। 'राम' आनन्द के निधान हैं। 'श्री कृष्ण' आनन्द कन्द हैं। इस पृथक एव समन्वित रूप मे तथा आनन्द के रूप मे भी सत्य, शिव और सुन्दर

की साधना मानवीय जीवन की चिरन्तन प्रेरणा रही है। इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दरम् को हम मानवीय चेतना की मूल प्रेरणा मान सकते हैं। मानव समाज के सभी वर्गों में तथा सभी ऐतिहासिक पर्वों में इस साधना के चरण खोजे जा सकते हैं। यदि चेतना का अनुपग आवश्यक न हो तो प्रकृति मे भी सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के रूपो का उदय माना जा सकता है, यद्यपि इसे साधना कहना उचित नहीं है। साधना मनुष्य जीवन की विभूति है। प्रकृति के पर्वों मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य को केवल एक सहज प्रक्रिया कहा जा सकता है। इस प्रक्रिया को एक मौलिक शक्ति की अभिव्यक्ति मान लेने पर प्रकृति और जीवन के क्षितिज मिलने लगते हैं। जीवन मे सत्य, शिव और सुन्दर की साधना तथा प्रकृति मे इनके आविर्भाव को विकास की दृष्टि से भी देखा जा सकता है। किन्तु सत्य-शिव-सुन्दरम् की धारणा मे चेतना का अनुपग महत्वपूर्ण होने के कारण और चेतना के स्वरूप मे काल क्रम एव अतिक्रान्ति का सगम होने के कारण तथा चेतना मे स्थायित्व का भाव प्रमुख होने के कारण शाश्वत भाव के रूप में ही सत्य, शिव और सुन्दर का महत्व अधिक है। इतना अवश्य है कि यह शाश्वत भाव प्रकृति के अशाश्वत उपकरणो का तिरस्कार नहीं करता, वरन् इनका सत्कार करके ही समृद्ध बनता है। भारतीय साहित्य और संस्कृति की परम्परा म इसी समन्वित शाश्वत भाव के रूप मे सत्य शिव और सुन्दर की साधना प्रधान रूप से हुई है।

सत्य, शिव और सुन्दर की अभिव्यक्ति तथा भावना प्रकृति और जीवन मे व्यापक रूप मे मिलती हैं। परमाणु की सत्ता से लेकर परमात्मा की भक्ति तक उनका सूत्र खोजा जा सकता है। भौतिक और प्राकृतिक जगत मे सत्ता के रूप में ही सत्य पाया जा सकता है। अधिक से अधिक इस सत्ता मे कोई नैसर्गिक प्रक्रिया मिल सकती है। इस प्रक्रिया से प्रेरित विकास-क्रम क चरणो मे भव्य (भावी) सत्य का रूप भी मिल सकता है। चेतना अथवा सकल्प से प्रसूत सृजन तथा अन्य आध्यात्मिक रूपो मे सत्य केवल प्रकृति की सत्ता मे नहीं मिल सकता। इस सत्य का उदय चेतना के विकास के साथ ही होता है। अध्यात्मवादी दर्शनो के तर्क के अनुसार प्रकृति की सत्ता को स्वतन्त्र रूप म स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राकृतिक सत्ता को स्वतन्त्र मानकर श्रेय और सौन्दर्य की कल्पना करना कठिन है। भाषा के व्यवहार मे 'सुन्दर' का प्रयोग वस्तुगत प्रसग म अधिक होता है, फिर भी इस सौन्दर्य का दर्शन और बोध चेतना में ही मानना होगा। प्रयोजन के रूप मे श्रेय

और अभिव्यक्ति के रूप मे सौन्दर्य चेतना के अनुराग के बिना कल्पनीय नही है। इसीलिए यथार्थवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे श्रेय और सौन्दर्य के इन प्राकृतिक रूपो को श्रेय और सौन्दर्य के रूप मे ग्रहण न करके एक उदासीन नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप मे देखा जाता है, फिर भी इतना अवश्य है कि प्राकृतिक सत्ता और व्यवस्था मे मगलमय प्रयोजन और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की जो स्थापना की जाती है, वह पूर्णतया आत्मगत अथवा काल्पनिक नही है। तात्पर्य यह है कि वह प्राकृतिक सत्ता की व्यवस्था मे वस्तुत निहित है। उस व्यवस्था मे परिवर्तन बिना किये ही चेतना उसमे श्रेय और सौन्दर्य का उद्घाटन करती है। इसलिए इतना तो मानना होगा कि चाहे इनका उद्घाटन चेतना ही करती है, किन्तु स्वरूप से श्रेय और सौन्दर्य प्रकृति की वस्तुगत सत्ता मे निहित हैं।

प्रकृति की सत्ता और व्यवस्था अत्यन्त जटिल और व्यापक है। परमाणु से लेकर विश्व और ब्रह्माण्ड तक उसका विस्तार है। जड सत्ता और जीव जगत के अनेक रूपो तथा उनकी अनेक-विध प्रक्रियाओ एव प्रवृत्तियो मे प्राकृतिक सत्य चिरन्तन काल से वर्तमान है। इन प्रक्रियाओ और प्रवृत्तियो के सूक्ष्म एव गभीर रहस्य विज्ञानो की विविध शाखाओ मे उद्घाटित हो रहे हैं। इनका यथार्थ और वस्तुगत रूप भी श्रेय और सौन्दर्य से रहित नही है। बहुत कुछ सीमा तक इनके यथार्थ रूप की रक्षा भी श्रेय का आधार है। बहुत सीमा तक सौन्दर्य का अवलब भी इनमे मिलता है। जिस समात्मभाव को हमने आध्यात्मिक और सृजनात्मक श्रेय एव सौन्दर्य का मूल मन्त्र माना है उसे एक चेतन भाव के रूप मे तो प्रकृति मे नही खोजा जा सकता, फिर भी उसके लक्षण प्रकृति की नैसर्गिक व्यवस्था और प्रक्रिया मे मिल सकते हैं। प्रकृति की इकाइयो मे जहाँ एक ओर पृथकत्व का अनुरोध है वहा भौतिक जगत म तथा वनस्पति जगत मे उस आत्मदान के आभास भी मिलते हैं, जो समात्म-भाव का मूल लक्षण है। भौतिक जगत मे विविध पदार्थो का निर्माण इकाइयो के आत्मदान के द्वारा ही सभव होता है। वनस्पतियो मे जहाँ एक ओर इकाई का भाव भौतिक पदार्थो की अपेक्षा अधिक रूढ और प्रबल हो गया है, फिर भी उनके अनेक धर्म अन्य जीवो के लिए इतने उपकारक हैं कि उन्हे नैसर्गिक आत्मभाव का अच्छा उदाहरण कहा जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्राकृतिक सत्ता और व्यवस्था को उदासीन माना जाता है। प्रकृति को अचेतन मानने पर यह धारणा उचित भी है, किन्तु प्रकृति की वस्तुगत व्यवस्था के असत्य नैसर्गिक रूप अपने

वस्तुगत रूप मे विश्व के मगल और मानवीय श्रेय के इतने अनुरूप जान पडते हैं कि उनकी मागलिकता को प्रमाणित करने के लिए विधाता की कल्पना करनी पडी। ग्रहो और नक्षत्रो की पारस्परिक आकर्षण शक्ति, जिसके द्वारा वे शून्य मे सधे हुए हैं, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति, सूर्य मे होने वाले शक्ति के विस्फोट, वनस्पतियो का उदय, ऋतुओ का क्रम आदि असख्य प्रक्रियाए इसकी उदाहरण हैं। श्रेय और समासभाव के ये रूप प्रकृति की वस्तुगत व्यवस्था मे सन्निहित होने के कारण ही मानवीय चेतना इनका उद्घाटन और उपयोग कर सकी है।

प्रकृति के रूपो मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी चेतना के द्वारा ग्राह्य होने पर भी बहुत कुछ वस्तुगत जान पडती है। हम वस्तुओ को 'सुन्दर' कहते हैं। भाषा के इस प्रयोग से यही लक्षित होता है कि सौन्दर्य का भाव वस्तुगत है, चाहे वह चेतना में प्रतिबिम्बित होने पर ही प्रकाशित होता है। **सौन्दर्य की वस्तुगत परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि हम उसे 'रूप का अतिशय' कह सकते हैं।** रूप अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसके द्वारा वस्तुगत सत्ता अपने को अभिव्यक्त करती है। यद्यपि रूप का ग्रहण चेतना के द्वारा ही होता है, फिर भी भौतिक और प्राकृतिक सत्ता का रूप मूलत वस्तुगत ही है। वह सत्ता की व्यवस्था का आकार अथवा प्रकार है। इस 'रूप' मे ही सौन्दर्य का रहस्य निहित है। इसीलिए भाषा के प्रयोग मे 'रूप' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बन गया है। सामान्यत समस्त 'रूप' को सुन्दर कहा जा सकता है। *उपयोगिता की दृष्टि से सभी रूप अतिशय हैं।* 'रूप' का उपयोग सभ्यता के साथ बढा है। प्राकृतिक जीवन के सरक्षण की दृष्टि से पदार्थ की तत्वगत सत्ता का ही महत्व है। आहार द्वारा उस सरक्षण मे रूप का विनाश होता है। सभ्यता के साथ जीवन के श्रेष्ठतर प्रयोजनो का विकास होने पर ही रूप की उपयोगिता बढी है। इनमे कुछ प्राकृतिक पदार्थों के नैसर्गिक रूप भी हैं, किन्तु मनुष्य द्वारा निर्मित रूप अधिक है। उपयोगिता से रूप का सौन्दर्य कम हो जाता है इसीलिए हम निरुपयोगी रूपो म अधिक सौन्दर्य देखते हैं। रूप की *निरुपयोगिता उस रूप को अतिशय बना देती है।* गुण, परिमाण आदि की दृष्टि से भी रूप मे अतिशय का उदय होता है और इस अतिशय मे सौन्दर्य स्फुटित होता है। *तात्विक अनुपयोगिता की दृष्टि मे समस्त रूप को ही अतिशय माना जा सकता* है और समस्त रूप मे सौन्दर्य देखा जा सकता है। कला मे प्रत्येक रूप का अकन सौन्दर्य की सृष्टि करता है, क्योकि कला मे अकित रूप उपयोगिता तथा अन्य कई

दृष्टियों से अतिशय के अन्तर्गत होता है। उपयोगिता, परिचय आदि के कारण कला में अंकित मूल बिम्बों में हम सौन्दर्य नहीं देख पाते। किन्तु नवीनता, निरुपयोगिता आदि की स्थिति होने पर सभी रूपों में सौन्दर्य प्रकट होता है। कान्ति, आकार, गुण आदि की दृष्टि से जहा रूप का अतिशय अधिक स्फुट एव प्रभावशाली होना है, वहां सौन्दर्य का आभास अधिक सहज एव सामान्य होता है। चन्द्रमा, पुष्प, रत्न, पर्वत, नदी, वन आदि इसीलिए सभी को सुन्दर प्रतीत होते हैं। रूप के अतिशय का यह सौन्दर्य भौतिक और प्राकृतिक सत्ता में अपरमित परिमाण में विद्यमान है। इसी दृष्टि से प्रकृति को 'सुन्दरी' कहना उचित है और विश्व की सृजनात्मिका शक्ति की 'सुन्दरी' सज्ञा सार्थक है।

प्राकृतिक सत्ता और व्यवस्था में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की यह स्थिति नैसर्गिक है। प्रकृति की सहज प्रक्रिया से ही यह सभव होती है। इसके पीछे किसी कर्तृत्व अथवा साधना की कल्पना वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक नहीं है। किन्तु मनुष्य की सभ्यता के क्रम में विकसित होने वाले सौन्दर्य के रूप उसके कर्तृत्व के फल और उसकी साधना के परिणाम हैं। उपमान के आधार पर मनुष्य ने प्रकृति के रूपों के पीछे भी कर्तृत्व और साधना की कल्पना की है। ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर को तथा शैव तन्त्रों में शक्ति को इन रूपों का विधाता माना गया है। इनकी सौन्दर्य-साधना आयास नहीं, वरन् एक अनायास, सहज एव स्वतन्त्र लीला है। किन्तु प्राय इस कर्तृत्व और साधना को सचेतन माना गया है। मनुष्य की सभ्यता और सस्कृति में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की साधना अधिक सचेतन और अधिक स्फुट रूप में व्यक्त हुई है। वस्तुत उसकी इसी साधना का नाम 'सस्कृति' है। प्रकृति के श्रेय और सौन्दर्य के पीछे किसी स्वतन्त्र दैवी साधना का भाव विश्वास पर अवलम्बित है। किन्तु मनुष्य की यह सास्कृतिक साधना उसकी साक्षात् परम्परा है। आदिम सभ्यता के उदय काल से लेकर अब तक अनेक महिमामय पर्वों में यह साधना प्रतिफलित हुई है। यदि हम मनुष्य समाज के विकास को मानें तो हम आरम्भ से ही मनुष्य के जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर की साधना के लक्षण देखते हैं। सभव है मनुष्य अत्यन्त आदिम काल में पशुओं के समान बर्बर रहा हो किन्तु प्रागैतिहासिक काल से ही उसके जीवन में सभ्यता एव सस्कृति के विकास के बीज मिलते हैं। इन लघु बीजों से ही अगले युगों में सत्य, श्रेय एव सौन्दर्य के कल्पवृक्ष विकसित हुए हैं। मनुष्य के जीवन में इस विकास की मूल प्रेरणा उसकी चेतना में निहित है। भौतिक

और प्राकृतिक जगत में श्रेय और सौन्दर्य के जो रूप चेतना में प्रतिबिम्बित होते हैं वे प्रकृति की वस्तुगत व्यवस्था में एक अचेतन एवं नैसर्गिक प्रक्रिया से सहज ही उदित होते हैं। उसके पीछे किसी दिव्य शक्ति की स्वतंत्र साधना की कल्पना की जाय तो वह आध्यात्मिक विश्वास का विषय बन सकती है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के जो रूप आदिम काल से विकसित हुए हैं, वे मनुष्य की चेतना से प्रेरित साधना के ही फल हैं। मनुष्य की साधना के सूत्र आदिम काल के प्रारम्भ से ही मिलते हैं। इस साधना का बीज निःसन्देह उस समात्मभाव में रहा होगा जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने सत्य, शिव और सुन्दर का मूल आधार माना है। मनुष्य के साथ मनुष्य के अनुकूल सम्पर्क में, संभवतः प्राचीनतम दाम्पत्य में, इस समात्मभाव की पहली किरण उदित हुई होगी। समात्मभाव का यही अरुणोदय संस्कृति के प्रभात का अग्रदूत बना होगा। यह समात्मभाव चेतना के क्षितिज पर ही प्रकाशित होता है। किन्तु मानवीय सम्पर्कों में और समात्मभाव के द्वार से ही यह चेतना संस्कृति की साधना की ओर अभिमुख होती है। प्रायः पशु भी अकेले नहीं रहते और उनमें भी कुछ समात्मभाव का आभास मिलता है। उनका यह समात्मभाव अनुभव एवं व्यवहार में ही कृतार्थ हो जाता है। सांस्कृतिक साधना और रचना के योग्य साधन पशुओं को प्राप्त नहीं हैं। विकसित चेतना के साथ साथ जिन समृद्ध शारीरिक साधनों का सौभाग्य मनुष्य को मिला है उनके द्वारा अपार प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके मनुष्य ने एक उत्तरोत्तर समृद्धिशील संस्कृति का विकास किया है, जो सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के वैभव पूर्ण रूपों से सम्पन्न है।

सत्य, श्रेय और सौन्दर्य मानवीय संस्कृति की त्रिवेणी की तीन धारायें हैं। यह निर्णय करना कठिन है कि इनमें कौनसी धारा का उद्गम पहले होता है। इस अध्याय के प्रारम्भिक विवरण के अनुरूप यदि सत्य शिव और सुन्दर के स्वरूप में कुछ एकता मानी जाय तो यह भी कहा जा सकता है कि संस्कृति की यह त्रिपथगा एक ही ब्रह्मा के चरणों से निकलकर तीनों लोकों में प्रवाहित होती है। सृष्टि के विधाता होने के नाते ब्रह्मा को हम रचनात्मक चेतना का प्रतीक मान सकते हैं। 'चरण' गति के सूचक हैं। चरणों से इस त्रिपथगा के उद्गम का अभिप्राय यही है कि रचनात्मक चेतना की गति तीन दिशाओं में होती है। सत्य की गम्भीर धारा रहस्य के पाताल की ओर प्रवाहित होती है। शिव की भागीरथी भूलोक पर प्रवाहित होकर उसे कल्याणमय बनाती है। सौन्दर्य की मन्दाकिनी कल्पना के काम्य

कानन मे प्रवाहित होकर मनुष्य की साधना के स्वर्ग को अलकृत करती है। जीवन के उच्च और आध्यात्मिक प्रयोग के रूप मे सत्य और श्रेय की धारणा तो चेतना के उत्कर्ष के बाद ही विकसित हुई होगी, आदिम काल मे उसकी आशा नही की जा सकती। सामाजिक और राजनैतिक सत्य के समृद्ध रूप भी विकसित अवस्थाओ मे ही उदित हुए होगे। किन्तु प्राकृतिक सत्य और किसी सीमा तक, प्राकृतिक श्रेय के अनुसन्धान की कल्पना मनुष्य के आदिम काल मे भी की जा सकती है। अवचेतन रूप मे इनका नैसर्गिक बोध तो पशुओ म भी पाया जाता है। इसी बोध के आधार पर पशु अपना जीवन यापन करते हैं। पशुओ का जीवन सहज और सीमित रूप मे प्राकृतिक होने के कारण उनमे इस बोध का विकास अधिक नही हो सका है। पशुओ मे इस बोध का विकास उनके व्यक्तिगत जीवन मे कुछ सहज शिक्षा के रूप मे होता है। सामूहिक रूप मे इस बोध का विकास बहुत कम होता है। इसीलिए यह बोध उनके समाज मे एक विकासशील परम्परा नही बनता। किन्तु मनुष्य-समाज म यह परम्परा बहुत-बहुत विकसित हुई है। सभ्यता और संस्कृति का विकास इसी परम्परा का परिणाम है। इस परम्परा के सूत्र मनुष्य के आदिम और प्राचीनतम काल मे खोजे जा सकते हैं। ज्ञान का अनुराग और सभवत उस अनुराग से ही प्रसूत ज्ञान का प्रदान—ये दो इस परम्परा की प्रवाहिनी के निरन्तर वर्द्धमान कूल हैं। एक प्रकार स ये दोनो ही समृद्ध चेतना के लक्षण हैं। जब तब आदिम मनुष्य का जीवन पूर्णत पशुवत्‌ रहा होगा तब तक इस परम्परा के उदय की कल्पना नही की जा सकती, किन्तु उसके जीवन मे जहा से भी चेतना के उक्त लक्षणो का उदय हुआ होगा वही से सभ्यता का आरम्भ समझना चाहिये। यह कब और कैसे हुआ होगा यह कल्पना करना कठिन है। किन्तु विकासवाद को मानने पर क्रम अथवा विक्रम से किसी न किसी समय इसका उदय स्वीकार करना होगा।

प्राय यह माना जाता है कि पशुओ म चेतना का विकास बहुत अल्प और सीमित है। किसी सीमा तक यह सत्य है, किन्तु कदाचित् इसका सम्पूर्ण कारण चेतना की मन्दता नही है। चेतना के विकास के साधन भी पशुओ मे कम विकसित हुए हैं। ये साधन मन, इन्द्रिय आदि हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से उन्ह चेतना की अभिव्यक्ति के साधन कहा जा सकता है। युग्मो मे विहार करने वाले पशुओं मे किसी परिमाण में वह समात्मभाव अवश्य होता है, जो संस्कृति का बीज है। वह समात्मभाव चेतना का मूल लक्षण है। ज्ञान का अनुराग और प्रदान इसी से प्रेरित

होता है। इसके मन्द होने पर चाहे वर्तमान युग की भांति अन्य कारणो से ज्ञान का परिमाण बढता जाय किन्तु उसका अनुराग और प्रदान कम हो जाता है। काम को हम मनुष्य के सामाजिक सबधो का सबसे मौलिक रूप मान सकते हैं। और उसमे समात्मभाव के बीज की कल्पना भी की जा सकती है। पशुओ मे यह बीज पल्लवित और पुष्पित नही होता। अपत्य परम्परा मे पशुओ मे समात्मभाव इतना स्थायी नही होता जितना कि दाम्पत्य सबन्ध मे होता है। 'दाम्पत्य' परम्परा का आरम्भ मात्र है किन्तु परम्परा निर्वाह अपत्यभाव के द्वारा ही होता है। चाहे चेतना के मन्द विकास के कारण ही हो, पशुओ मे यह परम्परा अधिक स्थायी नही रहती। मुख्यत उनका जीवन आहार और काम के प्राकृतिक धर्मो मे ही पर्यवसित हो जाता है। इसमे सन्देह नही कि अपत्य-परम्परा का आधार चेतना का विस्तार ही हो सकता है। पुरुष के लिए इस परम्परा का शारीरिक आधार अव्यक्त और दूरगत रहता है। स्त्री के लिए माता के रूप मे इसका आधार अधिक निकट, घनिष्ठ और प्रत्यक्ष रूप मे शारीरिक रहता है। कदाचित् इसी कारण सभ्यता का प्राचीनतम रूप मातृ-तत्र मे मिलता है। किन्तु यह आधार केवल आधार है। प्रसव मे शारीरिक सबन्ध का पर्यवसान हो जाता है और परम्परा का विस्तार मुख्यत चेतना के माध्यम से ही होता है। मन और इन्द्रियाँ चेतना के माध्यम हैं। इन्ही के द्वारा चेतना की अभिव्यक्ति और उसका सचार होता है। विकास-क्रम मे चेतना और इन साधनो की अभिवृद्धि को युगपत् मानना होगा। सभ्यता के विकास मे हाथो ने और संस्कृति के विकास मे वाणी ने सबसे अधिक योग दिया है। कदाचित् इसीलिए देवताओ की प्राचीन और पौराणिक कल्पना मे उनकी अनेक भुजाएँ बनाई गई हैं। यह कल्पना प्राचीनो के द्वारा मनुष्य की भुजाओ की महिमा का अभिनन्दन है। वाणी भुजाओ मे अधिक सूक्ष्म और महत्वपूर्ण है, किन्तु उसका अभिनन्दन वह स्वय ही बहुत देर मे कर सकी। सरस्वती की कल्पना उसका अत्यन्त सुन्दर और उदात्त अभिनन्दन है। भारतीय शब्द दर्शन मे वाक् के चतुर्विध विधान के द्वारा वाणी को चेतना के साथ एक रूप मानकर वाणी की महिमा को गम्भीरतम रूप मे स्वीकृत किया गया है। इसमे सन्देह नही कि वाणी मनुष्य के लिए निसर्ग का सर्वोत्तम वरदान है। ज्ञान के प्रदान का वह उत्तम साधन है। उसी के सूत्र से हमारी ज्ञान प्रधान सभ्यता का विकास हुआ है। चेतना के अनुरूप उसकी सूक्ष्मता ज्ञान के प्रदान को सभव बनाती है। विकास-क्रम मे वाणी का विलम्बित उदय भी

उसकी श्रेष्ठता का एक प्रमाण कहा जा सकता है। सत्य की साधना में वाणी का इतना महत्त्व है कि नैतिक व्यवहार में 'सत्य' का मुख्य अर्थ 'सत्य वचन' बन गया।

इस प्रकार मुक्त हाथ, समर्थ वाणी और समृद्ध मन (अभिवृद्ध मस्तिष्क) के सम्पन्न साधनों से आदिम मानव ने उस सभ्यता और संस्कृति का विकास किया जिसे हम सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की साधना कह सकते हैं। आरम्भ में उसका अनुराग प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय में रहा होगा। इस अवस्था में पशुओं के समान प्राकृतिक सौन्दर्य का कुछ सहज आकर्षण उसे भले ही रहा हो किन्तु सौन्दर्य के सृजनात्मक रूप की कल्पना उसके जीवन में उदित न हुई होगी। किन्तु शीघ्र ही समृद्ध चेतना में प्रतिफलित समात्मभाव की प्रेरणा से तथा चेतना के प्रदान-शील लक्षण एवं वाणी के समृद्ध माध्यम के योग से सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के सांस्कृतिक रूपों के विकास का सूत्रपात हुआ होगा। संस्कृति का बीजारोपण प्रकृति की भूमि में ही हुआ होगा। प्रकृति जीवन का अनिवार्य आधार है। आज भी इस आधार को छोड़कर केवल आध्यात्मिक संस्कृति की साधना नहीं की जा सकती। भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में आध्यात्मिक कैवल्य का अनुरोध मुख्यतः अध्यात्म की महिमा प्रतिष्ठित करने के लिए किया गया है। चेतना और वाणी का विकास होने पर तथा जीवन की अल्पतम सुरक्षा संभव होने पर ही संस्कृति के बीज अंकुरित होने लगे होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि आदिम परिवार की मौलिक इकाई में ही समात्मभाव की प्रेरणा से सांस्कृतिक साधना का सूत्रपात हुआ होगा, चाहे ये परिवार समूहों में ही रहते हों। संस्कृति के इस पारिवारिक आधार के प्रमाण भारतीय संस्कृति की परम्परा में मिलते हैं, जो सम्भवतः संसार में सबसे प्राचीन है। वैदिक साहित्य और संस्कृति, भारतीय लोकोत्सव, लोकगीत आदि में इसके प्रमाण मिलते हैं। धर्म के प्राचीनतम प्रतीक शिव की कथा भी परिवार की प्राचीनता का समर्थन करती है। इतना अवश्य है कि भारतीय संस्कृति की इस प्राचीन परम्परा में सम्भवतः परिवार एक पृथक इकाई के रूप में उतना प्रतिष्ठित नहीं है, जितना कि वह एक समूह के रूप में है, यद्यपि यह समूह आवश्यक रूप से संगठित नहीं है। भारतीय परम्परा में 'कुल' शब्द का प्रयोग और कुल की प्रतिष्ठा इसका प्रमाण है। 'कुल' एक परिवार की इकाई नहीं है, वरन् अनेक परिवारों से निर्मित एक व्यापक परम्परा है। ऋषिकुल, गुरुकुल आदि के प्रयोगों में विदित होता है कि कुल की कल्पना आवश्यक रूप से वंशगत नहीं

है। शैव परम्परा मे 'कौल' सम्प्रदाय का मौलिक सूत्र कुल की कल्पना मे ही रहा होगा। यद्यपि आगे चलकर इस सम्प्रदाय का रूप आध्यात्मिक अथवा धार्मिक बन गया। कुल और परिवार की सापेक्ष मौलिकता का निर्णय कठिन है। किन्तु परिवार शीघ्र ही कुल के रूप मे विकसित होता है। अत कुल को ही सस्कृति का आदि पीठ मानना उचित है। कुल और परिवार मे अन्तर यह है कि परिवार में दाम्पत्य भाव की प्रधानता रहती है तथा कुल म दाम्पत्य-भाव का अपत्य-भाव तथा अन्य सम्बन्धो के भावो से सतुलन रहता है। कुल के महत्त्व का मर्म यह है कि दाम्पत्य भाव के अतिरिक्त अन्य भावो मे समात्मभाव के विस्तार के द्वारा वह सस्कृति की स्थायी परम्परा का अवलब बनता है। दाम्पत्य भाव मे सीमित रहने के कारण पशुओ का समात्मभाव अधिक विकसित न हो सका। दाम्पत्य-भाव की प्रधानता बढने के कारण ही वर्त्तमान सभ्यता मे समात्मभाव और उसके साथ-साथ सस्कृति का ह्रास हो रहा है।

अस्तु, मनुष्य समाज मे प्राचीनतम काल मे कुल-परम्परा का सूत्रपात होने पर दाम्पत्य तथा अन्य भावो मे अभिव्यक्त समात्म-भाव की भूमिका मे सत्य, शिव और सुन्दर की सास्कृतिक साधना आरम्भ हुई होगी। **चेतना के अध्यवसाय की दृष्टि से ही इसे 'साधना' कहना उचित है।** कुल परम्परा म चेतना के प्रदान, सचार और विस्तार का मौलिक और प्राचीनतम रूप मिलता है। समाज मे चेतना के इन धर्मो की विवृद्धि प्रधानत कुल-परम्परा के द्वारा हुई है। कुल परम्परा ने ही अन्य सामाजिक परम्पराओ का मार्ग प्रशस्त किया। यह सभव है कि मानवीय चेतना की मौलिक आकाक्षा ने कुल परम्परा के परिवर्त्तन से पूर्व भी अत्यन्त आदिम रूप मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की दिशा मे कुछ प्रयत्न किये हो। किन्तु यह निश्चित है कि ये आदिम प्रयास भी व्यक्तियो के समात्मभाव के द्वारा ही सभव हो सके होगे। पशुवत् एकान्तभाव मे उपयोगी सत्य और प्राकृतिक श्रेय की ही कुछ सभावना हो सकती है। एकान्तभाव मे सौन्दर्य के सृजन की कल्पना कठिन है। एकान्त की स्थिति मे समात्मभाव की आकाक्षा श्रय और सौन्दर्य की साधना को प्रेरित करती है। किन्तु यह आकाक्षा समात्मभाव के कुछ अनुभव के बाद ही अधिक समात्मभाव की प्राप्ति के लिए हो सकती है। सास्कृतिक आकाक्षा के लिए समात्मभाव का आधार अपेक्षित है। एकान्तभाव जीव की प्राकृतिक स्थिति है। उसमे उपयोगी सत्य और प्राकृतिक सत्य का अनुसधान ही सभव है। इनकी

अपेक्षा भी जीवन मे इतनी प्रबल है कि सभ्यता और सस्कृति का इतना विकास हो जाने पर भी इनका प्रभाव जीवन मे बना हुआ है और यह प्राय सास्कृतिक भावो को अभिभूत कर देते हैं। फिर भी समात्मभाव के बीज से सास्कृतिक भावो का वट वृक्ष धीरे-धीरे विकसित होता रहा और उसके सहस्त्रो अनुमूल जीवन की भूमि मे रूढ होकर उसके दृढ अवलव बन गये।

जीवन का आवश्यक आधार होने के कारण प्राकृतिक सत्य मनुष्य के सामने सबसे पहले आता है। प्राकृतिक सत्य का अनुसधान भी आगे चलकर वैज्ञानिको ने ज्ञान की शुद्ध सास्कृतिक दृष्टि से किया है, किन्तु आदिमकाल में इस दिशा मे जीवन के रक्षण और पोपण का प्राकृतिक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा होगा। इस दृष्टिकोण से भी प्राचीन पुरुषो ने विश्व के असत्य रहस्यो की खोज की है। जहा तक सभव हो सका होगा इस प्राकृतिक दृष्टिकोण मे शुद्ध ज्ञान के सास्कृतिक दृष्टि-कोण का सम्पुट भी बढता रहा होगा। कुल परम्परा का प्रवर्त्तन और समाजका विकास होने पर समात्मभाव की प्रेरणा से सामाजिक श्रेय के सास्कृतिक भाव में प्राकृतिक सत्य का अन्वय अधिकाधिक बढता गया होगा। वाणी के वैभव और भाषा के विकास से शुद्ध ज्ञान के सास्कृतिक सत्य के अनुसधान और प्रसार की प्रेरणा मिलती है। अत भाषा के साथ सत्य की दिशा मे सस्कृति का विकास एक प्रकार से आवश्यक रूप मे होता है। भाषा सस्कृति का एक सुदृढ अवलब है। सस्कृति का बहुत कुछ विकास भाषा के माध्यम से हुआ है। समाज के सगठन और विकास मे भी भाषा का बडा योग है। एक प्रकार से भाषा मानवीय सबन्धो का मौलिक सूत्र है। शब्द के सूक्ष्म माध्यम के द्वारा उस आन्तरिक समात्मभाव की विपुल अभिव्यक्ति होती है, जो सस्कृति का आधार है। शब्द दर्शन मे वाणी के चतुर्विध विभाजन के द्वारा शब्द और सस्कृति के सबन्ध को बडी गम्भीरता पूर्वक समझने का प्रयत्न किया गया है। भाषा के माध्यम से मनुष्य की सभ्यता मे जो विपुल साहित्य का विस्तार हुआ है, वह सस्कृति की एक मूल्यवान निधि है। भाषा के अतिरिक्त अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमो के द्वारा भी जीवन के सास्कृतिक पक्षो का विकास हुआ है।

शब्द के सुलभ और सम्पन्न माध्यम के द्वारा जिन रूपो मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की साधना विकसित हुई है, वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनमे साहित्य और सगीत प्रधान हैं। इसीलिए नीतिकारो ने कला के साथ साहित्य और सगीत को

मनुष्यता का मुख्य लक्षण माना है। समाज मे व्यापक रूप मे प्रचलित गुरु-परम्परा के क्रम से साहित्य एव संस्कृति का विकास भी शब्द के माध्यम के द्वारा ही होता है। शब्द ही ज्ञान के सचार का सूत्र है। सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनो की साधना और तीनो के विस्तार मे शब्द का योग बहुत रहता है। किन्तु शब्द की सुलभता एव विपुलता सत्य के अनुसधान और प्रसार मे सबसे अधिक उपयोगी होती है। वैसे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनों ही सृजनात्मक हैं। श्रेय इनमें सबसे अधिक सक्रिय है। सत्य इनमे सबसे अधिक निष्क्रिय है। सौन्दर्य की स्थिति इनके मध्य मे है। अवगति रूप सत्य मे प्रकाश का विस्तार ही अधिक है। तत्रो की भाषा मे यह कहा जा सकता है कि शिव मे शक्ति की प्रधानता है। सौन्दर्य तो शब्द का स्वरूप ही है। श्रेय और सौन्दर्य के अधिक सक्रिय और सृजनात्मक होने के कारण तथा शब्द के अतिरिक्त जीवन के अन्य माध्यमो में इनकी अभिव्यक्ति अधिक स्पृहणीय होने के कारण निष्क्रिय सत्य की साधना विपुल होती गई है। अधिक सृजनात्मक और अधिक सक्रिय होने के कारण श्रेय और सौन्दर्य की विपुलता सुलभ नही है। निष्क्रियता के अतिरिक्त शब्द के माध्यम की सुगमता और शब्द एव उसके द्वारा सत्य की आवृत्ति की सभावना सत्य की विपुलता को सरल बनाती है। श्रेय और सौन्दर्य की अपेक्षा सत्य का पिष्टपेषण अधिक होता है। वस्तुत श्रेय और सौन्दर्य अपने मौलिक रूप मे इतने सजीव हैं कि इनकी आवृत्ति भी सृजनात्मक एव नवीनता युक्त होती है। इनकी प्रत्येक आवृत्ति एक नवीन रचना है। किन्तु ज्ञान रूप सत्य की आवृत्ति में नवीनता नही होती। शब्द की क्रिया भी इस आवृत्ति मे अधिक सुगम बन जाती है। इसके विपरीत श्रेय और सौन्दर्य के उत्तरोत्तर अध्यवसाय रचनात्मक होने के कारण कठिनतर होते जाते हैं। शब्द के माध्यम की सुलभता, सरलता एव अपेक्षाकृत निष्क्रियता के कारण ही मनुष्य के सास्कृतिक इतिहास मे श्रेय और सौन्दर्य की अपेक्षा सत्य की विपुलता रही है। आवृत्ति की सभावना इसे और भी विपुल बना देती है। इन्ही कारणो से सभ्यता के विकास क्रम मे सत्य की प्रभुता बढती गई है तथा श्रेय और सौन्दर्य का महत्व कम होता गया है। वर्तमान नागरिक एव औद्योगिक सभ्यता म कला एव प्रेम के मूल्य का शोचनीय ह्रास इन्ही कारणो का परिणाम है। दूसरे शब्दो मे इसे बौद्धिकता का परिणाम कह सकते हैं। ज्ञान रूप सत्य बौद्धिक ही है और इसकी निष्क्रियता बुद्धि की निष्क्रियता के अनुरूप है।

अस्तु, जीवन की प्राकृतिक आवश्यकताओं की प्रेरणा से तथा शब्द के माध्यम की सुलभता के कारण सभ्यता के विकास क्रम में सत्य का अनुसन्धान भी बढता गया है। आरम्भ में उपयोगिता की दृष्टि से ही मनुष्य की सत्य में रुचि रही होगी किन्तु जीवन की सुरक्षा और सुविधा बढने के साथ साथ निरुपयोगी भाव से भी सत्य का अनुराग बढता गया होगा। अपने आप में सत्य के प्रति अनुराग मनुष्य की चेतना का लक्षण है। चेतना में अतिक्रान्ति का तत्व उसकी तटस्थता का संकेत करता है। चेतना के इसी लक्षण में ज्ञान के प्रति अनुराग का मौलिक सूत्र है। इसी सूत्र मे सत्य के अनुसन्धान का प्रस्तार होता है। चेतना की इसी निरपेक्ष तटस्थता से आदिकाल से प्रकृति और जीवन के क्षेत्र में अनन्त अनुसन्धान हुए हैं। जीवन की आवश्यकताओं और जीवन के संघर्ष में तनिक भी अवकाश मिलने पर मनुष्य की रुचि सत्य के प्रति प्रवृत्त होती है। आदिम काल से निरन्तर विकसित होने वाले अनेक विज्ञान और शास्त्र मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। मनुष्य के इस ज्ञान भडार का बहुत कुछ भाग उसके उपयोग में आता है। किन्तु अधिकाश केवल ज्ञान-रूप में ही रहता है। ज्ञान रूप सत्य का अधिकतर आविष्कार निरुपयोगी रूप मे ही हुआ है। सत्य के साधक शुद्ध रूप मे उसकी खोज करते हैं। उनकी इन्ही खोजो ने जगत् और जीवन के सूक्ष्म एवं गभीर रहस्यो का उद्घाटन किया है। प्राचीनो की आरम्भिक खोजों से लेकर विद्युत, परमाणु आदि अनेक उदहारण अनेक क्षेत्रो मे इस खोज की चरम गति को अंकित करते हैं। इतना अवश्य है कि जहा शब्द के सुगम माध्यम और आवृत्ति की सुगम संभावना के कारण सामान्य रूप से सत्य की चर्चा और उसका प्रकार विपुल है, वहा मौलिक रूप मे सत्य का अनुसन्धान उतना ही विरल है। चेतना की तटस्थता और अतिक्रान्ति अधिक शुद्ध और उत्कृष्ट रूप मे अपेक्षित होने के कारण मौलिक सत्य की साधना अत्यन्त दुष्कर है। इसलिए विरले ही साधको ने सत्य के क्षेत्र मे प्रतिष्ठा का पद पाया है। सत्य की तटस्थता और उदासीनता सत्य की खोज में समात्मभाव की सम्भावना को भी कम कर देती है। सत्य की आवृत्ति और उसके प्रसार में यह संभावना अधिक होती है और लोकरुचि का अवलम्ब बनती है। चेतना की अतिक्रान्ति दर्शनों में आत्मा के जिस कैवल्य का संकेत बनी है, उस कैवल्य की छाया सत्य की साधना में भी पडती है। इसीलिए सत्य के अधिकाश साधक उदासीन और एकाकी व्यक्ति हुए हैं। सत्य की खोज में समात्मभाव के आनन्द की अपेक्षा नवीनता का उल्लास अधिक होता है।

इसके विपरीत श्रेय और सौन्दर्य मे समात्मभाव का आनन्द अधिक स्पष्ट होता है, यद्यपि उनके सृजनात्मक स्वरूप के कारण एक नवीनता का भाव भी उनमे अन्तर्निहित रहता है। श्रेय और सौन्दर्य मे समात्मभाव की सभावना अधिक होने के कारण उनमे लोक की रुचि अधिक होती है। प्राचीन और मध्यकालीन समाजो मे सामाजिक मगल और लोक सस्कृति का विकास इसी रुचि के आधार पर हुआ है, चाहे सत्य की आवृत्ति और उसका प्रसार इनसे अधिक हुआ है। व्यक्तिगत साधना के रूप मे श्रेय और सौन्दर्य भी सत्य के समान तप बन जाता है। किन्तु लोक-सस्कृति के रूप मे वे जीवन के उल्लास पर्व बन जाते हैं। इसीलिए जब तक लोक-सस्कृति के रूप मे वे पोषित रहे तब तक उनमे यदि विकास नही तो ह्रास भी नही दिखाई दिया। किन्तु समात्मभाव के धीरे-धीरे मन्द होने पर ज्यो-ज्यो इनमे व्यक्तिगत साधना का रूप प्रधान होने लगा त्यो त्यो ये क्षीण होते गये। वर्तमान औद्योगिक सभ्यता की स्थिति मे दोनो पर ही सत्य की उदासीनता की छाया पड रही है। सत्य की छाया का यह विस्तार केवल सत्य का अनुसधान और प्रसार करने वाली चेतना की तटस्थता एव उदासीनता के कारण नही हुआ है। मनुष्य के जीवन मे प्रकृति की प्रबलता के प्रभाव ने भी उस समात्मभाव को खण्डित किया है, जो श्रेय और सौन्दर्य की जीवन साधना का आवश्यक आधार है।

सत्य, श्रेय और सौन्दर्य की साधना मे यह सापेक्ष अन्तर होते हुए भी यह असदिग्ध है कि किसी सीमा तक 'सत्य के लिए सत्य' की खोज मे मनुष्य की मौलिक रुचि है। इस रुचि का मूल चेतना की अतिक्रान्ति मे है, जो समस्त प्रयोजनो से उदासीन रहकर निरपेक्ष भाव से सत्य की जिज्ञासा करती है। यह जिज्ञासा केवल 'ज्ञान के लिए ज्ञान' की इच्छा है। ऐसी जिज्ञासा आरम्भ मे ही बालको मे पाई जाती है। बालक प्रत्येक वस्तु की बनावट, उत्पत्ति, प्रक्रिया आदि को जानना चाहते हैं। इनकी इस जिज्ञासा मे प्राय कोई प्रयोजन नही रहता। सत्य की यह निरपेक्ष साधना प्राय प्राकृतिक जगत के यथार्थ के सबन्ध मे होती है। किन्तु यथार्थ ही सम्पूर्ण सत्य नही है। प्राकृतिक जगत के यथार्थ के अतिरिक्त ऐतिहासिक, सामाजिक, मानसिक आदि यथार्थ के अन्य रूप भी होते हैं। इनके अनुसन्धान मे भी निरपेक्ष भाव की अपेक्षा होती है। निरपेक्ष भाव से यथार्थ के सत्य को अधिक यथार्थ रूप मे समझा जा सकता है। ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सत्य के रूपो को पूर्णत निरपेक्ष नही कहा जा सकता, यद्यपि वैज्ञानिक अध्ययन मे अधिक से

अधिक तटस्थता का प्रयत्न किया जाता है। फिर भी सत्य के ये रूप निरपेक्ष यथार्थ की कठोर परिधि से बाहर निकलकर प्राय सत्य के उस व्यापक क्षितिज को स्पर्श करते है, जिसमे श्रेय और सौन्दर्य भी समाहित हैं। सत्य का यह व्यापक रूप पूर्णत निरपेक्ष नही है। जीवन के लक्ष्य क रूप मे श्रेय और सौन्दर्य भी समाविष्ट हैं। श्रेय और सौन्दर्य चेतना की कृतार्थता के गूढतर अवलव हैं, इस दृष्टि से उन्हे जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य भी कहा जा सकता है। यदि सत्य को केवल वस्तुगत यथार्थ मे सीमित न रखकर उसे ऐसे तत्व अथवा लक्ष्य के रूप मे समझा जाय जिसमे मनुष्य जीवन पूर्णत कृतार्थ होता है, तो उसमे श्रेय, सौन्दर्य आदि मूल्य भी समाहित हो जाते हैं। अतिक्रान्ति के लक्षण से जहाँ मनुष्य की चेतना यथार्थ रूप मे सत्य का तटस्थ अनुसन्धान करती है, वहाँ दूसरी ओर इस व्यापक सत्य में कृतार्थ होने की साधना भी उसका निगूढ लक्षण है। सत्य के आध्यात्मिक रूप तथा श्रेय और सौन्दर्य चेतना की इसी साधना के लक्षण हैं। जीवन की पूर्ण कृतार्थता चेतना के द्वारा अपने स्वरूप का लाभ है। इस दृष्टि से इन लक्ष्यो को चेतना का स्वरूप भी कहा जा सकता है। यह केवल दृष्टि और सिद्धान्त का भेद है। किन्तु अध्यात्म, श्रेय और सौन्दर्य की साधना भी मनुष्य समाज मे यथार्थ-रूप सत्य की भाति निरन्तर होती रही है। इतना अवश्य है कि यथार्थ-रूप सत्य के अनुसधान की दिशा मे निरन्तर प्रगति होती रहती है। निरपेक्ष होने के कारण उसका कोई मानवीय अनुबन्ध नही है। वह एक निरपेक्ष सामाजिक सम्पत्ति के रूप मे सचित और वर्द्धित होता रहता है। आध्यात्मिक सत्य तथा श्रेय और सौन्दर्य के सबध में प्रगति अथवा अभिवृद्धि इस प्रकार सहज तथा अनिवार्य नही है। कुछ सीमा तक और कुछ रूपो में इन क्षेत्रो मे भी प्रगति और अभिवृद्धि खोजी जा सकती है। किन्तु दूसरी ओर इनमे ह्रास की आशका भी हो सकती है। इस ह्रास की स्थिति और इसके कारणो का कुछ सकेत ऊपर किया गया है। फिर भी अध्यात्म, श्रेय, और सौन्दर्य की साधना मनुष्य जीवन को आदिकाल से ही अलकृत करती रही है। सत्य की साधना की भाँति मनुष्य-समाज के इतिहास मे इनकी साधना और इनका विकास भी आदिकाल से खोजा जा सकता है।

श्रेय और सौन्दर्य दोनो की साधना मे समात्मभाव का आधार सत्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप मे रहता है। सत्य की भाति श्रेय के प्राकृतिक और आध्यात्मिक अथवा सास्कृतिक दो रूपो की कल्पना की जा सकती है। प्राकृतिक श्रेय का सम्बन्ध

जीवन के सरक्षण और सुख तथा अन्य स्वार्थ वृत्तियो से है। अत इसकी साधना एकान्तभाव मे भी हो सकती है जो प्रकृति और पशुत्व की सामान्य स्थिति है। स्वार्थ की अचेतन अथवा चेतन प्रवृत्ति वृक्षो तथा पशुओ मे दिखाई देती है। पशु-जीवन मे तो प्राकृतिक श्रेय का रूप बहुत सीमित रहता है। जीवन की रक्षा से ही उसका प्रमुख सबध है। आहार निद्रा और काम इस प्राकृतिक श्रेय के मुख्य रूप हैं। पशुओ के जीवन मे ये तीनो ही बहुत सरल और सीमित हैं। किन्तु मनुष्य के जीवन मे प्राकृतिक श्रेयो का परिमाण और रूप बहुत बढ गया है। आहार निद्रा और काम के अतिरिक्त अन्य अनेक प्राकृतिक लक्ष्य मनुष्य के जीवन मे विकसित हुए हैं तथा उनके उपकरणो एव साधनो की अपार अभिवृद्धि सभ्यता के इतिहास मे होती रही है। इनमे अधिकाश साधन भौतिक हैं। प्राकृतिक श्रेयो के साधनो के विस्तार के साथ साथ इनके रूप मे भी अनेक प्रकार से बहुत विकास हुआ है। मुख्य रूप से यह विकास साधनो की सख्या के साथ साथ उनके परिष्कार की दिशा मे भी हुआ है। बहुत सीमातक प्राकृतिक श्रय के साधनो की अभिवृद्धि ही सभ्यता की प्रगति है। सभ्यता की इस प्रगति मे प्राकृतिक श्रेयो के साधन सास्कृतिक एव आध्यात्मक श्रेयो से तथा सौन्दर्य से मिलकर जटिल बन गये हैं। इस जटिलता का स्रोत उस समात्मभाव मे है जो सास्कृतिक श्रेय और सौन्दर्य की मूल प्रेरणा है।

यथार्थ सत्य के निरपेक्ष अनुसन्धान तथा प्राकृतिक श्रय के प्रयत्न की कल्पना मनुष्य के उस आदिम काल मे भी की जा सकती है, जब कि वह पशुओ के समान अकेला जीवन व्यतीत करता होगा। कि तु सास्कृतिक श्रेय और सौन्दर्य का उदय मनुष्य के जीवन मे तभी हुआ होगा जबकि दाम्पत्य अथवा कुल की भूमिका मे समात्मभाव का कुछ आधार मनुष्य के जीवन मे बना होगा। मनुष्य के जीवन मे अध्यात्म की प्रेरणा मौलिक होते हुए भी प्रकृति का आधार अनिवार्य है। अध्यात्म और सस्कृति की साधना का पीठ प्रकृति ही है। अत जहाँ स्वतन्त्र रूप मे अध्यात्म, कला आदि की कुछ साधना सभव हुई है, वहाँ दूसरी ओर इनका बहुत कुछ सकर अथवा समन्वय जीवन के प्राकृतिक उपकरणो एव लक्ष्यो मे पाया जाता है। श्रेय और सौन्दर्य दोनो ही सामाजिक एव व्यक्तिगत जीवन की व्यवस्थाओ एव उनके उपकरणो मे साकार होते हैं। परिवार अथवा कुल से ही सामाजिक व्यवस्था एव उसमे श्रय की प्रतिष्ठा प्रारम्भ होती है। स्वार्थ, परार्थ और साम्य तीनो ही दिशाओ मे श्रेय की यह धारा प्रवाहित होती है। स्वार्थ का

मुख्य क्षेत्र प्राकृतिक श्रेय ही है। सांस्कृतिक और आध्यात्मिक श्रेय स्वार्थ का प्रभुत्व होने पर अपने स्वरूप से च्युत हो जाते हैं। स्वार्थ और प्रकृति की प्रधानता न होने पर आध्यात्मिक और सांस्कृतिक श्रेय में समन्वित होकर प्राकृतिक श्रेय एक सश्लिष्ट श्रेय का रूप प्रस्तुत करते हैं। संस्कृति में जीवन्त रूपों का विकास श्रेय के समन्वित रूप में ही हुआ है। जहां प्रकृति के अनुरोध से मनुष्य सुख और स्वार्थ की कामना करता है वहाँ दूसरी ओर उसकी अन्तर्तम आत्मा प्रेम और परार्थ की भी आकाक्षा रखती है। आदिम जीवन में दाम्पत्य, परिवार और कुल के प्रारम्भ से ही श्रेय की इस त्रिवेणी का प्रवाहपथ खोजा जा सकता है।

आहार और आवास को हम प्राकृतिक श्रेय का सरलतम रूप मान सकते हैं। नैसर्गिक रूप में यह पशुओं के लिए भी आवश्यक है, किन्तु मनुष्य के आहार और आवास में निरन्तर विकास होता रहा है। आहार और आवास के प्राकृतिक होते हुए भी इनके विकास की प्रेरणा को अंशतः सांस्कृतिक मानना होगा। जहाँ एक ओर जीवन और सुरक्षा इनके मुख्य लक्ष्य हैं, वहां दूसरी ओर समात्मभाव, प्रेम और सौन्दर्य के भावों का भी इनके विकास में महत्वपूर्ण योग है। सामूहिक आवासों का विकास केवल सुरक्षा की दृष्टि से नहीं हुआ है, वरन् समात्मभाव और प्रेम की आन्तरिक आकाक्षा भी सामूहिक निवास में पूर्ण होती है। आवास की भाँति भोजन में भी सामूहिक भाव इसी आकाक्षा से विकसित हुआ। आवास की देशगत सीमायें तथा उसकी एकरूप स्थिरता प्रकृतिभाव के अधिक अनुरूप है, फिर भी सामीप्य के द्वारा सामूहिक निवास अनेक सांस्कृतिक श्रेयों की भूमिका बनता है। प्राकृतिक दृष्टि से अधिक मौलिक होते हुए भी आहार में सक्रियता, नवीनता, आदान प्रदान आदि की सभावना अधिक होने के कारण उसमें सांस्कृतिक श्रेय का समन्वय अधिक सफलतापूर्वक हुआ है। प्रीतिभोज में यह समन्वय साकार मिलता है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में देवता का प्रसाद बनकर प्राकृतिक आहार सांस्कृतिक सौन्दर्य के साथ साथ एक धार्मिक पवित्रता के भाव से भी अर्चित हुआ है। सभ्यता के विकास में मनुष्य के आवास को सुन्दर और सुखमय तथा नागरिक व्यवस्था के रूप में मंगलमय बनाने के लिए अनेक उपकरणों का विस्तार हुआ है। प्राचीन ग्राम्य मार्गों और नौकाओं से लेकर यातायात, परिवहन, सम्वाद आदि के आधुनिक साधनों तक इस विस्तार के विकासशील उदाहरण मिलते हैं। आहार के उपकरण आवास से भी अधिक सम्पन्न रूप में विकसित हुए हैं तथा श्रेय और सौन्दर्य से उनका अधिक

घनिष्ठ समन्वय हुआ है। मौलिकता की दृष्टि से नही, किन्तु मूल्य की दृष्टि से सभ्यता के विकास क्रम मे आहार और आवास से अलग अन्य असख्य उपकरणो, सस्थाओ और व्यवस्थाओ का विकास हुआ है, जो जीवन के श्रेय सम्पादन मे महत्व-पूर्ण योग देते हैं। कृषि, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, राज्य, सेना, शिक्षा, न्याय, धर्म आदि इनके कुछ प्रमुख उदाहरण हैं। सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य के प्राकृतिक श्रेय भी सामाजिक बन गये हैं। सास्कृतिक श्रेय तो स्वरूप से ही सामाजिक है। व्यक्तिगत एकान्त मे वे सम्पन्न नही हो सकते। जिन सस्थाओ का ऊपर उल्लेख किया गया है वे सभी सामाजिक हैं और मनुष्य की श्रेय-साधना मे योग देती हैं। अपनी श्रेय-साधना को अधिकाधिक सफल बनाने के लिए मनुष्य इन सस्थाओ के विकास एव विस्तार का भी निरन्तर प्रयत्न करता रहा है, यद्यपि प्रकृति के प्रबल अनुरोध के कारण इनमे प्राय ऐसी बाधायें आती रही हैं जो आज अपने चरम रूप मे प्रकट होकर मनुष्य के श्रेय को ही नही, उसकी सत्ता को भी समाप्त कर देना चाहती हैं।

किन्तु प्रकृति के अनुरोध से अनेक बाधा और विक्षेप होने पर ही मनुष्य निरन्तर श्रेय साधना मे सलग्न रहा है। उसकी यह श्रेय-साधना प्राकृतिक श्रेय तक ही सीमित नही रही है। इतना अवश्य है कि प्रकृति की प्रबलता के कारण प्राकृतिक श्रेय मे मनुष्य की अधिक अभिरुचि रही है। किन्तु प्राकृतिक श्रेय का सम्मोहन अधिक बढने के पूर्व ही परिवार, कुल और कबीलो की भूमिका मे समात्मभाव के सुदृढ अकुर खिल चुके थे और वे निरन्तर सास्कृतिक श्रेयो मे फलते फूलते रहे। सस्कृति के कल्पवृक्ष इन्ही अकुरो के परिणाम हैं। इन सास्कृतिक श्रेयो मे सौन्दर्य का समवाय भी होता रहा है। सस्कृति के पर्व इसी समवाय के फल हैं। इसके साथ-साथ समात्मभाव से प्रेरित ये सास्कृतिक श्रेय एक ओर प्राकृतिक आकाक्षाओ की अतिरजना को मर्यादित करते रहे हैं और दूसरी ओर मनुष्य के प्राकृतिक जीवन को भी स्वस्थ बनाते रहे हैं। इस सामजस्य के क्रम मे प्राकृतिक श्रेयो का भी बहुत कुछ स्वस्थ और सुन्दर विकास हुआ है। यही विकास सभ्यता का गौरव है। इसी विकास क्रम मे भोजन का विचित्र व्यवसाय तथा व्यापार के अन्य रूप विकसित हुए हैं। आवासो तथा अन्य नागरिक सुविधाओ का विकास भी इसी क्रम का परिणाम है। अन्य भौतिक उपकरणो का विस्तार और व्यवसाय भी बहुत कुछ इस क्रम से प्रेरित है। सार्वजनिक जल कूप, तडाग, मार्ग, विद्यालय चिकित्सालय आदि उक्त सामजस्य के

उत्तम उदाहरण हैं। प्राकृतिक अनुरोध के विशेषों के भ्रमरों से विक्षुब्ध होते हुए भी श्रेय की यह धारा जीवन की कृतार्थता की दिशा में निरन्तर बहती रही है। इसी प्रवाह की प्रगति मनुष्य के सन्तोष और उसकी प्रसन्नता का कारण रही है। दान, दया, सेवा आदि के भाव मनुष्य की इसी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति है श्रेय। के इस सामाजिक प्रवाह मे व्यक्तित्व की वीचिया उसका अलकार बन गई हैं। माध्यमिक स्थितियों मे प्रवाहों और वीचियों का सामजस्य जीवन का एक उत्तम आदर्श रचता रहा है। उपनिषद् काल के समान प्रशान्त कालो में व्यक्तित्व की वीचियो ने सामाजिक साम्य मे विलीन होकर जीवन के विशाल पटल को अधिकतम स्वच्छ रूप से विभासित किया है। कभी उपद्रवो के प्रभजनो ने असख्य वीचियो की उग्रता के द्वारा जीवन के प्रवाह को ही आन्दोलित कर दिया है। ऐसे प्रभजन आवृत्तहोते हुए भी अल्पकालीन रहे हैं तथा सामान्य रूप से मनुष्य जीवन की धारा प्राकृतिक और सास्कृतिक श्रेय के सामजस्य की दिशा में बहती रही है। आध्यात्मिक भाव की प्रधानता ने भारतवर्ष मे इस सामजस्य को अधिक बल दिया है।

सत्य और श्रेय की भांति सौन्दर्य की साधना मे भी मनुष्य की निरन्तर लगन रही है। सत्य की निरपेक्ष जिज्ञासा मनुष्य की एक तीव्र आकाक्षा है। किन्तु प्राय वह आवृत्ति और कौतूहल मे शान्त हो जाती है। इस आकाक्षा की तीव्रता बहुत कम व्यक्तियो को मौलिक अनुसधान की दिशा मे प्रेरित कर पाती है। अधिक सृजनात्मक और सक्रिय होने के कारण श्रेय और सौन्दर्य की साधना मे मनुष्य अधिक कृतार्थता का अनुभव करता है। इसीलिए दोनो ने मिल कर समाज और सस्कृति का निर्माण किया। सभ्यता और सस्कृति के उपकरणो मे सत्य से अधिक श्रेय और सौन्दर्य का सगम है इस सगम मे सत्य की सरस्वती तो अलक्षित और मौन ही जान पडती है। श्रेय की उज्ज्वल गगा और सौन्दर्य की मजुल यमुना का समागम ही इनमे अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। 'श्रेय' सौन्दर्य की अपेक्षा भी अधिक सक्रिय और सृजनात्मक है। वह अधिक उद्योग की अपेक्षा करता हैं। अत मनुष्य की उसमे कम प्रवृत्ति हो सकती है। किन्तु प्रकृति और समात्मभाव की प्रेरणा उसे उभयविध श्रेयो की दिशा में प्रेरित करती है। प्रकृति और समात्मभाव श्रेयो के प्रति उसकी प्रवृत्ति के सहज स्रोत हैं। सौन्दर्य के प्रति मनुष्य का अद्भुत आकर्षण है। उसका सृजनात्मक रूप सक्रिय भी है। समात्मभाव की भूमिका मे सास्कृतिक श्रेय की भाति सौन्दर्य की दिशा मे मनुष्य की सक्रिया प्रवृत्ति होती है। लोक-गीत, लोक-कला

आदि लोक-संस्कृति के रूप इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। किन्तु सृजनात्मक सक्रियता के अतिरिक्त मनुष्य के लिए सौन्दर्य के आकर्षण का एक अन्य रूप भी है, जो स्फुटरूप में इतना सृजनात्मक नहीं है। सौन्दर्य का यह रूप प्रकृति में अभिव्यक्त होता है, जो आदिकाल से मनुष्य को मुग्ध करता रहा। मनुष्य जाति और व्यक्ति दोनों के इतिहास में संभवतः यह सृजनात्मक सौन्दर्य की अपेक्षा सौन्दर्य का पूर्वतर रूप है। व्यक्ति अपने शैशव में सौन्दर्य की सृष्टि करने के पूर्व इसी सौन्दर्य से आकर्षित होता है। संभवतः मनुष्य जाति के शैशव में भी सौन्दर्य की सृष्टि करने के पूर्व वह इसी सौन्दर्य के प्रति आकर्षित हुआ होगा। सत्य के अवगम की भांति सौन्दर्य के इस सम्मोहन में ही चेतना की सहज विवृत्ति दिखाई देती है। दोनों में ही चेतना का अधिक अध्यवसाय प्रतीत नहीं होता। सौन्दर्य के आकर्षण में सत्य के अनुसंधान से भी कम प्रयत्न दिखाई देता है। सत्य मानो गुप्त रहता है और वह हमारे चेतना के उद्योगों को चुनौती देता है। किन्तु उसकी खोज अधिक सजगता और सचेष्टता की अपेक्षा करती है। किन्तु उसके विपरीत सौन्दर्य का अनावृत्त रूप हमें सहज ही आमन्त्रित और आकर्षित करता है। सौन्दर्य का यह आमन्त्रण हमारे उद्योग की अपेक्षा कम करता है। अधिक सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जहां सत्य को हम खोजते हैं, वहां मानो सौन्दर्य हमको खोजता है। सत्य हमारे प्रति उदासीन है। सौन्दर्य मानो हमारा अनुरागी है और हमें सहज ही अनुराग से रंजित कर देता है। इसी अनुराग के कारण सौन्दर्य ने सृजन की दिशा में भी मनुष्य को सत्य की खोज की अपेक्षा अधिक प्रेरित किया है। आदि काल से अब तक मनुष्य सत्य से भी अधिक सौन्दर्य की साधना में संलग्न रहा है। प्राकृतिक सौन्दर्य का अनुराग और सांस्कृतिक सौन्दर्य की रचना दोनों ही मनुष्य के जीवन को अनवरत अलंकृत करते रहे हैं। श्रेय में समन्वित होकर सौन्दर्य की यह साधना मनुष्य जीवन को अनुपम आनन्द से भरती रही है।

मनुष्य की इस सौन्दर्य-साधना का इतिहास सरल रूप में उसके आदिकाल से ही मिलता है। आदिम मनुष्यों की कला के प्राचीनतम नमूनों के रूप में मिलने वाले आखेट-चित्र, भित्ति चित्र तथा अन्य आकृतियां इसके उदाहरण हैं। कदाचित् इन रचनाओं से भी पूर्व आदिम मानव के जीवन के सरल उपकरणों में सौन्दर्य का संगम हुआ होगा। एक प्रकार से सौन्दर्य की रचना का आरम्भ उस आदिम काल में माना जा सकता है जब आखेट-जीवी मनुष्य ने आखेट के लिए ही कुछ औजारों

का निर्माण किया होगा, चाहे वे औजार पत्थर को तोडकर अथवा घिसकर ही बनाये गये हो। उस आदिमकाल मे जीवन-यापन की कठिनाइयों के कारण इन औजारो मे सौन्दर्य से अधिक उपयोगिता का भाव रहा होगा। इन औजारो की सरलता के कारण हमे भी इनमे कोई विशेष सौन्दर्य दिखाई नही देता किन्तु कुछ उदार विचार के द्वारा प्राचीन मानव के ये सरल निर्माण भी सौन्दर्य की परिभाषा की व्यापक परिधि के भीतर हो जाते पडते है। जहा कहीं भी मनुष्य की सरलतम रचनाओ मे 'रूप का अतिशय' उदित होता है, वहीं सौन्दर्य प्रकट होता है। सौन्दर्य 'रूप का अतिशय' है और 'कला' को हम रूप के अतिशय की रचना कह सकते है। सौन्दर्य और कला की इससे अधिक व्यापक और इससे अधिक सन्तोषजनक परिभाषा नहीं हो सकती। सौन्दर्य का रहस्य रूप मे ही निहित है इसी कारण संस्कृत और हिन्दी भाषा मे 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय बन गया है। सामान्यत रूप की अभिव्यक्ति की दृष्टि से हम विश्व की प्रत्येक वस्तु को सुन्दर कह सकते हैं। किन्तु जिन वस्तुओ मे रूप का स्फोट अधिक होता है, उनमे सौन्दर्य अधिक प्रभावशील दिखाई देता है। रूप की रचना में रूप का स्फोट अधिक स्पष्ट होता है। इसीलिए रचनात्मक सौन्दर्य मनुष्य को अधिक आकर्षित करता रहा है। रचना 'शक्ति' का विमर्श है। अत वह आनन्द के स्रोत खोलती है। रचना की सक्रियता रूप की विशेषता को स्फुटित करती है। रचनात्मक सौन्दर्य के विशेष आकर्षण का यही रहस्य है। इसीलिए जहाँ मनुष्य एक ओर प्रकृति के रूप से मुग्ध होता रहा है, वहाँ दूसरी ओर वह रूप की रचना में अधिक प्रवृत्त रहा है तथा प्रकृति के उन रूपो मे भी रचनात्मकता का सम्पुट देता रहा है। घर मे फूलो के पेड लगाना इसका एक सरल उदाहरण है।

अस्तु, प्रकृति मे अभिव्यक्त और अपने रचित दोनो ही प्रकार के रूपो का सौन्दर्य आदि काल से ही मनुष्य को मोहित करता रहा है। यह सत्य है कि किसी भी प्रकार का सौन्दर्य एकान्त की स्थिति में कदाचित् ही मनुष्य को प्रभावित कर सकता है। समात्मभाव के बिना सौन्दर्य की सम्भावना अकल्पनीय है। प्राचीनतम काल मे जब मनुष्य जगल मे पशुओ की भाति आखेट करता होगा तब प्रकृति के कुछ रूपो से ऐन्द्रिक सम्पर्क के द्वारा वह पशुओ की भाँति भले ही प्रभावित हुआ हो, किन्तु सौन्दर्य का सचेतन अनुराग और आनन्द उसके अन्तर मे समात्मभाव के साथ ही उदित हुआ होगा, इसमे सन्देह नहीं। रूप की रचना के सम्बन्ध मे भी यह निश्चित है कि समात्मभाव का उदय होने पर ही उसमे सौन्दर्य का भान हो सकता है। आदिमकाल

मे यदि मनुष्य ने पशुवत एकान्तभाव मे चाहे आखेट के लिए औजारो अथवा अन्य कुछ वस्तुओ का निर्माण भले ही किया हो, किन्तु जब तक वह अकेला रहा होगा तब तक उनमे उसे उपयोगिता ही दिखाई दी होगी और सौन्दर्य का अनुभव नही हुआ होगा। रूप और सौन्दर्य की वे रचनाये जो सरलतम रूप मे कला की परिचायक है, समात्मभाव के उदय होने पर ही सभव हो सकी हैं। आदिम काल से आगे लोक-सस्कृति के अचल मे कला और सौन्दर्य का विकास सभ्यता के क्रम मे समात्मभाव की क्रमश अभिवृद्धि के साथ ही हुआ होगा। जीवन मे प्रकृति की अनिवार्यता के कारण प्राकृतिक भावो से पृथक स्वतन्त्र और शुद्ध रूप मे श्रेय और सौन्दर्य की साधना अकल्पनीय नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। अतएव सामान्यत जीवन के प्राकृतिक उपकरणो के साथ समन्वित रूप मे ही श्रेय और सौन्दर्य का विकास हुआ है, चाहे यह समन्वय पूर्ण नही है। प्रकृति का लक्षण उपयोगिता है। अत श्रेय और सौन्दर्य के इन रूपो मे उपयोगिता का निश्चित आधार है। रूपो की रचना मे निरुपयोगिता और समात्म-भाव की प्रधानता रहने पर श्रेय एव सौन्दर्य विशेष रूप से स्फुटित होते हैं। प्रकृति और भाव के इसी सामजस्य मे सस्कृति का मौलिक रूप स्फुटित होता है।

समात्मभाव और सामजस्य की स्थिति मे उदित होकर सौन्दर्य का भाव जिन रूपो मे विकसित हुआ है उनका इतिहास बहुत जटिल और विस्तृत है। आरम्भ मे सौन्दर्य के रूपो का अनुयोग मनुष्य के निकटतम उपयोग की वस्तुओ मे ही मिलेगा। स्थायी आवास का प्रबन्ध करने के पूर्व भी यदि आदिम मनुष्य ने शिकार के लिए कुछ औजारो का निर्माण किया हो तो उन्हे सृजनात्मक अर्थ मे 'सुन्दर' कहा जा सकता है। मनुष्य समाज मे बहुत सी गृहविहीन जातिया हैं। उनके पास भी जीवन के कुछ उपकरण मिलते हैं, जिन्हे 'सुन्दर' कहा जा सकता है, फिर भी इतना मानना होगा कि सभ्यता मे सौन्दर्य का अधिक विकास समाज की व्यवस्था के कुछ स्थायी बनने के बाद ही हुआ है। 'घर' इस व्यवस्था का मूल आधार है। नागरिक व्यवस्था इस आधार पर निर्मित प्रासाद है। सामाजिक व्यवस्था का स्थायित्व सौन्दर्य की पुष्प माला के सूत्र के समान है। प्रकृति मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी एक स्थायी व्यवस्था के आधार पर ही होती है। यह सौन्दर्य परिवर्तन और नवीनता मे अवश्य प्रकट होता है। किन्तु यह सब एक स्थायी व्यवस्था के आधार पर ही होता है। प्रकृति के समान ही मनुष्य के जीवन की व्यवस्था में कुछ स्थिरता आने पर सौन्दर्य का अधिक विकास हुआ है। व्यवस्था की स्थिरता विविध रूपो में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

को एक आधार प्रदान करती है। इस व्यवस्था की स्थिर डाली पर ही सौन्दर्य के सुमन खिलते हैं। व्यवस्था की स्थिरता मनुष्य को कुछ अवकाश प्रदान करती है। इस अवकाश के आकाश में ही सौन्दर्य के सितारे खिलते हैं। स्थायी आवास को हम इस व्यवस्था का आरम्भ कह सकते हैं। यह आवास ही संस्कृति और सौन्दर्य का पीठ है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में अब भी घर ही सांस्कृतिक पर्वों का प्रमुख पीठ है। किसी सीमा तक स्थायी आवास सौन्दर्य का भण्डार बन जाता है। आवास का स्थायित्व जहा एक ओर सौन्दर्य के रूपो की रचना के लिए अवकाश प्रदान करता है, वहाँ दूसरी ओर उसकी स्थिरता और एकरूपता कुछ नीरसता का भी कारण बनती है तथा सौन्दर्य के नव-नव रूपो के द्वारा जीवन मे सरसता उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती है।

इस प्रकार दोनो ही रूपों मे स्थायी आवास सौन्दर्य के विकास का आरम्भ बना है। एक प्रकार से घर की रचना भी सौन्दर्य की रचना ही है। उसके निर्माण मे ही मनुष्य यथासम्भव सौन्दर्य के रूप समाहित करने का प्रयत्न करता है। पत्थर की कारीगरी के मकानो मे रचना का यह सौन्दर्य अपरिमित मात्रा मे मिलता है। आदिम निवासियो और ग्रामीणो के जिन साधारण गृहो की निर्मिति मे सौन्दर्य का अधिक समावेश नही हो पाता, वे उसे भित्ति-चित्रो आदि से अधिक सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं, और भी अनेक प्रकार के उपकरणो से सज्जित कर उसका सौन्दर्य बढाते हैं। इन उपकरणो मे भी रचना और रूप का सौन्दर्य समाहित करने मे मनुष्य की रुचि रही है। इन उपकरणो मे भी एक प्रकार का स्थायित्व आ जाता है और उससे उत्पन्न होने वाली नीरसता का निराकरण करने के लिए उसमे सौन्दर्य का सन्निवेश अपेक्षित होता है। आदिम मनुष्यो के गृहो तथा अन्य उपकरणो मे सौन्दर्य की रचना के कुछ उदाहरण सुरक्षित रूप मे मिलते हैं। किन्तु सौन्दर्य-रचना की यह प्राचीन परम्परा इतिहास के क्रम मे निरन्तर मिलती है। किसी भी ऐतिहासिक काल के अवशेषो मे हम इसके उदाहरण देख सकते हैं। वर्तमानकाल मे भी गृह-निर्माण, गृह-सज्जा और जीवन के साधारण उपकरणो मे सौन्दर्य के निर्वाह की साधारण ग्रामीण भी अपने मिट्टी के मकानो को लीप-पोतकर उन पर चित्र रचना करते हैं। वे मिट्टी के वर्तनो तथा अन्य उपकरणो को भी सौन्दर्य के रूपो से सज्जित करते हैं। भोजन और वस्त्र जैसे उपयोगी उपकरणो मे सौन्दर्य का समावेश मनुष्य की सौन्दर्य साधना का एक उत्तम उदाहरण है। भोजन जीवन का सबसे अधिक

उपकरण है, क्योंकि उसके ऊपर जीवन की सत्ता निर्भर है। भोजन मे स्थायित्व भी सबसे कम है क्योंकि क्षण भर मे उदरसात् कर लेने पर उसका अन्त हो जाता है। एक ही रूप की आवृत्ति के कारण उसमे एकरूपता अवश्य उत्पन्न होती है, जो सौन्दर्य की हानि करती है। स्थायित्व की नीरसता की आशंका भोजन मे नही है। किन्तु एकरूपता, भोजन मे नीरसता और असौन्दर्य उत्पन्न करती है। इनको दूर करने के लिए मनुष्य ने भोजन मे अनेकरूपता और परिवर्तन का मार्ग अपनाया। इससे भोजन मे कुछ सौन्दर्य का सचार होता है। इसके लिए प्रकृति ने अनेक प्रकार के भाज्य पदार्थ उत्पन्न करके मनुष्य को सौन्दर्य साधना म योग दिया है। इसके अतिरिक्त मनुष्य ने भोज्य पदार्थ के रूपो म विविध प्रकार से सौन्दर्य का सन्निधान करके भोजन को अधिक आनन्दमय बनाने का प्रयत्न किया है। भारतीय भोजन मे रूपो के वैचित्र का सौन्दर्य बहुत समृद्ध रूप मे मिलता है। रूप और रचना दोनो का यह सौन्दर्य भारतीय भोजन म बहुत है। भारतीय धर्म और सस्कृति म भोजन का एक विशेष और महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन म भोजन का मौलिक महत्व है। सौन्दर्य के विपुल सयोग से युक्त होकर विविध विचित्र भोजन भारतीय सस्कृति के महत्वपूर्ण उपकरण बन गये हैं। जीवन मे भोजन के मौलिक स्थान और भारतीय पर्वो की बहुसंख्यकता तथा दैनिक जीवन म भाजन की प्रचुरता न मिलकर साधारण लोक जीवन का अपूर्व आनन्दमय बना दिया है। **भोजन जैसी नितान्त उपयोगी वस्तु में सौन्दर्य का यह सयोग भारतीय सस्कृति की एक अद्भुत विशेषता है।** सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के कारण ही भोजन के भारतीय पदार्थों को व्यजन का नाम मिला है और उसके स्वाद का 'रस' की सज्ञा मिली है जो कला एव सस्कृति के सौन्दर्य और आनन्द के लिए भी प्रयुक्त होता है।

भोजन और आवास के बाद मनुष्य के आवश्यक उपकरणो म वस्त्र की गणना की जा सकती है। वृक्षो और पत्तो की छालो तथा पशुचर्म से जब तक मनुष्य अपना शरीर ढकता था तब तक वस्त्रो का महत्व आच्छादन और रक्षा के लिए अधिक था। किन्तु जब से सूती और रेशमी वस्त्रो का आविष्कार हुआ है तबसे उनम आच्छादन और रक्षा के साथ साथ सौन्दर्य का योग भी बढता गया है। प्राचीन काल से भी विविध रंगो के और सुन्दर वस्त्र बनाये जाते थे। वस्त्रो की रंगीन छपाई का काम बहुत पुराना है। उपयोगिता की दृष्टि से वस्त्रो के नाना प्रकार के काट-छाँट छपाई और सुन्दरता का कोई महत्व नही है। किन्तु

सभ्यता मे इनको वस्त्रो की उपयोगिता से भी अधिक महत्व दिया जाता है। वर्तमान युग मे वस्त्रो की यह सुन्दरता बहुत बढ गई है। एक दृष्टि से वस्त्रो का यह विकास मनुष्य की सौन्दर्य साधना का ही प्रमाण है। आवास की अपेक्षा कम स्थाई होते हुए भी, वस्त्र भी काफी स्थाई होते हैं। उनका यह स्थायित्व नीरसता उत्पन्न करता है। अत उनमे रूप-रग के द्वारा सौन्दर्य का सन्निधान किया जाता है। परिवर्तन की सम्भावना वस्त्रो के सौन्दर्य को बढाती है इसीलिए वर्तमान सभ्यता मे वस्त्रो के परिवर्तन की प्रथा बहुत बढती जा रही है। वस्त्रो के अतिरिक्त मनुष्य के उपयोग की अन्य सभी वस्तुओ मे उपयोगिता के साथ-साथ रूप के सौन्दर्य का भी सन्निवेश रहता है। पुस्तको के आवरण तथा अन्य वस्तुओ के पात्रो एव उपयोग की अन्य वस्तुओ मे हम रूप और सौन्दर्य का वैभव देख सकते हैं। सौंदर्य का यह रूप सर्वत्र उपयोगी नही होता। उपयोगी होने पर भी सौदर्य की दृष्टि से इस रूप का अपना महत्व अक्षुण्ण बना रहता है। रूप और सौंदर्य के साथ मनुष्य का कुछ ऐसा ही आन्तरिक और घनिष्ठ सबन्ध है। निरुपयोगी होते हुए भी मनुष्य अपने इतिहास के आदिकाल से सौदर्य की आराधना करता आया है। मनुष्य की अन्ततंम आकाक्षा होने के साथ साथ सौंदर्य की यह साधना मनुष्य के लिए एक अपूर्व आनन्द का स्रोत रही है।

आवास, भोजन, वस्त्र तथा जीवन के अन्य उपकरणो मे सौन्दर्य का सन्निवेश सौन्दर्य की स्वतन्त्र साधना नही, वरन् जीवन के साथ सौन्दर्य का समन्वय है। सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे यह समन्वय बहुत मिलता है। इस समन्वय के द्वारा ही मनुष्य के साधारण लौकिक जीवन की नीरसता मे आनन्द का सचार होता है। किन्तु जीवन के सत्य और सौन्दर्य इसी समन्वय मे नि शेष नही हो गये हैं। सत्य और सौन्दर्य दोनो ही मनुष्य की स्वतन्त्र साधना के अवलब बने हैं। विज्ञानो और दर्शनो मे सत्य की साधना प्रतिफलित होती है। इन विज्ञानो और दर्शनो मे मनुष्य की सदा रुचि रही है और वह निरन्तर इनका विकास करता रहा है। सत्य की भाति ही सौन्दर्य की स्वतन्त्र साधना मे भी मनुष्य का अपार अनुराग रहा है। कला और साहित्य के रूप मे मनुष्य की यह सौन्दर्य-साधना साकार होती है। लोक-सस्कृति मे कला और काव्य साक्षात् जीवन से समन्वित रूप मे ही अभिवृद्ध हुए हैं। किन्तु अभिजात सस्कृति मे कला और साहित्य की साधना का विकास स्वतन्त्र रूप मे भी बहुत हुआ है। कला और साहित्य की इस अभिजात साधना मे सौन्दर्य

का रूप अधिक समृद्ध हुआ है इसमे कोई सन्देह नही, यद्यपि इसके साथ साथ साक्षात् जीवन से सौन्दर्य की आराधना कुछ विलग अवश्य हुई है, फिर भी इस साधना मे सौन्दर्य का उत्कृष्ट रूप विकसित हुआ है। जीवन के उपकरणो मे समाहित सौन्दर्य ऐन्द्रिक धरातल का है। जीवन के ये उपकरण स्थूल और इन्द्रियो के विषय होते हैं। इसीलिए भारतीय सस्कृति की परम्परा मे पर्वो, सस्कारो आदि के प्रसग मे क्रिया की जटिलता और भाव को समृद्धि का योग देकर सस्कृति के सौन्दर्य को सम्पन्न और श्रेष्ठ बनाया है। ऐन्द्रिक उपकरणो का सौन्दर्य उसका बाह्य और प्राकृतिक अवलम्ब मात्र है। कर्म की सक्रियता और भाव का सौन्दर्य उस सस्कृति की वास्तविक विभूति है। कला एव सस्कृति की स्वतन्त्र और अभिजात साधना मे जीवन के ऐन्द्रिक उपकरणो का ग्रहण भी भाषा आदि के माध्यम से होता है। किन्तु मन, बुद्धि और आत्मा से ग्राह्य सूक्ष्म भावो की विपुल विभूति इनके सौन्दर्य का मुख्य आधार है। श्रेष्ठता के कारण कला एव साहित्य के ये रूप कुछ दुर्गम अवश्य हो जाते हैं, किन्तु इनकी स्वरूपगत उत्कृष्टता असदिग्ध है। अभिजात कला एव साहित्य का बहुत विस्तार हुआ है और उनका बहुत मान रहा है। आज भी उनका बहुत प्रचार है। यद्यपि प्रगतिवाद और उपयोगिता के प्रभाव से उनका मान कम हो गया है, किन्तु साहित्य और कला के रूप मे सौन्दर्य की स्वतन्त्र साधना म मनुष्य अत्यन्त प्राचीनकाल से निरन्तर सलग्न रहा है। प्राकृतिक दृष्टि से निरपयोगिता होते हुए भी सौन्दर्य की इस साधना मे मनुष्य अपने जीवन की श्रेष्ठतम कृतार्थता मानता रहा है। इसीलिए इस साधना के लिए उसने तप और त्याग भी किये हैं। सौन्दर्य की साधना के जीवन से समन्वित और स्वतन्त्र दोनो ही रूपो मे सौन्दर्य के साथ सत्य और श्रेय का सगम भी है। सत्य और श्रेय की साधनाओ मे इस प्रकार सौन्दर्य का सगम नही है। इसीलिए सत्य और श्रय की स्वतन्त्र साधना मे कम लोगो की अभिरुचि रही है। इसी कारण सौन्दर्य की साधना सस्कृति मे प्रधानता ग्रहण करती रही है। फिर भी किसी न किसी रूप और परिमाण मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनो की साधना म मनुष्य की निरन्तर रुचि और लगन रही है। इसी साधना मे मनुष्य की समृद्ध चेतना कृतार्थ होती है। यही साधना मनुष्य का सर्वोत्तम धर्म है।

अध्याय २

सत्यं शिवं सुन्दरम् का आधार

मनुष्य का जीवन प्रकृति के पीठ पर अध्यात्म और संस्कृति की साधना है। प्रकृति का निर्वाह तो मनुष्य का सहज और अनिवार्य धर्म है। अध्यात्म और संस्कृति मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं। इनकी साधना में ही मनुष्य का जीवन कृतार्थ होता है। कला, काव्य, धर्म, दर्शन आदि मनुष्य की इसी साधना के अंग हैं। सत्य-शिव-सुन्दरम् मनुष्य की इसी साधना के मूल्य और मान हैं। आत्मा के शिखर से मनुष्य का जीवन सत्य शिव सुन्दरम् की त्रिवेणी की धाराओं में प्रवाहित होता है। सत्य की उज्ज्वल गंगा और सौन्दर्य की मधुर यमुना शिव की सरस्वती में समाहित होकर संस्कृति के संगम में जीवन के पुण्य तीर्थराजों का निर्माण करती है। इन्हीं तीर्थराजों में कल्पवास करके सत्य-शिव-सुन्दरम् के त्रिवेणी-संगम में अवगाहन के द्वारा जीवन की साधना कृतार्थ होती है। संस्कृति के इन पवित्र पर्वों में मनुष्य की प्रकृति भी कृतकृत्य होती है। प्रकृति और संस्कृति में विवेक अवश्य किया जा सकता है, किन्तु दोनों में कोई आवश्यक विरोध नहीं है। प्रकृति के स्वरूप में संस्कृति के साथ समन्वय और विरोध दोनों की सम्भावनायें अन्तर्निहित हैं। इन सम्भावनाओं का चरितार्थ होना मनुष्य की इच्छा और उसके अध्यवसाय तथा सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के घात-प्रतिघातों पर निर्भर है। ये दोनों ही सम्भावनायें विभिन्न समाजों में विभिन्न परिमाणों में चरितार्थ होती रही हैं। मर्यादित रूप में प्रकृति संस्कृति की उपकारक है। पशुओं के जीवन में यह मर्यादा एक नैसर्गिक विधान के रूप में प्राप्त होती है। किन्तु मनुष्य के जीवन में इस मर्यादा का अनुष्ठान एक दुष्कर साधना बन जाता है। मनुष्य के जीवन में प्रकृति की मर्यादा का अनुष्ठान जितना कठिन है, अतिचार की सम्भावना उतनी ही सरल है। इस अतिचार से प्रकृति संघर्ष का क्षेत्र बन जाती है और संस्कृति के साथ भी उसका विरोध प्रकट हो जाता है। इस अतिचार का मूल मनुष्य की उन आकाक्षाओं में है, जो मनुष्य की विकसित चेतना के साथ उसकी प्रकृति में अंकुरित हुई हैं। इतिहास के रक्त-रंजित पृष्ठ तथा सामाजिक जीवन की अन्य वेदनामयी विडम्बनायें इसी अंकुर के अन्तिम परिणाम हैं।

किन्तु प्रकृति का यह अतिचार और संस्कृति के साथ उसका विरोध ही मनुष्य के इतिहास का सर्वस्व नहीं है। इस अतिचार और विरोध से पीडित रहते हुए भी मनुष्य समाज बहुत कुछ परिमाण मे संस्कृति की साधना और सत्य-शिव-सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्यो की आराधना मे संलग्न रहा है। प्रकृति के अतिचार की अमरबेल से शोषित होते हुए भी मनुष्य-जीवन की भूमि पर संस्कृति की वनराजियाँ फलती फूलती रही हैं। युद्ध के कुरुक्षेत्रो के साथ-साथ कला के उद्यान, काव्य के उपवन, संस्कृति के वृन्दावन और अध्यात्म के अरण्य जीवन की भूमि को अलंकृत करते रहे हैं। प्रकृति के अतिचारो से रक्त-रंजित रसा के क्षितिजो पर संस्कृति की उषाएं और अध्यात्म की सन्ध्यायें भी खिलती रही हैं। संस्कृति और अध्यात्म की साधना मनुष्य की आत्मा की अन्ततंम आकाक्षा है। इसी आकाक्षा से प्रेरित होकर वह सत्य-शिव-सुन्दरम् की साधना करता रहा है। प्रकृति का पुत्र होते हुए भी मनुष्य आत्मा का औरस है। प्रकृति उसकी सम्पत्ति और आत्मा उसकी विभूति है। आत्मा की विभूति से अर्चित होकर प्रकृति की सम्पत्ति जीवन की लक्ष्मी बन जाती है। आत्मा का प्रकाश ही सत्य शिव-सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्यो की साधना का पथ आलोकित करता है।

प्रकृति भी अपने स्वरूप और अपनी सत्ता मे सत्य है। किन्तु प्रकृति के इस सत्य का उदघाटन आत्मा की चेतना के द्वारा ही होता है। इसीलिए विकास-क्रम मे मनुष्य के उद्भव से प्रकृति कृतार्थ हुई है। जीवन और चेतना के स्फुरण मे प्रकृति के सत्य मे शिवम् और सुन्दरम् भी अन्वित हुए हैं। जीवन के रक्षण, पालन और उसके संवर्धन मे उपयोगी प्रकृति केवल सत्य ही नही वरन् शिव भी है। उपयोगी के अतिरिक्त प्रकृति के क्षेत्र मे जहा रूप का अतिशय प्रकट होता है, वहाँ प्रकृति मे सौन्दर्य भी साकार हुआ है। वन्य प्रकृति के फल फूलो मे प्रकृति के सत्य मे श्रेय के साथ-साथ सौन्दर्य का अद्भुत संगम है। अपने स्वरूप मे सत्य, श्रेय और सौन्दर्य से अन्वित होने के साथ साथ प्रकृति सत्य-शिव-सुन्दरम् के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूपों का आधार भी है। प्रकृति का अतिचार संस्कृति और अध्यात्म का विरोधी होता है, किन्तु अपनी मर्यादा मे प्रकृति इनके उत्कर्ष का आधार बनती हैं। संस्कृति और अध्यात्म की साधना मे प्रकृति अपरिहार्य ही नही, वरन् एक उपकारक आधार है। शक्ति और शिव के साम्य की भाँति प्रकृति और आत्मा का साम्य सत्य, श्रेय और सौंदर्य की समृद्धि का स्रोत है। इसी साम्य मे सत्य शिव

बनता तथा सत्यम् और शिवम् सुन्दरम् से अलंकृत एवं अभिवृद्ध होते हैं। इस साम्य में ही सत्य, श्रेय और सौंदर्य के नवीन तथा श्रेष्ठतर रूप प्रकाशित होते हैं। आत्मा के क्षितिज प्रकृति की भूमि पर सत्यम् शिव-सुन्दरम् के अनन्त स्वर्लोकों के दिव्यद्वार खोलते हैं।

सामान्य रूप से सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् मनुष्य की चेतना के लक्ष्य तथा जीवन के सांस्कृतिक मूल्य माने जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य की विकसित चेतना एक सहज भाव से इनका अनुसंधान और इनकी आराधना करती है। किन्तु सत्य शिव-सुन्दरम् के रूप केवल सांस्कृतिक ही नहीं हैं, वरन् वे प्राकृतिक भी हैं। प्रकृति का सत्य जीवन का यथार्थ और भौतिक आधार है। प्रकृति का शिवम् उपयोगिता है। प्रकृति के पदार्थों में प्रकाशित रूप का अतिशय उसका सुन्दरम् है, किन्तु इतना अवश्य है कि प्रकृति का सत्य, श्रेय एवं सौन्दर्य अपने आप में पूर्ण नहीं है और न वह अपने आप में कृतार्थ होता है। आत्मा के अध्यवसाय से मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन में अन्वित होकर ही वह कृतार्थ होता है। यह अन्वय प्रकृति और आत्मा का साम्य है। इस अन्वय में मनुष्य की सांस्कृतिक साधना सफल होती है और प्रकृति भी कृतार्थ होती है। इस साम्य में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के श्रेष्ठतर रूप भी विकसित होते हैं। आत्मा और संस्कृति में अन्वित होकर सत्य-शिव-सुन्दरम् के प्राकृतिक रूप भी सांस्कृतिक बन जाते हैं तथा श्रेष्ठतर सांस्कृतिक रूपों के उद्भव के लिए जीवन की उर्वर भूमि का निर्माण करते हैं। इस दृष्टि से सत्य शिव-सुन्दरम् को सामान्यतः सांस्कृतिक मूल्य मानना उचित ही है।

सामान्य धारणा में प्रायः इन मूल्यों को अलग-अलग माना जाता है। दार्शनिक विचारकों ने भी इस धारणा का समर्थन किया है। इस धारणा के अनुसार 'सत्य' मनुष्य की जिज्ञासा का समाधान है। ज्ञान की अवगति उसका स्वरूप है। यह अवगति चेतना का आन्तरिक प्रकाश है। आन्तरिक होने के कारण यह व्यक्तिगत प्रतीत होता है। इसलिए प्रायः सभी दार्शनिक सत्य को व्यक्तिगत अवगति का लक्ष्य मानते हैं। जिन दार्शनिकों ने सत्य को आध्यात्मिक माना है, उन्होंने भी व्यक्ति की साधना के लक्ष्य के रूप में उसका निर्देश किया है। यह आध्यात्मिक सत्य स्वरूपतः व्यक्तिभाव से अतीत है, किन्तु व्यक्ति उसकी अवगति का अधिष्ठान है। 'श्रेय' को प्रायः मनुष्य के कर्म का लक्ष्य कहा जाता है। किन्तु वस्तुतः श्रेय केवल कर्म नहीं है। श्रेय का मर्म भी आन्तरिक भाव है, यद्यपि वह भाव प्रायः कर्म

के द्वारा चरितार्थ होता है। प्राकृतिक सत्य भी उसका उपकरण बनता है। वस्तुत यह भाव व्यक्तिगत नही है, किन्तु प्राय आचार-शास्त्रो मे कर्म के रूप मे श्रेय का आश्रय भी व्यक्ति ही माना गया है। मनुष्य के जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में उसका विवेचन किया गया है। जहा व्यक्तित्व का आधार स्पष्ट नही है, वहाँ भी वह अभिप्रेत अवश्य है। इसी प्रकार सौन्दर्य के सम्बन्ध मे भी अधिकाश विचारको की धारणा व्यक्तिभाव पर अवलम्बित है। सौन्दर्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो का एक मत नही है। किन्तु प्राय सभी विद्वान सौन्दर्य को सृजनात्मक मानते हैं। व्यक्ति इस सौन्दर्य की सृष्टि का कर्त्ता है। सौन्दर्य का यह रूप कलाओ मे अभिव्यक्त होता है। कलाओ की कृतिया व्यक्तियो की रचनाये हैं, जिन्हें 'कलाकार' कहा जाता है। मनोविज्ञान जिस प्रकार श्रेय को क्रिया का लक्ष्य मानता है, उसी प्रकार सौन्दर्य को भावना का लक्ष्य मानता है। मनुष्य की भावना सौन्दर्य के सर्जन और आस्वादन मे कृतार्थ होती है।

इस प्रकार सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् मनुष्य के मन की तीन प्रवृत्तियो के लक्ष्य माने जाते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार ये लक्ष्य व्यक्तिगत हैं। व्यक्ति के ज्ञान, सकल्प और भावना मे ये चरितार्थ होते हैं। किन्तु सत्य शिव सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो के सम्बन्ध मे यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पूर्णत समीचीन नही है। मन की प्रवृतियो का त्रिविध विभाजन मनुष्य के प्राकृतिक जीवन की व्याख्या अवश्य करता है, किन्तु वह मनुष्य की सास्कृतिक साधना की व्याख्या के लिये पर्याप्त नही है। ज्ञान का व्यापार ऐसा है, जो मनोविज्ञान की भाति दार्शनिको को भी व्यक्तिगत प्रतीत होता है। ज्ञान के उच्चतम रूपो का अधिष्ठान व्यक्ति को मानने मे कोई कठिनाई नही होती। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष से लेकर आध्यात्मिक ज्ञान तक का आश्रय व्यक्ति ही समझा जाता है। आश्रय की दृष्टि से ज्ञान के इन रूपो मे कोई भेद नही है। इनमें केवल विषय की दृष्टि से भेद किया जाता है। ज्ञान के श्रेष्ठ रूपों में, विशेषत जब विद्या का प्रदान होता है, व्यक्ति के आश्रय की सीमायें कठोर नहीं रहती, गुरु और शिष्य के आन्तरिक साम्य के आधार पर ही ज्ञान के श्रेष्ठ रूपो का प्रकाश होता है। फिर भी सभी विचारक ज्ञान के उच्चतम रूपो के अधिष्ठान को व्यक्तिगत मानते आए हैं। इस भ्रान्ति का कारण विचारणीय है। किन्तु भाव के क्षेत्र मे मनोविज्ञान की सीमाये अनावृत हो जाती हैं। मनोविज्ञान जिस 'भावना' को मानता है, नि सन्देह उस भावना का आश्रय व्यक्ति ही होता है।

मनोविज्ञान की भावना का प्रमुख रूप शरीर की एक असाधारणत उत्तेजित अवस्था है, जिसमे एक तीव्र अनुभूति का मर्म अन्तर्निहित रहता है। प्राकृतिक जीवन मे इस भावना का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमे कुछ भावनाय सास्कृतिक जीवन म भी उपकारक होती हैं। किन्तु उस स्थिति मे उनको व्यक्ति की सीमाओ मे बाँधना उचित नही है। भावना के इस रूप को हमने 'भाव' कहा है और यह भाव एक से अधिक व्यक्तियो का आन्तरिक और आत्मिक साम्य एव सवाद है। यही भाव श्रेय और सौन्दर्य का मम है। मनोविज्ञान की भावना व्यक्तिगत और स्वार्थमय होती है, उसे कला एव सौन्दर्य का आधार मानना भ्रान्तिपूर्ण है। असाधारण उत्तेजना की अवस्था में कला एव सौन्दर्य की सृष्टि नहीं हो सकती और न व्यक्तिगत एव स्वार्थमय भावना सौन्दर्य के अनुकूल है। हमारे मत में कलात्मक सौन्दर्य का उदय व्यक्तियो के उस आन्तरिक और आत्मिक साम्य की स्थिति में होता है, जिसकी हम आगे चलकर 'समात्मभाव' के रूप में व्याख्या करेंगे। हमारे मत में यही समात्मभाव आध्यात्मिक सत्य और सास्कृतिक श्रेय का भी आधार है। मनोविज्ञान जिस कर्म का सम्बन्ध श्रेय से मानता है वह उसका वाह्य और व्यवहारिक साधन मात्र है। यही कर्म श्रेय का स्वरूप नही है। श्रेय का स्वरूप प्राकृतिक और आत्मिक हित है। यह हित प्राकृतिक और आत्मिक अनुभव मे प्रकट होता है। प्राकृतिक हित का सम्पूर्ण रूप अनुभव नही है। अनुभव के अतिरिक्त स्वास्थ्य प्राकृतिक सुख का एक महत्वपूर्ण अग है। आत्मिक हित अनुभव के रूप में ही होता है। किन्तु सास्कृतिक और आध्यात्मिक श्रेय का यह अनुभव व्यक्तित्व की इकाई में सीमित नहीं रहता, यह अनुभव एक से अधिक व्यक्तित्वो के आन्तरिक और आत्मिक साम्य में सम्पन्न होता है। कर्म और वाह्य उपादान श्रेय के इस भाव के उपकारक होते हैं, किन्तु वे उसके स्वरूप का निर्माण नही करते। श्रेय के साथ कर्म का व्यापक सम्बन्ध है। किन्तु सास्कृतिक श्रेय स्वार्थमय कर्म नहीं है। वह परार्थ, सर्वार्थ अथवा समार्थ कर्म है। समार्थ कर्म से अभिप्राय उस कर्म से है, जिसके कर्ताओ, फल और भाव मे व्यक्तियो की इकाइयो को विविक्त नही किया जा सकता। सौन्दर्य के साथ भावना का सम्बन्ध भी पूर्णत सगत नही है। मनोविज्ञान की अभिमत 'भावना' सौन्दर्य का निमित्त बन सकती है, किन्तु वह सौन्दर्य की सृष्टि का स्रोत नहीं है। 'सौन्दर्य' उत्तेजित मन की अभिव्यक्ति अथवा सृष्टि नहीं है, वह आत्मा के उल्लास की अभिव्यक्ति है, जो रूप के अतिशय में साकार होती है। कला और साहित्य की कृतियों में जो

मनोवैज्ञानिक भावना दिखाई देती है, वह सौन्दर्य की रचना का स्रोत नहीं है वरन् कला का विषय अथवा उपकरण मात्र है।

अस्तु, मनोविज्ञान में मन की प्रवृत्तियों का जो त्रिविध विभाजन किया जाता है, वह सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यों की समुचित व्याख्या नहीं करता। मनोविज्ञान में जिस सकल्प को क्रिया का मूल माना जाता है, वह भी व्यक्तिगत है, क्योंकि उसका आश्रय भी मनुष्य व्यक्ति ही है। तन्त्रों में भी इच्छा, ज्ञान और क्रिया की त्रिपुटी की चर्चा रहती है। तन्त्रों की भाषा में इन्हें 'त्रिपुर' कहा जाता है। विश्व की सृजनात्मिका शक्ति के रूप में ये व्यक्तित्व से अतीत होते हैं, किन्तु सृष्टि में ये व्यक्तित्व की इकाई में सीमित रहते हैं। मूल शक्ति निर्वैयक्तिक है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसके तीन रूप हैं। उस शक्ति का नाम 'कला' है क्योंकि वह विश्व-रूपों की रचना करती है। किन्तु सृष्टि में इच्छा, ज्ञान और क्रिया व्यक्ति में ही चरितार्थ होते हैं। तन्त्रों में सृष्टि का विवेचन विश्व-शक्ति की कला के रूप में किया गया है। इसमें व्यक्तित्व का प्रसग नहीं आता। वह शक्ति सामान्य और आध्यात्मिक है। सृष्टि में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का आधार व्यक्तिगत बन जाता है। सास्कृतिक अर्थ में जिसे कला कहा जाता है और जो मनुष्य के द्वारा सौन्दर्य की रचना में अभिव्यक्त होती है उसका प्रसग तन्त्रों में नहीं है और न उसके प्रसग में व्यक्तिभाव अथवा समाजभाव की चर्चा तन्त्रों में मिलती है। किन्तु व्यवहार और साधना के प्रसग में ज्ञान और कर्म का प्रसग तन्त्रों में आता है तथा अन्य सभी दर्शनों की भाँति व्यक्ति को ही उसका आश्रय माना गया है। कर्म और साधना के जिन रूपों को मगलमय माना जाता है, उनका आधार भी व्यक्तिगत ही है। तन्त्रों की त्रिपुटी और मनोविज्ञान की त्रिविध प्रवृत्ति में इतना ही अन्तर है कि मनोविज्ञान की 'भावना' तन्त्रों में मूल रूप से स्वीकृत नहीं की गई है। 'इच्छा' सकल्प का पर्याय है और वह कर्म का आधार है। मनोविज्ञान भी सकल्प को कर्म का मूल मानता है, तन्त्रों में मनोविज्ञान की 'भावना' को 'वासना' समझा जाता है, जो एक प्रकार का 'विकार' है। मनोविज्ञान भी उसको विकार मानता है। वह शरीर और मन का एक असाधारण उद्वेग है। किन्तु मनोविज्ञान इसी भावना में कला और सौन्दर्य का स्रोत मानता है। तन्त्रों में साधना ही प्रधान है। अत लौकिक कला का विवेचन नहीं किया गया है। तन्त्रों में श्रेय की भावना भी आध्यात्मिक है। आत्म स्वरूप शिव ही परम मगल के धाम हैं। वे ही परम सत्य

हैं। उनकी सृजनात्मका शक्ति सुन्दरी कहलाती है। यदि तन्त्रो के सिद्धान्त को लोक म घटित किया जाय तो आन्तरिक आत्मभाव (प्रकाश) और वहिर्मुख विमर्श के साम्य को सत्य शिव सुन्दरम् की एकत्र सज्ञा देनी होगी। तन्त्रो का परमतत्व वेदान्त के ब्रह्म को भाति आध्यात्मिक होने के कारण अहकार से अतीत है। किन्तु लोक के सास्कृतिक जीवन मे शिवम और सुन्दरम् के इस साम्य को व्यक्तिगत मानना उचित नही है।

हमारे मत में सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो का आधार न तन्त्रो एव वेदान्तो की निर्वैयक्तिक आत्मा है और न मनोविज्ञान की अभिमत एव दर्शनो द्वारा समर्थित व्यक्तित्व की इकाई है। हमारे मत में सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो का आधार 'समात्मभाव' है। व्यक्तित्व की इकाई एक प्राकृतिक सत्य है। प्रकृति की सत्ता पृथक पृथक इकाइयो मे ही स्थित है। भौतिक होने के कारण इन इकाइयो का तादात्म्य सम्भव नही है। जिन इकाइयो का सम्मिश्रण होता है, वे प्राय सयुक्त होती हैं और उनके परमाणुओ का इस सम्मिश्रण मे भी तादात्म्य नही होता, वे पृथक पृथक रहते हैं। द्रव पदार्थो मे फिर भी ठोस पदार्थो की अपेक्षा अधिक तादात्म्य दिखाई देता है। सम्मिश्रण मे भी पदार्थो के गुण पृथक पृथक दिखाई देते हैं। प्रकृति का यह इकाई भाव जड और चेतन दोनो मे व्याप्त है। जीवो की देह प्राकृतिक इकाई है। यह इकाई ही उनकी क्रिया और सवेदना का अधिष्ठान है। प्रत्येक जीव की प्राकृतिक क्रिया और सवेदना अपनी इकाई मे ही सीमित रहती है। प्राकृतिक इकाई का यह आश्रय प्राकृतिक जीवन का आधार है। प्रकृति का सस्कृति के साथ कोई आवश्यक विरोध नही है। अत प्राकृतिक इकाई का आश्रय सास्कृतिक मूल्यो का आधार भी बन सकता है। स्वरूपत जीवन की प्राकृतिक रक्षा और उपयोगिता का सहज सत्य एव श्रेय प्रकृति मे ही आश्रित है। किन्तु सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के अधिक विकसित रूप, जिन्हे सास्कृतिक और आध्यात्मिक कहा जा सकता है, प्राकृतिक इकाई के स्वरूप म अन्तर्निहित नही हैं। सास्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यो को प्राकृतिक आश्रय के प्रसग मे एक 'अतिशय' मानना होगा। यह अतिशय भाव और रूप का अतिशय होता है। प्रकृति मे रूप के अतिशय का कुछ आभास अवश्य मिलता है। इसीलिए प्रकृति मे सौन्दर्य की कल्पना की जाती है। किन्तु भाव का अतिशय प्रकृति मे कल्पनीय नही है। 'रूप' बाह्य अभिव्यक्ति का आकार है, जिसकी प्रकृति मे भी कल्पना की जा सकती

है। निरुपयोगी प्रतीत होने पर हम प्रकृति के इस 'रूप' को भी 'अतिशय' मान सकते हैं। किन्तु 'भाव चेतना के आन्तरिक प्रकाश का अतिशय है। प्रकृति मे इसकी कल्पना नही की जा सकती। मनुष्य मे भी इसकी कल्पना करने के लिए व्यक्ति की प्राकृतिक इकाई के आश्रय की सीमाओ का अतिक्रमण करना होगा। अस्तु साम्कृतिक मूल्यो के निरूपण के लिए उपयोगिता और इकाई के रूप मे विदित प्रकृति की दोनो रूढियो का अतिक्रमण करना होगा। यह अति-क्रमण इस तथ्य का सकेत करता है कि सत्य शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो का स्वरूप प्रकृति मे ही सीमित नही, प्रकृति के आधार मे सम्भव होने पर भी इन मूल्यो के स्वरूप मे उपयोगिता और इकाई की प्राकृतिक सीमाओ का अतिक्रमण होता है। इसी अतिक्रमण मे रूप और भाव का अतिशय सम्पन्न होता है, जो सौन्दर्य और श्रेय का रहस्य है।

सस्कृति की भाति अध्यात्म के क्षेत्र मे भी प्रकृति की सीमाओ का अतिक्रमण होता है। अध्यात्म के सत्य को प्राय प्रकृति से अतीत माना गया है। वेदान्त का ब्रह्म एक ऐसा ही आध्यात्मिक और सर्वातीत सत्य है। वह प्रकृति की समस्त सीमाओ से परे है। ये सीमाये ज्ञान की अवच्छेदक हैं। अत ब्रह्म को निरवच्छिन्न कहा जाता है। व्यक्तित्व की इकाई प्रकृति का मूल तत्व है। इससे अतीत ब्रह्म का आध्यात्मिक सत्य पूर्णत निर्वैयक्तिक है। वेदान्त की भाषा मे वह अहकार से अतीत है। अहकार व्यक्तित्व का सचेतन केन्द्र है। अत ब्रह्म व्यक्तित्व की इकाई से अतीत है। उसे निर्वैयक्तिक कहना उचित होगा। ब्रह्मानुभाव की अवस्था मे व्यक्तित्व और अहकार का भाव नही रहता। दूसरी ओर ब्रह्म अथवा ब्रह्मानुभव मे व्यक्तित्व के भाव का आरोपण नही किया जा सकता। 'अहब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' के वेदान्त-वाक्यो का भाषागत रूप एक उपचार मात्र है। वस्तुत ब्रह्मानुभव की स्थिति मे व्यक्तित्व का बोध नही रहता। इसीलिए भाग त्याग-लक्षणा के द्वारा इन महावाक्यो की व्याख्या मे व्यक्ति और ब्रह्म की सगति का समाधान किया जाता है। अध्यात्म का सत्य प्रकृति से अतीत ही नही, वरन् प्रकृति मे इतना भिन्न है कि प्रकृति को अध्यात्म का विरोधी माना जाता है। इसीलिए अध्यात्म-शास्त्रो मे प्रकृति की भर्त्सना की गई है। प्रकृति का परिहार सम्भव नहीं है फिर भी अध्यात्म के समर्थक प्रकृति से सन्यास को अध्यात्म का आवश्यक अग मानते आये हैं। वेदान्त के अनुसार प्रकृति मिथ्या अथवा माया है। अत वह हेय है।

व्यक्तित्व, अहकार आदि की प्राकृतिक सीमाओ का अतिक्रमण करके अध्यात्म का सत्य एक निर्वैयक्तिक सत्ता के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। अध्यात्म-शास्त्रो के अनुसार यही सत्य जीवन का परम श्रेय भी है। इसीलिए उसे नि श्रेयस् कहा जाता है।

इस प्रकार प्रकृति और अध्यात्म एक दूसरे के विरोधी प्रतीत होते हैं। प्रकृति का मूल सत्य इकाई और उपयोगिता है। इसके विपरीत अध्यात्म का मूल सत्य व्यक्तित्व, अहकार और इकाई का विलय है। जिसे हमने ऊपर समात्मभाव कहा है और जिसे हमने सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक रूपो का आधार माना है, वह **प्रकृति और अध्यात्म दोनो की स्थिति से भिन्न, किन्तु इन दोनो के सामजस्य से युक्त, एक अद्भुत स्थिति है।** अद्भुत होने के कारण यह स्थिति असम्भव अथवा असाधारण नही है। सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे समात्मभाव की स्थिति बहुत सुलभ एव सामान्य है। प्रकृति और अध्यात्म के विरोधी भावो का सामजस्य भी समात्मभाव मे कुछ अद्भुत रीति से होता है। अपने स्वरूप का कठोर आग्रह रखते हुए कोई भी दो तत्त्व समन्वित नही हो सकते। अत प्रकृति और अध्यात्म के इस सामजस्य मे व्यक्तित्व की इकाई और निर्वैयक्तिकता दोनो की ही कठोरता नही रहती। इस सामजस्य मे विचार को कुछ तार्किक कठिनाइयाँ भले ही दिखाई दे, किन्तु जीवन के वास्तविक अनुभव मे यह अत्यन्त सुलभ और सरल है। इस सामजस्य में व्यक्तित्व का पूर्ण विलय नही होता, वरन् व्यक्तित्व के अधिष्ठान मे ही प्रकृति की मर्यादा के द्वारा रूप और भाव के अतिशय मे सास्कृतिक पक्ष विकसित होते हैं। प्रकृति की मर्यादा इस विकास को अवकाश देती है, यद्यपि इसका मूल स्रोत मनुष्य की आत्मा मे है। यह आत्मा प्रत्येक व्यक्ति म अन्तर्निहित है। जीवन मे देह के साथ आत्मा का अद्भुत सयोग ही प्रकृति और अध्यात्म के सामजस्य तथा समात्मभाव की सगति को सम्भव बनाता है। इस सामजस्य मे प्रकृति का परिहार नही होता, वरन् प्रकृति की मर्यादा मे आत्मभाव का विस्तार होता है। साम्य से युक्त होने के कारण इस आत्मभाव को हमने 'समात्मभाव' कहा है। निषेधात्मक रूप मे 'साम्य' विरोध से रहित है। प्रकृति की मर्यादा प्रकृति और अध्यात्म दोनो के साथ प्रकृति के विरोध को कम करती है। तुलना की दृष्टि से साम्य समानता का सूचक है। जिन तत्त्वो मे साम्य होता है, उनकी परस्पर श्रेष्ठता का प्रश्न नही उठता। तुलना मे हीनता और श्रेष्ठता का प्रसग रहता है। समानता इन दोनो का परिहार

करती है। किन्तु साम्य मे केवल हीनता का परिहार होता है, श्रेष्ठता का परिहार नही होता। इसके विपरीत साम्य में समन्वित दो तत्व एक दूसरे की श्रेष्ठता का सवर्धन करते हैं। कृष्ण काव्य के 'दोउ परे पैयाँ' का यही रहस्य है। गीता के 'परस्पर भावयन्त' का भी यही मर्म है। प्रकृति और अध्यात्म के अद्भुत साम्य मे दोनों एक दूसरे के उपकारक और उत्कर्षक होते हैं। शक्ति और शिव के साम्य की भाँति यह सास्कृतिक साम्य भी अद्भुत एव विलक्षण है। माता और शिशु के स्नेह, बन्धुओ के अनुराग, सुहृदयो के सद्भाव और दम्पति प्रेम मे इस समात्मभाव के उदाहरण मिल सकते हैं। **हमारे मत में प्राकृतिक व्यक्तिवाद और आध्यात्मिक निर्वैयक्तिकता से विलक्षण यही 'समात्मभाव' सत्यं-शिवं-सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्यों का आधार है।**

समात्मभाव का यह सिद्धान्त दर्शन, सस्कृति और कला के क्षेत्र में प्रतिष्ठित सभी ऐतिहासिक सिद्धातो से भिन्न एव विलक्षण है। दर्शन, आचार, कला और सस्कृति के सभी विचारकों ने व्यक्ति की इकाई को साधना का आश्रय माना है। उनके मत मे दर्शन के सत्य, आचार के श्रेय तथा कला एव सस्कृति के सौन्दर्य का अधिष्ठान व्यक्ति ही है। इन सास्कृतिक मूल्यो के साधक व्यक्ति मे सामान्य जनो की तुलना में कुछ विशेष गुणो की अपेक्षा हो सकती है किन्तु व्यक्तित्व की इकाई का अपवाद इस साधना के लिए अपेक्षित नही है। भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशो मे प्राचीनकाल मे भी धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि की साधना व्यक्तियो के द्वारा ही हुई है। पश्चिमी धर्मों के प्रवर्तक एकाकी व्यक्ति थे और व्यक्तियो के रूप मे वे अपने धर्मों मे पूजित हैं। पश्चिमी दर्शन भी व्यक्तियो के बौद्धिक अध्यवसाय की परम्परा है। पश्चिम के कलाकार और साहित्यकार भी व्यक्तियो के रूप ही मे कला एव साहित्य के सर्जक थे। पश्चिमी धर्मों मे व्यक्तित्व का अनुरोध प्रबल है और व्यक्तित्व को एक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। इसी आधार पर पश्चिमी आलोचको ने वेदान्त की निर्वैयक्तिकता की तीव्र आलोचना की है। धर्म की उपासना का आश्रय ही व्यक्ति नही है, वरन् इन आलोचको के मत मे अन्तत व्यक्तित्व की इकाई रक्षणीय है। पश्चिमी दर्शनो मे भारतीय दर्शनो की भाँति साधना का निर्देश नही है। वे दर्शन व्यक्तियो के द्वारा किये गये सत्य के अनुसधान हैं। इन दर्शनो का सत्य भी व्यक्तियो के द्वारा अवगम्य है। अधिकाश दर्शन व्यक्तित्व की इकाई के सत्य को मानते हैं। उनकी ज्ञान-मीमासायें इस इकाई के सत्य पर ही

आश्रित हैं। कला और साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचनों में भी व्यक्ति को ही सौन्दर्य के सर्जन और आस्वादन का आश्रय माना गया है। पूर्व और पश्चिम के सभी साहित्य सिद्धान्त व्यक्तिवादी हैं। भरत से लेकर आचार्य शुक्ल तक सभी आचार्य व्यक्ति को रस का आश्रय मानते रहे हैं। प्लेटो से लेकर क्रोचे तक सभी पश्चिमी आचार्य भी व्यक्ति को ही कला का आश्रय मानते हैं। क्रोचे के अनुयायी कौलिङ्गवुड ने कला में इकाई के कठोर आश्रय का बड़ी दृढ़ता के साथ समर्थन किया है। संस्कृति के सम्बन्ध में भी विद्वानों की धारणा व्यक्तिवाद के अनुरूप है। वे धर्म, दर्शन, कला आदि के व्यक्तिगत अध्यवसायों के इतिहास को ही संस्कृति मानते हैं।

पूर्व और पश्चिम के सभी विचारकों के मत व्यक्तिवाद के पक्ष में होते हुए भी हमारा विनम्र विश्वास है कि सत्य, शिवं और सुन्दरम् के सांस्कृतिक रूप व्यक्तित्व की सीमित इकाई के आश्रय में सम्पन्न नहीं होते। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे निर्व्यक्तिक हैं और साधना की उस स्थिति में सम्पन्न हो सकते हैं जिसमें व्यक्तित्व का विलय हो जाता है। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि व्यक्तित्व की सीमित इकाई केवल प्राकृतिक भावों का आधार हो सकती है। सांस्कृतिभाव उसकी परिच्छिन्न सीमा में सम्पन्न नहीं हो सकते। किन्तु साथ ही वे निर्व्यक्तिकता की स्थिति में भी सम्पन्न नहीं होते। हमारे मत में वे उस समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होते हैं जिसमें प्रकृति की मर्यादा आत्मिक भाव के विस्तार को अवकाश देती है। भाव के इस विस्तार में भी व्यक्तित्व की इकाई के परिच्छिन्न आश्रय का अनुरोध नहीं रहता। भाव के इस विस्तार में व्यक्तित्वों का एक विलक्षण साम्य सम्पन्न होता है जिसे हमने 'समात्मभाव' कहा है। भाव के इस विस्तार में व्यक्तित्व का अनुरोध उदार बन जाता है और प्राकृतिक दृष्टि से विविक्त इकाइयों में भी एक अद्भुत अद्वैत उदित होता है। यह अद्वैत इकाइयों का एकत्व नहीं है। वेदान्त में भी यह एकत्व अभीष्ट नहीं है। इसी कारण वेदान्त में ब्रह्म को 'अद्वैत' की संज्ञा दी गई है। एकत्व का आग्रह प्राकृतिक इकाई की परिच्छिन्न धारणा पर ही आश्रित है। अद्वैत में केवल प्राकृतिक इकाई की कठोरता और परिच्छिन्नता का परिहार अभीप्सित है। इस अद्वैत में अहंकार का आग्रह न रहकर परस्पर सम्भावन का वह विलक्षण भाव उदित होता है जिसकी हमने ऊपर साम्य के रूप में व्याख्या की है। इस अद्वैत भाव को हमने 'समात्मभाव' इसलिए कहा है कि यह साम्य 'आत्मा' में ही

सम्भव हो सकता है। आत्मा के अतिरिक्त अहकार, मन, शरीर, इन्द्रिया आदि सभी अपनी इकाई मे परिछिन्न हैं। इनका द्वैत और भेद अपरिहार्य है। इनकी इकाइया अन्य इकाइया की उपकारक हो सकती हैं। किन्तु प्राय यह उपकार स्वार्थ पर आश्रित होता है। स्वार्थ का भाव प्राकृतिक और व्यक्तिगत है जहाँ यह उपकार स्वार्थ पर आश्रित नही होता वहा उसका आधार 'भाव' का एक विलक्षण विस्तार होता है जिसे अहकार, मन और इन्द्रियो मे सीमित नही किया जा सकता। अत आत्मा को ही इस भावके अतिशय का आश्रय मानना होगा। **आत्मा जीवन का एक विलक्षण तत्व है जो व्यक्ति म अनुस्यूत होते हुए भी व्यक्ति की इकाई में परिच्छिन्न नहीं है। उसमें एक विलक्षण अद्वैत और विस्तार की सम्भावना है। इसी अभेद-पूर्ण विस्तार में मनुष्यो का वह साम्य सम्भव होता है जिसे हमने 'समात्मभाव' कहा है और जो हमारे मत में सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक रूपो का आधार है।**

सामान्य रूप से सत्य को ज्ञान का लक्ष्य माना जाता है। यह ज्ञान व्यक्तिगत और उदासीन अवगति के रूप में प्रकट होता है। उदासीन का अभिप्राय यह है कि इस अवगति मे किसी प्रकार की भावना अथवा किसी प्रकार का उल्लास नही होता। वह ज्ञान के विषय का एक उदासीन ग्रहण मात्र है। व्यक्तिगत् का अभिप्राय यह है कि यह अवगति व्यक्तित्व की इकाई में सम्भव हो सकती है। सूने जगल मे खडा अकेला व्यक्ति भी किसी वृक्ष पशु, पर्वत आदि को देखता है तो उसे उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार अकेला विद्यार्थी अथवा विद्वान कुछ अध्ययन करता है तो उसे एकान्त मे भी अपने विषय का ज्ञान होता है। अवगति के ये रूप व्यक्तिगत इकाई के एकान्त मे सगत होते हैं इसीलिये व्यक्ति की इकाई को सत्य का अधिष्ठान माना जाता है। किसी भी विचारक ने यह कल्पना नहीं की कि कदाचित् यह इकाई सत्य का पर्याप्त आश्रय न हो और इसमें सत्य की अवगति सम्भव न हो सके। जहा तक प्राकृतिक सम्वेदना-रूप ज्ञान का सम्बन्ध है (जो पशुओ मे भी पाया जाता है) वहाँ तक तो यह मान्य है कि यह ज्ञान प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई मे सम्भव हो सकता है। यह ज्ञान कुछ ऐसे जीवो मे भी पाया जाता है जो जन्म से ही अपना जीवन इकाई के एकान्त मे आरम्भ करते हैं। वैज्ञानिको ने ऐसे जीवो का सूक्ष्म अध्ययन किया है। उदाहरण के लिए एक प्रकार की ततैया अपने अडो को मिट्टी के घर मे वन्द करके चली जाती है और फिर कभी नही लौटती। इन अडो

के जीव बडे होकर एकान्त भाव से ही अपना जीवन क्रम आरम्भ करते हैं। इन्हें माता पिता का किसी प्रकार का भी सहयोग प्राप्त नहीं होता जैसा कि कुछ अन्य जीवो को होता है। समात्मभाव से पूर्णत वचित होने पर भी ये सम्वेदनात्मक ज्ञान मे समर्थ होते हैं। 'सवेदना' ज्ञान का सहज, प्राकृतिक और निम्नतम रूप है। प्राकृतिक सत्य इस ज्ञान का विषय होता है। मनुष्य की सम्वेदना के विषय मे भी यह माना जा सकता है कि वह व्यक्तिगत इकाई के एकान्त म सम्भव हो सकती है। किन्तु यह देखा गया है कि समात्मभाव के योग से वचित होने पर मनुष्य की सवेदना भी समृद्ध नही होती। बाल्यकाल से भेडियो द्वारा पालित बालक रामू का उदाहरण, जो कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल मे लाया गया था, इस बात को प्रमाणित करता है। उसमे सामान्य सम्वेदनायें भी अन्य मनुष्यो की अपेक्षा बहुत मन्द थी। इससे विदित होता है कि माता-पिता के आत्मीय सम्बन्ध, परिवार के वातावरण और समाज के परिवेश मे प्राप्त होने वाले समात्मभाव से मनुष्य की प्राकृतिक सम्वेदना का ज्ञान भी परिष्कृत एव समृद्ध होता है। फिर भी यह माना जा सकता है कि किसी न किसी रूप और परिमाण मे सम्वेदनात्मक ज्ञान प्राणियो एव मनुष्यो मे व्यक्तित्व की इकाई मे सम्भव हो सकता है। प्राकृतिक सत्य इस सम्वेदना का विषय है।

किन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक सत्य के श्रेष्ठ एव सास्कृतिक रूप प्राकृतिक इकाई के एकान्त मे उदित और विकसित नही हो सकते। दर्शन का प्रयोजन सत्य के इन्ही रूपो से है। सत्य के इन रूपो मे चेतना अधिक विकसित रूप मे प्रकाशित होती है। चेतना का यह विकास प्राकृतिक इकाई के एकान्त मे सम्भव नही हो सकता। भेडियो द्वारा पालित बालक रामू मे बौद्धिक ज्ञान का विकास बिल्कुल नही हुआ था, भाषा के कोई सस्कार उसमे विकसित नही हुए थे। एक आश्चर्य की बात यह है कि काम की सवेदना भी उसमे अत्यन्त मन्द थी। रामू का उदाहरण काम की 'मनसिज' सज्ञा को सार्थक बनाता है। रामू मे बौद्धिक ज्ञान के विकास का अभाव यह सिद्ध करता है कि यह विकास समात्मभाव की परम्परा के बिना सम्भव नही हो सकता। वस्तुत समात्मभाव की परम्परा के द्वारा ही मनुष्य समाज मे बौद्धिक ज्ञान का विकास हुआ। जन्म से ही मनुष्य के शिशु को अनेक रूपो मे समात्मभाव का योग मिलता है। इसी के द्वारा उसमे बौद्धिक ज्ञान का विकास होता है। इस प्रसग मे भाषा का रहस्य भी विचारणीय

है। सवेदना का प्राकृतिक ज्ञान भाषा की अधिक अपेक्षा नही रखता। सम्भवत वह उन तुच्छ जीवो मे भी होता है जिनमे किसी प्रकार की भाषा विकसित नही होती। बौद्धिक ज्ञान की अवगति के लिए एक समृद्ध भाषा अपेक्षित है। बुद्धि के उत्कर्ष के साथ ही मनुष्य म भाषा का विकास भी हुआ है। भाषा और बुद्धि मनुष्य की सयुक्त विशेषताय हैं। भेडियो द्वारा पालित बालक रामू मे भाषा का विकसित न होना इस बात को प्रमाणित करता है कि जिस प्रकार बौद्धिक ज्ञान का विकास समात्मभाव के योग के बिना नहीं होता, उसी प्रकार भाषा का विकास भी उसके बिना सम्भव नहीं है। एक प्रकार से भाषा समात्मभाव का सूत्र है। शब्द का सूक्ष्म और आकाशीय माध्यम दो आत्माओ में एक अलक्ष्य स्पन्दन जाग्रत करके उनमें साम्य और सवाद उत्पन्न करता है। शब्द के इसी सवाद के द्वारा बौद्धिक ज्ञान का सवहन, सम्प्रेषण और सम्वर्धन होता है। माता पिता की अलक्षित शिक्षा और गुरु का विदित विद्यादान शब्द के इसी सवाद के द्वारा सम्भव होता है। बौद्धिक ज्ञान के विकास का विश्लेषण करने पर असदिग्ध रूप से उसमे समात्मभाव का आधार मिलेगा। विभिन्न मनुष्यो के बौद्धिक विकास मे जो अन्तर दिखाई देता है उसका कारण भी उनकी जन्म जात बुद्धि विद्या के अवसर आदि के अतिरिक्त विद्या एव बुद्धि के प्रसग मे प्राप्त होने वाले समात्मभाव की अल्पता अथवा अधिकता है। विद्या और बुद्धि के प्रसग में बालको और युवको को जितना सूक्ष्म, घनिष्ठ, गम्भीर और व्यापक समात्मभाव मिलता है, उतना ही उनका बौद्धिक ज्ञान अधिक समृद्ध होता है। प्राचीन भारत में इसी व्यापक समात्मभाव की परम्परा के आधार पर उस गम्भीर ज्ञान का अद्भुत विस्तार हुआ था जो आज विद्वानो को भी दुर्गम दिखाई देता है। उपनिषदो के शान्तिपाठ का 'सहनौ' इस समात्मभाव का बीज मत्र है। उत्तरकालीन और अर्वाचीन भारत मे विद्या के ह्रास का कारण समात्मभाव की मन्दता और दुर्लभता है।

आध्यात्मिक सत्य के क्षेत्र मे समात्मभाव की महिमा और भी अधिक स्पष्ट है। अध्यात्म का सत्य बहुत कुछ सीमा तक अनिर्वचनीय है। उसके सम्प्रेषण के लिए भाषा का प्रयोग अवश्य होता है किन्तु वस्तुत भाषा उसका उपयुक्त और समर्थ माध्यम नही है। शब्दो के प्रत्यय अध्यात्म के सत्यो का सवहन नही कर सकते। इसका कारण यह है कि अध्यात्म के भाव अनिश्चित अथवा असीम होते हैं। बौद्धिक प्रत्ययों की भाति उनका निश्चित परिच्छेद सम्भव नही है। कदाचित्

बौद्धिक प्रत्ययों में भी कुछ अपरिच्छेद्य अंश होता है। किन्तु बहुत कुछ सीमा तक उनका निश्चित परिच्छेद सम्भव है। इसी परिच्छेद की सीमा में भाषा का प्रयोग और बौद्धिक प्रत्ययों का सम्प्रेषण एवं सम्वाद होता है। प्रत्ययों का निश्चित् परिच्छेद बुद्धि का धर्म, लक्षण और व्यापार भी है। अतएव चाहे बौद्धिक प्रत्ययों में भी कुछ अपरिच्छेद्य अंश रहता हो किन्तु विद्या और बुद्धि के व्यापारों में परिच्छेद के आधार पर ही उनका उपयोग और उसके द्वारा ही बौद्धिक ज्ञान का सम्पादन होता है। किन्तु आध्यात्मिक सत्यों का परिच्छेद तथा प्रत्ययों और शब्दों के द्वारा उनका सम्प्रेषण केवल एक उपचार है। ये प्रत्यय और शब्द आध्यात्मिक सत्य के अवगाहन के औपाधिक अवलम्ब मात्र हैं। वस्तुत आध्यात्मिक सत्यों का अवगम और सम्प्रेषण एक अलक्ष्य समात्मभाव के साम्य एवं सवाद के द्वारा होता है। इसी प्रक्रिया से भारतीय विद्याओं एवं साधनाओं में रहस्य की परम्परायें प्रचलित हुई थी। उपनिषदों में अध्यात्म के इन रहस्यों का मूल्य है। 'उपनिषद्' रहस्य का समानार्थक है। किन्तु इस रहस्य का अर्थ गोपन नहीं है। प्राचीन भारत के वन्य आश्रमों में शिष्यों को निकट बैठाकर गुरु और आचार्य विद्या का गोपन नहीं वरन् प्रकाशन करते थे। दोनों की बाह्य निकटता उनकी आन्तरिक निकटता का उपक्रम थी। इस श्रद्धापूर्ण निकटता में जो सूक्ष्म और घनिष्ठ समात्मभाव उदित होता था उसी की प्रेरणा से अध्यात्म के अनिर्वचनीय सत्य शिष्य की आत्मा में प्रकाशित होते थे। अध्यात्म-विद्या के इस राचार में भाषा का प्रयोग केवल एक उपचार था। उपनिषद् स्वयं अध्यात्म के प्रसंग में तर्क को अप्रतिष्ठित और वाचारम्भण को विकार मानती हैं। उपनिषदों के अनुसार मन और वाणी उस आध्यात्मिक सत्य को प्राप्त न करके लौट आते हैं। इतना अवश्य है कि उपचार और उपाधि होते हुए भी शब्द का माध्यम एक अद्भुत शक्ति से पूर्ण है तथा वह इस शक्ति के द्वारा किसी न किसी अंश में अध्यात्म का भी अवलम्ब बन जाता है। शब्द अथवा वाक् की चतुष्कोटियों के द्वारा शब्द की अध्यात्म के साथ संगति नितान्त अनुचित नहीं है। मध्यमा और पश्यन्ती के मार्ग से वैखरी का मुखर शब्द परा की कोटि तक पहुँचकर ब्रह्म का समानार्थक बन जाता है। दर्शनों की साधना में आत्मदर्शन के व्यक्तिगत अध्यवसाय को पर्याप्त महत्व दिया गया है। यह साधना व्यक्तिगत प्रतीत होती है किन्तु इसमें प्रकाशित होने वाला आध्यात्मिक सत्य निर्वैयक्तिक है। वस्तुत गुरुओं के समात्मभाव की प्रेरणा से यह साधना सम्भव हो सकती थी। उपनिषदों में

विशेषत ईशोपनिषद मे, उस साम्य और समात्मभाव के स्पष्ट सकेत मिलते हैं, जिसके अद्वैतभाव मे वेदान्त का आध्यात्मिक सत्य प्रकाशित होता है। वेद-मन्त्रो के बहुवचनो तथा साम्य-सूचक पदो मे भारतीय विद्या के क्षेत्र मे इस समात्मभाव के बीज प्राप्त होते हैं। **प्राचीन विद्याओं का कल्पवृक्ष समात्मभाव के इसी बीज से विकसित हुआ है। यह समात्मभाव सम्वेदना के प्राकृतिक सत्य तथा बौद्धिक एवं आध्यात्मिक सत्य का उत्तरोत्तर महत्त्वपूर्ण आधार है। सत्य के ये रूप व्यक्तित्व की प्राकृतिक इकाई के एकान्त में विकसित नहीं होते वरन् समात्मभाव की उर्वर भाव-भूमि में सम्वधित और समृद्ध होते हैं।**

सत्य से भी अधिक समात्मभाव का आधार शिवम् और सुन्दरम् मे अधिक स्पष्ट है। जिस प्रकार प्राकृतिक सम्वेदना-रूप ज्ञान व्यक्तित्व की प्राकृतिक इकाई मे सम्भव हो सकता है, उसी प्रकार प्राकृतिक उपयोगिता का श्रेय भी व्यक्ति की इकाई मे सम्भव है। इस श्रेय के सुख का अनुभव भी व्यक्ति अपनी इकाई मे कर सकता है। प्राकृतिक उपयोगिता का आधार मनुष्य की प्राकृतिक आकाक्षाये हैं जो इकाई के एकान्त मे भी अनिवार्य होती हैं। जगल मे अकेले मनुष्य को भी भूख प्यास लगती है और अकेला होते हुए भी वह आहार एव जल की खोज मे प्रवृत्त होता है तथा उन्हे प्राप्त कर तृप्ति का अनुभव करता है। स्वास्थ्य और जीवन की रक्षा की दृष्टि से आहार, जल आदि भौतिक पदार्थों की उपयोगिता को श्रेय कहा जा सकता है। सुख और सतोष के अनुभव की दृष्टि से आकाक्षा की तृप्ति भी श्रेय है। श्रेय के ये रूप प्राकृतिक और व्यक्तिगत हैं तथा ये व्यक्तिगत इकाई मे भी सम्भव हो सकते है, यद्यपि इतना अवश्य है कि जिस प्रकार भेडियो से पालित बालक के समान समात्मभाव से वचित मनुष्य में प्राकृतिक प्रवृत्तियो का विकास भी क्षीण होता है, उसी प्रकार समात्मभाव के अभाव में प्राकृतिक आकाक्षाओं की पूर्ति के श्रेय का मूल्य भी मन्द होगा। इसका कारण यह है कि मनुष्य मे चेतना का अधिक विकास होने के कारण तथा चेतना मे समात्मभाव की सम्भावना होने के कारण केवल व्यक्तिगत इकाई मे सम्पन्न होने वाली प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ मनुष्य के लिए सतोषजनक नहीं हो सकती। वे चेतना का सयोग पाकर चेतना के समृद्धि-शील स्वरूप की भाति समात्मभाव के द्वारा अपनी अभिवृद्धि की आकाक्षा करती हैं। इसीलिए मनुष्य के सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे प्राकृतिक प्रवृत्तियो का अन्वय समात्मभाव मे युक्त चेतना के समृद्ध रूपो मे

हुआ है। चेतना की इस समृद्धि में प्राकृतिक प्रवृत्तियों का तथा प्राकृतिक श्रेयों का प्राकृतिक मूल्य भी अभिवृद्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रकृति के क्षितिजों पर सांस्कृतिक श्रेय और सौन्दर्य के दिव्य लोक भी उदित हुए हैं। जिस प्रकार बौद्धिक और आध्यात्मिक सत्य के प्रसग में समात्मभाव का आधार अधिक स्पष्ट होता है, उसी प्रकार श्रेय के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूपों में समात्मभाव का आधार अधिक स्फुट होता है। सामान्यरूप से हम जीवन के उन लक्ष्यों को श्रेय अथवा शिवम् कह सकते हैं जिनमें मनुष्य को जीवन की कृतार्थता का अनुभव होता है। प्राकृतिक आकाक्षाओं की तृप्ति भी इस श्रेय के अन्तर्गत है। यह श्रेय का प्राकृतिक रूप है जो व्यक्तिगत इकाई के एकान्त मे सम्भव हो सकता है यद्यपि वह भी इस एकान्त मे समृद्ध नहीं होता। किन्तु इस प्राकृतिक श्रेय के अतिरिक्त श्रेय के अन्य रूप होते हैं जिन्हें हमने श्रेय के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक रूप कहा है। ये श्रेय के श्रेष्ठतर रूप हैं, जो समात्मभाव के द्वारा समृद्ध चेतना के प्रकाश में ही प्रकट होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध, धर्म, नीति, आचार, भक्ति आदि इनके परिचित उदाहरण हैं। मानवीय चिन्तन के इतिहास मे श्रेय के इन रूपों की बहुत चर्चा मिलती है। किन्तु सभी विचारकों ने व्यक्ति को इन श्रेयों का आश्रय माना है। उनके मत में व्यक्ति ही इन श्रेयों का साधन और सम्पादन करता है। यद्यपि इन श्रेयों का साधन सामाजिक जीवन मे ही सम्भव होता है किन्तु यह सामाजिक जीवन इन श्रेयों की साधना की परिस्थिति मात्र है। पारस्परिक होते हुए भी यह सामाजिक जीवन व्यक्तिगत है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्योन्याश्रित होते हुए भी व्यक्ति जीवन का लाभ और श्रेयों का सम्पादन अपनी इकाई मे ही करते हैं। व्यक्तियों की अलग अलग इकाइयाँ इन श्रेयों के आश्रय हैं। यदि श्रेय को आचार मानें तो आचारगत कर्म का कर्ता भी व्यक्ति ही है। धार्मिक श्रेय भी आचार के रूप मे होता है और उसका आश्रय व्यक्ति ही है। आध्यात्मिक श्रेय का रूप साधना है। सभी दर्शनों मे यह साधना व्यक्ति का एकान्त अनुष्ठान है। परोपकार आदि के रूप मे जिस सामाजिक श्रेय की कल्पना की जाती है, उसका भी कर्ता और आश्रय व्यक्ति ही होता है। एक व्यक्ति इस श्रेय को प्रदान करता है और दूसरा उसे ग्रहण करता है। श्रेय के सांस्कृतिक रूपों का आश्रय भी प्रकट रूप मे व्यक्ति ही है।

इस प्रकार विद्वानों की धारणा मे श्रेय के सभी रूपों का आश्रय व्यक्ति है।

कर्म, साधना और लाभ तीनो ही रूपो मे इन श्रेयो का अधिष्ठान व्यक्ति ही है। किन्तु हमारे मत में श्रेय की यह धारणा समीचीन नहीं है। ऊपर के विवेचन में हमने यह प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि सत्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक रूपो का आश्रय व्यक्ति की इकाई नहीं है वरन् वे समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार हमारा विश्वास है कि श्रेय के सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक आदि रूप भी व्यक्ति की इकाई में सम्पन्न नहीं होते वरन् समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होते हैं। प्रकट रूप मे तो ज्ञान, क्रिया और भाव सभी का आश्रय व्यक्ति दिखाई देता है। किन्तु यह प्रतीति जीवन का आन्तरिक सत्य नही है। व्यवहार मे इकाई के रूप मे दिखाई देते हुए भी धार्मिक, आध्यात्मिक अथवा सास्कृतिक सत्य और श्रेय की साधना मे मनुष्य 'भाव से' अकेला नही होता। भाव प्राकृतिक प्रतीति का तथ्य नही है वरन् आन्तरिक अनुभूति का सत्य है। भाव की दृष्टि से सत्य और श्रेय के श्रेष्ठ रूपो की साधना समात्मभाव की स्थिति में ही होती है। समात्मभाव के अभाव मे प्राकृतिक श्रेय भी दीन हो जाते हैं। इसे कोई भी अभागा अपने अनुभव से प्रमाणित कर सकता है। फिर भी प्राकृतिक श्रेय की मन्द साधना एकान्त में सम्भव है। किन्तु श्रेय के अन्य श्रेष्ठतर रूप एकान्त की स्थिति में सम्भव नहीं हो सकते। वे समात्मभाव की स्थिति में सम्पन्न होते हैं। यह समात्मभाव केवल व्यक्तियो का अन्योन्य अथवा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। व्यक्तिगत इकाई का अनुरोध रहते हुए भी 'भाव सम्भव है। वह एक प्रकार का व्यापारिक आदान प्रदान है जो हित की मेयता और तुल्यता पर आश्रित है। समात्मभाव केवल ऐसा परस्पर भाव नहीं है वह एक आत्मिक और आन्तरिक भाव है जिसका मान और जिसकी तुलना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार बौद्धिक प्रत्यय परिच्छेद पर निर्भर होते हैं उसी प्रकार तुलना भी परिच्छेद पर अवलम्बित है। समात्मभाव के साम्य में ऐसे निश्चित मान सम्भव नहीं हैं। तुल्यता के स्थान पर उसमें एक दूसरे के उत्कर्ष का भाव अन्तर्निहित रहता है। गीता का 'परस्पर भावयन्त' समात्मभाव का बीज मन्त्र है। यह समात्मभाव केवल एक बाह्य सामाजिक सबन्ध नहीं है जिसकी चर्चा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के सबन्ध में समाज शास्त्रो में की जाती है। यह समात्मभाव चेतना का एक समृद्धिशील भाव है। इसमें व्यक्तित्व की इकाई और अहंकार का विलय नहीं तो अतिक्रमण अवश्य हो जाता है। चेतना का यह दिव्य भाव ही मंगल का मूल स्वरूप है। तन्त्रो मे इसको 'शिव' की सज्ञा मिली है,

जो पूर्णत सार्थक है। भाव का यह अतिशय ही मगल का मौलिक तत्व है। माता के वात्सल्य से लेकर अन्य अनेको सम्बन्ध मे यह उपलब्ध होता है। इसी के आधार पर मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। रूप के अतिशय के सौन्दर्य से युक्त होकर यह भाव का अतिशय संस्कृति की प्रेरणा बनता है। संस्कृति की जीवन्त परम्परा मे श्रेय और सौन्दर्य का सगम होता है। भारतीय संस्कृति की परम्परा मे श्रेय और सौन्दर्य का यह सगम अत्यन्त सम्पन्न रूप मे मिलता है।

सत्य और श्रेय की भाँति हमारे मत में सौन्दर्य का आधार भी समात्मभाव ही है। सौन्दर्य रूप का अतिशय है, जिस प्रकार कि शिव भाव का अतिशय है। कलाओ मे सौन्दर्य की रचना होती है। यह रचना रूप के अतिशय की अभिव्यक्ति है। कला और साहित्य की परम्परा मे रूप के अतिशय की अभिव्यक्ति और सौन्दर्य की रचना को एक व्यक्तिगत अध्यवसाय माना जाता है। अधिकाश कलाकार व्यक्तियो के रूप मे ही प्रतिष्ठित हैं। किन्तु सत्य और श्रेय की साधना की भाँति सौन्दर्य की रचना में भी व्यक्ति की इकाई का आधार केवल एक प्रतीति है। वस्तुत. रूप का यह अतिशय समात्मभाव की स्थिति म ही सभव होता है। कला और सौन्दर्य की साधना भी इसी समात्मभाव म सपन्न होती है। चेतना का आन्तरिक भाव होने के कारण यह अलक्षित रहता है, किन्तु सत्य और श्रेय की भाँति कला की साधना मे भी इसका आधार असदिग्ध है। पश्चिमी देशो मे सभ्यता और संस्कृति का विकास व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा के बाद ही हुआ है। पश्चिम के धर्म भी व्यक्तियो के द्वारा ही प्रवर्तित हैं। अत पश्चिमी विचारक सत्य-शिव-सुन्दरम् के सास्कृतिक मूल्यो के आधार के रूप मे समात्मभाव की कल्पना नही कर सके और कला एव साहित्य के नवीनतम पश्चिमी सिद्धान्तो मे व्यक्तिवाद का अनुरोध मिलता है। व्यक्तिवाद का अनुरोध कुछ स्वाभाविक है। अत इसका प्रभाव उत्तरकालीन भारतीय चिन्तन मे भी मिलता है। किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति मे समात्मभाव का आधार साक्षात् रूप मे मिलता है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि का विशाल साहित्य व्यक्तिगत रचना नही है। वह व्यक्तियो की रचनाओ का सकलन मात्र भी नही है। वस्तुत वह साहित्य की एक परपरा है जो अनेक व्यक्तियो के कलात्मक समात्मभाव का समवेत फल है। भारतीय भाषाओ के अपार लोक-साहित्य मे समात्मभाव के सौन्दर्य की सजीव और समृद्ध अभिव्यक्ति मिलती है। भारतीय संस्कृति की जीवन परम्परा भी इसी समा-

त्मभाव की अमृत प्रवाहिनी है। हमारे पर्व, संस्कार आदि व्यक्तित्व के अनुरोध पर अवलम्बित नहीं हैं वरन् समात्मभाव की समृद्ध चेतना से आलोकित हैं। समात्मभाव के अमृत रस के उत्स ही प्रवाहित होकर इन पर्वों और उत्सवों में हमारे मन को आनन्द से उल्लासित करती हैं। जिन कला और साहित्य की कृतियों को व्यक्तिगत रचना माना जाता है उनमें भी कलाकार की चेतना में अन्तर्निहित समात्मभाव के सूत्र खोजे जा सकते हैं। समात्मभाव की महती समृद्धि से प्रसूत प्राचीन साहित्य और संस्कृति के उत्तराधिकारी भारतीय आचार्य भी समात्मभाव के इस रहस्य को प्रकाशित न कर सके और व्यक्ति को ही कला एवं साहित्य की रचना का आश्रय मानते रहे। यह व्यक्तिवाद के अनुरोध की एक प्रबल विडम्बना है। यह विडम्बना अत्यन्त शोचनीय है। इस विडम्बना में अन्तर्निहित भ्रान्ति का विश्लेषण और अनावरण अपेक्षित है। आगे के विश्लेषण से विदित होगा कि कला और संस्कृति के क्षेत्र में व्यक्तिवाद एक प्राकृतिक भ्रान्ति है। प्राचीन साहित्य और संस्कृति का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण कला एवं साहित्य का आधार समात्मभाव है जिसका संकेत और संक्षिप्त व्याख्यान हमने ऊपर किया है।

काव्य तथा अन्य कलाओं को सौन्दर्य की साधना माना जाता है। साधना सामान्यतः व्यक्तिगत अध्यवसाय है। प्रायः सभी पूर्वी और पश्चिमी आचार्य कला की साधना को व्यक्तिगत मानते हैं। व्यक्ति उस साधना का अधिष्ठान और कर्ता है। यद्यपि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है और सामाजिक जीवन से अपनी कला साधना के उपकरण प्राप्त करता है, फिर भी वह कला के रूप की कल्पना और रचना अपने व्यक्तित्व की इकाई में ही करता है। कला के सम्बन्ध में पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों की सामान्यतः यही धारणा है। कलाकार और कलाप्रेमी दोनों को ही उन्होंने अपने में पूर्ण इकाई मानकर कला में सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और उसके आस्वादन की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनकी धारणा सदा इस बिन्दु पर टिकी रही कि कलाकार अपने व्यक्तित्व के एकान्त अस्तित्व और अपनी व्यक्तिगत चेतना की इकाई में कला की सृष्टि करता है। इसी प्रकार कला-प्रेमी अपने व्यक्तित्व की इकाई में और अपनी व्यक्तिगत चेतना में कला के सौन्दर्य का आस्वादन करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र का 'रस सिद्धान्त' इसी धारणा पर आश्रित है। अधिकांश भारतीय आचार्यों ने रस को ही कला और काव्य का मूलतत्व माना है। 'रस'

चेतना मे स्फुटित होने वाला आनन्द है। वेदान्त और काव्यशास्त्र दोनो व्यक्ति को ही रस की अनुभूति का आश्रय मानते रहे हैं। यद्यपि उनकी दृष्टि मे अहकार और व्यक्तित्व की सकुचित सीमाए रसानुभूति के विस्तार मे विलीन हो जाती हैं, फिर भी मूलत व्यक्ति ही रसानुभूति का अधिष्ठान है और उसके व्यक्तित्व की इकाई मे ही रसानुभूति का आनन्द स्फुटित होता है। इस प्रकार कलानुरागी और पाठक भी अपने व्यक्तित्व की इकाई मे ही कलात्मक सौन्दर्य का आस्वादन करता है। किसी भी आचार्य ने स्पष्ट रूप से कला की रचना अथवा उसके आस्वादन के लिए व्यक्तित्व की इकाई को अपर्याप्त नहीं माना है। किसी ने भी यह कल्पना नही की है कि व्यक्तित्व की इकाई और उसके एकान्त मे न कलात्मक सौन्दर्य की रचना हो सकती है और न उसका आस्वादन सभव है। भरत से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक मूल पात्र, नट, दर्शक अथवा पाठक से सम्बन्ध मे जो रस मीमासा हुई है सब मे इनको व्यक्तिगत इकाई के रूप म ही रस का आश्रय मानकर रस की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया है। सौन्दर्य के साधक के रूप मे कवि अथवा कलाकार को भी व्यक्तिगत इकाई के ही रूप मे सौन्दर्य का स्रष्टा माना गया है।

पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र और काव्यशास्त्र मे भी इसी प्रकार व्यक्ति को ही सौन्दर्य साधना का कर्ता और उसके आस्वादन का आश्रय माना गया है। प्लेटो से लेकर क्रोचे और उनके अनुयायियो तक सभी के अनुसार व्यक्ति अपनी एकान्त इकाई मे कला और काव्य के सौन्दर्य का अधिष्ठान है। पश्चिमी आचार्यो ने कला-और काव्य के प्रणेता की स्थिति को अधिक ध्यान मे रखा है। उनके मत मे कला-कार और कवि अपने व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त मे सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं। भारतीय आचार्यो की भाति उन्होने नाटक के दर्शक, काव्य के पाठक अथवा कला-नुरागी की स्थिति को ध्यान मे रख कर उनके रसास्वादन की व्याख्या भी की है। किन्तु उन्होने इन सब के रसास्वादन को भी व्यक्तित्व की इकाई मे ही सभव माना है। उनके अनुसार भी व्यक्तित्व की इकाई सौन्दर्य के सर्जन और आस्वादन के लिए अपर्याप्त नही है।

प्लेटो ने कवि की एकान्त अनुभूति को सौन्दर्य का स्रोत माना है। कला के क्षेत्र मे प्लेटो एक प्रकार से अनुभूतिवादी थे। अभिनेता की स्थिति को लेकर उन्होने यह माना है कि अभिनेता का भाव पात्र के साथ तद्रूप हो जाता है। दुष्ट पात्रो के सम्बन्ध मे वह सामाजिक दृष्टि से हितकर नही है। इसलिये प्लेटो ने

कला के क्षेत्र से नाटक का बहिष्कार किया है। अरिस्टोटिल ने दु:खान्त नाटक के प्रभाव को ध्यान मे रखते हुए पाठक पर उसके प्रभाव की व्याख्या भी व्यक्तिगत विरेचन के आधार पर की है। ग्रीक आचार्यों के बाद आधुनिक युग मे भी कलाकार और कला-प्रेमी तथा कवि और पाठक को व्यक्तिगत इकाई के रूप मे ही सौन्दर्य की अनुभूति का अधिष्ठान माना गया है। समानुभूति (Empathy) का सिद्धान्त व्यक्तित्वो के तादात्म्य को मानते हुए भी अत्यन्त व्यक्तिवादी है। आधुनिक युग मे सबसे अधिक क्रान्तिकारी सिद्धान्त क्रोचे का है। वे आन्तरिक रसानुभूति को कला-त्मक सौन्दर्य का मर्म मानते हैं। अभिनव गुप्त के समान उनके अनुसार भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति व्यक्ति की आत्मा मे होती है। रसानुभूति की स्थिति मे मनुष्य को अपने सीमित व्यक्तित्व का बोध रहता है अथवा नही, यह कहना कठिन है। वह सौन्दर्य के रस मे विभोर और तन्मय होकर मानो अपने को भूल जाता है। भारतीय रसवादियो ने इस सौन्दर्यानुभूति को ब्रह्मानुभव के समान निर्विकल्प नही माना है। उसमे रति आदि का अवच्छेद रहता है। इतना अवश्य है कि सौन्दर्य की रसानुभूति मे व्यक्तित्व की अनेक प्राकृतिक सीमाएँ भग हो जाती हैं। फिर भी सौन्दर्यानुभूति का अधिष्ठान व्यक्तित्व की इकाई और उसके एकान्त मे ही रहता है। किसी भी पूर्वी अथवा पश्चिमी आचार्य ने सौन्दर्य की रचना अथवा उसके आस्वादन के लिए व्यक्तित्व की इकाई और उसके एकान्त को अपर्याप्त नही माना है।

कला और काव्य के इतिहास मे जो परिभाषाएँ दी गई है उनमे प्राय कलाकार और कवि को अपने व्यक्तित्व की इकाई मे सौन्दर्य का सृष्टा मानकर कला और काव्य के रूप को लक्षित करने का प्रयत्न अधिक किया गया है। रस, रीति, अलकार, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य आदि के रूप मे भारतीय काव्य शास्त्र मे काव्य के रूप का ही निरूपण मिलता है। कवि और पाठक को अपने एकान्त व्यक्तित्व की इकाई मे काव्य का प्रणेता और उसका अनुरागी मानने के कारण उनकी अधिक चर्चा नही की गई है। काव्य के प्रयोजन मे उन्ही हितो की गणना की गई है जो काव्य मे मनुष्य को अपने व्यक्तित्व की इकाई में प्राप्त होते हैं। 'कान्ता सम्मित-तयोपदेशयुजे' मे व्यक्तित्व की इकाई के बाहर उन क्षितिजो के स्पर्श का आभास मिलता है जिनमे वस्तुत काव्य और सौन्दर्य की सृष्टि होती है। किन्तु इसमे भी आचार्यों का अभिप्राय कान्ता के हाव भाव के अनुरूप काव्य के रूप मे व्यजना के माधुर्य मे है। दो अथवा अधिक व्यक्तित्वों के जिस समात्मभाव में वस्तुत सौन्दर्य का मूल स्रोत

है उसका संकेत इसमें अथवा कहीं अन्यत्र नहीं है। 'उपदेशयुजे' की उपयोगितावादी वृत्ति दोनो के व्यक्तित्व को अलग अलग कर देती है।

पश्चिमी आचार्यों की कला और काव्य की परिभाषाओं में भी सौन्दर्य के सर्जन और आस्वादन का अधिष्ठान व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व की इकाई में ही माना गया है। कौलिंगवुड आदि क्रोचे के अनुयायियों ने कलाकार और कलानुरागी दोनों को एक कर दिया है। कलाप्रेमी सौन्दर्य के आस्वादन में अपनी चेतना में कला के सौन्दर्य की पुन सृष्टि करता है। कुछ आधुनिक विचारकों ने कला के सामाजिक पक्ष पर जोर दिया है। किन्तु उनकी इस सामाजिक धारणा का संबंध उसके उपादान, प्रयोजन आदि से है, कला अथवा सौन्दर्य के स्रोत और स्वरूप से नहीं। कला की प्रेरणा उसके उपादान और प्रयोजन को समाजिक मानते हुए भी उनके अनुसार कलाकार अपने व्यक्तित्व की इकाई में इन उपकरणों को समेटकर सौन्दर्य की सृष्टि करता है। व्यक्तित्व की इकाई सौन्दर्य के सर्जन के लिए अपर्याप्त नहीं है। केवल यह अपेक्षित है कि कलाकार अपनी सृष्टि में सामाजिक प्रयोजनों का सन्निधान करे। भारतीय काव्य शास्त्रों में भी कला और काव्य के सामाजिक प्रयोजनों के संकेत मिलते हैं। क्रोचे आदि अनुभूतिवादियों से इस सामाजिक दृष्टि-कोण में केवल इतना अन्तर है कि सौन्दर्य आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही पूर्ण नहीं है, सामाजिक प्रयोजन भी कला के रूप का आवश्यक अंग है। किन्तु इस प्रयोजन से युक्त कला और काव्य के सौन्दर्य का अनुभावन और सर्जन कलाकार अपने व्यक्तित्व की इकाई में ही कर सकता है।

किन्तु सत्य यह है कि कला और का य के समस्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त कला और सौन्दर्य के मूलस्रोत की सही व्याख्या नहीं करते। व्यक्तित्व की इकाई जीवन का एक प्राकृतिक तथ्य है। वह निस्सन्देह प्राकृतिक सम्वेदनाओं का अधिष्ठान है। किन्तु प्राकृतिक सम्वेदनाओं में केवल ऐन्द्रिक सुख होता है, कलात्मक सौन्दर्य नहीं होता। अनेक पश्चिमी आचार्य सम्वेदनावादी होने के कारण कलात्मक सौन्दर्य की स्थिति को ठीक नहीं समझ सके। हीगल जैसे बुद्धिवादी ने भी सम्वेदनात्मक रूप में बौद्धिक प्रत्यय की अभिव्यक्ति को कला का स्वरूप माना है। क्रोचे के समान अनुभूति वादी भारतीय रसवादियों की भांति ऐन्द्रिक सम्वेदना को महत्व न देकर आत्मिक अनुभूति को सौन्दर्य का मर्म मानते हैं। किन्तु उनका यह अध्यात्मवाद

भी इस दृष्टि से व्यक्तिवादी है कि उनके अनुसार भी कलाकार अपने व्यक्तित्व की इकाई और एकान्त मे सौन्दर्य का अनुभाव और सर्जन करता है।

सम्वेदनावादी और अध्यात्मवादी दोनो ही प्रकार के व्यक्तिवादी सिद्धान्त कलात्मक सौन्दर्य के वास्तविक मार्ग से दूर रह जाते हैं। खेद यह है कि कलात्मक सौन्दर्य की मीमासा करने वाले अधिकाश आचार्य स्वय कलाकार अथवा कवि नही थे। जिस व्यक्तिगत सम्वेदना अथवा अनुभूति को उन्होने कलात्मक सौन्दर्य का स्रोत माना है, वह श्रेष्ठ कला और काव्य म बहुत कम मिलती है। भारतीय आचार्यों मे कुछ कवि अवश्य हुए हैं किन्तु वे भी प्रधानत आचार्य हैं। कालिदास के समान किसी श्रेष्ठ कवि ने काव्य की परिभाषा नही की। यदि 'रघुवश' के मगलाचरण की भाति कुछ सकेत भी किया है तो वह आचार्यों के व्यक्तिवाद का समर्थन नही करता। अधिकाश काव्य की भावना और स्थिति यह प्रमाणित नही करती कि व्यक्तित्व की इकाई मे सौन्दर्य का स्रोत उदित होता है। **हमारे मत में सौन्दर्य की स्थिति प्राकृतिक सम्वेदना और आध्यात्मिक अनुभूति के व्यक्तिवाद तथा वेदान्त की निर्विकल्प ब्रह्मानुभूति की विनिर्वैयक्तिकता दोनो से भिन्न है।**

चेतना की जिस स्थिति म कला और काव्य का सौन्दर्य उदित होता है उसे हम 'समात्मभाव कह सकते है। यह आत्मा का वह भाव है जिसमें दो या अधिक व्यक्तियो की चेतना और भावना समता क भाव से उल्लासित होती है। चेतनाओ का ऐक्य ता मनोवैज्ञानिक दृष्टि स सभव नहीं है फिर भी वैपम्य का कारण मिट जाने पर कई चेतनाय एक ही भाव से स्पन्दित होती हैं। सगीत के स्वरो की भाति चेतनाओ के भाव एक ही रागिनी की लय में तन्मय हो जाते हैं। विपमता और भेद मिट जाने से चेतनाय एकता की ओर अभिमुख होती हैं। एक न होने पर भी भेद, विरोध और विपमता की ओर उसकी रुचि नही होती। अत भाषा के उपचार और अलकार की दृष्टि से इन्हे 'एक' भी कहा जाता है। तार्किक और तात्विक कठिनाई के अतिरिक्त इस एकता को मानने मे कोई कठिनाई भी नही है। किन्तु यह एकता वेदान्त के ब्रह्मानुभव की निर्वैयक्तिकता से भिन्न है। चेतनाओ के समात्मभाव मे लौकिक भेदो का विलय नही होता। व्यक्तित्वो और वस्तुओ का भेद यथावत् रहता है। किन्तु यह व्यक्तित्व अपनी इकाई और अपने अहकार के आग्रह को छोडकर अपनी आत्मा की विभूति एक दूसरे को समर्पित करने के लिए उत्सुक होते हैं। इस उत्सुकता मे साम्य का ऐसा एक अद्भुत भाव प्रकट

होता है जिसे 'एकता' कहने मे कोई आपत्ति नही है। आत्मीयता के इस गहन और अद्भुत भाव मे ही कला और काव्य का सौन्दर्य उदित होता है।

दम्पति और मित्रो के परस्पर आत्मीयभाव मे इस समात्मभाव का एक सहज उदाहरण मिलता है। वैसे यह किन्ही भी व्यक्तियो के बीच सभव है। सख्यभाव इसका मर्म है जो सर्वत्र सभव है। बालको के परस्पर सम्बन्धो और व्यवहार मे भी इसका सहज उदाहरण मिलता है। सख्यभाव ही बालको का सहज भाव है। भाव की एकता अथवा ममता इसका मूल आधार है। लक्ष्य, प्रयोजन, कर्म, दिशा, दशा आदि की एकता अथवा समानता भी इसका आधार बनती है। राम, सीता और लक्ष्मण के अथवा पाण्डवो और द्रौपदी के निर्वासन के सौन्दर्य का रहस्य इसी मे है। सुख और दु ख दोनो ही अवस्थाओ मे समात्मभाव का सौन्दर्य उदित होता है। पति-पत्नी जब एक साथ चन्द्रमा को देखते हैं तभी वह सुन्दर मालूम होता है। समात्मभाव के सौन्दर्य से दु ख कम हो जाता है और उसमे करुणा का आनन्द खिलता है। सुख और दु ख दोनो मे सभव होने के कारण यह प्राकृतिक सम्वेदना से भिन्न है। सुख और दु ख दोनो की सम्वेदना व्यक्तिगत और भिन्न होती है। 'सुख' प्रिय और 'दु ख' हेय होता है। किन्तु समात्मभाव का सौन्दर्य और आनन्द दु ख मे अधिक तीव्र हो जाता है। ससार की कला और उसके काव्य मे करुणा की महिमा का यही रहस्य है।

यह समात्मभाव चेतना का भाव है। इसमे चेतना के सदा सचेतन रूप मे स्फुटन रहने के कारण इसे आत्मा का भाव कहना अधिक उचित है। आत्मा का यह भाव व्यक्तियो के मन मे साम्य का उदय होने पर प्रकट होता है। किन्तु इसके लिए व्यक्तियो का साथ होना आवश्यक नही है। साथ और अकेले दोनो ही स्थितियो मे यह भाव सभव हो सकता है। सौन्दर्य की स्थिति मे मन के भाव का महत्व है। बाहरी और प्राकृतिक स्थिति गौण है। बाहरी दृष्टि से अकेले होने पर भी हम रामगिरि के प्रवासी यक्ष की भाँति मन से अपने प्रिय का सग लाभ कर सकते हैं। आत्मीयता का भाव न होने पर हम राग और समूह मे भी अकेले हो सकते हैं जैसे कि आज का नागरिक प्राय अनुभव करता है। भाव बाहरी स्थिति नही, मन की स्थिति है। किसी भी स्थिति मे मन मे ही भाव स्फुरित होता है। मन मे मन को स्पर्श करने की और मन के साथ मिलने की अद्भुत शक्ति है। मन की इस शक्ति को हम 'कल्पना' कह सकते हैं। अध्यात्म की भाषा मे यह चेतना

का विस्तार है। कल्पना का अर्थ यह नहीं है कि यह मिथ्या है। चेतना के विस्तार के द्वारा मन के भाव की एकता अथवा समता जीवन का सबसे गहन सत्य है। इस सत्य के तीर्थ में ही व्यक्तित्वों की प्राकृतिक इकाइयाँ भिन्न होते हुए भी मिलती हैं और एक होती हैं। इस सत्य के क्षितिज पर ही मन की सन्ध्याओं में जीवन और कला में सौन्दर्य के आकाश-कुसुम खिलते हैं।

यह कल्पना सृजनात्मक है। 'कल्प' का अर्थ ही सृजन करना है। यहाँ तक क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड का मत ठीक है कि कला के सौन्दर्य का स्रोत रचनात्मक कल्पना में है। किन्तु कला की इस रचनात्मक कल्पना का अधिष्ठान व्यक्ति की इकाई नहीं है जैसा कि कौलिंगवुड मानते हैं। कौलिंगवुड की कल्पना कला के उपादानों को प्राकृतिक सत्ता की भूमि से उठाकर उन्हें कलाकार की आन्तरिक भाव-सृष्टि बना देती है। क्रोचे ने कल्पना की इस रचनात्मक वृत्ति को 'अनुभूति' अथवा 'अभिव्यक्ति' का नाम दिया है। उनके अनुसार कलाकार अपने अन्तर में सौन्दर्य के उपादानों की भी सृष्टि करता है। इसी भाव सृष्टि में सौन्दर्य उदित होता है। यदि सत्य भी हो तो यह सौन्दर्य का आध्यात्मिक रूप है। जो वेदान्त के ब्रह्मानुभव के समकक्ष है। सौन्दर्य के इस रूप में उपादानों की प्राकृतिक सत्ता, विषय रूप में उनके भेद काल भेद आदि के लिये स्थान नहीं है। शुद्ध आध्यात्मिक सौन्दर्य क्या है इसका साक्षात्कार कुछ विशेष साधकों को अनुभव के कुछ दुर्लभ क्षणों में हो सकता है। किन्तु जीवन और कला का सौन्दर्य इससे अधिक व्यापक है। लोक कला और अभिजात कला दोनों में ही सौन्दर्य का रूप ऐसी स्थिति में खिलता है जो उपादानों में भेद मूलक सत्ता, काल भेद आदि के साथ संगत है। क्रोचे के अध्यात्म-वादी सौन्दर्य शास्त्र के अनुसार जीवन और कला के इस मूर्त सौन्दर्य का महत्व चाहे कुछ न हो, किन्तु यह सौन्दर्य जीवन और कला की विपुल विभूति है। किसी सिद्धान्त के आग्रह के कारण इसकी उपेक्षा करना उचित नहीं।

हमारे अनुसार कल्पना की जिस शक्ति से मन के भाव एक होते हैं, वह रचनात्मक अवश्य है और उसकी रचनात्मकता में ही सौन्दर्य उदित होता है। किन्तु यह कल्पना अपने उपादानों की सृष्टि नहीं करती। कलात्मक रचना में उपादानों की सत्ता विषय, *काल, सम्बन्ध आदि का भेद रहता है फिर भी* वह व्यक्तियों के विरोध को मिटाकर उनमें समता अथवा एकता के एक अद्भुत भाव की सृष्टि संभव बनाती है। भेदमूलक विषय एकता के भाव के निमित्त

बनते हैं। अप्रस्तुत का उपस्थापन कल्पना की वह शक्ति है जो प्रत्यक्ष की सवेदना के निकट होने के कारण प्राकृतिक कही जा सकती है। कल्पना की यह प्राकृतिक शक्ति सौन्दर्य के उपकरण प्रस्तुत कर सकती है किन्तु वह उसके स्वरूप की विधात्री नही है। कल्पना की यह शक्ति कौलिगवुड की कल्पना के अत्यन्त निकट है जिसे कौलिगवुड 'रचनात्मकता समझते हैं। वह केवल 'अप्रस्तुत के उपस्थापन की क्षमता' है। यह क्षमता मन की साधारण वृत्ति है, यद्यपि प्राकृतिक उपादानो की स्वतन्त्र सत्ता के भार के कारण यह दुर्लभ अवश्य है। बालको मे, जो सत्य को पूर्णत ग्रहण नही कर पाते अथवा मनोविकार के रोगियो मे, जो यथार्थ की उपेक्षा करते हैं, यह क्षमता अधिक पाई जाती है। शेक्सपीयर ने कवि, प्रेमी और पागल की एकता के जिस सूत्र का प्रस्ताव किया है उसका रहस्य कल्पना की इसी क्षमता मे है। इसी क्षमता के आधार पर मनोविश्लेषणवाद कला को मनोविकृति की अभिव्यक्ति मानता है जो पूर्णत अनुचित नही है।

किन्तु कल्पना की इस क्षमता मे जीवन और कला का सौन्दर्य उदित नही होता, चाहे इसमे कोई चमत्कार अथवा उन्माद भले ही हो। यह कल्पना की प्राकृतिक शक्ति की अतिरजना है जो अपने धर्म मे मनोविकृति के समान है, यद्यपि कुछ सीमा तक यह कला की सहयोगिनी बन सकती है। किन्तु जीवन और कला मे सौन्दर्य की विधायिनी कल्पना की वह शक्ति है जिसके द्वारा उपादानो की स्वतन्त्र सत्ता और काल भेद आदि की स्थिति में ही मन का भाव एक होता है। इसी भाव को हमने 'समात्मभाव' कहा है। यही सस्कृति और सौन्दर्य का बीज है। इसी बीज से कला और सस्कृति का कल्पवृक्ष विकसित होता है। अप्रस्तुत के उपस्थापन की प्राकृतिक शक्ति से भेद करने के लिए हम इसे 'कल्पना की सास्कृतिक शक्ति' कह सकते हैं। समात्मभाव के इस सास्कृतिक पक्ष से विरहित होने पर कल्पना की प्राकृतिक शक्ति विकृत हो जाती है तथा कवि और प्रेमी को पागल के निकट ले जाती है। किन्तु समात्मभाव को सस्कृतिक शक्ति की सहयोगिनी बन कर यह कल्पना कला को उपादानो से सम्पन्न बनाती है और उसके सौन्दर्य को निखारती है। इसीलिए वियोग और करुणा का सौन्दर्य अधिक तीव्र और प्रभावशील होता है। कल्पना की यह शक्ति जीवन मे प्राप्त उपकरणो को भाव से अचित कर उन्हे कला का उपादान बनाती है।

समात्मभाव की इस स्थिति मे ही जीवन और कला मे सौन्दर्य उदित होता है।

कला को प्राय जीवन के सौन्दर्य का प्रतिनिधि माना जाता है। किन्तु जीवन और कला की स्थितियो मे सर्वत्र समानता नही मिलती। दु ख, वेदना और करुणा को हम जीवन मे नही चाहते किन्तु कला और काव्य मे ये सबसे अधिक मर्मस्पर्शी विषय माने जाते हैं। कला और काव्य की सर्वोत्तम निधियाँ इन्ही पर आश्रित हैं। व्यक्तिवादी सिद्धान्त जीवन और कला के इस वैषम्य की व्याख्या, विरेचन, वचाव आदि के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर कर सकते हैं। किन्तु ऐसी व्याख्याओ से कला के सौन्दर्य का समस्त पराग विशीर्ण हो जाता है और कला की महिमा म्लान हो जाती है। कला केवल मनुष्य की प्राकृतिक वृत्तियो का माध्यम नही है। उसका अपना स्वरूप है, जो प्राकृतिक वृत्तियो के विरुद्ध न होते हुए भी उनसे अतिरिक्त है। प्राकृतिक वृत्तिया सुख और दु ख की सम्वेदना के भीतर रहती हैं। ये दोनो व्यक्तिगत और स्वार्थमय हैं। सुख की सम्वेदना प्रिय और उपादेय है। दु ख अप्रिय और हेय है। कला और काव्य का बहुत कुछ अश सम्वेदनाओ को ही उत्तेजित करता है। **समवेदना को प्रियता को ही प्राय. कलात्मक सौन्दर्य समझने का भ्रम हो जाता है।** सम्वेदनात्मक वृत्तियो मे काम और अहकार मुख्य हैं। कला और काव्य मे इनकी प्रचुरता भी है। किन्तु जिनमे इनकी प्रचुरता है वे वस्तुत कला के सास्कृतिक सौन्दर्य की रचनाऐ नही हैं। ये केवल प्राकृतिक सम्वेदना की प्रियता के कारण स्पृहणीय बन जाती हैं। प्रकृति मे मनुष्य की स्वाभाविक रुचि है। इसलिए यह प्राकृतिक प्रियता कला मे प्रोत्साहन पाती है। कला मे यह प्रियता सौन्दर्य के रूप का आवरण ओढकर सुन्दर और कलात्मक बन जाती है। कला का यह रूप व्यजना की शैली है जो प्राकृतिक विज्ञानो की अभिधा वृत्ति से भिन्न है। प्राय इसमे 'वक्रोक्ति का पुट रहता है। यह रूप का सौन्दर्य कला का केवल बाहरी आकार है। किन्तु यह भी पूर्णत व्यक्तिगत नही है। इसका चमत्कार भी तभी स्फुरित होता है जब दो मन समभाव से इस व्यजना की ध्वनि से स्पन्दित होते हैं। समात्मभाव के मर्म के बिना कला के रूप का सौन्दर्य भी सफल नही होता। इसीलिए व्यजना की विपुल क्षमता लेकर भी नई हिन्दी कविता आदर नही पा रही है और जो आदर पा रही है उसकी व्यजना समात्मभाव से अनुप्राणित है।

सार्थकता, विज्ञान, शास्त्र, कला और काव्य का सामान तत्व है। अर्थ के अभिधान में व्यंजना की विपुलता होने पर अर्थ कला का रूप ग्रहण करता है। अभिधा के व्यापार मे कोई चमत्कार नही है उसमे एक उदासीन यथार्थता है। उसका

व्यापार व्यक्ति से निरपेक्ष है, यद्यपि व्यक्तियो को ही अर्थ-बोध होता है। किन्तु वह व्यक्तित्व की उदासीन और एकान्त इकाइयो में संभव है। इसके लिए व्यक्तियो मे कोई आत्मीय सम्पर्क अपेक्षित नही है। आधुनिक प्रणाली की उदासीन शिक्षा मे भी वह संभव है। किन्तु व्यंजना का व्यापार व्यक्तित्व की इकाइयो मे कृतार्थ नही होता। कई मन उस व्यंजना के अन्तर्भाव से स्पन्दित होते हैं तभी कला के रूप का चमत्कार सफल होता है। किन्तु केवल व्यंजना कला का 'रूप' मात्र है। व्यंजना के रूप में अन्तर्निहित अर्थ-सम्पत्ति को हम 'आकृति' कह सकते हैं। इस आकृति का व्यंजना के रूप से वही सम्बन्ध है जो यौवन का देह के रूप से। यह आकृति रूप का तत्व है। यह तत्व प्राकृतिक संवेदना में भी सीमित हो सकता है। किन्तु तब यह सम्वेदना की प्रियता तक ही रह जाता है। ऐसी कला में रूप की अपेक्षा तत्व का प्राकृतिक आकर्षण ही अधिक होता है। इसलिए जब-जब रूप की प्रधानता हुई है तब तब कला का ह्रास हुआ है।

व्यक्तिगत सम्वेदना की प्रियता से ऊपर उठकर जीवन के गंभीर और व्यापक सामाजिक रहस्य आकृति के अधिक महत्वपूर्ण तत्व बनते हैं। ये तत्व ही प्राचीन और अर्वाचीन महान कृतियो के सम्बल हैं। किन्तु अर्थतत्व की दृष्टि से इनमे और दर्शन मे कोई भेद नही है। व्यंजना के रूप की छाया मे ये कला के उपकरण बन जाते हैं। किन्तु वस्तुत ये इतने विशाल होते हैं कि निर्वैयक्तिक होकर विज्ञान और दर्शन के तत्वो के समान उदासीन बन जाते हैं। व्यंजना का रूप भी इन्हें अधिक सुन्दर नही बना पाता। इसलिए गम्भीर कृतियो मे प्राय लोगो की रुचि नही होती। समात्मभाव के क्षितिजो का स्पर्श करके ही इन तत्वो में कला के रूप का सन्निधान पूर्ण होता है। व्यंजना, आकृति और समात्मभाव की त्रिवेणी कला के रूप, तत्व और भाव का संगम है। कला के रूप और तत्व समात्मभाव में अन्वित होकर ही सौन्दर्य को पूर्ण बनाते हैं। समात्मभाव की स्थिति में ही आकृति की व्यंजनाओ ने कला को साकार बनाया है। इसी भाव से अंचित होकर दुख और करुणा के विषय भी सौन्दर्य के उपादान बन जाते हैं। एक दृष्टि से दुख और करुणा की स्थितियों मे समात्मभाव अधिक तीव्र होता है। इसीलिए 'करुणा' कला और काव्य की मधुरतम विभूति है। सुख मे भी समात्मभाव संभव है। किन्तु सुख की व्यक्तिमत्ता उसमें बाधक रहती है। सुख की स्थितियो मे स्वार्थ से ऊपर उठने पर ही हृदयो का वह समभाव सम्पन्न होता है जिसमे कलात्मक सौन्दर्य प्रकाशित होता है।

आदि कवि की कविता क्रौंच-वध की करुणा के समात्मभाव में ही उदित हुई थी। क्रौंच मिथुन के प्रति उनका शोक जिस श्लोक में मुखरित हुआ था वही सृष्टि का आदि काव्य है। वेदों में सुख-दुःख दोनों की स्थितियों में समात्मभाव के गीत मिलते हैं। कालिदास के 'शाकुन्तल' और मेघदूत' में इसी समात्मभाव का सौन्दर्य साकार हुआ है। कालिदास के बाद के संस्कृत काव्यों में आकृति का दार्शनिक तत्व और व्यंजना की भंगिमा दोनों बढ़ते गये हैं। किन्तु समात्मभाव का सौन्दर्य कम होता गया है। इन काव्यों की हीनता का यही कारण है। रामचरितमानस की अलौकिकता के बावजूद भी उसमें समात्मभाव विपुलता से वर्तमान है। यही उसके सौन्दर्य का रहस्य है। अयोध्याकाण्ड की मार्मिकता का कारण 'शाकुन्तल' के चतुर्थ सर्ग की भाँति समात्मभाव की विपुलता और गहनता ही है। पश्चिमी काव्य में भी महान कृतियों का मर्म समात्मभाव में ही है। शेक्सपीयर के नाटकों में प्राकृतिक संवेदना, गहन आकृति, सहज व्यंजना और समात्मभाव की विपुलता तीनों का विपुल संगम है। इसीलिए शेक्सपीयर संसार का महान कवि है। अंग्रेजी के रोमान्टिक काव्य में प्रकृति के अनुराग और मानवीय प्रेम के रूप में यह समात्मभाव एक सूक्ष्म व्यंजना का रूप लेकर साकार हुआ है। यही उस काव्य के माधुर्य का मर्म है। क्षीण प्राण होने के कारण हिन्दी का छायावाद अधिक अल्पजीवी हुआ। किन्तु अंग्रेजी छायावाद के रूप रत्नों की छाया ही उसे कुछ काल तक मोहक बना सकी। नवीनतम काव्य में समात्मभाव का सौन्दर्य ही कुछ मूल्यवान और मनोहर रचनाओं का रूप दे रहा है।

केवल व्यंजना का 'रूप' कला को सजीव और सप्राण नहीं बना सकता। समात्मभाव ही कला का प्राण है। समात्मभाव में अन्वित होकर ही व्यंजना का रूप और आकृति का तत्व सजीव सौन्दर्य में साकार होता है। समात्मभाव के बिना आकृति की अर्थ सम्पत्ति उदासीन रहती है और व्यंजना का चमत्कार भी निष्प्राण रहता है। व्यंजना में केवल रूप का सौन्दर्य होता है। कोई उसी को सौन्दर्य का सर्वस्व मानना चाहे तो मान सकता है। किन्तु उसे सौन्दर्य के उस भाव से पृथक करना होगा जिसमें आनन्द का उद्रेक होता है। यदि आनन्द सौन्दर्य का अभिन्न भाव है तब तो समात्मभाव में ही सौन्दर्य का मर्म मानना होगा। आत्मीय अन्तर्भाव की पारस्परिकता, समता और एकता में ही आकृति की व्यंजना कलात्मक आनन्द का स्रोत बनती है। समात्मभाव के बिना व्यंजना का सौन्दर्य रूपवती किन्तु खिन्नमना

तरुणी के सौन्दर्य के समान है। व्यक्तित्व के एकान्त की उदासीनता मे व्यंजना का सौन्दर्य भी म्लान हो जाता है। किन्तु समात्मभाव से युक्त होकर अभिधा के सरल अर्थ भी सुन्दर और सजीव बन जाते हैं। आकृति की व्यंजना का अतिशय तो रूप मे यौवन के उल्लास की भांति छलकता है।

जीवन मे भाव का सौन्दर्य इसी समात्मभाव मे स्फुरित होता है। इसके बिना व्यक्तित्व के एकान्त मे प्रकृति के सुख भी नीरस हो जाते हैं। आधुनिक सभ्यता मे मनुष्य जितना अकेला होता जा रहा है उतना ही जीवन नीरस हो रहा है। प्रकृति के सहज सुखो मे भी अधिक सन्तोषप्रद स्वाद नही है। इसीलिए आज का मानव कला के सहज सौन्दर्य से उदासीन होता जा रहा है। उदासीन जीवन मे वासनाओ को उत्तेजित करने वाले अथवा कुंठाओ से भरे जीवन की समस्याओ का विश्लेषण करने वाले साहित्य मे उसकी रुचि अवश्य है। किन्तु उसकी इस रुचि मे कला के सौन्दर्य का आकर्षण नही, वरन् एक विक्षुब्ध मन की पीडाओ की प्रेरणा है। मनुष्य का उदासीन और एकाकी मन प्राणवान् और सचेष्ट होने पर समात्मभाव का अभिलाषी होता है। एकाकीपन की स्थिति मे भी वह भावी पति और काल्पनिक प्रेयसी के साथ कल्पना के द्वारा समात्मभाव स्थापित करता है। निर्वासित होने पर वह मेघदूत के यक्ष की भांति अपनी प्रिया को सदेश भेजता है। मनुष्यो के निकट न होने पर वह पशुओ मे और पशुओ के भी न होने पर वह प्राकृतिक पदार्थों के साथ समात्मभाव स्थापित करता है। कवि और कलाकार मे इस समात्मभाव की क्षमता अधिक होती है। उसका यह भाव व्यापक होने के कारण विश्व जीवन उसकी कला का विषय बनता है। व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक तादात्म्य न सौन्दर्य और कला के लिए अपेक्षित है और न वह वस्तुत संभव है। व्यक्तित्वो की भिन्नता में ही समभाव उत्पन्न होने पर सौन्दर्य प्रकट होता है। वास्तविक जीवन के पात्र, कवि और पाठक सब इसी भाव के अनुकूल जीवन और कला में सौन्दर्य का आस्वादन करते है। अधिकांश कला और काव्य की कृतियां इस तथ्य का समर्थन करती है, यद्यपि कला के आचार्य जो स्वय कलाकार अथवा कवि नहीं थे व्यक्तित्व की इकाई की सीमा मे ही सौन्दर्य की व्याख्या करते रहे है। जिस काव्य अथवा कलाकृति में समात्मभाव की जितनी गहनता है आकृति का अन्तर्भाव कितना विपुल और व्यापक है तथा व्यंजना जितनी सहज और समन्वित है, वह उतनी ही महान है।

दुखान्त नाटक, करुणकाव्य आदि के सौन्दर्य का मर्म भी समात्मभाव के सिद्धान्त

के द्वारा अधिक सफलता से उद्घाटित होता है। विरेचन अथवा बचाव करुणा के सौन्दर्य का मूल्य बहुत कम कर देता है। विश्व-साहित्य में करुण काव्य की महिमा का उचित मूल्याकन समात्मभाव के द्वारा ही हो सकता है। भारतीय रस सिद्धान्त की समस्याओ का समाधान भी समात्मभाव के द्वारा अधिक संतोषजनक रूप में होता है। साधारणीकरण और अभिव्यक्तिवाद दोनो ही व्यक्तित्व के आग्रह से कठिनाइयो मे पड जाते हैं। व्यक्तित्व की इकाई को रसानुभूति का आश्रय मान लेने पर अन्य पात्रो के भावो मे उनके रसानुभव की व्याख्या कठिन हो जाती है। समात्मभाव दूसरो के भावों में भाग लेने पर अथवा उनके साथ समभाव उत्पन्न करने पर ही सभव होता है। यह व्यक्तित्वो का तादात्म्य नही है, यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मानना होगा कि जीवन और कला के समस्त भावों का अधिष्ठान व्यक्ति ही है। समात्मभाव इस व्यक्तिवाद को सत्य किन्तु अपूर्ण मानता है। व्यक्तित्व की इकाई के एकान्त में प्रकृति की सम्वेदनाओ के सुख सभव हो, किन्तु कलात्मक सौन्दर्य और आनन्द सभव नहीं है। व्यक्तित्व की इकाई मे मनुष्य कितना उदासीन होता है और उसकी अनुभूतिया कितनी नीरस होती हैं उसे आज का मनुष्य भलीभाँति जानता है। जीवन और कला के उपकरणो में सौन्दर्य का उद्रेक तभी होता है, जब दो या अधिक व्यक्तित्व अपनी इकाई की सीमा से निकलकर एक भाव से स्पन्दित होते है। जिस व्यक्तित्व की इकाई को समस्त आचार्य कला और सौन्दर्य का आश्रय मानते आये है उसके एकान्त में वह सभव नहीं है। कवि और कलाकार समात्मभाव के ऐश्वर्य से ही सौन्दर्य की सृष्टि में समर्थ होता है। विश्व के काव्य और विश्व की कला की अधिकाश कृतियां इस सिद्धान्त के सत्य को प्रमाणित करती है। वियोग और एकान्त की स्थिति मे समात्मभाव और भी तीव्र होता है, इसलिए दु ख, वियोग और करुणा की कृतियाँ विश्व साहित्य मे अधिक महान हैं।

यह समात्मभाव जिस प्रकार व्यक्तिवाद से भिन्न है, उसी प्रकार समानुभूति, सहानुभूति आदि से भी भिन्न है। समानुभूति' व्यक्तित्व का काल्पनिक तादात्म्य है, जो मन की एक असाधारण क्षणिक एव भ्रमपूर्ण अवस्था है। पीडित और अभावपूर्ण व्यक्तित्वों के लिए वह कुछ अनुरूप कृतियो मे आकर्षण का कारण बन सकती है, किन्तु वह पाठक तक ही सीमित है। कवि के लिए वह सामान्यत कला की प्रेरणा नही बन सकती। जिनका अहकार पीडित है केवल ऐसे कलाकारो ने कुछ पात्रो के साथ तादात्म्य स्थापित करके आत्मसतोष के प्रयत्न अवश्य किये हैं,

किन्तु वे सब विकृत और असाधारण कला के रूप हैं। **कला का सामान्य सौन्दर्य समात्मभाव में ही स्फुरित होता है।** सहानुभूति एक तटस्थ भाव है। सहानुभूति मे जहाँ तादात्म्य होता है, वहा सहानुभूति मे व्यक्तित्व अलग-अलग रहते हैं। तभी सान्त्वना सभव होती है। **समात्मभाव इन दोनों से भिन्न है। इसमें तादात्म्य और भेद से भिन्न एक अद्भुत स्थिति में भाव की समता और एकता होती है।** इस दृष्टि से यह एक सामाजिक भाव है कि यह एक से अधिक व्यक्तियो के बीच सम्पन्न होता है। किन्तु यह अत्यन्त निकट और आन्तरिक सम्पर्क की सामाजिकता का भाव है। **अत: वह दूरान्वय की सामाजिकता अथवा निर्वैयक्तिक सामाजिकता से नितान्त भिन्न है।** दूरान्वय की सामाजिकता मे व्यक्ति अलग-अलग रहते हैं, उनका सम्पर्क नही होता। निर्वैयक्तिक सामाजिकता व्यक्तित्व का निरादरकर समष्टि की स्थापना करती है। इन दोनो मे भी कलात्मक सौन्दर्य का अवकाश नही है। समात्मभाव की घनिष्ठ आत्मीयता मे अनेक व्यक्तित्व इकाइयो की उदासीनता से ऊपर उठकर कलात्मक सौन्दर्य मे अधिक सबल और समृद्ध बनते हैं।

अध्याय २

सत्यं शिवं सुन्दरम् का स्थान

सत्य शिव सुन्दरम् जीवन के सास्कृतिक मूल्य हैं। सस्कृति जीवन का सर्वोत्तम सत्य है। सस्कृति के इस सत्य मे श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार होता है। सस्कृति के रूप कलात्मक सौन्दर्य तथा मंगल की धारणा से समन्वित होते हैं। सस्कृति की सामान्य धारणा मे भी सौन्दर्य और श्रेय का सन्निधान रहता है। वस्तुत सौन्दर्य और श्रेय ही सस्कृति के सत्य के मौलिक तत्त्व हैं। तात्त्विक अर्थ मे भी इनको जीवन और सस्कृति का सत्य माना जा सकता है। किन्तु यह सत्य का वह निरपेक्ष और उदासीन रूप नहीं है जिसका परिचय हमें विज्ञानो और दर्शनों में मिलता है। यह सत्य का वह जीवन्त रूप है जो जीवन के सास्कृतिक रूपो में साकार होता है। विज्ञानो और तत्व-दर्शनो मे सत्य का अभिप्राय सत्ता के अन्तिम रूप से है। जहाँ तक इस सत्य का विवेचन किया जाता है वहा तक यह सत्य ज्ञान के अवगम का विषय है। कुछ दार्शनिक सत्य के इस अन्तिम रूप को अवगम से अतीत मानते हैं। किन्तु सत्य का यह रूप भी वेदान्त के ब्रह्म के समान प्राय ज्ञान-स्वरूप ही है। वेदान्त के इस ब्रह्म को शिव और आनन्दमय भी माना जाता है। ब्रह्म का 'आनन्द' आन्तरिक अनुभव का उल्लास है। यही ब्रह्मानन्द मनुष्य का परम मगल है। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से यह आनन्द और मगल व्यक्तिगत नही हैं, क्योकि ब्रह्मानुभव की स्थिति मे अहकार का अतिक्रमण हो जाता है, फिर भी वेदान्तो मे ब्रह्म-साधना का निर्देश व्यक्ति के अध्यवसाय के रूप मे ही किया गया है। समाज और सस्कृति के व्यावहारिक रूपो मे ब्रह्म का आनन्दमय और मगलमय रूप किस प्रकार चरितार्थ होता है, इसकी व्याख्या वेदान्तो मे नही की गई है। इसके अतिरिक्त निर्गुण, निराकार और निर्विकार रूप मे ब्रह्म की प्रतिष्ठा होने के कारण मगल और सौन्दर्य के सास्कृतिक रूपो का ब्रह्म के तात्त्विक सत्य के साथ समन्वय नही हो सका है। शकराचार्य के 'सौन्दर्यलहरी', 'आनन्दलहरी' आदि प्रकीर्ण ग्रन्थो मे त्रिपुर-सुन्दरी कलाशक्ति की अभिवन्दना तथा वैष्णव वेदान्तो मे सगुण परमात्मा के रूप मे सौन्दर्य की सगति अवश्य मिलती है। किन्तु वेदान्तो की इस सौन्दर्य-भावना का जीवन के सास्कृतिक रूपो के साथ स्पष्ट समन्वय नही हो सका। अद्वैत वेदान्त का

मायावाद बहा और शक्ति-सुन्दरी के सगम मे बाधक रहा। वैष्णव वेदान्तो का सौन्दर्यपूर्ण परमेश्वर भक्तो का उपास्य रहा, किन्तु दर्शन के दोनो ही सम्प्रदायो मे सत्य के अन्तिम रूप मे सौन्दर्य के समवाय की जीवन के सामाजिक और सास्कृतिक रूपो में सगति स्पष्ट न हो सकी।

इसके विपरीत संस्कृति के सामान्य और परिचित रूप में मंगल और सौन्दर्य की भावना अधिक स्पष्ट रहती है। दर्शनो की भाँति सस्कृति तात्विक रूप मे सत्य का उदासीन अनुसधान नही है। वह जीवन का साकार और सक्रिय रूप है। इसमे सत्य का आधार अवश्य रहता है किन्तु वह अलक्षित रहता है। दर्शनो की भाति सत्य का अनुसधान, व्याख्यान और प्रतिपादन सस्कृति मे नही किया जाता। **संस्कृति में सत्य का जीवन्त रूप साकार होता है। यह जीवन के सम्बन्धों और व्यवहारो में चरितार्थ होता है। इसीलिए सस्कृति के इस सत्य में श्रेय और सौन्दर्य की प्रधानता रहती है।** इनकी यह प्रधानता सस्कृति मे प्रकट रहती है अर्थात् जीवन के सास्कृतिक रूपो मे श्रेय और सौन्दर्य सजीव एव साकार रूप मे अभिव्यक्त होते हैं। दर्शन का तात्विक सत्य का अनुसधान और स्थापन अभीष्ट है। दर्शन का यह सत्य तत्व की निरपेक्ष और स्वरूपगत स्थिति है। **इसके विपरीत 'सस्कृति' सत्य की सजीव और साकार अभिव्यक्ति है।** इस अभिव्यक्ति मे जीवन का सत्य सम्बन्धो और व्यवहारो के सजीव रूपो मे साकार होता है। सस्कृति के इस सत्य मे निरपेक्ष तत्व की अपेक्षा व्यावहारिक मगल और साकार सौन्दर्य की प्रधानता रहती है। सस्कृति के ऐतिहासिक विवरणो मे दर्शनो को भी स्थान दिया जाता है। किन्तु सस्कृति की जीवन्त परम्परा और सामान्य धारणा मे सत्य के तात्विक रूप की अपेक्षा मगल और सौन्दर्य की महिमा अधिक है। सत्य का तात्विक रूप एक अलक्ष्य आधार के रूप मे सस्कृति मे अन्तर्निहित रहता है। **मगल और सौन्दर्य इन दोनो में भी 'सौन्दर्य' सस्कृति के रूपो में अधिक स्फुट रहता है। इसीलिए सस्कृति में कला का प्रमुख स्थान रहता है।** सामान्य धारणा मे सस्कृति के प्रसग मे कला को जो प्रधानता दी जाती है वह सस्कृति म सौन्दर्य की प्रधानता की ही द्योतक है। **'सौन्दर्य' अभिव्यक्ति का 'रूप' है।** अभिव्यक्ति एक सृजनात्मक प्रक्रिया है। इसीलिए तन्त्रो मे विश्व की सृजनात्मिका शक्ति को 'सुन्दरी' और 'कला' का नाम दिया जाता है। सस्कृति का रूप भी सृजनात्मक है। उसके सृजनात्मक रूप मे सौन्दर्य साकार होता है और मगल

चरितार्थ होता है। कला के रचनात्मक रूपो मे सौन्दर्य मूर्तिमान होता है। इस मूर्तिमान सौन्दर्य मे एक सहज आकर्षण होता है। इसीलिए सस्कृति की धारणा मे कला की प्रधानता स्पष्ट रहती है।

किन्तु सस्कृति के जीवन्त रूपो में श्रेय अथवा मंगल का भी अन्तर्भाव रहता है। सौन्दर्य के कलात्मक रूपो मे भी इस श्रेय का समवाय है किन्तु सामाजिक व्यवहार के रूपो मे मगल का भाव अधिक स्पष्ट रहता है। इस मागलिक भाव की अभिव्यक्ति आन्तरिक है। अनुभव मे उसका आकर्षण भी प्रकट होता है। फिर भी यह आकर्षण आन्तरिक ही है। सौन्दर्य के रूपो के समान बाह्य उपकरणो मे मगल की अभिव्यक्ति अवश्य होती है किन्तु उसमे सौन्दर्य का सहज आकर्षण नही होता। इसीलिए सस्कृति की परम्परा मे जीवन और व्यवहार के समान रूपो मे सौन्दर्य और मगल दोनो का सगम हुआ है। शिव तथा भगवान के अन्य रूपो मे कल्याण और सौन्दर्य दोनो के समन्वय का भी यही रहस्य है। **तन्त्रो की भाषा में हम 'भाव' को 'शिव' और 'सौन्दर्य' को 'शक्ति' कह सकते हैं।** सस्कृति के जीवन्त सत्य मे दोनो का वैसा ही साम्य रहता है जैसा कि तन्त्रो मे अभीष्ट है। सस्कृति मे सौन्दर्य की प्रधानता भी तन्त्रा के अनुकूल है। शक्ति शिव की शिरोधार्य है। शिव की चन्द्रकला इसी शक्ति की प्रतीक है। वे उसे शीष पर धारण करते हैं। यह शक्ति सृजनात्मक है। तन्त्रो मे इसकी सुन्दरी सज्ञा है। **सृजन ही सौन्दर्य है। सृजन के रूपो में सौन्दर्य अभिव्यक्त और साकार होता है।** सौन्दर्य की इस सृष्टि में मगल का भी समवाय है, जो तन्त्रो मे शक्ति और शिव के साम्य के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है। **शक्ति और शिव अथवा सौन्दर्य और मगल का यह साम्य परम सत्य है।** यह दर्शन का उदासीन और निरपेक्ष सत्य नही वरन् जीवन का साकार और सजीव सत्य है। **सत्य के इस रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है।** सस्कृति की दृष्टि से यदि हम इसे देखे तो इसमे अभिव्यक्ति का सौन्दर्य प्रथम है और व्यवहार एव अनुभव का मगल इसमे समवेत है। अन्तत जिज्ञासा की शान्ति के लिए हम सौन्दर्य और श्रेय के इसी समवाय को परमतत्व के रूप मे 'सत्य' भी मान सकते हैं। **किन्तु सस्कृति की सृष्टि में सत्य, शिव और सुन्दर का यह क्रम दर्शन के क्रम से भिन्न है। वस्तुत 'सत्य शिव सुन्दरम्' का सूत्र दार्शनिक दृष्टि का ही विधान है।** दर्शन में निरपेक्ष और तात्विक दृष्टि की ही प्रधानता रहती है। निरपेक्ष और अन्तिम तत्व के रूप मे ही दर्शन मे सत्य का अनुसधान किया जाता है।

जीवन के मगल और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के रूप मे इस तात्विक सत्य की सगति दर्शनो मे बहुत कम मिलती है। मगल और सौन्दर्य मे भी 'मगल' इस तात्विक सत्य के अधिक निकट है। सौन्दर्य का विवेचन तत्व-दर्शनो मे बहुत कम हुआ है। पश्चिमी दार्शनिको की चिन्तन प्रणाली मे मूल्यो का यह दार्शनिक क्रम अधिक स्पष्ट है। महान जर्मन दार्शनिक कान्ट के तीनो महान ग्रन्थो का क्रम सत्य-शिव सुन्दरम् के क्रम के ही अनुकूल है। अन्य अनेक दार्शनिको के चिन्तन मे भी मूल्यो का विवेचन इसी क्रम मे मिलता है। **सस्कृति की जीवन्त परम्परा में मूल्यो का क्रम इसके विपरीत है, इसका सकेत ऊपर किया गया है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में समवेत शिव ही सस्कृति का जीवन्त सत्य है।**

सस्कृति की परम्परा मे प्रतिष्ठित इन मूल्यो के स्वरूप तथा जीवन मे इनकी अभिव्यक्ति को समझने के लिए जीवन मे सस्कृति के उदय और विकास का अनुसधान करना होगा। सस्कृति मानवीय जीवन की विशेष विभूति है। पशुओ के जीवन में किसी सस्कृति का विकास नही हुआ है। उनका जीवन प्राकृतिक होता है। वह नैसर्गिक प्रवृत्तियो के अनुसार चलता है। उसमे कोई अधिक परिवर्तन अथवा विकास भी नही होता। विकासवाद के अनुसार प्राकृतिक जीवन मे जो परिवर्तन हुए हैं वे भी प्राकृतिक ही हैं। उन्हे पशुओ की रचना नही कहा जा सकता। पशुओ के जीवन मे प्रकृति का निर्वाह ही अधिक है। उनमे रचनात्मक प्रवृति नही होती इसीलिये उनम सस्कृति का विकास नही हुआ है। एक प्रकार से 'सस्कृति' विकास का पर्याय है। मनुष्य के जीवन म जो कुछ विकास हुआ है वह मुख्य रूप से सस्कृति के ही अन्तर्गत है। यह विकास मनुष्य की रचनाओ का फल है। सस्कृति का स्वरूप ही रचनात्मक है। सस्कृति मनुष्य की सृष्टि है। 'सस्कृति' के शब्द और नाम से ही उसकी रचनात्मकता स्पष्ट है। वह 'कृति' का एक विशेष रूप है। यह विशेषता 'सम' के उपसर्ग से लक्षित होती है। सस्कृति कृति का वह रूप है जिसे सम्यक् अथवा पूर्ण कहा जा सके। 'सम्' का उपसर्ग इन्ही दो भावो का वाचक है। इन भावो की अधिक व्याख्या करने के लिए जीवन और सस्कृति के मूल्यो का विवेचन करना होगा। किन्तु सामान्य रूप से सस्कृति को हम मनुष्य की कृति अथवा रचना का वह रूप कह सकते है जिसमें जीवन की पूर्णता अथवा कृतार्थता प्रकट होती हैं। श्रेय, सौन्दर्य, आनन्द आदि को हम जीवन की इस पूर्णता का उपलक्षण कह सकते हैं। सत्य, शिव और सौन्दर्य के मूल्यो में

संस्कृति की पूर्णता चरितार्थ होती है। इन मूल्यों का उत्तरोत्तर विकास ही मानवीय संस्कृति की प्रगति है।

मनुष्य के कृतित्व अथवा उसकी रचना की दृष्टि से हम सस्कृति का प्रकृति से भेद कर सकते हैं। **प्रकृति एक निसर्ग गति है।** प्रकृति की यह गति अपने स्वतत्र और सहज भाव से सचालित होती है। उसके सचालन मे मनुष्य का कृतित्व नही है। मनुष्य प्रकृति की गति का अवरोध भी नही कर सकता। प्रकृति के सचालन और अवरोध दोनो मे ही मनुष्य का अधिकार नही है। प्रकृति के इस सहज रूप को यथार्थ की दृष्टि से 'सत्य' भी कहा जा सकता है, किन्तु वह एक उदासीन सत्य है। यह सत्य मनुष्य के अवगम का विषय बन सकता है। किन्तु वह मनुष्य की साधना का विकासशील सत्य नही है, जो मनुष्य की सस्कृति मे चरितार्थ होता है। **सत्य के सांस्कृतिक रूप में श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार रहता है। ये दोनों सास्कृतिक जीवन के समृद्धिशील सत्य हैं। शिवम् की गंगा और सुन्दरम् की यमुना के संगम में ही सस्कृति की त्रिवेणी प्रवाहित होती है।** सत्य को हम इस सगम की अलक्ष्य सरस्वती कह सकते हैं। सस्कृति की इस त्रिवेणी मे मनुष्य के भगीरथ के उद्योग की धारामे ही मुख्य रूप से प्रवाहित होती हैं। जीवन का प्राकृतिक सत्य सस्कृति के रचना-विधान का उपकरण बन सकता है। अपने आप मे प्रकृति का सस्कृति स कोई विरोध नही है। एक प्रकार से प्रकृति को सस्कृति का आवश्यक आधार कह सकते हैं। **प्रकृति की भूमि में ही संस्कृति के कल्पवृक्ष पुष्पित और फलित होते हैं।**

किन्तु मनुष्य जीवन मे प्रकृति के अतिचार की सम्भावना भी रहती है। प्रकृति का यह अतिचार सस्कृति के विकास मे बाधक होता है। अन्तत वह प्रकृति के लिये भी आत्मघाती सिद्ध होता है। अत उसे विकृति कहा जा सकता है। प्रकट रूप मे प्रकृति का अतिचार प्रकृति की अतिरजना है किन्तु परिणाम मे वह प्रकृति का भी ह्रास है। अत अन्तत विकृति मे प्रकृति की हीनावस्था ही प्रकट होती है। **अपने स्वरूप में प्रकृति प्रधानत स्वस्थ और सुखमय है।** प्राय हम उसे सुखमय और सुन्दर भी कहते हैं। विकृति मे प्रकृति का यह सुख और सौन्दर्य क्षीण हो जाता है। किन्तु मूलत विकृति के लक्षण और धर्म प्रकृति से भिन्न नहीं हैं। प्रकृति के स्वस्थ रूप मे एक सहज साम्य होता है। विकृति की आरम्भिक अतिरजना और अन्त मे प्रकट होने वाली हीनता मे यह साम्य भग हो जाता है।

किन्तु विकृति के हीन रूप में भी जिन धर्मों का निर्वाह होता है वे प्रकृति के ही सहज धर्म हैं। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि विकृति के आरम्भिक अतिचार के कारण अन्तत वे धर्म मन्द हो जाते हैं। विकृति में प्राकृतिक धर्मों के अतिरिक्त किन्हीं नवीन धर्मों का उदय नहीं होता। किन्तु इसके विपरीत संस्कृति मनुष्य जीवन में प्राकृतिक धर्मों के अतिरिक्त नवीन धर्मों और रूपों की रचना है। इस दृष्टि से संस्कृति को हम एक प्रकार का 'अतिशय' कह सकते हैं। संस्कृति के धर्म और रूप प्रकृति के सहज परिणाम नहीं हैं वरन् वे मनुष्य की स्वतन्त्र रचना के फल हैं। सृजनात्मक होने के साथ-साथ संस्कृति स्वतन्त्र भी है। वह मनुष्य की स्वतन्त्र रचना है। मनुष्य की इस स्वतन्त्रता का मूल उसकी चेतना है। मनुष्य में इस चेतना का विकास पशुओं की अपेक्षा अधिक हुआ है। चेतना की समृद्धि ही संस्कृति के विकास का स्रोत है। जिज्ञासा के रूप में यही चेतना सत्य का अनुसंधान करती है। भाव के रूप में यही चेतना मंगल की प्रेरणा है। सौन्दर्य के रूपों में इस चेतना की सृष्टि ही साकार होती है।

प्राकृतिक धर्मों व रूपों की दृष्टि से चेतना की ये तीनों ही अभिव्यक्तियाँ 'अतिशय' कही जा सकती हैं। इनके बिना भी पशुओं का प्राकृतिक जीवन और मनुष्यों का पाशविक जीवन सम्भव होता है। इसी अर्थ में इन्हें 'अतिशय' कहना उचित है। अतिशय होने के साथ साथ ये स्वतन्त्र भी हैं। ये मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा और चेष्टा में प्रवृत्त होती हैं। अतिशय समृद्धि का रूप है और समृद्धि स्वतन्त्रता से ही सम्भव होती है। संस्कृति का 'सम्' प्रत्यय भी इस पूर्णता अथवा कृतार्थता का वाचक है। उसकी व्याख्या समृद्धि के रूप में भी की जा सकती है। यह समृद्धि जीवन की विभूतियों की अभिवृद्धि है। ज्ञान, भाव और रूप के उत्कर्ष में यह समृद्धि साकार होती है। आनन्द को हम इन तीनों का सामान्य फल मान सकते हैं। आनन्द के उल्लास में इनकी समृद्धि चरितार्थ होती है। 'आनन्द' संस्कृति की त्रिवेणी का गंगासागर है।

संस्कृति की इस समृद्धि का लक्षण अविरोध है। भावात्मक रूप में हम इसे साम्य कह सकते हैं। संस्कृति का 'सम्' उपसर्ग इस साम्य का भी सूचक है। साम्य का अर्थ केवल समानता नहीं। समानता एक तुलनात्मक और मात्रात्मक प्रत्यय है। तुलना में तुल्यों का भेद रहता है और मात्रा भेद तथा सीमित है। साम्य में यह भेद मूलक समानता तथा सीमित मात्रा अभीष्ट नहीं है। अतः अविरोध

साम्य का आरम्भिक और निषेधात्मक लक्षण है। उसका भावात्मक लक्षण पारस्परिक अभिवृद्धि है। जहाँ दो तत्व अथवा व्यक्ति अविरोध के अतिरिक्त एक दूसरे को अभिवृद्धि करते हैं वहीं साम्य का अभीष्ट रूप प्रकट होता है। तन्त्रों में शिव और शक्ति का साम्य इसी रूप में प्रतिष्ठित है। शिव शक्ति को अपने शीश पर धारण करते हैं। शिव की चन्द्रकला उसी शक्ति का प्रतीक है। दूसरी ओर प्रकाश रूप शिव तन्त्रों के परम सत्य हैं। भक्ति दर्शनों में विशेष रूप से श्री कृष्ण के चरित में यह साम्य चरितार्थ हुआ है। भक्त कवियों के 'दोऊ परे पैयाँ' तथा 'देख्यौ पलोटत राधिका पाँयन' जैसे पद इस साम्य के सूचक हैं। तन्त्रों के मत में यह प्रकाश और विमर्श का साम्य है। 'प्रकाश' भाव की आन्तरिक समृद्धि है। मंगलमय होने के कारण उसे 'शिव' कहा जाता है। विमर्श कला-शक्ति के रचनात्मक रूपों की अभिवृद्धि है। ये रचनात्मक रूप सौन्दर्य के पर्याय हैं। संस्कृति की भाषा में हम इसे श्रेय व सौन्दर्य साम्य कह सकते हैं। 'सम्' का 'स' विसर्ग का पर्याय है और 'म्' बिन्दु का पर्याय है। इनका यह पर्यायभाव व्याकरण-संगत है। तन्त्रों में विमर्श को विसर्ग और प्रकाश को बिन्दु कहते हैं। बिन्दु अथवा प्रकाश अनुभव का भाव है। विसर्ग अथवा विमर्श अभिव्यक्ति के रूपों का सौन्दर्य है। मंगल के भाव और रचना के सौन्दर्य का साम्य ही संस्कृति का वास्तविक लक्षण है। भाव और सौन्दर्य की परस्पर अभिवृद्धि के सूचक साम्य से युक्त रचना ही भारतीय धारणा के अनुसार मानवोचित संस्कृति है।

संस्कृति की यह धारणा उस पश्चिमी धारणा से भिन्न है जिसमें मनुष्य की रचना के प्रत्येक रूप को संस्कृति के अन्तर्गत माना जाता है। संस्कृति की इस पश्चिमी धारणा में संस्कृति को 'कृति' का पर्याय माना गया है। प्रकृति के आधार पर मनुष्य की जो कुछ भी रचना है वह सब इसमें सम्मिलित है। एक व्यापक अर्थ में इसके लिए 'सभ्यता' अथवा 'संस्कृति' का प्रयोग किया जाता है। मनुष्य की इन कृतियों में सभी उस साम्य से युक्त नहीं हैं जिसका संकेत ऊपर किया गया है और जो संस्कृति की भारतीय धारणा का मूल रहस्य है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में भी संस्कृति का यही रहस्य एक सुन्दर रूप में साकार हुआ है। भारतीय संस्कृति की यह परम्परा हमारे पर्वों, उत्सवों, संस्कारों आदि में आज भी वर्तमान है। संस्कृति की इस परम्परा में साम्य का अपार उत्कर्ष दिखाई देता है और वैषम्य का लेश कदाचित् ही मिलेगा। इसी

साम्य मे प्रतिष्ठित होने के कारण भारतवर्ष धर्म के प्रचार तथा साम्राज्य के विस्तार जैसे विषमता के मार्गो मे पश्चिमी देशो की भाति अग्रसर नहीं हो सका। सस्कृति की पश्चिमी धारणा मे मनुष्य की जिन समस्त कृतियो को सम्मिलित किया जाता है उनमे कुछ साम्य से भी युक्त हैं। किन्तु उनमे बहुत सी कृतियो म वैषम्य की भी प्रधानता है। उदाहरण के लिए हम कुछ आदिम जातियो की उस प्रथा को ले सकते हैं जिसमे युवक के गौरव की गणना उसके गले मे पड़ी नरमुण्डो की माला से की जाती है। हत्याओं की सख्या उसके गौरव का मानदण्ड है। इसी गौरव के आधार पर युवतियाँ युवको का वरण करती हैं। हत्याओं की इस प्रथा मे घोर वैषम्य का दोष है। किन्तु इसे आदिम सस्कृति का एक लक्षण माना जाता है। देश देशो मे प्रचलित सभी प्रकार की प्रथाय और मनुष्य की कृतियो के सभी रूप वैषम्य से दूषित रहते हैं। इस वैषम्य का कारण प्रकृति का अतिचार और उससे प्रसूत विकृति है। भारतीय धारणा के अनुसार सस्कृति मनुष्य की कृतिमात्र नहीं है वरन् उसकी कृति का एक विशेष रूप है जो साम्य से अलकृत होता है। सस्कृति के इस रूप का प्रकृति से आवश्यक विरोध नही है। साम्य के साथ प्रकृति ही सस्कृति की रचनाओ का आधार बनती है। किन्तु प्रकृति के अतिचार और उससे प्रसूत विकृति को सस्कृति की इस धारणा के साथ सगति नहीं है। इसीलिये भारतीय सस्कृति की जीवन्त परम्परा के रूपो मे प्रकृति के अतिचार और विकृति के चिन्हो का प्राय अभाव है। किन्तु इसके विपरीत आदिम सस्कृतियो और पश्चिमी सस्कृति के अनेक रूपो म प्रकृति के अतिचार और विकृति का वैषम्य विपुलता से मिल सकता है। इस वैषम्य को समाहित कर सस्कृति की पश्चिमी धारणा कृति मात्र की द्योतक बन गई है।

सस्कृति के इस व्यापक रूप मे ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे सत्य अवश्य वर्तमान रहता है किन्तु वह जीवन का अन्तिम सत्य नहीं है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ उस सत्य की असत्यता प्रकट होती है और इस विकास के क्रम मे वह असत्य तिरोहित भी हो जाता है। आदिम जातियो की बर्बर प्रथाओ का अन्त हो रहा है। धार्मिक प्रचार साम्राज्यवाद आदि का असत्य भी अनावृत हो गया है। शान्ति और सह अस्तित्व की चतुर्मुख पुकार साम्य के अन्तिम सत्य का ही आवाहन है। साम्य के इस चरम सत्य में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। इन तीनो मूल्यो का पूर्ण साम्य ही सत्य का पूर्ण रूप है। प्रकृति के अतिचार और विकृति के विस्तार

का वैषम्य सत्य की इस पूर्णता को खण्डित करता है। **इस वैषम्य में शिव का विरोध तो स्पष्ट है।** यह वैषम्य उन लोगों के मंगल की हानि करता है जो अतिचारियों के अतिचार से पीड़ित होते हैं तथा विकृति की विडम्बनाओं से आहत होते हैं। **सौन्दर्य के साथ वैषम्य का इतना विरोध स्पष्ट नहीं है।** प्रकृति के अतिचार और विकृति के विस्तार में भी कलात्मक सौन्दर्य के रूप फलित होते दिखाई देते हैं। **'सौन्दर्य' सामान्य अर्थ में रूप का अतिशय है। रूप के अतिशय का सृजन ही कला है।** वैषम्य से भी इस कला की संगति दिखाई देती है। नर-मुण्डों की माला को भी हम अलंकार मान सकते हैं किन्तु अधिक विचार करने पर विदित होगा कि विकृति के इस बीभत्स सौन्दर्य के पीछे भी एक सीमित साम्य का आधार है। **सीमित साम्य केवल एक आभास है। वास्तविक साम्य पूर्ण और अनन्त होता है। वही शाश्वत सत्य है।** सीमित साम्य असत्य होने के कारण अन्ततः नष्ट हो जाता है।

फिर भी साम्य का यह आभास रूप के अतिशय को अवकाश देता है। रूपों की इस रचना में सौन्दर्य विभासित होता है। सीमित साम्य में सम्पन्न होने वाले सौन्दर्य के अनेक रूपों में हम वैषम्य का अभाव देख सकते हैं। जिस साम्य में इस सौन्दर्य की सृष्टि होती है वह स्वरूपतः अविषम, अतः बीज-रूप में पूर्ण, होता है। प्रायः वैषम्य का बीज सौन्दर्य की रचना में नहीं होता वरन् सामाजिक जीवन के उस अवान्तर परिवेश में रहता है जो सौन्दर्य का अनुपंग बन जाता है और सौन्दर्य में उसका उपयोग करता है। **यह एक प्रकार से सौन्दर्य के अन्तर्गत साम्य और साम्य के बहिर्गत वैषम्य का संकर है।** एक कलाकार की भावना और रचना के अन्तर्गत भी यह संकर मिल सकता है। कला के इस रूप में सौन्दर्य के साम्य में कलाकार की भावना का दोष वैषम्य संकरित हो जाता है। स्वरूपतः साम्य सौन्दर्य की सृष्टि का बीज है। वैषम्य के विकार इस बीज से अंकुरित होने वाले सौन्दर्य के पादप को नष्ट कर देते हैं। वर्तमान सभ्यता की स्थिति में कला के वास्तविक गौरव की हानि का कारण सभ्यता में बढ़ता हुआ वैषम्य ही है। **श्रेय के साथ साम्य होने पर ही सौन्दर्य स्थायी होता है। इसी साम्य से युक्त होने के कारण भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्पराएँ चिरस्थाई रहीं। वस्तुतः यह साम्य सौन्दर्य और मङ्गल दोनों का ही सामान्य तत्व है।** आन्तरिक अनुभव के रूप में वह शिवम् के आनन्द का उल्लास है। रूप के अतिशय की रचना का स्रोत बनकर वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति

का आधार बनता है। शिवम् और सुन्दरम् साम्य के इस समान बीज के दो दल हैं। साम्य के इस समान मूल्य में ही संस्कृति का अक्षयवट आरुढ होता है। साम्य का व्यापक और पूर्ण रूप ही स्थायी संस्कृति का आधार बन सकता है। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में व्यापक साम्य का आधार होने के कारण ही वह विश्व की अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा अधिक स्थायी रही। भारतीय संस्कृति में सौन्दर्य के कल्पवृक्ष शिवम् की रसाप्लुत भूमि में प्रतिष्ठित हैं। सौन्दर्य के अन्तर्गत साम्य की व्यापकता के साथ-साथ शिवम् के साथ उसका घनिष्ठ साम्य इस महिमामयी संस्कृति की सम्पन्नता और उसके स्थायित्व का मूल रहस्य है। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के घनिष्ठ साम्य के संगम पर ही इस अमृत संस्कृति का अक्षयवट स्थित है।

सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की यह त्रिवेणी मानवीय चेतना के हिमालय के शिखर से प्रवाहित होती है। मनुष्य की विकसित चेतना तीन दिशाओं में अपना विस्तार खोजती है अथवा हम यों कह सकते हैं कि त्रिपथगा के समान मनुष्य की चेतना सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के तीन लोकों में प्रवाहित होती है। सत्य मानवीय साधना का भूलोक है। यही जीवन और संस्कृति का आदि पीठ है। शिव को हम भुवर्लोक के समान कह सकते हैं। वह जीवन और संस्कृति के व्यापार और विहार का अन्तरिक्ष है जिसके अवकाश में प्राणियों का संचार एवं जीवन सम्भव होता है तथा संस्कृति के वटवृक्ष विकसित होते हैं। सुन्दरम् मानवीय साधना का स्वर्लोक है, जिसका सुदूर सौन्दर्य जीवन के क्षितिजों को अलंकृत करता है। साधना के इसी स्वर्लोक में संस्कृति के कल्पवृक्ष फलते फूलते हैं। सत्य शिव सुन्दरम् के सांस्कृतिक मूल्य मनुष्य की विकसित चेतना के ही फल हैं। चेतना के विकास के कारण मनुष्य की आकांक्षायें पशुओं की अपेक्षा अधिक बढ़ गई हैं और इन मूल्यों की साधना में अपनी पूर्ति खोजती हैं। चेतना की अभिवृद्धि के कारण ही मनुष्य पशुओं के समान केवल प्राकृतिक जीवन से संतुष्ट नहीं रह सकता। वह जीवन के प्राकृतिक आधार में सांस्कृतिक मूल्यों का अधिष्ठान करता है। सामान्य रूप से मनुष्य की यह चेतना सृजनात्मक है। चेतना का यह सृजनात्मक रूप मनुष्य की रचनाओं में चरितार्थ होता है। मानवीय संस्कृति की परम्परा मनुष्य की इसी रचना का क्रम है। प्रकृति के आधार में प्रतिष्ठित यही रचनात्मक परम्परा मानवीय जीवन की समृद्धि है जो पशुओं की तुलना में मनुष्य के जीवन को श्रेष्ठ बनाती है। मानवीय

चेतना का यह सृजनात्मक रूप तन्त्रों के अनुरूप है। तन्त्रों की चित्-शक्ति भी सृजनात्मिका है। वह विश्व के सौन्दर्य रूपों की रचना करती है। मनुष्य की चेतना उसी महाशक्ति की किरण है और उसी के अनुरूप सौन्दर्य के रूपों को प्रकाशित करती है। चेतना की रचना के ये सुन्दर रूप जीवन के प्राकृतिक आधारों में अलौकिक विभूति की प्रतिष्ठा करते हैं।

चेतना का सृजनात्मक रूप सत्य, श्रेय और सौन्दर्य में समान रूप से प्रस्फुटित नहीं होता। इसीलिये यह हमें समान रूप से रचनात्मक प्रतीत नहीं होते। किन्तु उदासीन अवगति के रूप में जो सत्य प्रकट होता है वह भी रचनात्मकता से पूर्णतः शून्य नहीं है। इतना अवश्य है कि उसमें रचनात्मक रूप इतना स्फुट नहीं है जितना कि श्रेय और सौन्दर्य में होता है। **अवगति के सत्य की अपेक्षा श्रेय और सौन्दर्य अधिक सक्रिय होते हैं क्योंकि उनमें रचना का रूप अधिक स्पष्ट होता है।** किन्तु अवगति के सत्य में जो ज्ञान का आन्तरिक प्रकाश है उसमें प्रकट होने वाले प्रत्यय बाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब मात्र नहीं हैं। उन प्रत्ययों में भी चेतना का सृजनात्मक रूप प्रकट होता है। विषयों के प्रतिबिम्ब होते हुए भी ये प्रत्यय दूसरी ओर चेतना की सृष्टि हैं। **फिर अवगति का सत्य ही सम्पूर्ण सत्य नहीं है।** सत्य के अन्य अनेक रूप हैं जो अवगति के सत्य की अपेक्षा अधिक सक्रिय हैं। सत्य के सामाजिक, धार्मिक आदि रूप इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। **सांस्कृतिक सत्य में तो श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार हो जाता है।** सत्य के सामाजिक, धार्मिक आदि रूप सक्रिय और रचनात्मक होते हैं। ये श्रेय के अधिक निकट आ जाते हैं। सत्य के इन रूपों में और श्रेय में चिन्मय भाव के साथ साथ कर्म का पक्ष भी होता है। अवगति के सत्य में स्फुट क्रिया नहीं होती। यदि कोई क्रिया होती है तो वह ज्ञान-रूप में ही होती है। अवगति में उदासीन और स्थिर प्रकाश ही प्रमुख होता है। सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक सत्य में तथा श्रेय में भाव और क्रिया का साम्य होता है। भाव भी चेतना का प्रकाश है किन्तु वह अवगति की भाँति उदासीन और स्थिर नहीं है। उसमें चेतना का उल्लास होने के साथ साथ सक्रियता भी होती है। कर्म से भाव की अभिव्यक्ति भाव को पूर्ण बनाती है फिर भी अन्ततः श्रेय में भाव की ही प्रधानता होती है, यद्यपि यह भाव अवगति के उदासीन प्रकाश की अपेक्षा अधिक उल्लसित और सक्रिय होगा। श्रेय के भाव से जिस कर्म का साम्य होता है उसका अन्वय भी अन्ततः भाव में ही होता है। वह अपना फल भाव को ही अर्पित कर

देता है तथा उसे समृद्ध और पूर्ण बनाता है। सौन्दर्य में रचनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति बाह्य रूपों में अधिक स्फुटता के साथ होती है। तन्त्रों में शिव को प्रकाश-रूप मानते हैं। श्रेय के भाव में भी प्रकाश की प्रधानता होती है। अत उसकी 'शिव' संज्ञा सार्थक है। तन्त्रों की शक्ति का नाम 'सुन्दरी' है। वह रचनात्मक अभिव्यक्ति में कृतार्थ होती है। विश्व का सौन्दर्य उसी की रचना है। मनुष्य की सौन्दर्य-रचनायें उसी शक्ति की किरण-तूलिका से निर्मित होती हैं। सौन्दर्य के इन रूपों में चेतना की रचनात्मक वृत्ति अधिक स्फुट रूप में प्रकट होती है। सत्य-शिव-सुन्दरम् की त्रिपुटी में रचनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति पूर्ण होती है।

सत्य मनुष्य की जिज्ञासा का समाधान है। सीमित अर्थ में सत्य की अवगति को ही सत्य मानते हैं। व्यापक अर्थ में सत्य मनुष्य की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य है। इस व्यापक अर्थ में वह जीवन की कृतार्थता है और उसमें श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार होता है। किन्तु सीमित और विशेष रूप में सत्य केवल तत्व का अनुसंधान है। पशुओं का ज्ञान सहज और सप्रयोजन होता है। उसमे तत्व की आकांक्षा कम और प्रयोजन अधिक होता है। मनुष्य भी अपने ज्ञान का उपयोग करता है किन्तु यह उपयोग ही ज्ञान का सर्वस्व नही है। बहुत कुछ सीमा तक ज्ञान ही मनुष्य की साधना का लक्ष्य बन गया है। मनुष्य केवल ज्ञान के लिए तत्व का अनुसंधान करता है। प्रयोजन से स्वतन्त्र रूप में भी उसके लिए ज्ञान का महत्व है। विज्ञान के अनुसंधान और दर्शनों के चिन्तन ज्ञान के ऐसे ही शुद्ध रूप हैं। विज्ञानो, दर्शनों और शास्त्रों के विस्तार मनुष्य के इसी ज्ञान के विस्तार हैं। ज्ञान के ये विस्तार जीवन में कुछ उपयोगी भी होते हैं। किन्तु उपयोग के अतिरिक्त केवल ज्ञान के रूप में भी मनुष्य इनकी महिमा को मानता रहा है। यह शुद्ध ज्ञान ही मनुष्य की विद्या की विभूति है। मनुष्य की शिक्षा में उपयोग की दृष्टि से नहीं वरन् ज्ञान की दृष्टि से ही इस विद्या की साधना होती है। उदासीन प्रतीत होते हुए भी अवगति के इस ज्ञान में मनुष्य का गहरा अनुराग रहा है। भारतीय अध्यात्म दर्शनों में आकर यह ज्ञान एक अपूर्व उल्लास और सौन्दर्य से युक्त हो गया है। इसी कारण इन दर्शनों का आध्यात्मिक सत्य जीवन के सम्पूर्ण सत्य का पर्याय बन गया है।

यद्यपि ज्ञान का जीवन में उपयोग सम्भव है और होता है फिर भी प्रयोजन से स्वतंत्र ज्ञान के प्रति भी मनुष्य का गहरा अनुराग है। व्यावहारिक जीवन की

कठिनाइयाँ होने पर इस शुद्ध और साध्य रूप ज्ञान का महत्व कम दिखाई देता है। किन्तु इन कठिनाइयों के कम होने पर इसका महत्व अधिक स्पष्ट होता है। सभ्यता के विकास मे कठिनाइयाँ और अशान्ति बढने के कारण शुद्ध ज्ञान का महत्व कुछ कम हो गया है। सभ्यता के बहिर्मुख विकास के कारण जीवन में उपयोगितावाद की वृद्धि भी हुई है। प्राचीन काल मे जब सभ्यता का बहिर्मुख विकास अधिक नही था तथा सरलता के कारण शान्ति भी अधिक थी तब, विशेषत भारतवर्ष में, ज्ञान का अपार विस्तार हुआ। **प्राचीन काल में ज्ञान का इतना विस्तार कदाचित् ही किसी देश में हुआ हो।** उपयोगिता के दृष्टिकोण से प्रयोजन के लिए भी जो ज्ञान का उपार्जन किया जाता है वह भी पूर्ण रूप से प्रयोजनशील नही होता। मूलत ज्ञान के इस रूप मे भी सत्य का अनुसधान शुद्ध ज्ञान की भाँति ही किया जाता है। बाद मे उस ज्ञान का जीवन मे उपयोग अवश्य किया जाता है। कला कौशल की शिक्षा मे भी आरम्भ मे शुद्ध ज्ञान के रूप मे ही उनका आधार जानना होता है। **जीवन के प्रयोजन में एक प्रकार से सर्वत्र ही ज्ञान का आधार अन्तर्निहित रहता है।** जीवन के व्यवहार में सहज होने पर भी ज्ञान का यह आधार असदिग्ध है। वस्तुत ज्ञान का रूप सहज ही है। चिन्तन क विमर्श मे ही, विशेषत समस्या से उत्पन्न होने पर वह अधिक सचेतन हो जाता है।

किन्तु सभी रूपों में ज्ञान के द्वारा सत्य का अनुसधान मनुष्य के जीवन की पहली विशेषता है जो उसे पशुओं से श्रेष्ठ बनाती है। बालक के जीवन में सहज और अनन्त जिज्ञासा के रूप मे सत्य की यही आकाक्षा अभिव्यक्त होती है। सभ्यता में शिक्षा का विकास और विद्या का विस्तार इसी आकाक्षा की पूर्ति के लिए हुआ है। सत्य के अनुसधान और ज्ञान के उपार्जन से मनुष्य को एक निष्कारण सतोष एव गौरव का अनुभव होता है। नीतिकारो ने विद्या को मनुष्य का भूषण और वैभव माना है। प्राकृतिक ऐतिहासिक और यथार्थ तथ्य के रूप मे भी सत्य का जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान है। इन तथ्यो का अनुसधान शुद्ध ज्ञान के तत्वानुसधान के समान ही होना है। किन्तु साथ ही इन तथ्यो के ज्ञान का जीवन मे उपयोग भी होता है। **शुद्ध ज्ञान मनुष्य की तत्वाकाक्षा की परितृप्ति करता है। इस परितृप्ति को भी हम जीवन का प्रयोजन मान सकते हैं।** ज्ञान के अन्य उपयोगी रूप जीवन को श्रेय और सौन्दर्य से पूर्ण करने म सहायक होते हैं। इनके आधार पर ही जीवन मे श्रेय और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है। उपयोगी ज्ञान में भी जिस सत्य का

अनुसंधान किया जाता है उसके स्वरूप का तात्विक निर्णय तो शुद्ध ज्ञान की कोटि में ही आता है, किन्तु उपयोग में उसका सम्बन्ध जीवन से होता है। जीवन में सत्य का यह प्रयोजन उसे श्रेय और सौन्दर्य के निकट ले आता है। किसी सीमा तक, विशेष प्राकृतिक दृष्टि से, यह सत्य स्वरूप में भी श्रेयन् होता है। सत्य के आध्यात्मिक रूपों में सत्य और श्रेय के स्वरूप को पृथक करना कठिन है। प्राकृतिक सत्य के प्राकृतिक श्रेय के अतिरिक्त उसमें आध्यात्मिक श्रेय का अनुष्ठान भी होता है जिसे 'भाव का अतिशय' कहना उचित है। आध्यात्मिक सत्य और आध्यात्मिक श्रेय एक दूसरे से अभिन्न जान पड़ते हैं। वेदान्त का ब्रह्म परम सत्य होने के साथ-साथ नि श्रेयस् भी है (शान्त शिवमद्वैत ब्रह्म—माण्डूक्य उपनिषद) शैव दर्शन में परम सत्य का नाम ही 'शिव' है। वह स्वरूप में भी मंगलमय है। यदि सृजन को सौन्दर्य का मर्म माना जाय तो सत्य और श्रेय में भी सौन्दर्य अन्तर्निहित रहता है। इसके अतिरिक्त सत्य के तथा श्रेय के विभिन्न प्रकारों में रूप के अतिशय का सौन्दर्य अनुष्ठित होता है। इस प्रकार सत्य में श्रेय के तथा सत्य और श्रेय में सौन्दर्य के अन्वय के द्वारा सत्य-शिवं-सुन्दरम् का सम्पूर्ण सत्य जीवन एवं संस्कृति में साकार होता है।

सत्य के स्वरूप में श्रेय का अन्तर्भाव तथा जीवन की मांगलिक विधियों में सत्य का उपयोग होने पर भी श्रेय के स्वरूप का विवेक किया जा सकता है। मुख्य रूप से सत्य यदि जिज्ञासा का समाधान है तो श्रेय हमारे भाव की कृतार्थता है। भाव भी चिन्मय है। किन्तु वह ज्ञान का समानार्थक नहीं है। ज्ञान बहुत कुछ उदासीन अवगति के रूप में होता है। हम उसे ग्रहणात्मक कह सकते हैं। उसमें आदान की ही प्रधानता होती है। ज्ञान अथवा अवगति चेतना का सम्पूर्ण स्वरूप नहीं है। शीघ्र ही 'ज्ञान' प्रदान के लिये आकुल होने लगता है। इस प्रदान की स्थिति में ज्ञान 'भाव' में परिणत होने लगता है। फिर भी विवेचना के लिये हमें ज्ञान में व्यक्तिगत और उदासीन अवगति को ही प्रधान मानना होगा। प्रायः अवगति के इस रूप में भी उल्लास प्रस्फुटित होने लगता है। यह उल्लास भाव का ही अंकुर है। देखने में वह व्यक्तिगत प्रतीत होता है किन्तु उसमें समात्मभाव का बीज अन्तर्निहित रहता है। इस बीज के दल भाव के अंकुर का पोषण करते हैं। 'समात्मता' भाव का प्रमुख लक्षण है और वही उदासीन अवगति के सत्य से भाव का विवेक करती है। समात्मता की स्थिति में ही चेतना में भाव साकार होता है। सत्य की अपेक्षा भाव में

साम्य और समात्म अधिक स्फुट होता है। तन्त्रों की भाषा में 'भाव' को 'शिव' कह सकते हैं। तन्त्रों में 'शिव' ही 'महाभाव' है। यह भाव ही सत्य शिव और सुन्दरम् के बीच की मध्यमणि है। भाव में जीवन की कृतार्थता का अनुभव होता है। **यह कृतार्थता ही शिव का मूल तत्व है।** भाव का यह शिवम् कर्म, व्यवहार और सम्बन्ध के अनेक रूपों में साकार होता है। सत्य के अनेक रूप इसके उपकरण बनते हैं और इसमें अन्वित होकर कृतार्थ होते हैं।

जिस प्रकार सत्य के शुद्ध और उपयोगी रूप में विवेक सम्भव है उसी प्रकार श्रेय के भी रूपों में भेद किया जा सकता है। उपयोगिता का निर्णय प्राकृतिक दृष्टिकोण से किया जा सकता है। **व्यापक अर्थ में साध्य और साधन के समस्त सम्बन्ध को उपयोगी कहा जा सकता है।** साधन का उपयोग साध्य के लिए है। साध्य मुख्य है और साधन गौण है। साधन का मूल्य साध्य पर निर्भर है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बहुत दूर तक साधन और साध्य का भेद किया जा सकता है किन्तु अन्त में जाकर यह भेद विलीन हो जाता है और हम ऐसी अन्तिम स्थिति पर पहुंचते हैं जहां साध्य और साधन अभिन्न हो जाते हैं अथवा हम यों कह सकते हैं कि साध्य ही शेष रह जाता है। उदाहरण के लिये वेदान्त में जिस ज्ञान को ब्रह्म प्राप्ति का साधन माना जाता है वह स्वरूपतः साध्य से भिन्न नहीं है। यही शान्ति, आनन्द समत्व आदि के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जो ब्रह्म के लक्षण माने जाते हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में साध्य और साधन का भेद करना कठिन है। इसीलिये वेदान्त में 'तत्वमसि' की तात्विक स्थिति को एक सनातन सत्य माना जाता है। इस मान्यता में साधन का प्रसंग केवल एक उपचार मात्र रह जाता है।

साध्य और साधन के सम्बन्ध के अतिरिक्त उपयोगिता के निर्णय का एक दूसरा मार्ग भी है। **यह मार्ग 'अतिशय' की धारणा पर आश्रित है।** उपयोगिता की कल्पना अतिशय के साथ संगत नहीं है, वरन् उसके विपरीत है। उपयोगिता में मितव्ययता का दृष्टिकोण रहता है। **अल्पतम साधन से अधिकतम फल अथवा किसी फल के लिये अल्पतम साधन का उपयोग उपयोगितावादी दृष्टिकोण की विशेषता है।** जीवन के व्यवहारों और संस्कृति के रूपों में जहां कहीं अतिशय दिखाई देता है उसे इस दृष्टि से *निरुपयोगी* कहा जा सकता है कि वह केवल उपयोग में ही सीमित नहीं है। **व्यवहार में यह अतिशय मानवीय सम्बन्धों का 'भाव' बन जाता है और कला के क्षेत्र में भी वह 'सौन्दर्य' का रूप ग्रहण करता है।** साधन के अल्पतम

परिमाण में स्वरूपतः स्वार्थ का भाव आवश्यक नहीं है किन्तु जीवन के व्यवहार में प्राय उपयोगिता के साथ स्वार्थ का सम्बन्ध रहता है। भाव में अतिशय के साथ साथ एक दूसरा लक्षण यह भी होता है कि उसमें स्वार्थ की सीमाएं विलीन हो जाती हैं। स्वार्थ के अतिक्रमण और भाव के अतिशय का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वार्थ एक प्राकृतिक भाव है। अतः भाव के अतिशय को आध्यात्मिक कहना उचित होगा।

इस विश्लेषण की भूमिका में जीवन के श्रेय के दो रूप प्रकट होते हैं। एक को हम उपयोगी, प्राकृतिक और स्वार्थमय कह सकते हैं तथा दूसरे को आध्यात्मिक कहा जा सकता है। आध्यात्मिक श्रेय भाव का अतिशय ही है। प्राय दर्शन के ग्रन्थों में इसे व्यक्तिगत माना गया है। किन्तु सत्य यह है कि वह व्यक्तिभाव से अतीत है। दार्शनिक विवेचन में उसे व्यक्ति का लक्ष्य कहना केवल भाषा की सीमा है। किन्तु वस्तुतः वह व्यक्तिभाव से अतीत है। व्यवहार में वह समात्मभाव से सम्पन्न होता है। 'भाव का यह अतिशय' एकाधिक व्यक्तित्वों के आन्तरिक साम्य में एक अपूर्व उल्लास के रूप में उदित होता है। यह उल्लास आनन्द की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक भाव के रूप में श्रेय इसी उल्लास और आनन्द से परिप्लुत रहता है और वह समात्मता की स्थिति में चरितार्थ होता है। प्राकृतिक और उपयोगी श्रेय स्वार्थ में भी सम्पन्न हो सकता है किन्तु स्वार्थ में भी वह प्राय सुखमय होता है। सुख और आनन्द दोनों ही प्रिय अनुभव हैं। इन दोनों में प्राय भेद नहीं किया जाता। किन्तु यदि अभीष्ट है तो यही भेद सम्भव है कि सुख स्वार्थमय और प्राकृतिक है तथा आनन्द आध्यात्मिक और समात्मभाव से पूर्ण है। प्राकृतिक होने के कारण सुख शारीरिक और ऐन्द्रिक है। इन्द्रियां आनन्द का भी उपकरण बन सकती हैं किन्तु आनन्द इन्द्रियों के प्राकृतिक और व्यक्तिगत अधिष्ठान में ही सीमित नहीं है। आनन्द में स्वार्थ का अतिक्रमण होने के कारण इन्द्रियों का भी अतिक्रमण होता है। दर्शन की भाषा में आत्मा को ही उसका अधिष्ठान मान सकते हैं। प्राकृतिक सुख और आध्यात्मिक आनन्द दोनों ही जीवन को कृतार्थ बनाते हैं। दोनों का जीवन में अपना अपना स्थान है। प्रकृति का अतिचार प्रकृति और अध्यात्म दोनों की हानि करता है। दोनों का सामंजस्य व्यक्ति के पूर्ण मंगल का निर्माण करता है। उपकरण के भेद से दोनों के अनेक भेद हो सकते हैं। सभ्यता के इतिहास में मनुष्य दोनों की साधना में तत्पर रहा है। श्रम और दुःख अपने आप में अभीष्ट नहीं हैं। उनके मार्ग में जो कृतार्थता

प्राप्त होती है उसमे किसी न किसी रूप मे सुख अथवा आनन्द वर्तमान रहता है।

अस्तु, सुख अथवा आनन्द के द्वारा जीवन की कृतार्थता को लक्षित करने वाले **जीवन के अनेक रूप उपकरणो को हम श्रेय अथवा शिव के अन्तर्गत मान सकते है।** इसमे जीवन के भौतिक उपादान लौकिक कर्म, सास्कृतिक सम्बन्ध, धार्मिक आचार आध्यात्मिक भाव आदि सम्मिलित हैं। ज्ञान की उदासीन अवगति के विषय बनकर जीवन के भौतिक उपादान प्राकृतिक सत्य कहलाते हैं। किन्तु जीवन के रक्षक और उपकारक बन कर वे जीवन के 'प्राकृतिक श्रेय' बन जाते हैं। प्रकृति मनुष्य के जीवन का आवश्यक आधार है। प्रकृति की भूमि मे ही कला, सस्कृति, धर्म और अध्यात्म के कल्पवृक्ष फलते फूलते हैं। प्रकृति अपने सीमित रूप मे बहुत कुछ निर्दोष है। प्रकृति का अधिष्ठान व्यक्ति की इकाई है। इन इकाइयो मे सघर्ष होने पर ही दोष उत्पन्न होते हैं। पशुओ मे 'जीवो जीवस्य भक्षणम्' के रूप मे यह सघर्ष और दोष दिखाई देता है। पशुओ मे यह सघर्ष जीवन की समृद्धि के लिये नही है वरन् जीवन के केवल रक्षण एव पालन के लिये भी है। दूसरे पशु-समाज मे यह सघर्ष प्राय एक जाति का दूसरी जाति के साथ होता है। एक ही जाति के अन्तर्गत पशुओ मे बहुत कम सघर्ष दिखाई देता है। चेतनाओ की मन्दता और आकाक्षाओ की कमी भी इसका कारण हो सकती है।

मनुष्य जाति के अन्दर जो असीम सघर्ष पैदा हुए हैं उसका कारण आकाक्षाओ की वृद्धि ही है। इस वृद्धि का कारण चेतना का उत्कर्ष है। किन्तु मनुष्य जीवन में आकाक्षाओ की वृद्धि ने असीम सघर्ष उपस्थित कर प्रकृति की नैसर्गिक सीमा और उसके सहज साम्य को भग कर दिया है। **चेतना की वृद्धि का सौभाग्य मनुष्य का दुर्भाग्य बन गया है।** इस दुर्भाग्य से मनुष्य की प्रकृति विक्षुब्ध रहती है। इस विक्षोभ से व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मे अनेक सताप उत्पन्न होते हैं। प्रकृति के इसी परिणाम के कारण धर्म, दर्शन और अध्यात्म के आचार्य प्रकृति की भर्त्सना करते रहे हैं। कुछ सम्प्रदायो मे प्रकृति को मिथ्या अथवा माया माना गया है। इसका उद्देश्य भी प्रकृति को हेय बनाना है। इन आचार्यो का यह विश्वास रहा है कि इस विक्षोभकारी प्रकृति से पराङ्मुख होकर ही मनुष्य शान्ति और श्रेय की प्राप्ति कर सकता है। जिन आचार्यो ने प्रकृति को मिथ्या अथवा माया नही माना है उन्होने भी उसकी निन्दा की है तथा प्रकृति के परिहार को कल्याण का मार्ग माना है।

इन सभी आचार्यों के मत में प्रकृति की विडम्बनाओं से परे शान्तिपूर्ण और आनन्दमयी स्थिति ही कल्याण का परम स्वरूप है। इनके मत में प्रकृति इस आत्मिक कल्याण की साधना में बाधक है। इन आचार्यों का यह मत मनुष्य जीवन में प्रकृति के अतिचारों से प्रभावित है। किन्तु प्रकृति के ये अतिचार प्रकृति के मौलिक रूप नहीं हैं। अपने मौलिक स्वरूप और सीमाओं में प्रकृति बहुत कुछ साम्य से युक्त है। प्रकृति का यह साम्य सभी प्रकार के श्रेयों का सहयोगी बन सकता है। प्रकृति के अतिचार का कारण मनुष्य की वे दुर्दम्य आकांक्षायें हैं जो प्रकृति और चेतना के संयोग से उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य की इन आकांक्षाओं का समाधान ही सभ्यता और संस्कृति की सबसे विकट समस्या है। इस समाधान के सम्भव होने पर जीवन के सांस्कृतिक और आध्यात्मिक श्रेय सम्भव हो सकते हैं। प्रकृति इनकी साधना का पवित्र पीठ बन सकती है। प्रकृति के इस पवित्र पीठ में प्रतिष्ठित श्रेय के कल्पवृक्ष में सौन्दर्य के अनन्त वसन्त भी निरन्तर खिल सकते हैं।

प्रकृति का यह समाधान ही कल्याणमयी संस्कृति का एक मात्र मार्ग है। इसी मार्ग के दोनों ओर सौन्दर्य और श्रेय की वृक्षमालाएं संस्कृति के स्वर्ग की वन्दनवार बन सकती हैं। इसके विपरीत प्रकृति के दमन अथवा परिहार का जो मार्ग धर्म एवं दर्शनों में अपनाया गया है वह जीवन की सफलता का मार्ग नहीं बन सका। इस मार्ग से प्रकृति के अतिचारों से मुक्ति नहीं मिल सकी। मायावी छद्म-वेषों में प्रकट होकर इन अतिचारों ने धर्म के धुरन्धरों और उनके अनुयायियों को विमोहित कर दिया तथा दोनों की धारणा को भ्रान्त एवं उनकी साधना को निष्फल बनाया। इसी भ्रान्ति और निष्फलता की विडम्बनाएं अधिकांश धर्म-सम्प्रदायों का इतिहास हैं। इस विडम्बना के स्थान पर संतोष और सद्भाव के द्वारा श्रेय और सौन्दर्य के साथ-साथ प्रकृति का समन्वय मानवीय संस्कृति का सर्वोत्तम मार्ग है। इस समन्वय के मार्ग की प्रतिष्ठा कर इसे राजमार्ग बनाने का प्रयास तो कदाचित् किसी भी आचार्य ने नहीं किया। किन्तु मनुष्य समाज का साधारण वर्ग यथा सम्भव इसी मार्ग पर चलने का प्रयास करता है। सामाजिक जीवन में प्रकृति का अतिचार भी बहुत है, फिर भी सामान्यतः मर्यादित प्रकृति की ही प्रधानता है। मर्यादा के मार्ग पर चलने वाले साधारण वर्ग का अपराध केवल इतना रहा है कि उसने समर्थता के साथ अतिचार को समझने और रोकने का प्रयत्न नहीं किया। आज मनुष्य समाज के इसी पाप के फल फलित हो रहे हैं। इसी अपराध के फल से

सामाजिक जीवन मे अतिचार की उच्छृखलता असीम होती जा रही है और राजनैतिक जीवन मे यह अतिचार मनुष्य जाति के विनाश की आशकाओ से आतकित कर रहा है।

प्रकृति के अतिचारो के ये परिणाम अत्यन्त शोचनीय हैं किन्तु अपने स्वरूप और अपनी मर्यादा मे 'प्रकृति' निसर्ग का एक अनुपम वरदान है। इस वरदान की विभूति से मनुष्य का जीवन स्वर्ग के समान दिव्य और आनन्दमय बन सकता है। प्रकृति की सहज व्यवस्था मनुष्य को कितने आयास, उद्योग और चिन्ता से मुक्त बनाकर सास्कृतिक स्वर्ग के निर्माण का अवकाश देती है, इसकी पूर्ण कल्पना करना कठिन है। इसके अतिरिक्त प्रकृति की इस सहज व्यवस्था मे कितना सुख और कितनी कृतार्थता है यह सभी को अपने अनुभव से विदित होता है। अतिचार मे प्रकृति का यह सुख विलास बन जाता है। प्रकृति के परिहार का दम्भ करने वाले प्राय इस अतिचार के दोषी बने हैं। **किन्तु अपनी मर्यादा में यह प्रकृति सस्कृति के प्रासाद का आधारपीठ है।** सामाजिक और सास्कृतिक जीवन मे अतिचार के साथ साथ इस मर्यादा का पालन भी बहुत मिलता है। भारतीय साहित्य और भारतीय सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे प्रकृति के पीठ पर निर्मित सौन्दर्य के वैजयन्त की शाभा अवलोकनीय है। कला और काव्य मे जहा प्रकृति के विलास की विपुलता है वहा प्रकृति की मर्यादा मे सस्कृति और अध्यात्म के स्वर्ग की प्रतिष्ठा भी बहुत मिलती है। कालिदास के शृगार और विलास मे भी इस स्वर्ग की आभा तिरोहित नही हुई है। वाल्मीकि, तुलसीदास, प्रसाद और रवीन्द्र मे यह आभा और भी अधिक उज्ज्वल है। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे जीवन के इस अलौकिक स्वर्ग की आभा सबसे अधिक पवित्र और उज्ज्वल रूप मे प्रकाशित होती रही है। **भारतीय परम्परा के पर्वो और सस्कारो में प्रकृति और अध्यात्म का जो अद्भुत समन्वय मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।** इस समन्वय मे सस्कृति का श्रेय और सौन्दर्य प्रकृति मे सगत होकर जीवन की दिव्य विभूति बन गया है। प्रकृति के समस्त उपकरणों में समात्मभाव तथा भाव और रूप के अतिशय को अन्वित कर सस्कृति की यह परम्परा मगलमय जीवन का दिव्य मार्ग बनी है।

भाव का यह अतिशय ही जीवन के श्रेय और शिव का मर्म है। प्रकृति मे अतिशय नही होता अत अध्यात्म को ही भाव के अतिशय का आधार मानना होगा।

उपयोगी होने के साथ साथ प्रकृति स्वार्थमय है। उसके व्यवहार और फल का अधिष्ठान व्यक्ति की इकाई ही है। अध्यात्म के भाव मे इकाई की ये सीमाएँ विलीन हो जाती हैं। इन सीमाओ के विलय मे ही भाव का वह अतिशय उदित होता है जो सास्कृतिक जीवन को आनन्द और सौन्दर्य मे परिपूर्ण करता है। **भाव का यह अतिशय ही शिवम् है।** इससे युक्त होकर धन, सम्पत्ति, व्यवसाय, काम आदि जीवन के समस्त प्राकृतिक उपकरण सर्वोत्तम मगल के साधक बन जाते हैं। इस अन्वय मे एक ओर प्रकृति के व्यवहार अपने आप मे अत्यन्त सुखकारक होते हैं तथा दूसरी ओर सस्कृति के सौन्दर्य और आनन्द मे अपार योग देते हैं। प्रकृति और अध्यात्म का यही समन्वय शक्ति और शिव के साम्य की भाति जीवन के महनीय मगल का सयुक्त सूत्र है।

यदि 'शिव' का सर्वोत्तम रूप 'भाव का अतिशय' है तो 'रूप का अतिशय' सौन्दर्य का मर्म है। सस्कृत भाषा मे 'रूप' सौन्दर्य का पर्याय है। सामान्य अर्थ मे समस्त रूप ही अतिशय है। अत समस्त रूप सौन्दर्य का कारक है। उपयोग का प्रयोजन पदार्थ के रूप से नही वरन् तत्व से अधिक होता है। बाह्य और वन्य प्रकृति के प्रसग मे जहा हमारा निरुपयोगिता का भाव रहता है वहाँ हमे सौन्दर्य दिखाई देता है। उपयोगिता का भाव न होने पर हमे रूप मे अतिशय दिखाई देता है। यह अतिशय ही शिव के भाव और रूप के सौन्दर्य दोनो का रहस्य है। इस अतिशय मे आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। **आन्तरिक अभिव्यक्ति को 'भाव' और बाह्य अभिव्यक्ति को 'रूप' कहते हैं।** आन्तरिक अभिव्यक्ति मे अन्तर्मुख चेतना प्रमुख होती है। बाह्य अभिव्यक्ति मे भी इसका सश्लेष रहता है। किन्तु इसके साथ-साथ इस अभिव्यक्ति का रूप मनुष्यो के परस्पर सवाद का अवलम्ब भी बनता है। भाव की अभिव्यक्ति मे भी एक अलक्ष्य सवाद रहता है। किन्तु रूप का सवाद अधिक स्फुट होता है। तन्त्रो की भाषा मे हम भाव को 'शिव' अथवा 'प्रकाश' कह सकते हैं तथा रूप को 'शक्ति' अथवा 'विमर्श' कह सकते हैं। तन्त्रो की शक्ति 'सुन्दरी' कहलाती है। वह सौन्दर्य के रूपो का विधान करती है। निस्सदेह इस रूप के विधान मे भाव का समवाय रहता है। यही तन्त्रो का अभीष्ट शक्ति और शिव का साम्य है। शक्ति-सुन्दरी की सौन्दर्य सृष्टि के अनुरूप ही मनुष्य की सौन्दर्य-रचना को समझना होगा। मनुष्य तत्व की सृष्टि नही करता। तत्व के उपादान उसे निसर्ग से प्राप्त होते हैं। **मनुष्य की रचनायें इन प्राप्त तत्वों**

में ही नवीन रूपो का विधान करती है। रूपों की यह रचना ही मनुष्य की सौन्दर्य-सृष्टि है। भाव के शिव के समान रूप रचना के सौन्दर्य के प्रति भी मनुष्य का सहज अनुराग है। इसी अनुराग से प्रेरित होकर मनुष्य आदि काल से सौन्दर्य के रूपो की रचना करता आया है। सौन्दर्य की इसी सृष्टि को 'कला' कहा जाता है। यह कला सस्कृति का एक अग मानी जाती है, यद्यपि दोनो मे कुछ अन्तर भी है। सभ्यता के विकास म कला' जीवन का एक स्वतन्त्र अग वन गई है। किन्तु सस्कृति की परम्परा म हम उसे जीवन के साथ समवेत रूप मे पाते हैं। कला का स्वतन्त्र रूप भी जीवन से पूर्णत पृथक नही होता। किन्तु इतना अवश्य है कि कला का यह विशेष रूप जीवन म व्यापक नही वनता तथा जीवन के सामान्य उपकरणो मे अन्वित नही होता।

सभ्यता की परम्परा मे जहा एक ओर स्वतन्त्र और विशेष कलाओ का विकास हुआ है वहा दूसरी ओर जीवन के व्यवहारो और उपकरणो मे भी कलात्मक सौन्दर्य का अन्वय हुआ है। इसके साथ साथ कलाओ ने जीवन के तत्वो को अपना विषय वनाया है। जीवन के उपकरणो का अवलम्ब ग्रहण करके ही कलाओ के रूप साकार हुए हैं। शुद्ध रूप की कलाओ का प्रचार और उनकी प्रतिष्ठा कम है। कलाओं का यह क्रम सस्कृति के क्रम के विपरीत है। कलाओ के रूप जीवन के उपकरणो को अवलम्ब वनाकर साकार होते हैं। इसके विपरीत सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे जीवन के उपकरणा म सौन्दर्य का अनुष्ठान होता है। समान प्रतीत होते हुए भी इन दोनो क्रमो मे एक मौलिक भेद है जिसे कला और सस्कृति के विवेचनो मे स्पष्ट रूप से वहुत कम समझा गया है। कलाओ के अनेक रूप हैं। कलाओं के ये भेद उनके माध्यमो के भेद पर अवलम्बित हैं। कला के सभी रूपो में रूप का अतिशय सौन्दर्य की सृष्टि करता है। सामान्यत जीवन के उपकरणो मे कला के ये रूप साकार होते हैं। सभी कलाओ की अपनी विशेषताय है। चित्र कला मे दृश्य प्रभाव अधिक होता है। स्फुट रूप मे साक्षात् होने के कारण वह अधिक प्रभावशाली होता है। सगीत म भाव प्रवणता अधिक है। नृत्य मे गति का वैभव अधिक होता है। काव्य की अर्थ सम्पत्ति सवसे अधिक विशाल होती है। रूप की रचना होने के कारण कलाओ मे नवीन रूपा की सृष्टि होती है। जीवन के उपकरणों मे रूप का अनुष्ठान होने के कारण सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे रचना की नवीनता नही होती वरन् रूप की आवृत्ति की परम्परा प्रतिष्ठित होती है। किन्तु

इन सभी रूपों में सौन्दर्य की विपुल विभूति जीवन को अर्चित करती है। सत्य और श्रेय के विविध रूपों की भाँति मनुष्य युग-युग से सौन्दर्य के इन अनेक रूपों की आराधना करता रहा है। कला, भक्ति, अध्यात्म आदि के अनेक रूपों में सत्य, श्रेय और सौन्दर्य के सगम हिमाचल प्रदेश के गगा पथ की भाँति अनेक पुण्य प्रयागों की रचना करते हैं। इन्हीं सगमों में संस्कृति की साधना का अक्षयवट अमर है।

अध्याय ४

सत्यं शिवं सुन्दरम् का स्वरूप

सत्य शिव सुन्दरम् मानवीय जीवन और संस्कृति के मौलिक तथा चरम सत्य माने जाते हैं। जिज्ञासा, भावना और क्रिया की जिस त्रिपथगा मे मानवीय चेतना का प्रस्फुटन हुआ है उसका समाधान इन तीनों मूल्यो में होता है। अनुसधान की अनेक दिशाओ म जो जिज्ञासा प्रवृत्त होती है, वह सत्य के अवगम मे कृतार्थ होती है। प्रेय की कामना मे जो भावना तन्मय होती है, वह सुन्दरम् की अभिव्यक्ति मे अपनी परिणति प्राप्त करती है तथा श्रेय की साधना मे जो क्रिया प्रवृत्त होती है वह शिव की सिद्धि मे चरितार्थ होती है। सत्य, शिव और सुन्दरम् की इस त्रिवेणी के सगम पर ही मानवीय सस्कृति का अक्षय वट स्थित है।

विज्ञानो और दर्शनो मे सत्य का अनुसधान होता है। शिवम् और सुन्दरम् को भी जिज्ञासा का विषय मानकर आचार शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र मे उनके स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। तत्व जिज्ञासा का विषय बनकर शिवम और सुन्दरम् भी सत्य के समकोटि बन जाते हैं। किन्तु वस्तुत प्रकृति के दृश्यो तथा कला और काव्य के विविध रूपो मे सौन्दर्य साकार होता है। व्यवहार और सस्कृति के सक्रिय तथा साक्षात् रूपो मे शिव चरितार्थ होता है।

जीवन और सस्कृति का सम्पूर्ण रूप अत्यन्त व्यापक, जटिल और समृद्ध है। अत सत्य, शिव और सुन्दरम् के अनेक रूपो, श्रेणियो और धरातलो मे इन मूल्यो के तत्व विवृत होते हैं। दर्शन, आचार शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र मे अनेक मतो, सिद्धान्तो और विवादो का यही कारण है। वस्तुत इन तीनो के इतिहास मे तीनो मूल्यो का जटिल और समृद्ध रूप क्रमश अनावृत हुआ है।

सत्य-शिव-सुन्दरम् के सम्बन्ध म इस ऐतिहासिक मतभेद के कारण यह आवश्यक है कि इनके मूल स्वरूप का निर्धारण किया जाय। यह स्पष्ट है कि यह निर्धारण दर्शन की कोटि मे होने के कारण तथा तीनो के स्वरूप के विषय मे हमारी जिज्ञासा का समाधान होने के कारण सत्यम् के साथ शिवम् और सुन्दरम् को भी समान कोटि मे ले आता है। इसी प्रकार जीवन के जिन सिद्धान्तो को सत्य कहा जाता है, वे

व्यवहार मे चरितार्थ होकर शिव की कोटि मे आजाते हैं तथा कला और सस्कृति मे साकार होकर वे सुन्दर बन जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह नही है कि सत्य, शिव और सुन्दरम् का कोई अपना स्वरूप अथवा लक्षण नही है। इसका आशय केवल इतना है कि इन तीनो के अनेक उपलक्षण हैं। दर्शनो मे सत्य के स्वरूप की अनेकविध स्थापनाएँ मिलती हैं। व्यवहार और आचार-शास्त्र मे शिव की साधना तथा कल्पना अनेक रूपो मे होती है। कला, सस्कृति, साहित्य और सौन्दर्य-शास्त्र मे सुन्दरम् की अभिव्यक्ति तथा आराधना अनेक रूपो मे हुई है।

यह स्पष्ट है कि ये सभी रूप एकत्र करके इन मूल्यो के पूर्ण रूप का निर्माण नही किया जा सकता। इन रूपो मे सदा सगति नही मिलती। प्राय इनमे विरोध भी मिलता है। अत सबका समन्वय करके मूल्यों के सम्पूर्ण रूप का प्रकल्पन कठिन है। विरोधी तत्वो का समाहार कल्पना को असम्भव और असत्य बना देता है। अत अनेकरूप कल्पनाओ की सगति और उनके साथ समन्वय के द्वारा ही मूल्यो के पूर्ण रूप की प्रकल्पना की जा सकती है। इस प्रकल्पना मे मूल्यों के अनेक रूपो का सगत अश ही ग्रहण किया जा सकता है। असगत अशो का त्याग अथवा रूपान्तर अपेक्षित होगा। इसके अतिरिक्त इस समन्वय के एक मूल सिद्धान्त को भी खोजना होगा। यह मूल सिद्धान्त उन व्यापक सूत्र की भाति होगा, जिसमे एक मूल्य के अनेक-विध रूप पिरोये जा सके। यही मूल-सूत्र-सिद्धान्त प्रत्येक मूल्य का वास्तविक स्वरूप और लक्षण होगा। इसमे पिरोये हुए अनेक-विध रूप-कुसुम इन मूल्यो के उपलक्षण तथा मूर्त और सजीव आकार होगे।

जीवन और जगत मे जो अनेक-रूप तत्व मिलते हैं, उन सब का समाहार भाव और क्रिया दो वर्गों के अन्तर्गत किया जा सकता है। भाव का मूल अर्थ सत्ता अथवा अस्तित्व है। जो कुछ भी 'है' वह 'भाव' द्वारा अभिधेय है। एक प्रकार से क्रिया भी भाव है। किन्तु क्रिया एक गतिशील भाव है। वह सत्ता और गति से समन्वित है। भाव और क्रिया को हम स्थिति और गति कह सकते हैं। ये जीवन और जगत के मूल तत्वो के वही दो वर्ग हैं, जिनका सकेत वेद मे 'ऋत च सत्य च' के द्वारा किया गया है। 'सत्य' भाव अथवा स्थिति है। 'ऋत' उसका गति तथा क्रिया से अन्वित रूप है।

भाव के अन्तर्गत सत्ता और स्थिति के अनेक रूप हैं। प्राकृतिक वस्तुएँ, व्यवस्थाएँ, सामाजिक स्थितियाँ, विज्ञान के नियम, मन के तथ्य, दर्शन के सिद्धान्त आदि सत्ता के अनेक रूपो मे भाव की विवृति होती है। वस्तु और व्यवस्थाओ की सत्ता को हम 'तथ्य' कह सकते हैं। मनोगत भाव भी इसमे आ सकते हैं। वे मानसिक तथ्य हैं। तथ्यो की व्यवस्था और व्याख्या के अन्तर्गत नियमो को 'सिद्धान्त' कहा जा सकता है। विज्ञान के नियम यथार्थ सिद्धान्त अथवा सामान्य और वास्तविक तथ्य हैं। शास्त्रों और दर्शनो के विधान आदर्श सिद्धान्त अथवा जीवन की प्रेरणा के सामान्य और सम्भव सूत्र हैं।

क्रिया के अन्तर्गत प्रकृति के तत्वो, वस्तुओ और व्यक्तियो की समस्त गतियाँ समाहित हैं। प्राकृतिक प्रक्रियाएँ और प्रवृत्तिया नैसर्गिक गतियाँ हैं। जीवन और सस्कृति की अन्य क्रियाओ मे चेतना की प्रेरणा और उसका निर्देश रहता है। नैसर्गिक गतियो को हम 'नियति' कह सकते हैं, क्योकि वे अनिवार्य हैं। इसके विपरीत चेतना से प्रेरित गतियो मे आपेक्षिक स्वतन्त्रता रहती है। नियति से भेद करने के लिये हम इसे 'कृति' कह सकते हैं।

इस कृति में ही सस्कृति का बीज है। इसी कृति में अन्वित होकर जीवन के 'सत्य' सुन्दरम् में साकार और शिवम् में चरितार्थ होते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि कृति ही जीवन और जगत का सबसे बडा सत्य है। इसी कारण अनेक दार्शनिक चरम सत्ता को सृजनात्मक मानते हैं। चरम सत्ता को निश्चल और निष्क्रिय मानने वालो ने अपने लिए अनेक अनावश्यक उलझने पैदा करली हैं। सत्ता निष्क्रिय भाव है। सृजन उसकी क्रियात्मक विवृति है। विश्व के अणुओ और मण्डलो की निरन्तर गतिशीलता तथा जीवन की क्रियाशीलता को देखते हुए सृजन ही सत्य का मौलिक रूप प्रतीत होता है।

भाव और क्रिया, स्थिति और गति, सत्य और ऋत, सत्ता और सृजन अथवा सत्ता की सृजनात्मक विवृति सत्य का निरपेक्ष स्वरूप है। सत्य अपने आप में सत्ता का सृजन है। ज्ञान-सापेक्ष बनकर मनुष्य की चेतना में 'अवगति' के रूप में उसकी अवतारणा होती है। जगत में सत्ता और गति तथा जीवन में कृति और अवगति ही सत्य के स्वरूप-लक्षण है। 'अवगति' चेतना में सत्य के स्वरूप का अनावरण है। इस अवगति मे जगत और जीवन का रहस्य आलोकित होता है। इस आलोक में एक अपूर्व उल्लास है। इस उल्लास का मर्म यह है कि अवगति भी एक प्रकार की

आत्मगत सृजनात्मक क्रिया है। इसी मर्म मे दर्शन के समस्त विज्ञानवादो का बीज है।

अवगति मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद होते हुए भी दोनो मे एक प्रकार के तादात्म्य की स्थापना होती है। सृजनात्मक कृतित्व के साथ-साथ यह ज्ञान-गत अद्वैत भी उल्लास का रहस्य है। सत्य की अवगति के इसी उल्लास मे शिवम् और सुन्दरम् का बीज अकुरित होता है। अवगति के अद्वैत का तादात्म्य एक अन्तर्गत आत्म-विस्तार है। यही उपनिषदो के 'भूमा' की भूमिका है। यह आत्म-विस्तार चेतना की एक निरन्तर वर्धनशील वृत्ति है। इसीलिए दर्शन की इन विज्ञानवादी स्थापनाओ का अन्त अनन्त ब्रह्म मे होता है। तादात्म्य के आत्म-विस्तार का उल्लास व्यक्ति चेतना का वह वर्धनशील बिन्दु है, जिसमे आनन्द का सागर उमडता है।

अवगति के तादात्म्य और आत्म-विस्तार की भूमिका में सत्य के बीज में शिव और सुन्दरम् के दल प्राकुटित होते है। जिस प्रकार जिज्ञासा और अनुसधान के विषय बनकर शिवम् और सुन्दरम् सत्य के समकोटि बन जाते है, उसी प्रकार अवगति में गृहीत निरपेक्ष सत्य उल्लास में स्फुरित होकर शिवम् और सुन्दरम् में परिणत होने लगता है। इससे यही सकेत मिलता है कि सत्य के पूर्ण रूप मे शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और वैष्णव वेदान्तो के परमेश्वर का स्वरूप ऐसा ही है। चेतना की त्रिवेणी का सगम सत्य के ऐसे समग्र रूप मे ही हो सकता है।

फिर भी दार्शनिक विवेक के लिए सत्य, शिव और सुन्दरम् के रूप पृथक किये जा सकते हैं। सत्ता और गति तथा कृति और अवगति सत्य के इस विविक्त स्वरूप की चार कोटियाँ हैं। इस अवगति का उल्लास अभिव्यक्ति बनकर सुन्दरम् को जन्म देता है। सत्य की भाँति सुन्दरम् का भी निरपेक्ष और वस्तुगत स्वरूप है। सौन्दर्य शास्त्र मे सामजस्य आदि अनेक प्रकार से इस स्वरूप का विवेचन किया गया है। सुन्दरम् का यह निरपेक्ष और वस्तुगत रूप उसे सत्य की कोटि मे ही रखता है। इसका निरूपण अवगति मे पर्यवसित होता है। किन्तु मनुष्य की चेतना इस अवगति मात्र मे पूर्णत कृतार्थ नही होती। इसीलिए निरपेक्ष सत्य की अवगति भी उल्लास मे स्फुरित हो उठती है। 'अवगति' सत्य का दर्शन है। 'उल्लास' उसका सचेतन बन्धुओं को वितरण और विभाजन है। प्राकृतिक विभाजन के विपरीत चेतना का यह विभाजन आत्म-विस्तार की विवृद्धि है।

सत्य और चिति तथा आनन्द की पूर्णता की यही प्रणाली है। इसका प्रमाण यह है कि अपने निःश्वास से वेदो के ज्ञान का सहज उद्भव करके और अपनी दृष्टि से अनायास उद्भूत सत्ता को रूप देकर भी परब्रह्म की आत्म-विवृत्तिपूर्ण नही हुई तथा स्मिति के मन्द उल्लास द्वारा चराचर जीवो की सृष्टि मे उसका विकास हुआ। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि जीवो, विशेषत मनुष्यो, के आन्तरिक तादात्म्य और आत्मविस्तार के आनन्दमय जीवन मे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म की आत्म-विवृति की परिणति होती है।

तादात्म्य के आत्म-विस्तार की यही परिणति शिवम् और सुन्दरम् है। वेदान्त दर्शन मे इसी अद्वैत भाव को 'शिवम्' माना गया है। शक्ति-तन्त्रो मे इसके 'सुन्दरम्' की प्रतिष्ठा हुई है। ब्रह्म-विवृत्ति की इसी पूर्णता के निमित्त भगवान शकराचार्य को प्रस्थानत्रयी पर विशाल भाष्यो का निर्माण करने के बाद 'सौन्दर्य-लहरी' की रचना करनी पडी। शृगेरी के वेदान्त-पीठ मे श्री-चक्र की स्थापना का भी यही रहस्य है।

वेदान्त मे सन्यास और आचार की प्रधानता के कारण अद्वैत-भाव मे 'शिव' ही प्रधान है। **जिस प्रकार अभिव्यक्ति 'सुन्दरम्' का स्वरूप है, उसी प्रकार 'शिवम्' का स्वरूप आत्मदान है। आत्मदान चेतना का अनुग्रह है; अभिव्यक्ति चेतना का आमन्त्रण है।** अभिव्यक्ति चेतना की भाव-सम्पत्ति में भाग लेने के लिये अन्य आत्मीयो को आमत्रण के रूप मे फलित होती है। आत्मदान अन्य आत्मीयो की भाव-सम्पत्ति मे अपनी चेतना की विभूति का योग देकर अनुग्रहीत होता है। आमत्रण का विभाजन और आत्मदान का समर्पण दोनो ही चेतना की भाव-सम्पत्ति को समृद्ध बनाते हैं। यह आध्यात्मिक मूल्यो की विवृति का अद्भुत रहस्य है। पूर्ण से पूर्ण के ग्रहण की पहेली और भारती के कोष के चमत्कार का यही मर्म है। अभिव्यक्ति में 'आत्म गौरव' सुन्दरम् के मार्ग से शिवम् मे पूर्ण होता है। आत्म दान मे 'विनय' शिव के मार्ग से सुन्दरम् में कृतार्थ होता है। दोनो के अभ्यतर मे अनुस्यूत तादात्म्य और प्रेम चेतना की दोनो धाराओं को आनन्द-तीर्थ की ओर प्रवाहित करता है। सुन्दरम् मे अभिव्यक्ति का आह्लाद आनन्द की परिणति खोजता है। शिव के आत्मदान का आनन्द आह्लाद को उद्घाटित करता है। सत्य के पूर्ण और त्रिमूर्त स्वरूप के साक्षात्कार मे यह विवेचन बहुत कठिन है।

वस्तुत इनका विवेक विचार का उपचार है। इस उपचार मे सत्य की निरपेक्ष सत्ता' गति मे विवृत और कृति मे कृतार्थ होती है। 'सृजन' सत्य का मूल स्वरूप है। सत्य की अवगति का उल्लास शिवम् और सुन्दरम् के दो दलो मे प्रस्फुटित होता है। सृजन का सत्य आत्मदान की अपेक्षा रखता है। अत वह शिवम् के योग से ही पूर्ण होता है। अभिव्यक्ति मे सृजन रूप ग्रहण करता है। प्रतीति मे शिव मे त्याग और सुन्दरम् मे अनुराग आभासित होता है। वस्तुत दोनो मे ही प्रेम का स्रोत प्रवाहित होता है। आत्मदान के शिव मे त्याग की प्रतीति होने के कारण ही वेदान्त मे उसका प्राधान्य है। शक्ति-तन्त्रो मे चित् शक्ति की 'अभिव्यक्ति' महत्वपूर्ण होने के कारण सुन्दरम् की महिमा अधिक है। अभिव्यक्ति सृजन का मर्म है। शक्तिमत मे यह सृजन अद्वैत वेदान्त की भांति मिथ्या नही वरन् सत्य है। *शक्ति के 'सुन्दरी' अथवा 'ललिता' रूप मे कल्पना का यह एक और कारण है।* किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह शक्ति शिव से अभिन्न है। शक्ति का सृजन और सौन्दर्य शिव से पूर्ण होकर शिव को पूर्ण बनाता है।

वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूपगत सत्य का ही प्रधान महत्व है। सृजन को विवर्त तथा मिथ्या माना गया है। सृष्टि ब्रह्म के स्वरूप की अभिव्यक्ति नही है। वह एक उपचार मात्र है। वेदान्त मे आचार के आत्मदान का अधिक महत्व है। इसीलिये ब्रह्म का अद्वैत भाव को 'शिवम्' माना है। किन्तु जिस प्रकार सुन्दरी शक्ति शिव से अभिन्न है और उसके बिना अपूर्ण है, उसी प्रकार शिवम् भी शक्ति के सृजनात्मक सुन्दरम् के बिना अपूर्ण है। सौन्दर्य-लहरी की रचना और श्री-चक्र की स्थापना सुन्दरम् मे ब्रह्म के शिवम् की पूर्णता को प्रमाणित करती है। ब्रह्म और माया, शिव और शक्ति, शिवम् और सुन्दरम्, आत्मदान और अभिव्यक्ति, आनन्द और आह्लाद के समन्वय में सत्य की सत्ता, गति, कृति और अवगति पूर्ण तथा कृतार्थ होती है।

उक्त विवेक के सूक्ष्म आधार पर सत्य-शिव-सुन्दरम् के स्वरूप और सम्बन्ध का निरूपण हमारा अभीष्ट है। किन्तु सामान्य व्यवहार और साहित्य दोनो में ही सत्य-शिव-सुन्दरम् का प्रयोग बहुत व्यापक और अनिश्चित अर्थों में होता है। इन अनेक अर्थो का सकलन करने पर यह स्पष्ट हो सकता है कि हमारे इन प्रयोगो मे एक के अर्थ का अन्तर्भाव दूसरे के अर्थ मे अथवा एक के अर्थ का आरोपण दूसरे के अर्थ पर किस प्रकार होता है। एक प्रकार से इनके अर्थो की अनिश्चितता प्रयोग

की व्यापकता के कारण ही है। अर्थों की स्पष्टता और निश्चितता के लिये उनका परिच्छेद आवश्यक है। इस परिच्छेद के द्वारा ही उनमें परस्पर विवेक सम्भव हो सकता है। इसी कारण तर्क-शास्त्र में अवच्छेदकतावाद का विस्तार हुआ और दार्शनिक परिभाषाओं में इसका उपयोग होने लगा। विज्ञान और दर्शन का दृष्टिकोण अधिक तटस्थ होता है तथा उनमें तथ्य अथवा सत्य के जिन रूपों का निर्धारण होता है उन्हें प्राय निरपेक्ष माना जाता है। मानवीय आकांक्षाओं की अपेक्षा उनके स्वरूप का निधायक तत्त्व नहीं मानी जाती। वैज्ञानिक सत्यों की यह निरपेक्षता तो स्पष्ट है। दार्शनिक सत्य के भी अनेक निरपेक्ष रूप दर्शन के इतिहास में प्रकट हुए हैं। कुछ दर्शनों में मानवीय स्वभाव की आकांक्षाओं को भी सत्य का अंग मानकर सत्य की एक ऐसी व्यापक प्रतिष्ठा की गई है जिसमें मानवीय आकांक्षाओं का भी अन्तर्भाव हो गया है। वेदान्त के ब्रह्म, भक्ति सम्प्रदायों के परमेश्वर और पश्चिमी अध्यात्मवाद के चरम सत्य का रूप ऐसा ही है।

किन्तु सत्य की इस व्यापक और पूर्ण कल्पना के मानवीय आकांक्षाओं का अन्तर्भाव होते हुए भी उसके स्वरूप में निरपेक्षता ही अधिक रहती है। सत्य के निरूपण में अधिकांश दार्शनिकों का दृष्टिकोण तटस्थ और निरपेक्ष ही रहा है। जिस रूप में भी उन्होंने सत्य का प्रतिपादन किया है वे सत्य के उस रूप को अपने आप में महत्त्वपूर्ण और स्वतन्त्र सनातन मानते हैं। वेदान्त के ब्रह्म की भांति दार्शनिकों के ये सभी सत्य अपनी ही महिमा में प्रतिष्ठित हैं। यह तटस्थता मनुष्य के विचार का लक्षण है। 'विवेक' विचार का मुख्य धर्म है। इस विवेक के द्वारा ही तत्त्वों का अवच्छेद होता है और वे इतर तत्त्वों से पृथक् होकर अपने स्वरूप में निर्धारित होते हैं। विज्ञान में तत्त्व की यथार्थता उनके इन विविक्त निर्धारणों में सहायक होती है। दर्शन के क्षेत्र में प्रत्ययों के प्रत्याहार द्वारा इसका प्रयत्न किया जाता है। प्रत्याहार के सूक्ष्म क्षेत्र में विचार की गति तत्त्वों के अवच्छिन्न व्यवहार को सम्भव बनाती है। यथार्थ का अवलम्ब स्थूल होते हुए भी विज्ञानों में भी इस प्रत्याहार का कुछ योग रहता है। सम्भवतः यह प्रत्याहार हमारे विचार का सामान्य धर्म है। इसीलिये हमारे लोकव्यवहार में भी इसका प्रभाव रहता है। वस्तुओं और व्यक्तियों को पृथक् इकाइयां मानकर ही हम सामान्यतः व्यवहार करते हैं।

किन्तु स्थूल व्यक्ति और पदार्थ इतने पृथक् नहीं हैं। अनेक वस्तुओं की सत्ता

और व्यक्तियो के परस्पर सम्बन्ध उनके सश्लेष के कारण हैं। यह सश्लेष उसकी पृथक इकाइयो पर आरोपित बाह्य सयोग नही है किन्तु वह उनके स्वरूप मे समवेत है। इसीलिये विज्ञान और दर्शन दोनो की गति प्राय एकत्ववाद की ओर ही रही है। इस सश्लेष के मार्ग से ही दोनो सत्य के एक पूर्ण और समन्वित रूप तक पहुँचे हैं। प्रत्ययो की निश्चित एकरूपता को विचार का प्रथम सिद्धान्त मानने के कारण विश्लेषण और प्रत्याहार विचार की सगत सरणि बन जाते हैं। विचार के स्वभाव मे यह धर्म इतना रूढ है कि सत्य का एक पूर्ण और सश्लिष्ट रूप स्वीकार कर लेने पर भी वह उसमे अत तक अपने विश्लेषणो के समाधान खोजता रहता है। अगम्य क्षेत्रो मे विचार के अतिचार के उदाहरण दुर्लभ नही हैं। साधना के क्षेत्र मे अध्यवसाय से अधिक जिज्ञासा इसका एक सामान्य उदाहरण है। वेदान्त मे सृष्टिवाद और मायावाद के प्रपच भी विचार के इसी दु साहस के प्रमाण हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने को अपूर्ण और असमर्थ मानकर भी विचार स्वय अपनी मर्यादाओ मे सीमित रहना नही चाहता। समस्त तत्वों पर अवच्छेदकता का प्रयोग करते हुए भी वह चेतना के अन्य धर्मो से विविक्त होकर अपने व्यापार की सीमाओ मे ही सतुष्ट नही रह सकता। कुछ उदार विचारको ने विचार की इन मर्यादाओ को मानकर सत्य के पूर्ण सश्लिष्ट और सजीव रूप को विचार से अतिरिक्त अनुभव द्वारा अवगम्य माना है। वेदान्त, बर्गसा आदि के अनुभववादी दर्शन इसी दिशा के यात्री हैं।

'अनुभव' द्वारा ग्राह्य सत्य के इन सश्लिष्ट रूपो का 'विचार' के अवच्छेद द्वारा निर्धारण सम्भव नही है। 'अवच्छेद' विश्लेषण की प्रणाली है। सत्य के सश्लिष्ट रूपो के निर्धारण मे उसका उपयोग असगत है। विचार से अतीत और अनुभव आदि के द्वारा ग्राह्य सत्य का स्वरूप सश्लिष्ट और व्यापक है। व्यापक होने के कारण प्राय सत्य का यह रूप अस्पष्ट और अनिश्चित रहता है। विचार के अवच्छेद के प्रयत्न उसमे असगत और असफल रहते हैं, यद्यपि विचार की अतिरजित आकाक्षा के कारण ये प्रयत्न पूर्णत विरत नही होते। इसी कारण अध्यात्मवादी दर्शनो का पर्यवसान प्राय असमजस की धूमिल सध्या मे हुआ है, जिसमे अनुभव का अनन्त क्षितिज विचार की दृष्ट भूमि को छूता हुआ दिखाई पडता है। अनन्त के परिच्छेद की इन भ्रातियो और कल्पना की कुछ रजित रचनाओ मे ही अध्यात्मवादी दर्शनो की यह सध्योपासना प्राय सम्पन्न हुई है।

सत्य के जिन दो रूपो का संकेत ऊपर किया गया है उन दोनो का ही प्रयोग साहित्य और व्यवहार मे होता है। **एक सत्य का सीमित रूप है।** सीमित होने के कारण सत्य का यह रूप निश्चित है। विचार के विश्लेषण और अवच्छेदन द्वारा इस निश्चित रूप का निर्धारण होता है। प्रत्ययो का प्रत्याहार इसकी प्रणाली है। **सत्य का यह रूप स्वयं एक प्रत्याहार है।** ऐसा प्रतीत होता है कि विचार का धर्म ही दर्शन की धारणा बन जाता है। **सत्य का दूसरा रूप व्यापक है।** व्यापक होने के कारण यह अनिश्चित और अस्पष्ट भी है। इसे स्पष्ट और निश्चित बनाने के प्रयास एक प्रकार से असगत और अनधिकार चेष्टाएँ हैं। किन्तु विचार के दम्भ के कारण ये चेष्टाएँ दर्शन म होती ही रही हैं। इन चेष्टाओ का उद्देश्य सत्य के दूसरे रूप को सत्य के पहले रूप के ढाचे मे ढालना है। यह पूर्ण को परिच्छिन्न और अनन्त को सीमित बनाने के प्रयास के समान है।

यद्यपि सत्य मे रूप और तत्व दोनो का ही समावेश है फिर भी सत्य के पहले प्रकार म तत्व की अपेक्षा रूप का आग्रह अधिक दिखाई देता है। वस्तुत विचार रूप का ही विधायक है। तत्व का ग्रहण मुख्यत इन्द्रियो की सवेदना और चेतना की आत्मिक अनुभूति के द्वारा होता है। **'विचार' चेतना का रूप-प्रधान धर्म है।** इसीलिये नव्य न्याय और आधुनिक पश्चिमी तर्कशास्त्र मे इसकी रूपात्मकता का ही विस्तार अधिक हुआ है। सामान्य लौकिक विचार तथा दर्शन के तार्किक विचार दोनो मे ही हम सत्य की इस रूपात्मकता के लक्षण देखते हैं। रूप और तत्व वस्तुत अभिन्न हैं। किन्तु विचार अपने धर्म के अनुरूप इनका विश्लेषण और प्रत्याहार करता है। तत्व का निर्णय करते समय भी विचार अपने इस धर्म से विरत नही होता। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद का प्रयोग वह तत्व के अनुसधान मे भी करता है।

तात्पर्य यह है कि तत्व के निर्धारण मे भी विचार रूप का आरोपण करता है। विचार की रूपात्मकता का एक प्रसिद्ध प्रमाण यह है कि जर्मन मनीषी कान्ट ने विचार को रूपात्मक तथा ज्ञेय जगत को बुद्धि का विधान माना है। दार्शनिक दृष्टि से चाहे कान्ट की स्थापना अपूर्ण और असन्तोषजनक हो किन्तु विचार के अनुसधान की दृष्टि से वह विचार के अन्तर्तम धर्म का उद्घाटन करती है। सामान्य व्यवहार मे विचार के अतिरिक्त हमारी अन्य वासनाये अथवा आकाक्षाये तत्व की अधिक अभिलाषिणी होती हैं। किन्तु विचार की दृष्टि मुख्यत अपने रूप पर ही

रहती है। सिद्धान्त की दृष्टि से विचार का यह रूप प्रत्ययो का एकरूपता और उनका पारस्परिक अविरोध प्रतीत होता है। किन्तु इस सिद्धान्त के मूल मे विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के धर्म अन्तर्निहित हैं। विचार कि रूप-प्रधानता और तत्व-निरपेक्षता मे ही यह स्पष्ट है कि विचार की दृष्टि तटस्थ होती है। यह तटस्थता विचार का गुण मानी जाती है। तत्व और रूप के निर्धारण की दृष्टि से इसका उपयोग भी है। किन्तु अनेक अमगलकारी विचारो मे विचार की इस निरपेक्षता का दुष्फल भी विदित होता है। फिर भी तटस्थ और निरपेक्ष भाव से अपने स्वरूप का अनुसधान ही विचार का मुख्य धर्म प्रतीत होता है।

'विचार' बुद्धि का व्यापार होने के साथ-साथ चेतना की विषयमुखी तथा तटस्थ दृष्टि भी है। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेदन के द्वारा वह सत्ता के रूपो का निर्धारण और विवेक करता है। चेतना की दृष्टि होने के कारण इसका रूप अपनी निर्दिष्ट मर्यादा की अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाता है। इस व्यापकता की परिधि मे जीवन और सस्कृति के ये रूप भी आ जाते हैं जो पूर्णत विचार के अनुरूप नही। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के द्वारा इनका निर्धारण नही किया जा सकता, साथ ही केवल निर्धारण इनका पूर्ण और वास्तविक स्वरूप नही है। निर्धारण की गति विषय, वस्तु, व्यवस्था और प्रक्रिया के क्षेत्र मे ही सभव है। विचार की व्यापक परिधि मे आ जाने पर भी जीवन और सस्कृति के रूपो का स्वरूप वैषयिक सत्ता, व्यवस्था और प्रक्रिया मे समाप्त नही होता। इनका पूर्ण और वास्तविक रूप जीवन की सजीव और सक्रिय विधियो में ही साकार तथा सम्पन्न होता है। शिवम् और सुन्दरम् जीवन तथा सस्कृति के ऐसे ही रूप हैं जो पूर्णत विचार का विषय न होते हुए भी विचार के व्यापारो से निर्धारित होते रहे हैं। विश्लेषण, प्रत्याहार और परिच्छेद के योग्य न होते हुए भी विचार इन्हे परिच्छिन्न करके सत्य से विविक्त रूप मे निर्धारित करने का प्रयत्न करता रहा है। शिवम् और सुन्दरम् के रूपो मे परस्पर विवेक ही विचार का उद्योग रहा है। विचार का यह प्रयास एक ओर शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप-निर्धारण का प्रयत्न करता है। किन्तु दूसरी ओर उन पर विचार के आकार का आरोपण भी करता है। विचार की रूपात्मकता जीवन और सस्कृति के इन सजीव और सम्पन्न रूपो को भी एक स्थिर और परिच्छिन्न आकार में बाँधने का प्रयत्न करती है।

विचार चेतना की स्वाभाविक किन्तु आरम्भिक अथवा अपूर्ण गति है। सवेदना

को चेतना की आरम्भिक अभिव्यक्ति मानने पर हम विचार को चेतना की माध्यमिक गति कह सकते हैं। विचार के व्यापार सत्य के अनुसधान की अनावश्यक दिशायें हैं। किन्तु विचार की गति ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य और पूर्णता नही। इसका प्रमाण स्वय विचार का अतिचार है। अपने उस सीमित रूप मे सतुष्ट न रहकर, जिसकी व्याख्या ऊपर की गई है, विचार ने अनेक बार अपनी परिधि का अनधिकार विस्तार करके उसमे जीवन के उन रूपो का भी समाहार करने का प्रयत्न किया है जो इसके द्वारा ग्राह्य नही हैं। शिवम् और सुन्दरम् मे आकार के साथ साथ अनुभूति का तत्व भी है। इसीलिये विचार ने अपने व्यापार की सफलता के लिये अपने अभीष्ट सत्य की रूपात्मकता मे तत्व की भी प्रतिष्ठा की। ऊपर रूपात्मक विचार की परिधि म शिवम् और सुन्दरम् के समावेश का सकेत किया गया है। इसमे विचार की परिधि का विस्तार अवश्य है। किन्तु विचार का स्वरूप वही है जो सर्वत्र मान्य है और स्वय विचार के अनुकूल है। यह विचार का सीमित रूप है जिसमे विचार बाह्य रूपो का निर्धारण करके अपने स्वरूप का अनुसधान करता है। यह विचार का रूपात्मक स्वरूप है। किन्तु अपने तत्वत व्यापक रूप मे विचार अपनी परिधि का ही विस्तार नही करता वरन् इसके साथ साथ उसमे तत्व की भी प्रतिष्ठा करता है। वस्तुत विचार की यह प्रक्रिया विचार के मौलिक स्वरूप के अनुरूप नही है। इसीलिए जिन आध्यात्मिक दर्शनो मे विचार ने इसका प्रयास किया है उनमे विचार तत्व दृष्टि से सत्य के व्यापक रूप का अनुसधान और निर्धारण करने के स्थान पर स्वय उसमे विलीन हो गया है। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्मवाद, ब्रैडले का अध्यात्मवाद और बर्गसा का अनुभूतिवाद इसके उत्तम उदाहरण हैं। इसका कारण यह है कि सत्ता और व्यवस्था के रूपो मे विश्लेषण प्रत्याहार और परिच्छेद वास्तविक अथवा काल्पनिक रूप मे सम्भव भी हो, किन्तु चिन्मय तत्व के क्षेत्र मे सम्भव नही। जर्मन दार्शनिक हीगल ने तो विचार का भी लक्षण यही बताया है कि वह सदा अपनी सीमाओ का अतिक्रमण करके एक असीम आकार की ओर सकेत करता रहता है। वस्तुत यह विचार के मूल मे मनुष्य की व्यापक चेतना की प्रेरणा है। विचार के प्रत्याहार के विपरीत विस्तार इसका लक्षण है और परिच्छेद के स्थान पर तादात्म्य इसका स्वरूप अथवा स्वभाव है।

यह सत्य का व्यापक रूप है। विचार इसका निर्धारण नही कर सकता। वह केवल इसकी ओर सकेत कर सकता है। वस्तुत सत्य का यह व्यापक रूप विचार के

पूर्णतः अनुरूप नहीं है। इसीलिए शंकराचार्य और ब्रेडले और बर्गसाँ ने सत्य के इस व्यापक रूप में विचार का पर्यवसान और विलय माना है। विचार के रूप और व्यापक सत्य में उतना ही विरोध है जितना प्रत्याहार और विस्तार तथा परिच्छेद और तादात्म्य में है। **सत्य का यह व्यापक रूप शिवम् और सुन्दरम् के तत्व से निर्मित है।** यह सत्य के सीमित रूप के समान स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं है। तटस्थ भाव से उसका निर्धारण पूर्णतः सम्भव नहीं है और न इस निर्धारण में जीवन की आकांक्षा की पूर्णता है। वह इस अर्थ में स्वतंत्र और निरपेक्ष अवश्य है कि किसी व्यक्ति की कल्पना, कामना अथवा भावना पर उसका अस्तित्व अथवा स्वरूप निर्भर नहीं है। किन्तु मनुष्य की अन्तर्तम आकांक्षा और साधना का समाधान उसमें अवश्य है। जो सीमित सत्य विचार का लक्ष्य है वह मनुष्य की केवल जिज्ञासा वृत्ति का समाधान है। सम्पूर्ण चेतना की अन्तर्तम आकांक्षाओं का अन्तिम लक्ष्य होने की दृष्टि से हम सत्य के इस व्यापक रूप को भी सत्य कह सकते हैं। किन्तु सत्य के ये दोनों रूप एक दूसरे से भिन्न हैं। यद्यपि इस भेद का भी निरूपण विचार के द्वारा ही होता है, किन्तु यह निरूपण सत्य के सीमित रूप की भाँति ही अपूर्ण है। सत्य का व्यापक रूप मनुष्य की समग्र चेतना की आकांक्षा का समाधान है। अतः इस रूप की अनुभूति में ही भेद का निरूपण पूर्ण हो सकता है और इस पूर्णता में भेद और विचार दोनों का विलय हो जाता है।

सत्य के इस व्यापक रूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। वस्तुतः सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् अन्तिम तत्व की पूर्णता के तीन पक्ष हैं जिनका विवेक किसी सीमा तक विचार ही करता है। विचार की दृष्टि से इनके भी रूप का कुछ निर्धारण सम्भव है, किन्तु वस्तुतः इनमें रूप की अपेक्षा तत्व की प्रधानता है। प्रत्याहार और परिच्छेद के स्थान पर विस्तार और तादात्म्य इनका लक्षण है। एक व्यापक अनुभूति इसका तत्व है। जिज्ञासा के स्थान पर ये समग्र चेतना के लक्ष्य हैं। मानो मनुष्य की समग्र चेतना इनमें उसी प्रकार अपने स्वरूप का अनुसंधान करती है जिस प्रकार जिज्ञासा विचार में अपने रूप का अनुसंधान करती है। जिज्ञासा का फल अवगति है। यह अवगति रूपों के परिच्छेद के द्वारा होती है तथा इसमें विषय और विषयी का भेद रहता है। किन्तु जिस प्रकार विचार अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करता है उसी प्रकार अवगति के तटस्थ धर्म में जिज्ञासा का पूर्ण सन्तोष नहीं होता। ज्ञाता बनकर जिज्ञासु अपने अपूर्ण और आंशिक ज्ञान को

भी अभिव्यक्त करने के लिए आतुर हो उठता है। आर्किमिडीज की भांति कभी-कभी उसकी यह आतुरता उन्माद की सीमा तक पहुँच जाती है। हमारे समस्त ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, शास्त्र, साहित्य आदि सब इसी आतुरता के वरदान हैं। **जिस प्रकार विचार स्वभाव से ही अपनी सीमा का अतिक्रमण करता है उसी प्रकार अवगति भी स्वभाव से ही अभिव्यक्ति में आत्म-विस्तार खोजती है। इस अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अवगति के सत्य में सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। यह अभिव्यक्ति ही सुन्दरम् का स्वरूप है। समस्त साहित्य और कला इसी अभिव्यक्ति के बीज से उत्पन्न कल्पवन है।**

इस अभिव्यक्ति मे मनुष्य की चेतना अपना प्रकाशन करती है। उसकी अनुभूति आत्मविस्तार खोजती है। अभिव्यक्ति के लिए आकुल अनुभूति मे आमन्त्रण का भाव उदित होता है। अनुभूति का अधिष्ठाता अपनी अनुभूति को बाँटने और वितरित करने के लिए उत्सुक हो उठता है। यह विभाजन और वितरण अनुभूति को न्यून करने के स्थान पर उसे समृद्ध और सम्पन्न बनाता है। यह प्रकृति के विपरीत धर्म है। प्रकृति मे विभाजन का फल न्यूनता है। **'अभिव्यक्ति' चेतना के एकाधिक केन्द्रो का परस्पर सवाद है।** इस सवाद म व्यक्तित्व के परिच्छेद की सीमाये विलीन हो जाती हैं। कदाचित चेतना मे यह परिच्छेद कृत्रिम और सापेक्ष ही है। अभिव्यक्ति मे परिच्छेद की सीमाओ का विलय हो जाता है और व्यक्तित्व का विस्तार होता है। परिच्छेद के स्थान पर इस आत्मविस्तार मे तादात्म्य का भाव उदित होता है। यह तादात्म्य भी प्रकृति के विपरीत चेतना का ही धर्म है। यह तादात्म्य ही प्रेम का बीज है। **अभिव्यक्ति सुन्दरम् का मूल स्वरूप है।** कदाचित इसीलिये मनुष्य के इतिहास मे सौन्दर्य और प्रेम प्राय अभिन्न रहे हैं। इस अभिव्यक्ति मे आनन्द भी है। आनन्द चेतना के आत्मविस्तार का फल है। अभिव्यक्ति के आत्मविस्तार मे तादात्म्य रस का सचार करता है। इसीलिए रस और आनन्द समानार्थक समझे जाते हैं। **आन्तरिक अनुभूति में जो रस है, पारस्परिक अभिव्यक्ति में वही आनन्द है।**

इस आनन्द का आभास अवगति मे भी होता है। किन्तु सभी अवगतियो मे इसका रूप स्फुट नही होता। **अवगति चेतना का ग्रहणात्मक धर्म है।** इस अवगति मे सामान्यत चेतना की दृष्टि तटस्थ रहती है। सत्य के अनेक रूप इस ग्रहण के विषय हैं। विषय और विषयी इस अवगति मे पृथक रहते हैं। अवगति मे चेतना विषयों का प्रकाशन करती है। 'आलोक' चेतना का स्वरूप और अवगति का धर्म

है। आलोक भी आह्लाद का लक्षण है। इसीलिये हर्ष में हमारी आँखें चमक उठती हैं और चेहरा खिल उठता है। किन्तु सामान्यत हमारी अवगति उदासीन और तटस्थ ही होती है। कुछ असाधारणता और नवीनता होने पर ही अवगति म आह्लाद का उदय होता है। यह स्थिति विशेषत जीवन और सृष्टि के आरम्भ में ही होती है। बालक के जीवन में नवीन वस्तुओं की अवगति नित्य नये आह्लाद का कारण बनती है। आगे चलकर जीवन में यह असाधारणता और नवीनता कम होती जाती है। अत अवगति साधारण सत्यो का उदासीन ग्रहण बन जाती है। प्रौढ़ चेतना में सत्य का यही रूप है जिसे हम शिवम् और सुन्दरम् से पृथक करके समझ सकते हैं।

अध्यात्मवादी दार्शनिको के अनुसार हमारी साधारण अवगति में भी एक रचनात्मक तत्व है। आधुनिक मनोविज्ञान प्रत्यक्ष की क्रिया को भी रचनात्मक मानते हैं। किन्तु अवगति की यह रचनात्मक क्रिया इतनी साधारण और सहज है कि हमें अवगति में इसकी अवगति भी नहीं होती। नवीनता और सृजनात्मकता से रहित होने पर अवगति सत्य का केवल उदासीन ग्रहण मात्र रह जाती है। वैज्ञानिक अनुसधानो तथा कलात्मक रचनाओं में नवीनता और सृजन का रूप उदय होते ही अवगति में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और आह्लाद स्फुटित हो उठता है। जीवन के आरम्भ में बालक की अवगति में हम अभिव्यक्ति और अवगति, आलोक और आह्लाद तथा सत्यम् और सुन्दरम् की एकात्मकता देखते हैं। कुछ दर्शनों के अनुसार हमें सृष्टि के आरम्भ में इसी भाव का सकेत मिलता है। अद्वैत वेदान्त में भामतीकार ने चराचर विश्व को ब्रह्म का स्मित माना है। स्मित आह्लाद का लक्षण और उसकी अभिव्यक्ति है। शक्तितत्रो में शक्ति का विमर्श शिव की आत्मावगति तथा विश्व के उदय का आरम्भ है। इसीलिये विमर्श को अभिव्यक्ति भी मानते हैं। अवगति और अभिव्यक्ति की एकरूपता के कारण विमर्श की अवगति में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी उदित होता है। इसीलिए तन्त्रो में विमर्श शक्ति की 'सुन्दरी' सज्ञा है। सृजनात्मिका होने के कारण इसे 'कला' कहते हैं। शिव की आत्मावगति अभिव्यक्ति और सृष्टि भी है। इसीलिए शिव के सत्य में सौन्दर्य भी समन्वित है। अवगति के सृजनात्मक होने के कारण ही वेदान्त में पचभूतो को ब्रह्म का वीक्षित तथा शक्तितन्त्रो में आदि-शक्ति के उन्मेष से जगत का उदय मानते हैं।

किन्तु सृष्टि और जीवन के आरम्भ के अतिरिक्त अवगति और अभिव्यक्ति की एकात्मकता कम मिलती है। साधारणतया अवगति ग्रहण का उदासीन धर्म बन जाती है। आविष्कार और निर्माण की कुछ अवस्थाओं में ही इस एकात्मता का दर्शन होता है। **किन्तु अभिव्यक्ति का सौन्दर्य और आह्लाद आदि-चेतना का स्वरूप और लौकिक चेतना की मौलिक आकांक्षाएँ हैं। इसीलिए मनुष्य अवगति के उदासीन धर्म से सन्तुष्ट न रहकर जीवन में नवीनता और निर्माण का समावेश करता रहा है। यही प्रेरणा वैज्ञानिक आविष्कारों और कलात्मक रचनाओं की शक्ति रही है।** शिवम और सुन्दरम् से पृथक करके विविक्त रूप में समझने के लिए हम सत्य को वस्तुओं, रूपों, व्यवस्थाओं नियमों और सिद्धान्तों की उदासीन सत्ता तथा चेतना में सत्य के ग्रहण को उदासीन अवगति मान सकते हैं। **अवगति में चेतना की ग्रहणात्मक शक्ति को 'आलोक' कहना उचित होगा।** बाह्य आलोक के समान ही वह तटस्थ भाव से विषयों का प्रकाशन करता है। यह सत्य का वैषयिक और सीमित रूप है। किन्तु सत्य के व्यापक रूप में अवगति में अभिव्यक्ति और आलोक में आह्लाद का भी समाहार है। **इस दृष्टि से हम सृजन को ही सत्य का पूर्णतर रूप कह सकते हैं। सृजन की व्यापक कल्पना में सत्य के अन्य सभी सीमित रूपों का अन्तर्भाव है।** वे सृजन के उपादान और सहकारी सिद्धान्त हैं। अस्तु सृजन ही सत्य का मूल और पूर्णतर रूप है। वेदान्त तथा शक्ति तन्त्रों के समान आध्यात्मिक दर्शनों में इस सृजन में अवगति और अभिव्यक्ति, आलोक और आह्लाद, सत्यम् और सुन्दरम् का समन्वय माना गया है।

शक्ति के विमर्श में सृजन की अभिव्यक्ति आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में होती है। आन्तरिक अभिव्यक्ति शिव के पूर्ण अहंकार का प्रकाशन है। बाह्य अभिव्यक्ति सृष्टि का विस्तार है। लौकिक सृजन के भी दो रूप हैं। मनुष्य उपादान का सृजन नहीं कर सकता। सृजन के लिए उपादान का ग्रहण आवश्यक है। अतः सृजन के सौन्दर्य में सत्य का आधार है। **हमारा लौकिक सृजन उपादान के तत्व में रूप और भाव का विधान है। भाव चिन्मय रूप है। चेतना में इस भाव-रूप का उद्भावन ही हमारा कलात्मक सृजन है।** यह लौकिक सृजन का आन्तरिक रूप है जो शक्ति-तन्त्रों के विमर्श के अनुरूप है। क्रोचे के अनुसार कलात्मक सृजन का यही वास्तविक रूप है। तन्त्रों में भी शक्ति के विमर्श को ही 'कला' कहते हैं। मनुष्य की चेतना व्यापक और इसका स्वभाव सामाजिक है। लौकिक जीवन में चेतना की

व्यापकता सामाजिक तादात्म्य मे ही व्यक्त होती है। अत, भाषा, स्वर, वर्ण आदि के माध्यम से आन्तरिक अभिव्यक्ति का बाह्य प्रकाश होता है। यह कला और काव्य की कृतियो का बाह्य रूप है जो तत्रो की सृष्टि के अनुरूप है।

आन्तरिक अभिव्यक्ति मे भी आत्मगत आनन्द है। इसीलिए शक्ति के विमर्श तथा सौन्दर्य के साथ आनन्द का स्फोट भी माना जाता है। विमर्श मे शिव के परिपूर्ण अहकार का प्रकाश होता है। शिव रस-स्वरूप अथवा आनन्दमय है। अत विमर्श की शक्ति 'सुन्दरी' होने के साथ-साथ 'आनन्दमयी' भी है। भगवान शकराचार्य द्वारा 'सौन्दर्य लहरी' और 'आनन्द लहरी' दो रचनाओ मे आदि शक्ति की स्तुति का यही रहस्य है। किन्तु जिस प्रकार चिति-शक्ति के विमर्श का व्यापार बहिर्मुख होकर सृष्टि की रचना करता है, उसी प्रकार कवि और कलाकार की आन्तरिक अभिव्यक्ति बाह्य कृतियो मे साकार होती है। क्रोचे के अनुयायी इन कृतियो को उसी प्रकार उपचार मानते हैं जिस प्रकार अद्वैत वेदान्त के सम्प्रदाय सृष्टि को मिथ्या मानते हैं। किन्तु शक्ति-तत्रो मे सृष्टि मिथ्या नही है। वह शिव अथवा शक्ति के स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है। गौडपाद की कारिका मे इस स्वभाव का सकेत मिलता है। सृष्टि और कला दोनो के ही सम्बन्ध मे मायावाद की अपेक्षा अभिव्यक्तिवाद अधिक सगत और सतोषजनक प्रतीत होता है। किन्तु यह अभिव्यक्ति क्रोचे के अभिमत के समान केवल आन्तरिक नही है। मायावाद सृष्टि के समस्त सौन्दर्य को मिथ्या और व्यर्थ बना देता है। कला कृतियो को उपचार मात्र मानना कला की सामाजिक सृष्टि को निर्मूल्य कर देता है।

सृष्टि के रहस्यो मे अधिक कल्पना अनधिकार है, किन्तु कला-कृति के सम्बन्ध में अधिक विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि आन्तरिक अभिव्यक्ति में आह्लादित होने वाली चेतना अन्य चिद्‌बिन्दुओ में अभिव्यक्ति और आह्लाद का विस्तार करके अभिव्यक्ति को अधिक पूर्ण और आह्लाद को अधिक सम्पन्न बनाती है। यह उपचार नहीं वरन् कला के स्वभाव का ही पूर्णतर प्रकाश है। विश्व के प्राय सभी कवि और कलाकार बाह्य कृतियो मे अपनी आन्तरिक अभिव्यक्ति को साकार बनाते रहे हैं। यह सामाजिक सभात्मभाव मे कलात्मक अभिव्यक्ति के आन्तरिक सौन्दर्य और आह्लादकी पूर्णता का पर्याप्त प्रमाण है। अनधिकार होते हुए भी इसके समर्थन मे शक्ति के विमर्श की बाह्य सृष्टि के रूप मे अभिव्यक्ति का सकेत किया जा सकता है। सृष्टि के कृतित्व मे ही शक्ति-सुन्दरी महकला की विभूति हमे विदित होती है।

इसी प्रकार कला कृतियों के बाह्य और सामाजिक रूप में कलात्मक अनुभूति (आन्तरिक अभिव्यक्ति) की सम्पन्नता विदित होती है। यह सत्य है कि जिस प्रकार सृष्टि में शक्ति का समस्त सौन्दर्य व्यक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार कला कृतियों में भी आन्तरिक अनुभूति की समस्त विभूति अनुवादित नहीं हो सकती। **हमारा तात्पर्य केवल इतना ही है कि अभिव्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य दोनों रूपों में एक आन्तरिक सम्बन्ध है।** आन्तरिक अभिव्यक्ति बाह्य कृति में साकार और सम्पन्न होती है तथा बाह्य अभिव्यक्ति को आन्तरिक अभिव्यक्ति से शक्ति और सौन्दर्य प्राप्त होते हैं। अभिव्यक्ति के दोनों रूप सहज साम्य के द्वारा एक दूसरे का संभावन करते हैं। प्राकृतिक माध्यमों में आन्तरिक अभिव्यक्ति के शक्ति और सौन्दर्य का स्रोत प्रवाहित है। विश्व की सृष्टि के समान यही कला की सृष्टि को सार्थक, सुन्दर और आनन्दमय बनाता है।

अभिव्यक्ति के इस सामाजिक और बाह्य रूप में कला और काव्य के सुन्दरम् में शिव का उदय होता है। वेदान्त में ब्रह्म का और शैव तन्त्रों में शिव का पारमार्थिक स्वरूप अनन्त चैतन्य और अनन्त आनन्दमय है। परमार्थतः यही चिदानन्द परम और पूर्ण सत्य है। *यही मनुष्य का वास्तविक स्वरूप भी है। मोक्ष में मनुष्य* इस स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु व्यवहार का जीवन परम सत्य के इस चिदानन्द स्वरूप के अनुभव से पूर्णतः शून्य नहीं है। लोक-जीवन में आन्तरिक सम्बन्धों के समात्मभाव में हमें उसका आभास मिलता है। वस्तुतः मोक्ष की अवस्था इसी आभास की पूर्णता है। **जीवन्मुक्ति में मोक्ष और व्यवहार का समन्वय है।** उपनिषदों में सामाजिक सम्बन्धों के समात्मभाव में ब्रह्म की विवृति के स्पष्ट संकेत मिलते हैं। वेदान्त के सम्प्रदायों में सत्य के पारमार्थिक रूप को निरपेक्ष भाव में प्रतिष्ठित करने का आग्रह अधिक रहा है। अतः चिदानन्द स्वरूप सत्य के सामाजिक रूप का महत्व उपेक्षित-सा रहा। इसका कारण दर्शन में तर्क की प्रधानता है। तर्क सत्य को निरपेक्ष भाव में निरूपित करता है। पूर्ण स्वतन्त्र होने की दृष्टि में ब्रह्म पूर्णतः निरपेक्ष है। किन्तु चिदानन्दमय होने के कारण वह अनुभव-स्वरूप है। अतः मनुष्य जीवन में ही उसका साक्षात्कार हो सकता है। साधना और जीवन में उतना अन्तर नहीं है जितना कि प्रायः मान लिया जाता है। साधना एक प्रकार की आध्यात्मिक शिक्षा है। किन्तु जिस प्रकार जीवन ही शिक्षा है उसी प्रकार जीवन ही साधना का पूर्ण और सजीव रूप है। एकान्त साधना में आध्यात्मिक

साधना भी पूर्ण नहीं हो सकती। जीवन्मुक्ति के व्यवहार मे ही वह सफल और साकार होती है। साधना और समाधि मे जिस सत्य का क्षणिक आभास मिलता है वह जीवन के तदनुरूप व्यवहार मे एक स्थायी विभूति बन जाता है। अध्यात्म का यही जीवन्त सत्य है।

अध्यात्म के इस जीवन्त सत्य मे कला और काव्य का भी वास्तविक रूप स्फुटित होता है। विज्ञानो और दर्शनो मे सत्य को उदासीन और मानव-निरपेक्ष मानकर उसका निरूपण होता है। एक ओर उसका कारण तर्क का तटस्थभाव है, दूसरी ओर उसका कारण हमारे लौकिक व्यवहार और अनुभव की अहकार मूलकता है। इस अहकार के अनिवार्य अनुपग के कारण मानव-सम्बन्ध का भाव अलक्षित रूप से विज्ञानो और दर्शनो मे भी बना रहता है। मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व ही अध्ययन का विषय है। सामाजिक शास्त्रो मे इसके सामाजिक रूप का विवेचन होता है। इस विवेचन मे मनोविज्ञान का प्रभाव व्यक्ति के महत्व को बढाकर समाज का महत्व कम कर देता है और अध्यात्मवादी दर्शनो का प्रभाव समाज के मूल्य को बढा कर व्यक्ति का मूल्य कम कर देता है। समाज का कोई पृथक अस्तित्व नही है। व्यक्तियो से ही उसका निर्माण होता है। व्यक्ति ही जीवन और अनुभव का केन्द्र है। फिर भी अद्वैत वेदान्त, पश्चिमी अध्यात्मवाद और आधुनिक साम्यवाद मे व्यक्ति के मूल्य का तिरस्कार करके एक सामान्य तत्व मे उसका अध्याहार हो गया है। दर्शन और समाज शास्त्र मे इस अनर्थ का मूल कारण व्यक्तित्व के सीमित और अहकार-मूलक रूप से उत्पन्न होने वाले अनर्थ हैं। लोक जीवन और इतिहास मे इन अनर्थो के असख्य उदाहरण मिल सकते हैं।

यह अहकार चेतना का एक केन्द्रित विन्दु है जिसमे प्रकृति अपने परिच्छेद का आरोपण करती है। किन्तु यह परिच्छेद ही अहकार का सर्वस्व नही है। चिन्मूलक होने के कारण उसमे विस्तार का बीज भी सन्निहित है। जीवन के व्यवहार मे प्राकृतिक उपकरणो की ही प्रधानता रहती है। अत सम्पत्ति, शासन आदि व्यवहार के स्वार्थमय रूपो मे अहकार का प्राकृतिक परिच्छेद ही साकार होता है। किन्तु जीवन के आन्तरिक और आत्मीय भाव-सम्बन्धो मे अहकार के चिन्मय बीज का विस्तार सहज ही प्रकाशित होता है। दो चिद्विन्दुओ के संगम में अध्यात्म की रेखा मानो अनन्त का सकेत करती है। साधना की अन्तर्मुखता में प्रकृति के जिन परिच्छेदो (विषय, इन्द्रिय, मन, अहकार और बुद्धि) का विलय होने

है। अभिव्यक्ति का यही रूप कला और काव्य का वास्तविक स्वरूप है। कला का यही स्वरूप क्रोचे के प्रत्याहार की अपेक्षा कला कृतियो में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति और सामाजिक सम्बन्धो मे उसकी सगति के अधिक अनुरूप है।

वस्तुत आत्मिक भाव की सगति मे ही कलात्मक सौन्दर्य का बीज और अन्य सभी सगतियो का आधार है। क्रोचे ने जिसे अभिव्यक्ति कहा है वह वस्तुत व्यक्तिगत अनुभूति ही है। क्रोचे दोनो को एकाकार मानते हैं। अभिव्यक्ति चेतना की क्रिया है। क्रोचे ने चेतना के स्वरूप को सक्रिय माना है। अत उनकी अनुभूति भी सक्रिय है। सक्रिय होने के कारण वह अभिव्यक्ति से एकाकार है। किन्तु वस्तुतः क्रोचे की यह अनुभूति अवगति के अधिक निकट है। चेतना का धर्म होने के कारण अवगति भी पूर्णत सक्रिय नही है। सामान्य अवगति और क्रोचे की कलानुभूति में एक समानता है कि सामाजिक उदासीनता दोनो का लक्षण है। कलानुभूति मे विषय के साथ तन्मयता हो जाती है और उसकी वस्तुनिष्ठ पराधीनता तथा बहिर्मुखता का विलय हो जाता है। यदि अवगति जाग्रत है तो हम क्रोचे की कलानुभूति को स्वप्न की अवस्था कह सकते हैं। वह स्वप्न के समान क्षणिक भी है। स्वप्न जीवन का एक अग अवश्य है किन्तु जाग्रति ही जीवन का मुख्य रूप है। जीवन्मुक्ति जाग्रत व्यवहार में अध्यात्म की अनुभूति के अन्वय को महत्वपूर्ण मानती है। वस्तुत सामाजिक समात्मभाव ही अध्यात्म और कला का जीवन्त रूप है। समाधि और क्रोचे की कलानुभूति को साधना की असाधारण स्थिति का पद दिया जा सकता है।

समात्मभाव की सभूति मे ही कला का वास्तविक सौन्दर्य और आनन्द उदित होता है। इस अनुभूति की सहज सगति मे कला और सस्कृति की अन्य सभी सगतियो का सूत्र है। क्रोचे की कलानुभूति के रूप की कल्पना करना कठिन है। समात्मभाव की सभूति के रूप में व्यक्ति, विषय और व्यक्तियो के व्यवहार की सक्रिय और सहज सगति होती है। आन्तरिक अनुभूति का मर्म सभी रूपो से अभिन्न होता है। अभिव्यक्ति का यही रूप कला का जीवन्त और स्थायी स्वरूप है। क्रोचे की कलानुभूति भी इस अभिव्यक्ति मे साकार होने के लिए उत्सुक रहती है। स्वप्न (कल्पना) की तन्मयता मे इसके तिरोहित होने के कारण कलानुभूति के मर्म में अन्तर्निहित इस वास्तविक अभिव्यक्ति के अस्तित्व का आभास क्रोचे को नही हुआ। इसीलिए वे और उनके अनुयायी इसे गौण मानते हैं। प्रकृति के सौन्दर्य-दर्शन और

चित्रकला को अधिक महत्व देने के कारण यह भ्रान्ति सम्भव होती है। इटली की संस्कृति मे चित्रकला का विशेष महत्व क्रोचे की भ्रान्ति का कारण है। नृत्य, संगीत और काव्य को महत्व देने पर समात्मता की संभूति ही कला की अभिव्यक्ति का वास्तविक स्वरूप प्रतीत होती है। बालको के जीवन और प्राचीन जातियो की संस्कृति मे हम इस अभिव्यक्ति का साक्षात् रूप देख सकते हैं। बालको के सामूहिक उत्सव जो बडो को उपद्रव प्रतीत होते हैं तथा प्राचीन जातियो के लोकोत्सव, जो आज असाम्य कहलाते हैं, कला के वास्तविक और जीवन्त रूप हैं। इनमे नृत्य, संगीत, काव्य आदि की सक्रिय संगति होती है तथा समात्मता की संभूति कलात्मक सौन्दर्य के आनन्द को अनन्त समृद्धि प्रदान करती है। क्रोचे के मत में कलाकारों की कलात्मक साधना की असाधारण और क्षणिक अवस्था को अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिए इस मत में समात्मता की संभूति से अनुप्राणित लोक की सामान्य और स्थायी कला प्रवृत्ति की उपेक्षा हुई है। इतना अवश्य है कि एक प्रत्याहार के रूप मे ही सही किन्तु कलाकार की साधना की असाधारण और क्षणिक अवस्था समाज के प्राकृतिक परिच्छेदो से मुक्त रूप मे स्पष्ट हुई है। ज्ञात नहीं किस आधार पर इसे व्यक्तिगत माना जा सकता है। कदाचित् अनुमान ही इसका साधन है। सामाजिक समात्मभाव के प्रति उदासीनता भी इस अनुमान मे सहायक है। आन्तरिक अनुभूति और अभिव्यक्ति की वास्तविक स्थिति मे वह अपने व्यक्तित्व के परिच्छेद से अतीत तथा दूसरो के साथ समात्मभाव से युक्त प्रतीत होगी। क्रोचे के विपरीत भारतीय काव्य-शास्त्र के प्रसिद्ध रसवाद में मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रकृति की सीमाओं में ही पूर्ण मानने की भूल हुई है। दोनों ही मत व्यक्तिवादी हैं। दोनो ही सामाजिक समात्मभाव की संभूति के मर्म को समझने में असमर्थ रहे। किन्तु जहाँ क्रोचे की कल्पानुभूति व्यक्तिगत होते हुए भी समस्त प्राकृतिक परिच्छेदो से अतीत है वहाँ भारतीय काव्य-शास्त्र की रसानुभूति रति आदि के प्राकृतिक मनोभावो से अवच्छिन्न तथा शारीरिक अनुभावो से अनुगत है। भारतीय रसवाद का मूल उपनिषदो के अध्यात्मवाद मे है जिसके अनुसार ब्रह्म रस-स्वरूप है। किन्तु काव्य-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक रसवाद की उपनिषदो के अध्यात्मवाद से समुचित संगति नही है। काव्य-शास्त्र के रसवाद की व्यक्ति-निष्ठता इस संगति के मार्ग मे प्रमुख बाधा है। इस संगति का एक मात्र सूत्र सामाजिक समात्मभाव की संभूति है। काम-शास्त्र से प्रभावित भारतीय काव्य-शास्त्र इस संभूति के मर्म को समझने मे असमर्थ रहा।

काम के प्राकृतिक धर्म मे भी समात्मभाव का मौलिक रस प्रकृति और संस्कृति की सन्ध्या की रचना करता है। किन्तु काम शास्त्र के विलास-प्रधान हो जाने के कारण उससे प्रभावित संस्कृति और काव्य मे काम का यह मौलिक मर्म भी तिरोहित हो गया। फल यह हुआ कि काव्य शास्त्र का रसवाद व्यक्तिगत और प्राकृतिक बन गया। उपनिषदो के आध्यात्मिक रसवाद के साथ समन्वय के सोपान इस भ्रान्ति मे तिरोहित होगये।

अतः भिन्न होते हुए भी क्रोचे और काव्य शास्त्र के रसवाद में समानता है। ऊपर इस समानता का संकेत किया जा चुका है। व्यक्तिवाद और सामाजिक समात्मभाव की उपेक्षा इन दोनो मतो मे समान है। इसीलिए दोनो ही मत कला और काव्य के क्षेत्र मे रूप और अभिव्यक्ति की प्रधानता के प्रेरक हुए। क्रोचे की कलानुभूति प्राकृतिक परिच्छेदो से अतीत और उनके प्रति उदासीन है। यह उदासीनता बाह्य अभिव्यक्ति के उपकरणो के प्रति कला को उदासीन बनाती है। 'रूप' तत्व से अभिन्न है। फिर भी क्रोचे के प्रभाव से आधुनिक पश्चिमी कला और काव्य मे अभिव्यक्ति की ही प्रधानता रही है। भारतीय रसवाद व्यक्ति-निष्ठता और सामाजिक समात्मभाव के प्रति उदासीनता मे क्रोचे के मत के समान होते हुए भी व्यक्तित्व की प्राकृतिक वृत्तियो मे निरूढ था। अत यद्यपि उसने भी भारतीय काव्य मे रूप और अभिव्यक्ति की प्रधानता का ही पथ प्रशस्त किया, फिर भी प्राकृतिक वृत्तियो मे रसवाद के निरूढ रहने के कारण वह आधुनिक पश्चिमी कला और काव्य के समान बाह्य अभिव्यक्ति के प्राकृतिक उपकरणो के प्रति उदासीन न रह सका। यही कारण है कि रूप प्रधान होते हुए भी कालिदास से लेकर छायावाद तक के काव्य मे शृगार की ही प्रधानता है। मनोवैज्ञानिक संगति के कारण यह रसवाद काम-शास्त्र से इतना आक्रान्त है कि काव्य-शास्त्र म गुण, अलकार आदि की व्याख्या के प्रसग म आवश्यक न होते हुए भी प्राय शृङ्गार के ही उदाहरण दिये गये हैं। निर्मृष्ट चन्दन, 'उन्नत पयोधर दृष्ट्वा' आदि के अतिरिक्त हमारे आचार्य लक्षणा, व्यंजना आदि की कल्पना ही नहीं कर सकते। काव्य शास्त्र के रसवाद की प्रकृति निरूढता के कारण उपनिषदो के आध्यात्मिक रसवाद से उसकी समुचित संगति नही है। इसी सीमा के कारण अन्य संगतियो को सम्भव बनाने के लिए साधारणीकरण आदि की क्लिष्ट कल्पनाये काव्य शास्त्र मे आवश्यक हुई।

अस्तु, सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति ही कलात्मक अभिव्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। इसी अभिव्यक्ति मे कला का सौन्दर्य मनुष्य के अभ्यन्तर मे स्फुटित होता है तथा वाह्य कला रूपो मे साकार होने के लिए उत्सुक होता है। सौन्दर्य के इसी रूप मे शिवम् का भी बीज है। वस्तुत आन्तरिक अभिव्यक्ति के समात्मभाव मे अहभाव के बिन्दुओ मे व्यक्तिगत सामजस्य होता है। यह सामजस्य ही सौन्दर्य का सामान्य रूप है। किन्तु व्यवहार और वाह्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से किसी भी अहभाव के बिन्दु को हम सापेक्ष केन्द्र मान सकते हैं और समात्मभाव की सम्भूति को इस केन्द्र की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। यह एक ऐसा समृद्ध भाव है जिसमें सभी बिन्दु अपने को कलाकार तथा इस अभिव्यक्ति मे कृतार्थ मान सकते हैं। किसी सुन्दर दृश्य को देखने पर जब हम अपने किसी आत्मीय को अपनी सौन्दर्य अनुभूति मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं तो यह सापेक्ष केन्द्र-भाव अधिक स्पष्ट होता है, यद्यपि समात्मभाव की सभूति मे ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का भाव पूर्ण होता है।

इसी प्रकार पर की सापेक्ष केन्द्रीयता की दृष्टि से आत्मदान ही शिवम् है। जिस प्रकार सापेक्ष दृष्टि से अभिव्यक्ति का रूप अपनी अनुभूति में भाग लेने के लिए दूसरों को आमन्त्रित करना है, उसी प्रकार आत्मदान का सापेक्ष रूप दूसरो के भाव में भाग लेना है। वस्तुत दोनो स्थितियो मे अधिक अन्तर नही है। इसी-लिए शक्ति-तन्त्रो में शिव और शक्ति (सुन्दरी) को अभिन्न तथा दोनो को सुन्दर माना है। शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव है। सुन्दरम् ही शिवम् और शिवम् ही सुन्दरम् है। दोनो का साम्य ही पूर्ण सत्य का स्वरूप है।

वस्तुत सत्य के व्यापक स्वरूप में शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार है। केवल सत्ता और सिद्धान्त सत्य के उदासीन और प्रत्याहृत रूप है। सृजनमुखी नश्वर सत्ता पूर्णतर सत्य का निर्माण करती है। सृजन ही जीवन के सत्य का मूल रूप है। शक्ति तत्रो म शक्ति की सृजनात्मिका जगदम्बा के रूप मे उपासना होती है। विश्व की सत्ता भी प्रकृति के सृजन धर्म मे साकार और सजीव हुई है। इसी सृजन के सत्य मे प्रकृति की सत्ता का सौन्दर्य साकार हुआ है। प्रकृति के सृजन मे विश्व जीवन का मगल भी अन्वित है। अत सत्य और सुन्दर होने के साथ-साथ सृजन ही शिवम् भी है। इस सुन्दरम् और शिवम् के सृजनात्मक रूप मे सत्ता की उदासीनता और एकान्तभाव की नीरसता समात्मभाव की सरस एव आनन्दमयी सभूति मे

परिणत हो जाती है। भारतीय काव्य-शास्त्र के रसवाद मे प्राकृतिक वृत्तियो का आधार मानने के कारण प्राकृतिक रस की सभावना अधिक है। उसमे सृजन का सौन्दर्य और मगल नही है किन्तु व्यक्तिगत सवेदना का सुख अवश्य है। क्रोचे के आत्मविलीन तथा एकान्त और व्यक्तिगत अभिव्यक्तिवाद मे न प्राकृतिक सुख है और न समात्मभाव की सभूति का सास्कृतिक आनन्द है। चेतना की यह पूर्ण अन्तर्मुखता योग की समाधि की भाति है। योग दर्शन इसे आनन्दमय नही मानता। वेदान्त ने ब्रह्मात्म को आनन्दमय माना है। किन्तु सत्य यह है कि आत्मा की व्यापकता के आधार पर समात्मभाव की सभूति ही आनन्द का रहस्य है। समात्मभाव एकान्तभाव मे सम्भव नही है इसीलिए सृष्टि के आरम्भ मे प्रजापति को अकेला जीवन आनन्दमय न लगा और उन्होने बहु-रूप प्रजा की सृष्टि की तथा उसमे प्रवेश कर आनन्द का लाभ किया। प्रजापति का सृष्टि के रूपो मे प्रवेश समात्मभाव का ही सूचक है।

क्रोचे के कलाकार की स्थिति उपनिषदो के प्रजापति के बहुत कुछ समान है। प्रजापति के समान अकेला होने के कारण क्रोचे के कलाकार के भी नीरस होने की आशका है। अन्तर केवल इतना ही है कि अन्तर्विलीन होते हुए भी क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति को सक्रिय और सृजनात्मक माना है। आन्तरिक अनुभूति की अवस्थाओ का विवेचन कठिन है। यह कल्पना नही की जा सकती है कि क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति का सृजनात्मक रूप क्या होगा। भाव, रूप और वस्तु ही सृजन की तीन कोटियाँ हैं। वस्तुत भाव ही रूप मे साकार और वस्तु मे मूर्त होता है। सम्भव है उपनिषदो के प्रजापति की भाँति क्रोचे का एकाकी कलाकार भी सृजन मे समर्थ हो। किन्तु लोक मे जीवन और कला दोनो मे ही यह सगत नही जान पडता। प्रकृति मे मिथुन से ही सृष्टि होती है। भावलोक मे भी परस्पर समात्मभाव की सम्भूति म ही सृजन का सूत्र है। यह समात्मभाव एकत्व मे नही वरन् अनेकत्व के अद्वैत म सम्भव है। इसीलिए वेदान्त के विधाताओ ने अपने सिद्धान्त को अद्वैतवाद का नाम दिया है। कला और काव्य 'भाव का सृजन' है। वह अनेक चिद्-बिन्दुओ के समात्मभाव की सभूति मे ही सम्भव हो सकता है। इसी मे आनन्द का स्रोत है। जीवन मे हम इसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। भारतवर्ष मे प्राचीन लोक-काव्य और लोक-पर्वो का रूप इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। भारतीय काव्य शास्त्र का रसवाद मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद मे निरुद्ध रहने के कारण उपनिषदो के

आध्यात्मिक रसवाद को भूल गया। उसमें प्राकृतिक सुख तो है, किन्तु समात्मभाव का सृजनात्मक आनन्द नही है। क्रोचे की कलानुभूति सृजनात्मक होते हुए भी व्यक्तिगत है। किन्तु जीवन और कला में समात्मभाव की सम्भूति में ही सृजनात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्य और आनन्द का स्रोत बनती है।

जिस प्रकार अभिव्यक्ति की ओर अभिमुख होते ही प्रगति का आमंत्रण सुन्दरम् का विधान करता है, उसी प्रकार आत्मदान में प्रवृत्त होते ही यह सृजनात्मक अभिव्यक्ति शिवम् में साकार होती है। दोनो ही सृजनात्मक हैं। भाव और रूपो का सृजन दोनो मे समान है। दोनो मे वितरण के द्वारा भाव-समृद्धि का सिद्धान्त सामान्य है। दोनो मे समात्मभाव की सम्भूति म अहकार का विस्तार होता है। चिद्बिन्दुओ की सापेक्षता की दृष्टि से हम इनमे कुछ भेद कर सकते हैं, यद्यपि ये भेद भी सापेक्ष ही हैं। इस सापेक्षता की दृष्टि से हम सुन्दरम् में अपने भाव का वितरण दूसरो को करते हैं और शिवम् में दूसरो के भाव में आत्मदान का अनुयोग देकर उसे समृद्ध बनाते हैं। अभिव्यक्ति मे रूप की प्रधानता है। रूप मे ही भाव साकार होते हैं। अभिव्यक्ति की प्रधानता होने के कारण कला और काव्य में रूप का महत्व अधिक रहा हैं। शिवम् में भाव की प्रधानता है। रूप उसमे अनायास अन्वित होता है। 'रूप' रचना अवश्य है, किन्तु स्वय रचनात्मक नही है। इसके विपरीत 'भाव' रचनात्मक है। वस्तुतः भाव का सृजन आत्मदान के द्वारा सृष्टाओं का सृजन है। अत 'भाव का सृजन' सृजन की परम्परा का निर्माण करता है। प्रकृति और संस्कृति दोनो मे सृजन का यही वास्तविक रूप है। यही परम्परा सुन्दरम् की संरक्षक है। अत यही शिव का पूर्ण रूप है। शक्ति की सृजनात्मक कल्पना तथा शिव कथा मे सतति के महत्व का यही रहस्य है। जीवन में शिशु का जन्म ही कला और काव्य का सर्वोत्तम रूप है। यह सृष्टाओ का सृजन है। इसकी अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य सहज अन्वित है। सतति के निर्माण की परम्परा मे आत्मदान का शिव साकार होता है। कला और काव्य में इसी सृजनात्मक भाव-योग का अन्वय अभिव्यक्ति के सुन्दरम् को शिवम् बनाता है।

अस्तु, सृजन ही जीवन और संस्कृति का सर्वोत्तम सत्य है। सृजन सत्य का ऐसा पूर्ण रूप है जिसमें शिवम् और सुन्दरम् का भी समाहार हो जाता है। अनेक आध्यात्मिक दर्शनो मे चरम सत्ता को सृजनात्मक माना गया है। प्राकृतिक सत्ता भी सृजन मे अनुरक्त होकर अपने सत्य को अधिक सम्पन्न और पूर्ण बनाने मे

तत्पर हुई है। इस सृजन की अभिव्यक्ति में सुन्दरम् का और सृजन के लिए अपेक्षित आत्मदान में शिवम् का आविर्भाव होता है। अभिव्यक्ति भी रूप का सृजन है और शिवम् का आत्मदान भी सृजन की परम्परा मे अभिव्यक्त होता है। अत सुन्दरम् मे भी शिवम् की प्रेरणा है और शिवम् मे भी सुन्दरम् का प्रकाश है। अलग–अलग समझने के लिए सत्य का सामान्य स्वरूप अवगति है। अभिव्यक्ति सुन्दरम् का विशेष रूप है और आत्मदान शिवम् का लक्षण है। सत्ता, क्रिया, सिद्धान्त आदि सत्य के अनेक रूप हैं। किन्तु यही भाव सुन्दरम् और शिवम् के भी उपादान बनते हैं। अत केवल इनके उदासीन अस्तित्व को ही सत्य की सज्ञा दी जा सकती है। अवगति के आलोक मे इस अस्तित्व का उद्घाटन होता है। सुन्दरम् और शिवम् से विविक्त सत्य का यही रूप है।

अभिव्यक्ति की ओर अभिमुख होते ही अवगति के आलोक मे आह्लाद का उदय होता है और सुन्दरम् की सृष्टि होती है। 'अभिव्यक्ति' अवगति को साकार और सम्वहनीय बनाती है। अवगति का ज्ञाता अपनी अनुभूति मे भाग लेने के लिए दूसरो को आमन्त्रित करता है। इस आमन्त्रण और अभिव्यक्ति से अवगति की अनुभूति समृद्ध होती है। अभिव्यक्ति और सम्वाहन के लिए रूपों की रचना का अनुराग ही सुन्दरम् का जनक है। इसीलिए भाषा के प्रयोग मे 'रूप' सौन्दर्य का समानार्थक बन गया है। सत्य की अवगति में सत्ता और ज्ञाता के उदासीन भाव के कारण आनन्द का उदय नही होता। इसीलिए विज्ञान शुष्क होते हैं। उसमे ज्ञाता का अहभाव भी अधिक सीमित रहता है। सहयोग से प्राप्त होने वाले ज्ञान मे अहभाव का कुछ विस्तार हो जाने के कारण आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुत सहयोग मे ज्ञान अभिव्यक्ति का ही रूप ग्रहण कर लेता है। अभिव्यक्ति मे अहकार के बिन्दु का विस्तार है। यह विस्तार ही आह्लाद का कारण है। आह्लाद व्यक्ति के केन्द्र और अह के बिन्दु में हर्ष का उद्रेक है। आनन्द बिन्दु की अनुभूति की अपेक्षा समात्मभाव की सभूति अधिक है। इसीलिए शिव के आत्मदान मे ही आनन्द का उदय होता है। अभिव्यक्ति का आरम्भ अहभाव के बिन्दु के विस्तार से होता है। आत्मदान का आरम्भ बिन्दु के विलय से होता है। विलय मे विद्रवित होकर बिन्दु अपनी भाव-सम्पत्ति दूसरे बिन्दु को समर्पित करता है। इस आत्मदान की विभूति से सम्पन्न बिन्दु मे समात्मभाव की सभूति का सागर उमडता है। चेतना के सागर का यह ज्वार ही शिवम् है।

आनन्द इसी सभूति का स्वरूप है। अभिव्यक्ति की रूप-रचना की तुलना मे इस आत्मदान को भाव का सृजन कहना अधिक उचित है। 'रूप' सृष्टि अवश्य है, किन्तु वह सृष्टा नही है। भाव की सृष्टि सृजन की परम्परा को जन्म देकर भाव की सृजनात्मकता सिद्ध करती है। परम्परा अनन्त है। अत शिवम् का आनन्द अनन्त है।

अस्तु, सृजन का सत्य अभिव्यक्ति के सुन्दरम् में साकार होकर आत्मदान के शिवम् में पूर्ण होता है। अवगति का आलोक सुन्दरम् के आह्लाद में स्फुरित होकर शिवम् के आनन्द में पूर्ण होता है। अभिव्यक्ति का सम्वाहन शिवम् के सामात्मभाव की सभूति मे पूर्ण होता है। इस सभूति म ही आह्लाद आनन्द बन जाता है। एक अनन्त परम्परा बन कर सृजन अपने को अमर और सक्रिय सत्य बनाता है। सुन्दरम् के रूप में विधान और विन्यास की सगति अपेक्षित है। भाव और रूप की सगति तो अभिव्यक्ति का स्वरूप ही है। यह सगति ही सुन्दरम् का वाह्य लक्षण है। इसकी तुलना मे शिवम् प्रगति है। भाव की सृजनात्मक परम्परा इस प्रगति का रूप है। शिव का लास्य शिवम् के इसी सक्रिय रूप का प्रतीक है। शिवम् के समात्मभाव की सम्भूति के आनन्द में अन्वित होकर ही जीवन के प्राकृतिक हित स्वार्थमय प्रेग के धरातल से उठकर सास्कृतिक श्रेय बनते हैं। सस्कृति के विकास मे अभिव्यक्ति के सुन्दरम् के साथ-साथ समात्मभाव की सम्भूति के शिवम् का भी समन्वय हुआ है। अवगति के सत्य उसके आधार मात्र हैं। अभिव्यक्ति और आत्मदान के सुन्दरम् तथा शिवम् में ही मानवीय सस्कृति का सत्य पूर्ण हुआ है। अभिव्यक्ति ने सत्य को रूप देकर उसे सुन्दर बनाया। समात्मभाव म रूप की भाव सम्पत्ति समृद्ध होकर शिवम् मे साकार हुई। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् के समन्वय की यह पूर्णता ही कला, काव्य और सस्कृति का पूर्ण रूप है।

प्रकृति और सस्कृति दोनो के इतिहास म हमे इस सत्य का परिचय मिलता है। प्रकृति स्वतन्त्र है, उसकी प्रगति मे किसी अनन्त और स्वतत्र शक्ति की प्रेरणा है। अत उसके इतिहास मे एक प्रगति-शील क्रम है। 'सस्कृति' मनुष्य की सचेतन रचना है। प्रकृति की स्वतन्त्रता मे उसका अधिकार नही है, किन्तु जीवन की गतिविधि में मनुष्य का कुछ अधिकार अवश्य है। वह इस अधिकार का दुरुपयोग भी कर सकता है। इस दुरुपयोग से जीवन मे सगृहीत प्रकृति विकृति बन जाती है। विकृति असुन्दर और अशिव है। प्रकृति की मूल प्रेरणा शक्ति एक है। अत उसकी

रचनाओं मे एक सहज सामजस्य और सतुलन है। नक्षत्र-मडल की गत्यात्मक व्यवस्था इस सामजस्य के सौन्दर्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। वृक्षो के विन्यास, ऋतुओ के क्रम आदि इस सामजस्य के अन्य उदाहरण हैं। सृजन की परम्परा मे प्रकृति की व्यवस्था मे आत्मदान का शिवम् भी साकार हुआ है। सूर्य, पृथ्वी, मेघ आदि का आत्मदान प्रकृति की सृजन परम्परा को अमर बनाता है। वनस्पति और जीव जगत् म भी आत्मदान ही इस सृजन का रूप है। प्रकृति के पुष्पो मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है। पुष्प के वर्ण और आकार म रूप तथा उसके विन्यास मे सामजस्य और सतुलन है। फल प्रकृति मे शिवम् के प्रतीक हैं। फलो मे बीजो का निधान सृजन को एक अनन्त परम्परा बनाता है। फलागम के पूर्व पुष्पोदय शिवम् मे सुन्दरम् के सहयोग का सूचक है। प्रकृति की सफलता पर न्यौछावर होकर पुष्प शिवम् की श्रेष्ठता प्रमाणित करते हैं। रस के माधुर्य और फलो के रूप मे सुन्दरम् शिवम् से एकाकार हो जाता है।

प्रकृति के बीज मे नर और मादा एकत्र हैं। पशु जगत मे यह सृजन मिथुन धर्म बन गया है। सुन्दरम् और शिवम् भी वनस्पति-जगत की अपेक्षा अधिक विभाजित हो गये हैं। पशुओ के नर मे सौन्दर्य अधिक है और आत्मदान कम। मादा में सौन्दर्य कम है और आत्मदान अधिक है। पशुओ मे बहुत कम 'नर शिशुओ के पालन मे सहायक होते हैं। वे सृजन के निमित्त मात्र हैं। मनुष्य मे सुन्दरम् और शिव का समन्वय पशुओ की अपेक्षा अधिक है। नर मे आत्मदान की क्षमता उत्पन्न हुई है यद्यपि उसने इसका पूर्ण उपयोग नही किया है। मादा (स्त्री) में सौन्दर्य का अद्भुत विकास हुआ है। नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवियो ने उसे विधाता की सर्वोत्तम सृष्टि कहा है। सुन्दरम् और शिवम् का श्रेष्ठतम समन्वय होने के कारण नारी सृष्टि का सर्वोत्तम काव्य है। नारी के सौन्दर्य का मोह और उसके आत्मदान का सुख पुरुष के लिए बन्धन बनकर सभ्यता और संस्कृति के विकास का सूत्र बना। पुरुष के जीवन में सुन्दरम् और शिवम् का समुचित समन्वय होने पर पृथ्वी पर वास्तविक स्वर्ग का निर्माण हो सकता है। पुरुष के पौराणिक स्वर्ग की कल्पना मे सुन्दरम् की ही अतिरजना अधिक है। शिवम् के आत्मदान और सृजन के लिए उस स्वर्ग मे स्थान नही है। उसका वही स्वर्ग पृथ्वी पर साकार हुआ। सभ्यता के रूपो मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हुई। उसके कला, काव्य आदि मे भी रूप का मोह और अभिव्यक्ति का अनुराग अधिक रहा है। शिवम् के आत्मदान का समुचित

समन्वय न होने के कारण पुरुष के व्यक्तित्व और उसकी सभ्यता का सुन्दरम् पूर्ण न हो सका।

मनुष्य जीवन मे इस आत्मदान के नियम् का महत्व पशु जीवन की अपेक्षा अधिक है। पशुओ की माता का सृजनधर्म संतति के जन्म मे प्रायः पूर्ण हो जाता है। पशुओ के बालक जन्मकाल मे ही बहुत समर्थ होते हैं। प्राकृतिक दृष्टि से उनका निर्माण पूर्ण होता है। सस्कृति के लिए पशु जीवन मे अवकाश नही है। सतति के जन्म मे माता का आत्मदान कृतार्थ हो जाता है। नर के आत्मदान और सहयोग की दोनो को अधिक अपेक्षा नही होती। किन्तु मनुष्य की कहानी पशुओ से भिन्न है। मनुष्य का बालक जन्मकाल मे बहुत असमर्थ होता है। उसका प्राकृतिक निर्माण अपूर्ण और सास्कृतिक निर्माण शून्य होता है। प्राकृतिक दृष्टि से भी मनुष्य के बालक का विकास बीस-पच्चीस वर्ष की दीर्घ अवधि मे पूर्ण होता है। सास्कृतिक विकास की कोई अवधि नही है और न उसकी पूर्णता की कोई सीमा है। किन्तु उसकी भूमिका के लिए उक्त अवधि ही उपयुक्त है। मनुष्य के बालक के इस निर्माण के लिए एक अत्यन्त व्यापक रूप मे मनुष्य का आत्मदान अपेक्षित है। परिवार और समाज दोनो ही क्षेत्रो में स्त्री के साथ पुरुष का सहयोग ही इस निर्माण को यथेष्ट पूर्णता प्रदान कर सकता है।

सस्कृति की सृजनात्मक परम्परा ही मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम धर्म है। स्त्री के लिए तो यह धर्म उसका सहज शील बन गया है। सतति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रो मे भी इस धर्म का विस्तार हुआ है। सभ्यता के इतिहास मे पुरुष ने अन्य क्षेत्रो मे तो अपना कृतित्व बहुत दिखाया है किन्तु सतति के सम्बन्ध मे अथवा यो कहिये सृष्टाओ के सृजन मे उसके आत्मदान का भावयोग यथेष्ट नही रहा। इस कारण अन्य क्षेत्रो मे उसका सृजन निरपेक्ष और अनियंत्रित निर्माण बन गया। आधुनिक सभ्यता के उन्मादक और विनाशक दोनो ही रूप इसी गति के परिणाम है। आत्मदान की उदारता का सस्कार कम प्राप्त होने के कारण पुरुष का अहकार समाज और राजनीति के क्षेत्र मे अपनी अतिरंजित आकाक्षाओ का सतोष खोजता रहा। सभ्यता के इतिहास के अधिकाश अनर्थ इसी के फल हैं। आत्मदान की उदार और मगलमयी भावना का विकास करके ही पुरुष अपनी सभ्यता को एक नवीन और शान्तिमयी दिशा दे सकता है। इस दिशा के मार्ग मे ही मानवीय सभ्यता के क्षेत्र मे

शिवम् और सुन्दरम् के वासन्ती उपवन खिलेगे तथा रसमयी सफल अमराइयाँ लहरायेगी।

प्रकृति के वसन्त के समान ही यौवन मनुष्य जीवन में शिवम् और सुन्दरम् के समन्वय का उत्कर्ष है। यो तो अभिव्यक्ति और आत्मदान की भावना मनुष्य मे स्वाभाविक होती है। छोटे बालक मे भी उसके अकुर दिखाई देते हैं। किन्तु यौवन मे ये अकुर पल्लवित और पुष्पित होकर फलित होने के लिए आकुल हो उठते हैं। प्राकृतिक सृजन की शक्ति भी मनुष्य मे यौवनकाल में ही परिपक्व होती है। किन्तु उसमे पुरुष का सहयोग केवल निमित्त के रूप मे होने के कारण वह जीवन के सृजनात्मक मर्म को उस आत्मीयता के साथ न समझ सका जिसके साथ स्त्री उसका निर्वाह करती आई है। प्रकृति सस्कृति का आधार है। प्राकृतिक सृजन मे निमित्त मात्र होने के कारण पुरुष सास्कृतिक सृजन में भी अपने कर्त्तव्य को समुचित रीति से न समझ सका। सतति के सास्कृतिक निर्माण और विकास में पुरुष के आत्मदान और सहयोग के लिए अनन्त क्षेत्र है। उसके यौवन की भावना सास्कृतिक क्षेत्रो मे आत्मदान के अध्यवसाय के बहुत अनुरूप है। मनोविज्ञान बालक के स्वभाव मे अहकार की प्रबलता मानता है। मनोविज्ञान का यह सत्य युवको को आत्मदान के लिए एक अपूर्व अवसर प्रदान करता है। उदारता और आत्मदान के द्वारा ही वे अपनी सतति के अहकार का कम कर सकते हैं। वृद्धो मे भी अहकार और स्वार्थ अधिक होता है। इसी कारण प्राय उनके धर्माचरण मे आडम्बर अधिक रहता है। इसी अहकार को कम करने के लिए धर्म शास्त्रो मे वानप्रस्थ और सन्यास का विधान किया है। कदाचित् वृद्धो के मोह और अहकार के कारण ही धर्म-शास्त्र की यह योजना सफल न हो सकी। इसका परिणाम यह हुआ कि पिछली अनेक शताब्दियों से विश्व में वृद्धो का शासन ही बढता रहा है। अब तो ऐसी स्थिति होगई है कि मृत्यु के अतिरिक्त और कोई शक्ति उन्हें अधिकार और शासन से विरत करने मे समर्थ नही है।

सभव है वृद्धो और बालको मे अहकार की अधिकता का कारण उनकी असमर्थता तथा उनम स्वावलम्बन और आत्मविश्वास की कमी है। वृद्धो का उपचार तो उनका त्याग तथा युवकों के द्वारा उनका आदर है। किन्तु बालको का उपचार युवको का आत्मदान है। प्राकृतिक सृजन मे उसके आत्मदान का अधिक अवकाश न होने के कारण युवक सास्कृतिक क्षेत्र मे अपने कर्तव्य के सम्बन्ध

मे अवश्य कुछ उदासीन रहा है। किन्तु यौवन में आत्मदान की असीम क्षमता और योग्यता वर्तमान है। उसकी आन्तरिक भावना इसके सर्वथा अनुरूप है। आत्मदान का मूल स्रोत उदारता मे अहकार के विन्दु का विस्तार है। दूसरे के प्रति सम्मान और समानता की भावना के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है। नीतिकारो ने यौवन का उद्धत और उच्छृखल रूप चित्रित किया है। उन्होने यौवन की आन्तरिक विभूतियो को निकट से नहीं देखा। उच्छृखलता और उद्धतता यौवन की विकृतिया है जिनके लिए वृद्धो का आधिपत्य और शासन भी उत्तरदायी है। अन्यथा यौवन मे कितना सौहार्द और कितना औदार्य होता है इसका अनुभव हमे यौवन मे ही होता है। सास्कृतिक आदर्शवाद के नेता युवक ही रहे हैं। कितने राजकुमारो ने बुद्ध और विवेकानन्द के समान यौवन मे ही सन्यास ले लिया ? पुरु और भीष्म का त्याग स्मरणीय है। कितने वीर युवको ने सस्कृति के आदर्श की रक्षा मे सहर्ष अपने जीवन का वलिदान किया ? राम, कृष्ण आदि के उदार चरित्र अमर हैं। समानता की भावना यौवन का स्वभाव है। राजा, मत्री और सेवक की युवा सतति समानता के भाव से एक दूसरे की सखा हो सकती है, किन्तु उनके पिताओ मे वह सख्य सम्भव नही है। स्त्रियो मे भी यह समानता और सौहार्द का भाव पुरुषो की अपेक्षा अधिक होता है।

सास्कृतिक और सृजनात्मक आत्मदान चेतना का स्वच्छन्द व्यापार है। इस दृष्टि से यह सरल है। किन्तु व्यवहार मे यह एक ऐसा अध्यवसाय है जिसके लिए बहुत शक्ति और ओज की आवश्यकता है। शक्ति आत्मा का स्वरूप और जीवन की स्फूर्ति है। ओज उसकी अभिव्यक्ति का उल्लास है। आत्मदान मे फलित होकर यह शक्ति कृतार्थ होती है। ओज उसका सारथी है। यौवन म शक्ति और ओज की प्रचुरता होती है। बालको और वृद्धो मे इसकी न्यूनता होने के कारण ही कदाचित उनम आत्मदान का उत्साह कम होता है। युवको के प्रेम, सख्य, सौहार्द और दाम्पत्य मे उनकी समानता का भाव प्रमाणित होता है। शक्ति और वुद्धि का भी यौवन म चरम उत्कर्ष है। प्रकृति के वसन्त के समान मनुष्य का यौवन भी उसकी समस्त सम्भावनाओ और शक्तियो के उत्कर्ष का पर्व है। इस उत्सव के वाद मृत्यु तक ह्रास का ही क्रम है। शक्ति के उत्कर्ष और चेतना की समृद्धि के वासन्ती यौवन पर्व मे ही आत्मदान की क्षमता और समात्मभाव की सम्भूति की सम्भावना सबसे अधिक होती है। आत्मदान शिवम् का विशेष लक्षण है। समात्म-

भाव मे शिवम् और सुन्दरम् का पूर्ण समन्वय है। **यह समात्मभाव ही कला और काव्य की मूल प्रेरणा है। यौवन में इसका आधिक्य होने के कारण ही अधिकांश कवियो और कलाकारो ने यौवनकाल में ही सर्वाधिक और सर्वोत्तम रचनायें की है।** सास्कृतिक व्यवस्था मे इसका महत्व इसी से स्पष्ट है कि हमारी धार्मिक परम्परा मे अधिकाश देवता युवक रूप मे ही मान्य हैं। सृजन के देवता होते हुए भी वृद्ध ब्रह्मा की पूजा और प्रतिष्ठा अधिक नही है। वार्धक्य मे रचना करने वाले कवि और कलाकार आत्मा के उत्साह से काल और वय को जीतकर युवक बने रहे हैं। **कला की साधना यौवन की रक्षा का रसायन है।** जो यौवन की भावना को सुरक्षित नहीं रख सके उनकी कला और उनके काव्य में वार्धक्य के चिन्ह हैं।

प्रकृति और व्यक्ति के जीवन के समान ही शक्ति, ओज और उत्साह का उल्लास तथा समानता, सौहार्द और सृजन की भावना समाज और संस्कृति के यौवन के लक्षण हैं। उत्साह और उल्लास से उमड़ता हुआ जीवन नवीन निर्माणो के स्वप्न रचता है। यौवन भविष्य की ओर अभिमुख रहता है। आशा उसकी प्रेरणा है और उत्साह उसका सम्बल है। शक्ति के ह्रास के साथ-साथ वार्धक्य में भविष्य का उत्साह कम हो जाता है। उसकी दृष्टि अतीत की ओर उन्मुख हो जाती है। **स्मृतियाँ ही उसकी सम्पत्तियाँ हैं। उन्ही की चर्चा करके वह अपने अतीत गौरव पर ही** निर्वाह करता है। उसके अधिकार और शासन का मोह युवको की स्वतत्रता को सहन नही कर सकता। सस्कृति और साहित्य के इतिहास मे जब से अतीत का गौरव दृढ हो गया और भविष्य के स्वप्नो की कल्पनाये मन्द हो गई तब से उन पर वार्धक्य का ही आधिपत्य है। कला और कविता भी वृद्धो की तरुणि भार्या के समान अपने पूर्ण गौरव से वंचित रही है। मनुष्य के इतिहास मे इतिहास का बढता हुआ महत्व वार्धक्य का ही लक्षण है। विदेशी विद्वान भारतीयो पर यह आरोपण लगाते हैं कि उन्हे वैज्ञानिक इतिहास मे रुचि नही थी। **इस मृत्युञ्जय जाति की चेतना कालजित थी। आरम्भ से ही उसमें यौवन की स्वतंत्रता, समानता और समात्मभावना ओतप्रोत रही। जब तक यह यौवन की भावना प्रबल रही तब तक इतिहास और अतीत का भार उसे वार्धक्य की ओर न झुका सका।** अहिंसा और वैराग्य भी वार्धक्य के ही लक्षण हैं। बुद्ध के आविर्भाव मे हम भारतीय जीवन और सस्कृति मे वार्धक्य के आरम्भ का सूत्र खोज सकते हैं।

वैदिक साहित्य और संस्कृति मे, विशेषत ऋग्वेद, के युग मे हम यौवन की इस समृद्ध भावना के स्पष्ट लक्षण पाते हैं। ऋग्वेद मे जीवन के प्रति अनुराग और भविष्य के प्रति उत्साह है। उसमे स्वतन्त्रता और समानता की भावना है। स्त्री और पुरुष सहयोग-पूर्वक मन्त्रो की रचना और यज्ञ करते हैं। जीवन के पर्वो मे समारम्भाव की आनन्दमयी सम्भूति सजीव और साकार होती है। ऋग्वेद के पूर्व का इतिहास उपलब्ध नही हैं। ऋग्वेद में किसी पूर्व समाज का प्रसंग नहीं है। यह उस संस्कृति के परिपूर्ण और समृद्ध यौवन का प्रमाण है, जिसका काव्यमय वर्णन ऋग्वेद में अंकित है। यौवन भविष्य की कल्पनाओ और वर्तमान के आनन्द में लीन रहता है। अतीत का लेखा रखने की रुचि और आवश्यकता उसमें नहीं होती। प्रकृति का यौवन भी नित्य नवीन रचनाओं में खिलता है। वह भी अपने अतीत का लेखा नहीं रखता। ऋग्वेद और उसकी पूर्ववर्ती संस्कृति प्राचीन भारतीय जीवन के परिपूर्ण यौवन का उत्कर्ष थी। समारम्भाव की सम्भूति से प्रसूत होने वाले तथा उन परम्पराओ मे निर्मित मन्त्र और सामूहिक उत्सवो मे सम्पन्न होने वाले पर्व यौवन के सौहार्द, समता, स्वतन्त्रता और उत्साह से युक्त जीवन के ही नित्य नवीन उल्लास हैं। ऋग्वेद के काव्य मे रूप और तत्व दोनो की दृष्टि से यौवन के लक्षणो का पूर्ण समवाय है। वेद मन्त्रो की स्वर-संयुक्त भाषा मे काव्य और संगीत का अद्भुत संगम है जो काव्य मे अन्यत्र दुर्लभ है। वेद मन्त्रो का मन्द्र और प्लुत-प्रधान स्वर वही परिचित स्वर है जिसका स्फोट पुरुष के जीवन मे यौवन के उत्कर्ष मे होता है। मन्त्र-गायन मे मुद्राओ का संयोग काव्य मे नृत्य की सजीवता का संचार करता है। नृत्य, सङ्गीत और कविता के गुणो से सम्पन्न ऋग्वेद का काव्य यौवन के काव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। ऋग्वेद की स्वतन्त्रता, समानता, सौहार्द, समारम्भाव, शक्ति, ओज, उत्साह, उल्लास और सृजनात्मक आकांक्षाओं से परिपूर्ण संस्कृति उस काल की यौवनमयी सभ्यता का सजीव चित्र है। ऋग्वेद के बाद ही पौरोहित्य और राज्य शासन के अधिकार, अहंकार और वैषम्य के कारण संस्कृति का यौवन धीरे-धीरे वार्धक्य की ओर बढ़ने लगा। इस ह्रास के इतिहास मे कहीं कहीं यौवन की स्मृतियां झलक जाती हैं। वार्धक्य की यह ह्रास-मुखी गति ही भारत के पतन और पराजय का कारण बनी। विश्व के इतिहास मे वार्धक्य का अहंकार और मोह मानव जाति को विनाश के कगारे पर ले आया है। प्रलय की इस सीमा पर मनुष्य जाति का अभिनव यौवन नवीन जागरण की अँगड़ाइयां ले रहा है। वह दिन कब

आयेगा जब उसकी पलको मे मचलने वाले नवीन कल्पनाओ के स्वप्न फिर भूमि पर साकार होगे, जब शिवम् और सुन्दरम् के समन्वय से कला का आकाश अनन्त नक्षत्रो से जगमगा उठेगा, जब सस्कृति का अन्तरिक्ष स्वप्नो के रजित मेघो और इन्द्रधनुषो से अलकृत हो उठेगा, जब कविता की सहस्रधारायें वेद-मत्रो के मन्द्र सगीत से दिशाओ के कुहरो को गु जित कर दगी और जब जीवन की धरती वसन्त के पुष्पो और फलो से परिपूर्ण हो उठेगी। जब वह दिन आयेगा तभी मागलिक रचनाओ की सुन्दर परम्परायें नित्य नवीन पर्वो से जीवन को कृतार्थ करेगी। इन्ही परम्पराओ मे जीवन का सौन्दर्य और श्रेय अमर होगा।

अध्याय ५

संस्कृति, साहित्य और कला

सत्य, शिव और सुन्दरम् मुख्यत जीवन के सास्कृतिक मूल्य हैं। वे सस्कृति की परम्परा तथा साहित्य और कला के रूपो मे साकार होते हैं। मनुष्य की जो समृद्ध चेतना शक्ति, श्रेय और सौन्दर्य की साधना करती है वह सस्कृति, साहित्य और कला के समाराधन मे कृतार्थ होती है। सत्य और श्रेय के प्राकृतिक रूपो का अनुसधान विज्ञानो मे होता है तथा उनसे जीवन की प्राकृतिक आकाक्षाये पूर्ण होती हैं। किन्तु इनके श्रेष्ठतर रूप जो मनुष्य की समृद्ध चेतना मे उदित होते हैं सस्कृति की विभूति बनते हैं। इन्ही की विभूति से साहित्य और कला को वैभव मिलता है। सत्य और श्रेय के सास्कृतिक रूप प्रकृति को समाहित कर उसमे भी सास्कृतिक भाव का अन्वय करते हैं। सौन्दर्य के प्राकृतिक रूप का निर्धारण कठिन है। सामान्यत. हम सौन्दर्य को 'रूप का अतिशय' कह सकते हैं। वन्य प्रकृति और पशुओ के जीवन मे कदाचित् ऐसा 'रूप का अतिशय' होता है, जिसका उपयोग प्राकृतिक कहा जा सकता है। फूलो और पक्षियो के रग प्रकृति मे 'रूप के अतिशय' के ऐसे उदाहरण हैं, जिनमे हम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पा सकते हैं और जिनका प्राकृतिक उपयोग भी है। कदाचित् प्रकृति मे ये रूप 'अतिशय' नही है, क्योकि उन रूपो का भी उपयोग है। सम्भवत. सौन्दर्य सत्य और श्रेय की अपेक्षा अधिक शुद्ध और पूर्ण रूप में सास्कृतिक है। रूप के अतिशय का वास्तविक सौन्दर्य मनुष्य के कृतित्व में ही प्रकट होता है। इस सौन्दर्य की रचना ही कला है। साहित्य कला का ही एक रूप है। कला का रूप स्वरूपत सास्कृतिक होने के कारण ही कला को सस्कृति मे प्रमुख माना जाता है। 'कला' मनुष्य के द्वारा रूप के अतिशय की रचना है। इस रूप के अतिशय में ही सौन्दर्य उदित होता है। अत 'कला' सौन्दर्य की सृष्टि है। सृजनात्मकता के आधार पर परमात्मा की सुन्दर सृष्टि को उसकी 'कला' कहा जाता है। तन्त्रो की सृजनात्मिका शक्ति को भी 'कला' कहते हैं। 'कला' के सौन्दर्य मे रूप का मौलिक अतिशय होने के कारण कला को सस्कृति का प्रमुख अग मानते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कला की सृजनात्मकता भी इसका एक अन्य

कारण है। **'संस्कृति' भी स्वरूप से सृजनात्मक है।** 'संस्कृति' पद की व्युत्पत्ति मे ही यह सृजन का भाव अन्तर्निहित है। 'कृति' का अर्थ रचना अथवा सृजन ही है। 'स' (सम्) उपसर्ग है, जो 'संस्कृति' मे रचना के रूप की विशेषता प्रकट करता है। 'सम्' का अर्थ 'साम्य', 'समानता' अथवा 'पूर्णता' है। 'सम्' के ये अर्थ भारतीय संस्कृति और संस्कृति की भारतीय धारणा के विशेष उपलक्षण हैं। संस्कृति की पश्चिमी धारणा में 'कृति' की कोई विशेषता अपेक्षित नही है। पश्चिमी धारणा मे कृतिमात्र को संस्कृति माना जाता है। रचना के सभी रूप सांस्कृतिक हैं। समाज के इतिहास मे मनुष्य का जो कुछ भी कृतित्व है, वह सभी सांस्कृतिक है। अग्रेजी में 'संस्कृति' का वाचक 'कल्चर' पद 'कृति' का पर्याय है। संस्कृति के पश्चिमी विवरणो में मनुष्य की रचना के सभी रूप सम्मिलित हैं। इतिहास और शासन की विडम्बनायें भी इनके अन्तर्गत हैं। इसी पश्चिमी धारणा के आधार पर तथा पश्चिमी विद्वानो के निर्देश एव अनुकरण पर भारतीय संस्कृति के विवरणो मे भारतीय समाज की ऐतिहासिक रचनाओ का उल्लेख प्रधान बन गया है। इन विवरणो को ही संस्कृति का इतिहास मानने के कारण भारतीय संस्कृति की व्याख्याओ में संस्कृति के उन जीवन्त रूपो की उपेक्षा हुई है, जो इतिहास के अन्धकार मे विलीन नही हुए तथा जो आज भी समाज की परम्परा मे प्रचलित हैं और जिनमे संस्कृति के 'सम्' उपसर्ग से लक्षित साम्य, समानता, पूर्णता आदि की विशेषताएँ प्रचुरता से मिलती हैं। **संस्कृति के ये जीवन्त रूप हमारे पर्वों, उत्सवों, संस्कारो, प्रथाओ आदि में मिलते हैं।**

अस्तु, संस्कृति की इन दो भिन्न धारणाओ का विवेचन हम आगे करेंगे। यहा हमारा उद्देश्य केवल संस्कृति के सृजनात्मक रूप को लक्षित करना है, जो संस्कृति की पूर्वी और पश्चिमी दोनो धारणाओ मे समान रूप से मिलता है। दोनो ही धारणाओ के अनुसार संस्कृति मनुष्य की 'कृति' है। रचनात्मकता संस्कृति का मूल लक्षण है। कला में यह सृजनात्मकता अधिक स्फुट रूप मे पाई जाती है। अत. संस्कृति की कल्पनाओ और उसके विवरणो मे 'कला' की प्रमुखता रहती है। 'कला' सौन्दर्य की सृष्टि है। 'सौन्दर्य' संस्कृति की अमूल्य विभूति है। किन्तु सत्य और श्रेय का भी संस्कृति मे महत्वपूर्ण स्थान है। श्रेय अथवा शिवम् का कृतिरूप स्पष्ट है। श्रेय को आचार का लक्ष्य और कर्मरूप माना जाता है, यद्यपि कर्म उसका बाह्यरूप ही है तथा श्रेय मे भाव का मर्म अन्तर्निहित रहता है। कर्म तो केवल

श्रेय का शरीर है, भाव ही उसकी आत्मा है। कर्म से उपाहित पदार्थ भी श्रेय के अंग हैं। पदार्थों का श्रेय भौतिक और प्राकृतिक है। श्रेय के सांस्कृतिक रूप में भाव के द्वारा उनका अन्वय होता है। यह सांस्कृतिक भाव वस्तुत 'भाव का अतिशय' होता है। भाव का यथार्थ, परिच्छिन्न और उपयोगी रूप व्यक्तिगत होता है। जो भाव समात्मता की स्थिती मे सम्पन्न होता है, उसमें अतिशय का उदय होता है। यही अतिशयपूर्ण भाव सांस्कृतिक श्रेय का आन्तरिक तत्व है। कर्म और पदार्थों के देह मे यह भाव-तत्व साकार होता है। कर्म से अन्वित होने के कारण यह प्रकट रूप मे क्रियात्मक अथवा रचनात्मक होता है। अनुभव के मर्म मे इस भाव का आतरिक स्वरूप भी रचनात्मक विदित होगा। अस्तु श्रेय का सवाही भाव भी, रचनात्मक होने के कारण, संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। संस्कृति के ऐतिहासिक विवरणो मे आचार और भाव के इस शिवम् अथवा श्रेय को सौन्दर्य के साथ उचित महत्व मिला है। किन्तु श्रेय के भाव की रचनात्मकता सूक्ष्म और आन्तरिक होने के कारण इतनी स्फुट नही होती, जितनी सौन्दर्य के रूप की रचनात्मकता होती है। इसीलिए भाव के श्रेय को सस्कृति मे इतना आदर नही मिलता, जितना कि रूप के सौन्दर्य को मिलता है। भाव का अतिशय भी उसकी रचनात्मकता की भांति आन्तरिक होता है, वह रूप के अतिशय की भांति प्रकट नही होता। प्रकट रूप मे भाव के फल अतिशय की अपेक्षा उपयोगी अधिक होते हैं। उसकी यह प्रकट उपयोगिता ही श्रेय को सौन्दर्य का यह आकर्षण प्राप्त करने में बाधक होती है, जो कला को सहज ही उपलब्ध होता है। किन्तु वस्तुतः कला का कृतित्व केवल रूप में कृतार्थ नहीं होता। इसीलिए अधिकांश कलाओं में भाव-तत्व का संयोग रहता है। 'भाव' संस्कृति की आत्मा है। 'सौन्दर्य' उसका रूप है। रूप के सौन्दर्य का आकर्षण और उसका सम्मोहन अधिक है, किन्तु भाव की महिमा से भी हम अपरिचित नही हैं। सस्कृति और कला के क्षेत्र मे कुछ दूर जाने पर हमें भाव की महिमा विदित होती है और हम रूप की अपेक्षा भाव को अधिक महत्त्व देने लगते हैं। ये दोनों ही स्थितियाँ विषमता से दूषित हैं। संस्कृति का सही रूप भाव और रूप का साम्य है, जो भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा में मिलता है। हमारे पर्व, संस्कार आदि इसी साम्य के साकार उदाहरण हैं। तन्त्रों में शक्ति और शिव का साम्य संस्कृति के इसी मर्म का रहस्यमय सूत्र है। 'शक्ति' कला है। वह सौन्दर्य के रूपो की विधात्री है। 'शिव' भाव है। दोनो साम्य मे अभिन्न

हैं और एक दूसरे का सम्भावन करते हैं। भाव और रूप का यही साम्य संस्कृति का परम सत्य है। 'सम्' का उपसर्ग इसी साम्य का द्योतक है। संस्कृति के इस साम्यपूर्ण व्यापक सत्य में सत्य के प्राकृतिक, भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप भी समाहित हो जाते हैं। **शिवम् और सुन्दरम् की गगा-यमुना के सगम में अन्तर्धान होकर सत्य की सरस्वती संस्कृति के पावन तीर्थराज की रचना करती है।**

साहित्य और कला संस्कृति के सत्य-शिव सुन्दरम् को समाहित करने वाले साधना के दो प्रमुख रूप हैं। दोनो ही रचनात्मक होने के कारण सास्कृतिक हैं। रचनात्मक चेतना भाव और रूप के दो क्षेत्रों में अभिव्यक्ति होती है। संस्कृति के रचनात्मक सत्य में भाव के शिवम् और रूप के सुन्दरम् दोनो का सगम रहता है। **फिर भी साहित्य में प्राय भाव की ओर कला में रूप की प्रधानता रहती है।** किन्तु साहित्य और कला में क्रमश भाव और रूप की प्रधानता केवल सापेक्ष है। उसे गुण प्राधान्य भेद के अनुसार ही समझना चाहिए। साहित्य में रूप की और कला में भाव की महिमा भी कम नहीं। शुद्ध कला बहुत कम प्रचलित और लोकप्रिय है, क्योंकि भाव के अभिलाषी मनुष्य के मन को केवल रूप का सौन्दर्य तृप्त नहीं करता। **केवल रूपवती कला भावविहीन रूपसी के समान है, जो भाव के अभाव में किसी की प्रेयसी नहीं बन सकती।** भाव मनुष्य की अन्तरतम आकाक्षा है। अत कला के केवल रूपात्मक पक्षो में, यदि उनकी रचना के विधान में भाव समाहित नहीं हैं, तो संस्कृति की परम्परा में कला के इन रूपो के व्यावहारिक प्रसगो में भाव का सन्निधान हुआ है। भारतीय संस्कृति की परम्परा में प्रचलित अल्पनाओं के आलेखन इसके परिचित उदाहरण हैं। भाव और रूप के साम्य में कला अपनी पूर्णता को प्राप्त करती है। साम्य की यही पूर्णता साहित्य का भी आदर्श है। किन्तु जिस प्रकार कला में प्राय रूप की प्रधानता पाई जाती है उसी प्रकार साहित्य में प्राय भाव की प्रधानता मिलती है। साहित्य में रूप और भाव का उत्कृष्ट साम्य वाल्मीकि और तुलसीदास जैसे कुछ महाकवियो में ही मिलता है। कालिदास, प्रसाद और रवीन्द्र की रचनाये भी साम्य की इस पूर्णता के बहुत निकट पहुचती हैं। अन्य अनेक कवियो में भाव की ही प्रधानता अधिक मिलती है। सभी कवियो का भाव भी सम्पन्न नहीं है। भाव की प्रधानता का अभिप्राय नहीं है कि उनकी रचना में रूप का गौरव अधिक नहीं है। साथ ही प्राय काव्य में भाव का रूप से समन्वय भी नहीं हो पाया है। सत्य यह है कि **अधिकाश कवि भाव और रूप दोनो में**

किसी की महिमा को अपनी रचना में समाहित नहीं कर सके। भाव जीवन, विज्ञान और विचार का यथार्थ और उपयोगी तत्व मात्र नही है। भाव के इस रूप मे अतिशय नही होता। अतिशय होने पर ही भाव सस्कृति, साहित्य और कला की विभूति बनता है तथा रूप के अतिशय के साथ उसका अधिक सफल सामजस्य सम्भव होता है। ऐसा सामजस्य ही साहित्य और कला को श्रेष्ठ बनाता है। उपयोगी भाव क परिच्छेद मे रूप के अतिशय का समझना कठिन है। यही कठिनाई अधिकाश साहित्य और कला को निष्फल वनाती है। भाव के अतिशय मे समाहित होकर परिच्छेद और उपयोगी भाव भी इस समन्वय के अधिक योग्य बन जाता है। भारतीय सस्कृति की जीवन्त परम्परा में भाव के यथार्थ का भाव के अतिशय के माध्यम से रूप के अतिशय के साथ अत्यन्त सफल समन्वय हुआ है। इस समन्वय का चमत्कार भारतीय सस्कृति के पर्वों की चिरतनता और आनन्दपूर्णता का रहस्य है। भाव के अतिशय के माध्यम के बिना उपयोगी भाव के यथार्थ का समन्वय रूप के अतिशय के साथ अधिक सफल नही होता। आधुनिक सभ्यता के उपकरणो मे बढते हुए रूप के अतिशय की निष्फलता और नीरसता का यही रहस्य है।

किन्तु साहित्य और कला दोनो सृजनात्मक हैं। रूप का सौन्दर्य दोनो का ही लक्षण है। रूप की रचना से ही दोनो का निमार्ण होता है। यदि रूप की रचना को कला का लक्षण माने तो साहित्य को ही नही सस्कृति को भी कला के अन्तर्गत मानना होगा। शैव तन्त्रो मे शिव की सृजनात्मक शक्ति के रूप में कला की कल्पना अत्यन्त समीचीन है। तन्त्रो के मत मे सृजन ही सौन्दर्य का रहस्य है। इसीलिए कला शक्ति को 'सुन्दरी' कहते हैं। विश्व मे भी यह सृजन रूपो की ही रचना है। प्रकृति के जगत मे रूप का अतिशय होता है या नही यह विचारणीय है। किन्तु प्रकृति में जहा हम सौन्दर्य की कल्पना करते हैं, वहा रूप का निरुपयोगी अतिशय ही उसका आधार होता है। प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य की कृतियो मे रूप का यह अतिशय अधिक होता है और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। इसी अतिशय के द्वारा सस्कृति, साहित्य, कला आदि का आविर्भाव होता है। रूप का यह अतिशय मनुष्य की कृति का गौरव है। मूलत भाव के अतिशय के साथ ही रूप का यह अतिशय प्रकाशित होता है। हमने भाव के इस अतिशय को समात्मभाव कहा है। भाव का अतिशय अपने स्वरूप में रचनात्मक है। वह एक आन्तरिक रचना है, जो रूप के अतिशय को अभिव्यक्त कर उसमें प्रकाशित होती है। भाव का

यह सृजनात्मक अतिशय संस्कृति, साहित्य और कला तीनो का सामान्य आधार है, यद्यपि तीनो मे इसका महत्व समान नही होता। संस्कृति के जीवन्त पर्वो में भाव का यह अतिशय सबसे प्रमुख होता है। इस अतिशय की प्रचुरता के कारण अल्प उपकरणो और रूप के अल्प अतिशय से युक्त होने पर भी संस्कृति के पर्व अपार आनन्द के स्रोत बन जाते हैं। साहित्य और कला मे रूप का अतिशय अधिक होता है। कला मे उसकी प्रचुरता साहित्य से भी अधिक होती है। **हम यह कह सकते है, कि संस्कृति, साहित्य और कला में रूप के अतिशय का महत्व उत्तरोत्तर बढता जाता है, तथा भाव के अतिशय की गरिमा क्रमशः कम होती जाती है।** किन्तु रूप अथवा भाव किसी के अतिशय का इनमे पूर्णतः अभाव नही होता। रूप और भाव के अतिशय का साम्य संस्कृति, साहित्य और कला का सामान्य लक्षण है, यद्यपि इन तीनो मे यह साम्य समान रूप से पूर्ण नही होता। रूप और भाव के अतिशय की जो विषमता प्राय इनमे रहती है उसका सकेत हम ऊपर कर चुके हैं। किन्तु रूप और भाव दोनो का रचनात्मक अतिशय किसी न किसी परिमाण मे संस्कृति, साहित्य और कला तीनो मे रहता है। इस सृजन को यदि हम कला कहें तो संस्कृति और साहित्य को भी कला मानना होगा। साहित्य को तो प्राय कला के अन्तर्गत माना जाता है। किन्तु संस्कृति की कलात्मकता इतने स्पष्ट रूप मे अगीकृत नही है। 'कला' को तन्त्री के अर्थ मे सृजन की सामान्य शक्ति न मानकर केवल 'रूप के अतिशय' की रचना माने, तो भी संस्कृति और साहित्य दोनो की कलात्मकता स्वीकार करनी होगी, यद्यपि उन्हे कला के सामान्य के अन्तर्गत कला के विभाग के रूप मे मानना उचित न होगा। यदि संस्कृति के 'सम्' से लक्षित साम्य को संस्कृति का लक्षण मान तो साहित्य और कला दोनो को संस्कृति के अन्तर्गत माना जा सकता है। सामान्यत संस्कृति को कृति का समानार्थक मानकर साहित्य और कला को संस्कृति का अग माना जाता है, क्योकि ये भी मनुष्य की कृतिया हैं। संस्कृति के विवरणो मे कृति के इस रूप का अधिक विवरण प्राय नही मिलता। कृतित्व के अतिरिक्त एक सामान्य समात्मभाव संस्कृति के सभी रूपो मे अन्तर्निहित रहता है। साहित्य और कला भी संस्कृति के इन रूपो मे सम्मिलित है। इस समात्मभाव का साम्य संस्कृति का मूल लक्षण है और 'सम्' के उपसर्ग का मूल अर्थ है। इस साम्य के आधार पर हम साहित्य और कला को भी संस्कृति की व्यापक परिधि के अन्तर्गत समाहित कर सकते हैं। संस्कृति के

प्राप्त विवरणो मे साम्य का यह दृष्टिकोण अपनाकर साहित्य और कला को उसका अग नही माना गया है। संस्कृति मे साहित्य और कला के अन्तर्भाव की सामान्य धारणा केवल कृतित्व पर ही अवलम्बित है, फिर भी साम्य के इस आविष्करण से संस्कृति की इस सामान्य धारणा को अधिक समर्थ और सम्पन्न बनाया जा सकता है।

अस्तु संस्कृति और कला दोनो मे हम चाहे किसी को व्यापक और सामान्य मानकर उसके अन्तर्गत साहित्य आदि को मान, फिर भी हमे साधारण प्रयोग मे प्रचलित प्रत्ययो मे विवेक करना होगा। इतना स्पष्ट है कि एक दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी ये प्रत्यय एक दूसरे के पर्याय नही है। अत संस्कृति, साहित्य और कला तीनो के स्वरूप और मर्म को समझने के लिए इनमे विवेक करना आवश्यक है और साथ ही इनके मर्म का अवगाहन भी अपेक्षित है। शैव तत्रो की कला अर्थ की दृष्टि से संस्कृति की समानार्थक है, किन्तु यह कला विश्व-रूपों का विधान करती है। सामान्य प्रयोग मे संस्कृति का अभिप्राय मनुष्य की लौकिक कृतियो से है, जिनमे अनेक-रूप साम्य का सन्निधान हो। पश्चिमी धारणा के अनुसार मनुष्य की कृति के सभी रूप संस्कृति के अन्तर्गत हैं। यह संस्कृति का ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। इतिहास की विषमतायें भी इसमे स्थान पाती हैं। किन्तु भारतीय धारणा के अनुसार कृति के समस्त रूपो को संस्कृति नही कहा जा सकता। भारतीय धारणा के अनुसार संस्कृति रचना के उन्हीं रूपो को कहा जा सकता है जिनमें साम्य हो। समानता, सामजस्य, पूर्णता आदि कई अर्थों मे 'सम्' के उपसर्ग का प्रयोग होता है। समानता का भाव विरोध का परिहार करता है। विरोध का अभाव निषेधात्मक है। साम्य अनेक रूपो का भावात्मक और अनुकूल सम्बन्ध है। मनुष्य की रचना के जो रूप विरोध उत्पन्न नही करते तथा जो रूप अन्य रूपो का सम्भावन एव उत्कर्ष करते हैं, उन्हे साम्य-मूलक कहा जा सकता है। रचना के ऐसे रूपो मे ही जीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। मानवीय रचनाओ के जिन रूपो मे ऐसा साम्य साकार हुआ है वे ही रूप वस्तुत संस्कृति की सज्ञा के अधिकारी हैं। भारतीय पर्वों की जीवन्त परम्परा मे संस्कृति का यह रूप विपुलता के साथ मिलता है। किन्तु भारतीय जीवन की परम्परा मे संस्कृति के इस रूप की जितनी विपुलता है अन्य देशो मे उसकी इतनी ही दीनता है। संस्कृति का यह रूप स्वतन्त्रता और सद्भाव के वातावरण मे विकसित होता है। साथ ही

शान्तिपूर्ण स्थिति भी इसके लिए अपेक्षित है। भारतवर्ष में संस्कृति के इस रूप को अनुकूल परिस्थितियाँ मिली। केवल परिस्थिति तो इसके लिए पर्याप्त नही है। अनुकूल परिस्थिति होने पर मनुष्य की सामाजिक चेतना के स्वतत्र और सद्भाव-पूर्ण उद्देश्य से संस्कृति के रूप विकसित होते हैं। मिस्र, ग्रीस, रोम, आदि की संस्कृतियाँ किस प्रकार नष्ट हो गई यह एक अलग प्रश्न है। किन्तु अधिकांश पश्चिमी देशो की वर्तमान संस्कृति ईसाई और इस्लाम धर्म के वातावरण मे पली हैं। इन धर्मो के सिद्धान्त कुछ भी हो, किन्तु इनका ईश्वर के एक रूप, एक पैगम्बर, एक ग्रन्थ, आराधना के एक स्थान, एक समय, उपदेश, प्रचार, धर्म-परिवर्तन आदि की परिस्थितयाँ स्वतत्रता और सद्भावना के अनुरूप नही हैं। इसीलिए इन देशो मे स्वतत्र और साम्यपूर्ण संस्कृति के ऐसे विपुल और समृद्ध रूप विकसित नही हो सके जैसे भारतवर्ष मे हुए। भारतीय परम्परा मे संस्कृति के ये रूप जीवन के साक्षात् पर्वो के रूप मे साकार हुए हैं। साहित्य और कला मे संस्कृति के ये रूप भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य देशो मे भी मिल सकते हैं। प्राचीन साहित्य और कला मे साम्य एव सद्भाव बहुत मिलता है। विरोध के तत्व उसमें बहुत कम हैं। इस दृष्टि से जीवन की साक्षात् परम्परा के रूप न होते हुए भी साहित्य और कला संस्कृति के स्वरूप के अधिक निकट हैं। रूप और भाव का अतिशय एव साम्य विरोध को अवसर नही देता। विरोध प्रकृति का अतिचार है, जिसे प्राचीन साहित्य और कला मे बहुत कम अवसर मिला है। विरोध और अतिचार पर आश्रित इस्लाम धर्म मे कला को स्थान नही दिया गया है, जो स्वरूप से साम्य-मूलक है, यह एक अत्यन्त रहस्यमय और विचारणीय तथ्य है। ईसाई और इस्लाम धर्मो मे आराधना के व्यावहारिक रूपो मे कला का ऐसा समवाय नही है जैसा कि भारतीय धर्म सम्प्रदायो मे है। जीवन और संस्कृति के साथ भी इन धर्मो का ऐसा समवाय नही है।

अस्तु साहित्य और कला यद्यपि संस्कृति के जीवन्त पर्वो के समान जीवन के व्यावहारिक रूपो मे सर्वथा समवेत नही हुए हैं, फिर भी अविरोध और साम्य से युक्त होने पर उन्हे स्वरूप से सांस्कृतिक माना जा सकता है। किन्तु इतिहास, शासन, सभ्यता आदि के विषय मे यह नही कहा जा सकता। उनमे विरोध और विषमता के लिए अधिक स्थान है। इतिहास और राजनीति तथा शासन के क्षेत्रो मे प्रकृति के उस अतिचार को प्रश्रय मिला है, जो विरोधमूलक होने के कारण संस्कृति का विरोधी है, किन्तु संस्कृति के ऐतिहासिक दृष्टिकोण मे साहित्य और कला के साथ-

साथ इनको भी समान स्थान दिया जाता है। यह संस्कृति के उस दृष्टिकोण पर आश्रित है जिसमें कृति को संस्कृति का पर्याय माना जाता है और मनुष्य की रचना के समस्त रूपों को संस्कृति में सम्मिलित किया जाता है। मनुष्य की समस्त कृतियाँ एक ही प्रकार की नहीं हैं और न वे सभी साम्य मूलक हैं। अतः उन सबको एक ही श्रेणी अथवा वर्ग में रखना उचित नहीं है। उनके स्वरूप में विवेक अपेक्षित है। मनुष्य की सभी कृतियों में उसका कृतित्व प्रकाशित होता है। किन्तु कर्तृत्व के सभी रूप समान रूप से स्वतंत्र नहीं हैं। मनुष्य की रचना के अनेक रूप प्राकृतिक प्रेरणाओं से अधिक प्रभावित हैं। साहित्य और कला में भी प्रकृति का बहुत कुछ प्रभाव मिलता है। किन्तु जीवन की सामाजिक व्यवस्था के बाह्य रूपों में ये प्रभाव अधिक दिखाई देता है। इन्हें प्रायः 'सभ्यता' कहा जाता है। ये रूप प्रधानतः उपयोगी ही होते हैं। इनमें रूप और भाव का अतिशय नहीं होता। मनुष्य की रचना के उपयोगी रूपों को सभ्यता कहकर उस संस्कृति के साथ उसका भेद करना होगा, जिसकी कल्पना रूप और भाव के अतिशय पर आश्रित है। रचना के उपयोगी रूपों को 'सभ्यता' कहना उचित है। सभ्यता के इन रूपों में रूप का अतिशय न होने के कारण इन्हें कलात्मक नहीं कहा जा सकता। रूप का अतिशय उपयोगी सभ्यता और कलात्मक संस्कृति में भेद करता है। सभ्यता के रूपों में इस रूप का कुछ अतिशय मिलता भी है तो भी उनमें उपयोग की ही प्रधानता होती है। अतएव उनमें कला के सौन्दर्य का अधिक विकास नहीं हो पाता। दूसरे इनमें भाव के अतिशय का प्रसङ्ग नहीं होता। अतः रूप और भाव के अतिशय पूर्ण साम्य से युक्त न होने के कारण सभ्यता के ये रूप कलात्मक संस्कृति से भिन्न रहते हैं। प्रकृति से प्रेरित होने के कारण इनमें अतिचार और विरोध की सम्भावना रहती है। सभ्यता की बाह्य रचनाओं तथा इतिहास, राजनीति, शासन आदि के रूपों में यह विरोध प्रकट दिखाई देता है। समाज के साधारण वर्ग की दीनदशा इसी विरोध का परिणाम है। सभ्यता के अन्तर्गत विरोध और साम्यपूर्ण रूपों में विवेक करना आवश्यक है। सभ्यता के इन दोनों रूपों में प्रकृति और उपयोग की प्रधानता होती है तथा रूप और भाव का अतिशय नहीं होता है। अतः रूप और भाव के अतिशय से पूर्ण संस्कृति का सभ्यता के विरोध-मूलक और साम्य-मूलक दोनों रूपों से भेद करना आवश्यक है। रूप और भाव के अतिशय से युक्त संस्कृति का सभ्यता के विरोध-मूलक और साम्य मूलक दोनों रूपों से भेद करना आवश्यक है। रूप और भाव के

अतिशय से युक्त संस्कृति के दो भेद किये जा सकते हैं। संस्कृति का एक रूप वह है जिसमें रूप और भाव के अतिशय साक्षात् जीवन की परम्परा मे अन्वित होकर उसमें कलात्मक सौन्दर्य का समाहित करते हैं। जीवन मे कला के इस समन्वय से जीवन के उपयोगी और प्राकृतिक रूप भी सौन्दर्य एव आनन्द के पर्व बन जाते हैं। यह संस्कृति की जीवन्त परम्परा है, जो भारतवर्ष में सबसे अधिक विपुल रूप में वर्तमान है। संसार के किसी देश में जीवन्त संस्कृति की इतनी समृद्ध परम्परा का विकास नहीं हो सका। भारतवर्ष म जीवन्त संस्कृति की एक समृद्ध परम्परा का निर्माण ही नही वरन् साम्य मूलक जीवन्त संस्कृति की परम्परा से रहित विदेशी आक्रमणकारियो के आतक तथा विदेशी शासको के अत्याचारो की स्थिति मे सरक्षण हुआ है। संस्कृति का यह विकास और सरक्षण इतिहास के सबसे बडे आश्चर्य हैं। साथ ही ये मनुष्य समाज की सबसे बडी विभूति हैं। भारतीय संस्कृति की इस जीवन्त परम्परा मे जीवन के उपयोगी रूप ही कलात्मक सौन्दर्य से अलकृत नही हुए हैं। वरन इसके साथ साथ ऐसे अनेक पर्वों की रचना हुई है, जिनम रूप का निरुपयोगी अतिशय अत्यन्त विपुलता से समाहित हुआ है। ये पर्व संस्कृति के चरम उत्कर्ष के द्योतक है। दीपावली और होली के पर्व इनके प्रमुख उदाहरण है।

संस्कृति की यह जीवन्त परम्परा साक्षात् और व्यावहारिक जीवन को संस्कृत, सुन्दर एव आनन्दमय बनाती है। यह संस्कृति का सजीव और सम्पूर्ण रूप है। रूप और भाव के अतिशय से युक्त संस्कृति का इन पर्वो के अतिरिक्त एक दूसरा रूप है, जिसे हम संस्कृति का आशिक रूप कह सकते हैं। संस्कृति का यह रूप कलात्मक है। किन्तु इसमें कला साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन से पृथक होकर एक स्वतत्र साधना बन जाती है। संस्कृति के इस रूप की भी अपनी विशेषतायें हैं। किन्तु संस्कृति का यह रूप संस्कृति की उस जीवन्त परम्परा से भिन्न है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। संस्कृति के इस रूप में कला जीवन का एक अग बन जाती है, पर्व-संस्कृति की भांति कला का रूप सौन्दर्य सम्पूर्ण जीवन में समाहित नहीं होता। किन्तु जीवन का एक अग बनकर कला के रूप सौन्दर्य का जितना अधिक विकास होता है, उसका उतना विकास संस्कृति की जीवन्त परम्परा में सम्भव नहीं है। इसके कई कारण हैं। जीवन मे रूप की अपेक्षा भाव अधिक प्रधान है। भाव जीवन का आन्तरिक तत्व है। इसके अतिशय मे आनन्द उदित होता है। रूप का अतिशय

इस आनन्द में योग देकर इसे बढ़ा सकता है। रूप के प्रति जीवन का आकर्षण आनन्द के ही लिए है। रूप का अतिशय भाव के अतिशय के साथ साम्य के द्वारा ही आनन्द की सृष्टि करता है। भाव का अतिशय आनन्द का मूल स्रोत है। रूप का अतिशय मलयानिल के समान उस स्रोत को तरंगित करता है और उसमे सौन्दर्य के इन्द्रधनुष अंकित करता है। अभिन्न होने के कारण रूप और भाव के अतिशय में श्रेष्ठता और हीनता का प्रश्न उठाना उचित नहीं है। साम्य में भाव और रूप दोनों एक दूसरे का उत्कर्ष करते हैं। फिर भी संस्कृति के जीवन्त पर्वों में रूप का सौन्दर्य अपनी विभूति को भाव में अर्पित करता है। भाव का आनन्द ही जीवन की प्रमुख साधना है। अत संस्कृति के पर्वो मे कला के रूप का इतना अधिक विकास नही हो पाता, जितना कि सम्भव है। संस्कृति के इन पर्वो मे रूप के अल्प अतिशय ही अपार आनन्द के स्रोत बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृति के पर्व सार्वजनिक होते हैं। साधारणजनो के अनेक अभावों से पूर्ण जीवन मे ये पर्व दुर्लभ और अमूल्य आनन्द भरते हैं। अत साधारणजन बड़े उत्साह से इन पर्वो के समारोह रचते हैं। अभी तक समाज की ऐसी स्थिति रही है कि साधारण जनो का बहुत कुछ जीवन निर्वाह के उपायो मे ही व्यतीत होता है। उनके जीवन मे कला की साधना के लिए अधिक अवकाश नही रहता। रूप के अतिशय और सौन्दर्य की अधिक आराधना उनके लिए सम्भव नही है। इसके लिए अपेक्षित साधन और अवकाश उन्हे सुलभ नही होते। अत संस्कृति के लोक-सामान्य पर्वो मे रूप के अतिशय का सौन्दर्य कला के विकसित रूप की तुलना मे सरल और अल्प रहता है। किन्तु यह अल्प सौन्दर्य ही अपार आनन्द का निमित्त बन जाता है। इस दृष्टि से संस्कृति के ये पर्व साधारण जनता के कल्पवृक्ष हैं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण जीवन के साथ रूप के अतिशय का अधिक परिमाण मे समन्वय व्यावहारिक दृष्टि से कठिन है।

इसके विपरीत कला में रूप के अतिशय की प्रधानता होती है। रूप की आराधना ही कला का लक्ष्य है। रूप के अतिशय की ही अधिक से अधिक समृद्धि कला का गौरव है। कला की इस साधना का समग्र जीवन के साथ अन्वित होना कठिन है। अत यह जीवन के एक अंग के रूप मे ही की जा सकती है। इसके लिए विशेष रुचि, क्षमता, अवकाश तथा अन्य साधन अपेक्षित हैं। अत सभी लोग कला की साधना को नही अपना सकते। कुछ लोग ही कलाकार बनते हैं। जो लोग कला की साधना करते हैं वे भी जीवन के कुछ लाभो का त्याग करके ही

उसे सम्भव बना पाते हैं। संस्कृति के पर्वों के लिए ऐसी साधना और ऐसा त्याग अपेक्षित नहीं है। केवल भाव के अतिशय के द्वारा संस्कृति बिना अधिक त्याग और साधना के जीवन के आनन्द को बढ़ाती है। इसके विपरीत कला में सौन्दर्य की साधना असाधारण त्याग और श्रम की अपेक्षा करती है। **इसका कारण भाव और रूप का भेद है।** भाव सहज और सरल है। उसके अतिशय का उत्कर्ष भी सरलता से होता है यद्यपि उसके लिए भी चेतना का स्वतंत्र अध्यवसाय तथा कुछ स्वार्थ त्याग अपेक्षित है। किन्तु रूप के अतिशय की समृद्धि चेतना के अधिक आयास की अपेक्षा करती है। अतएव कला की श्रेष्ठ साधना इने-गिने लोग ही कर पाते हैं। रूप के अतिशय के अतिरिक्त भाव का योग और समन्वय कला की दूसरी समस्या है। जिस प्रकार बुद्धि के साथ भाव का समन्वय कठिन है, उसी प्रकार रूप के अतिशय के साथ भी उसका समन्वय दुष्कर है। जिस प्रकार संस्कृति के पर्वों में भाव के अतिशय के साथ रूप का अतिशय अल्प ही रहता है, उसी प्रकार कलाओं में प्राय रूप के प्रचुर अतिशय के साथ भाव का अतिशय रूप की तुलना में अल्प ही रहता है। साहित्य और संगीत में शब्द के अद्भुत माध्यम के कारण भाव की भी कुछ प्रचुरता बनी रहती है। अन्यथा अन्य कलाओं में रूप के अतिशय की ही प्रधानता रहती है। संगीत की एकान्त साधना व्यावहारिक नहीं है और साधारण समाज की रुचि रूप की अपेक्षा भाव में अधिक होती है। इसीलिए शास्त्रीय संगीत लोक-रुचि की दृष्टि से सफल नहीं हो सका। नृत्य के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। किन्तु साहित्य, विशेष रूप से काव्य तथा चित्रकला की, एकान्त साधना सम्भव है। उनकी रचना आवश्यक रूप से लोक रुचि पर निर्भर नहीं है। अत आधुनिक युग में काव्य और चित्रकला में रूप के अतिशय की वृद्धि अधिक हुई है। कला की दृष्टि से तो यह कला का ह्रास नहीं है, क्योंकि रूप की आराधना ही कला है। किन्तु रूप के इस अतिशय में भाव का अतिशय मन्द हो जाता है। अत ऐसी कला समृद्ध होते हुए भी नीरस हो जाती है। आधुनिक कला की यही समस्या है। जीवन और संस्कृति में भाव की प्रधानता होती है। इस दृष्टि से रूप की इस समृद्धि को संस्कृति का ह्रास कहा जा सकता है।

संस्कृति के जीवन्त पर्वों की भाव-प्रधान परम्परा से भिन्न रचनात्मक संस्कृति के जिस कलापूर्ण रूप का उल्लेख ऊपर किया गया है उसके दो प्रधान रूप साहित्य

तथा अन्य कलाओं के रूप में प्रकट होते हैं। सृजनात्मक तथा रूप के सौन्दर्य से युक्त होने के कारण साहित्य भी एक कला है। किन्तु शब्द के विलक्षण माध्यम के कारण प्रायः उसे अन्य कलाओं से पृथक माना जाता है। शब्द में अर्थ समवेत रहता है। अतः रूप और भाव का साम्य साहित्य का स्वभाव बन जाता है। अन्य कलाओं में रूप की प्रधानता रहती है। यही साहित्य तथा अन्य कलाओं के भेद का आधार है। भाव और रूप का साम्य 'साहित्य' पद की व्युत्पत्ति में ही निहित है। भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में काव्य की प्राचीनतम परिभाषा शब्द और अर्थ के 'साहित्य' के रूप में की गई है। 'साहित्य' का अभिप्राय 'सहित भाव' से है। जिस रचना में शब्द और अर्थ एक दूसरे के साथ (सहित) रहते हैं, उसे काव्य अथवा साहित्य कहना उचित है। काव्य अथवा साहित्य से अभिप्राय शब्द के माध्यम से होने वाली कलात्मक रचना से है। काव्य अथवा साहित्य भी कला का ही एक रूप है। शब्द के माध्यम से रची जाने वाली सभी रचनाएँ कलात्मक नहीं होती। अतः वे सब काव्य अथवा साहित्य के अन्तर्गत नहीं हैं। साहित्य में शब्द और अर्थ के 'सहित भाव' का तात्पर्य शब्द और अर्थ का संयोग मात्र नहीं है। यह संयोग तो शब्द का प्रयोग होने पर सर्वत्र होता है। शब्द सामान्य रूप से सार्थक माध्यम है। शब्द का निरर्थक प्रयोग नहीं होता। इसका कारण यह है कि शब्द का व्यवहार परस्पर भाव सम्प्रेषण के लिए होता है। सम्प्रेषण एक सप्रयोजन तथा सार्थक व्यापार है। वह मनुष्यों की चेतना का आन्तरिक सम्बन्ध अथवा साम्य है जो निरर्थकता की स्थिति में सम्पन्न नहीं होता। इस सम्प्रेषण में जिस भाषा का उपयोग होता है उसके सभी शब्द सार्थक होते हैं। कोश में उन शब्दों का संग्रह तथा उनके अर्थ का विवरण होता है। व्यापक अर्थ में भाषा का समस्त व्यवहार साहित्य है, क्योंकि उसमें शब्द और अर्थ का संयोग होता है, किन्तु 'साहित्य' के 'सहित भाव' का अभिप्राय केवल इस सामान्य संयोग से नहीं है। काव्य अथवा साहित्य भाषा के प्रयोग का वह रूप है जिसमें शब्द और अर्थ का संयोग नहीं वरन् समवाय होता है। समवाय एक अभिन्न सम्बन्ध है। काव्य अथवा साहित्य में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अभिन्न होता है। वे एक दूसरे से पृथक नहीं किए जा सकते। दूसरे शब्दों का प्रयोग करने पर रचना का रूप और सौन्दर्य अक्षुण्ण नहीं रहता। कलात्मक साहित्य में रूप अथवा शब्द 'भाव' से अभिन्न रहता है। भाषा के अन्य उपयोगी प्रयोगों में

शब्दो का परिवर्तन सम्भव है। प्राय इस शब्द परिवर्तन से अर्थ की कोई क्षति नही होती। कभी-कभी ऐसा शब्द-परिवर्तन भी सम्भव है जिसमे अर्थ की अभिव्यक्ति श्रेष्ठतर हो और अर्थ का लाभ हो। काव्य अथवा साहित्य मे यह सम्भव नही हो सकता, यदि यह सम्भव होता है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह रचना दुर्बल एव दोषपूर्ण है और उसमे परिष्कार सम्भव है। सामान्यत शब्द-रूप और भाव सदा अभिन्न रहते हैं। **किन्तु काव्य अथवा साहित्य में यह अभिन्नता विशेष रूप से अनुष्ठित होती है। उसमें विशेषभाव और विशेष शब्द अभिन्न होते हैं।** कालिदास ने रघुवश के मगलाचरण मे शब्द और अर्थ के इस साहित्य की उपमा पार्वती और परमेश्वर (शिव) के अभिन्न भाव के लिए दी है। काव्य मे शब्द और अर्थ का सम्बन्ध पार्वती और शिव के सम्बन्ध के समान अभिन्न तथा पवित्र और प्रेम पूर्ण होता है। प्रेम एक सहज भाव है जो साधना का सहयोगी है। काव्य मे शब्द और अर्थ का 'साहित्य' सहज एव साधना पूर्ण होता है। साधना के द्वारा ही वह सहज रूप मे सम्पन्न होता है। पार्वती और शिव की अभेद्यसम्पृक्ति भी प्रेम और साधना के द्वारा सम्पन्न हुई थी। पार्वती की तपस्या इस साधना का हो सदेश है। पार्वती की उपमा 'वाक्' है। काव्य की सफलता का रहस्य वाणी अथवा शब्द की साधना है। 'भाव' शिव-रूप है। शिव सदा तप मे लीन रहते हैं। तप उनका सहजधर्म अथवा स्वरूप है। काव्य मे जिस भाव का सन्निधान होता है वह सहज और नित्य तप की ही विभूति है। **पार्वती और परमेश्वर के सम्बन्ध की उपमा के योग्य शब्द और अर्थ का काव्यगत साहित्य तन्त्रो के शक्ति और शिव के साम्य के अनुरूप है।**

काव्य अथवा साहित्य मे समाहित भाव तथा शब्द (रूप) भाषा के उपयोगी प्रयोग की भाँति परिच्छिन्न नही होते, वरन् वे दोनो अतिशय-युक्त होते हैं। अतिशय के कारण ही उनका 'साहित्य' भाव अभिन्न होता है। परिच्छिन्न न होने के कारण साहित्य अथवा काव्य के भाव की अभिव्यक्ति केवल अभिधान के द्वारा नही हो सकती। इसीलिए काव्य मे व्यजना का महत्व अधिक होता है। व्यजना अभिव्यक्ति की अद्भुत और असाधारण शक्ति है। वह अनभिधेय भाव की अभिव्यक्ति करती है। किन्तु यह अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव होती है, इसका समुचित अभिधान भी सम्भव नही है। इस अभिधान की सम्भावना एक प्रकार का आत्म-विरोध है। फिर भी यह व्यजना जीवन और साहित्य का एक सरल सत्य है। इस

सत्य का अनुभव सभी को जीवन मे तथा काव्य के अनुशीलन मे होता है। व्यजना अभिव्यक्ति की शैली है। भाव व्यग्य है। प्राकृतिक और उपयोगी भावो मे अतिशय नही होता। ये यथार्थ और अभिधेय होते हैं। अभिधान अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। उसमें अतिशय नहीं होता। साथ ही अभिधान में शब्द और अर्थ का अभेद्य समवाय नहीं होता। व्यजना में अभिव्यक्ति के रूप का अतिशय प्रकट होता है। रूप का यह अतिशय अभिन्न भाव से भाव के अतिशय में समवेत रहता है। किस चमत्कार से रूप का अतिशय इस भाव के अतिशय को अभिव्यक्ति करता है यह कला और साहित्य का एक अनिर्वचनीय रहस्य है। अभिधान के साधारण अर्थ मे इसे अभिव्यक्ति कहना भी उचित नही हैं। जिस प्रकार कला में रूप का अतिशय भाव के अतिशय से अभिन्न रहता है, उसी प्रकार यह अभिव्यक्ति भी भाव से समवेत रहती है। वस्तुत यह अनुभूति के रूप मे ही प्रकट होती है। कला और काव्य की रचना की भाँति समात्मभाव उनके आस्वादन का भी मूल एव सामान्य आधार है। समात्मभाव के भावातिशय में ही अभिव्यक्ति का रूप प्रकाशित होता है। भाव और रूप दोनो के अतिशय पूर्ण होने के ही वे परिच्छेद्य तथा अभिधेय नहीं होते। इसी कारण उनका पूर्ण तथा समान रूप मे ग्रहण सम्भव नही होता। कला और काव्य के समस्त विश्लेषण तथा व्याख्यान अधिकार की अपेक्षा उपचार अधिक हैं। उन्हे कला और काव्य के रहस्यो का निर्णायक नही वरन् केवल सहायक मानना चाहिए। कला और काव्य के अतिशयपूर्ण रहस्य अभिधान के व्याख्यान की अपेक्षा अनुभव के भाव-सवाद मे अधिक सम्पन्न रूप मे प्रकाशित होते हैं। अतिशय के इन अनुभवो मे अभिधान के समान सामान्यता तथा अभिधेय प्रेषणीयता नही होती। अभिधान सर्वसाधारण और सामान्य होता है। अभिधेय विषयो की लक्षणा के प्रसगो में भेद हो सकता है। किन्तु उनका अभिधेयाश बहुत कुछ सामान्य होता है। इसी सामान्य के आधार पर शास्त्र और विज्ञानो का निर्माण तथा अध्यापन सम्भव होता है। कला और साहित्य का अध्यापन अभिधान के द्वारा अधिक सफल नही होता। गुरु के साथ समात्मभाव के द्वारा ही उसके गम्भीर रहस्यो की व्यजना ग्राह्य होती है। अत शास्त्रो और विज्ञानो के साथ अभिधान के आधार पर कला एव साहित्य के अध्यापन का औचित्य आधुनिक शिक्षा का एक विचारणीय प्रश्न है।

रूप और भाव का अतिशय साहित्य और कला का सामान्य लक्षण है। कला का शुद्ध रूप केवल रूप का अतिशय है। किन्तु जीवन की अभिव्यक्ति बनने पर

कला मे भाव के अतिशय का सहज समागम होता है। कला और साहित्य मे स्वरूप की अपेक्षा माध्यम का भेद अधिक है। साहित्य का माध्यम शब्द है। शब्द एक सार्थक माध्यम है। अत साहित्य अथवा काव्य मे भाव का अतिशय सहज रूप मे होता है। कला के माध्यमो का व्यवहार शुद्ध रूप मे भी हो सकता है। वाद्य सगीत शुद्ध रूपात्मक कला है। उसमे भाव का सन्निधान अभीष्ट नही होता। फिर भी हम अनुभव मे देखते है कि वाद्य सगीत भी श्रोताओ के मन मे भाव की तरगे उठाता है। **यह शब्द के साथ भाव के अभिन्न समवाय का प्रमाण है कि सगीत के शुद्ध स्वरो मे भाव समाहित न होनेपर भी वे भाव को जागरित करते है।** शब्द के अतिरिक्त रग आकार आदि के रूपो मे भी भाव का कुछ उल्लास होता है, चाहे वह कितना ही मन्द हो। सगीत के अतिरिक्त शुद्ध रूपो से जागरित होने वाला भाव स्वरूपत सम्पन्न नही होता। इसका कारण यह है कि वह रूप से समवेत और कला के रूप-विधान मे सन्निहित नही रहता। इसीलिए सस्कृति के शुद्ध रूपात्मक प्रतीको के रूप-विधान मे भाव के अतिशय का सन्निधान कर उन्हे सम्पन्न बनाया गया है। इसके अतिरिक्त रूप और भाव का साम्य अथवा साहित्य कला मे बहुत पाया जाता है। **भाव जीवन का निगूढतम रहस्य है।** अत शुद्ध कला लोकप्रिय नही होती। चित्र और स्थापत्य की कलाओ मे शुद्ध रूप की अभिव्यक्ति सम्भव है। किन्तु मूर्तिकला, जो एक अत्यन्त प्राचीन कला है, स्वरूप से ही भाव-युक्त है। मूर्ति का आकार या रूप सजीव होता है। वही उसका भाव है। उसके आकार मे भाव के अतिशय का भी सन्निधान रहता है। रचनात्मकता और रूप का अतिशय तो सभी कलाओ मे पाया जाता है। इन कलाओ मे साहित्य भी सम्मिलित है। किन्तु इसके साथ भाव का अतिशय भी कला एव साहित्य की सामान्य विभूति है। अधिकाश कलाओ मे वह प्राय मिलता है। कला के इस सामान्य रूप मे समाहित होकर साहित्य भी एक कला बन जाता है। सामान्यत कला के इन रूपो मे माध्यम का ही भेद है। माध्यम के भेद से इन कलाओ मे अन्य भेद उत्पन्न होते हैं। ये भेद एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाओ के समान हैं। **कला मानवीय संस्कृति का कल्पवृक्ष है।** उसका मूल मनुष्य की चेतना तथा कला के सामान्य लक्षण मे है। कला का यह मूल चेतना की भाव-भूमि मे अन्तर्निहित रहता है। कलाओ के विभिन्न रूप इस कल्पवृक्ष की विभिन्न शाखायें हैं। इनमे दिशा और रूप की कुछ भिन्नता अवश्य होती है किन्तु इन सभी शाखाओ मे एक ही रस के पुष्प

खिलते हैं और एक ही रस के फल फलते हैं। यह रस जीवन के सामान्य समात्मभाव का रस है। यदि हम विभिन्न कलाओं के भेद को और अधिक महत्व देना चाहें तो हम उनकी तुलना जीवन के एक ही उपवन में फलने-फूलने वाले विभिन्न जाति के वृक्षों से कर सकते हैं। विभिन्न माध्यमों में प्रकाशित होने वाले कलाओं के रूप विभिन्न जाति के वृक्षों पर लगने वाले फल-फूलों के समान हैं। इन फल-फूलों के वर्ण, आकार, रस आदि की भिन्नता कलाओं के माध्यम और रूप की विशेषताओं को अधिक स्पष्ट करती है। फिर भी रस और कान्ति के समान गुण इन सब में पाये जाते हैं। इस रस और कान्ति का मूल स्रोत कला का सामान्य लक्षण है, जिसे रूप और भाव के अतिशय का साम्य कहा गया है। रस का स्रोत भाव का अतिशय है। कान्ति रूप की महिमा की अभिव्यक्ति है। जिस प्रकार फल-फूलों में रस और कान्ति अभिन्न होते हैं, उसी प्रकार कला में भाव और रूप का साम्य अभीष्ट है। रस और रूप के सामान्य स्रोत कलाओं के विविध वर्ण, रस और आकार के पुष्पों और फलों का पोषण करते हैं। दूसरी ओर वर्ण, रस आदि की विविधता कला के सामान्य रूप और भाव को समृद्ध बनाती है। दोनों का यह परस्पर सम्भावन साम्य का मूल मर्म तथा कलाओं के सौन्दर्य और उनकी समृद्धि का रहस्य है।

एक ही सामान्य स्रोत से प्रवाहित होने के कारण कलाओं की विभिन्न धाराओं में एक मौलिक समानता है। रचनात्मकता कलाओं की इन धाराओं की गति है। भाव का अतिशय इनका रस है। रूप का अतिशय इनकी आकृति और दिशा है। यह मौलिक समानता होते हुए भी कला की विभिन्न धारायें जीवन की विभिन्न भूमियों में बहती हैं। एक प्रकार से कलाओं की विविध धाराओं की सामान्य प्रवाह-भूमि जीवन की व्यापक वसुन्धरा ही है। फिर भी इन प्रवाहों के क्षेत्र अलग-अलग होते हैं। विभिन्न कला कृतियाँ जीवन के विशेष क्षेत्रों को अभिषिक्त करती हैं। कई दृष्टियों से साहित्य की धारा अन्य कलाओं से अधिक सम्पन्न दिखाई देती है। साहित्य की इस सम्पन्नता का रहस्य शब्द के समर्थ माध्यम में है। साहित्य की कृतियाँ जीवन की जिस विशाल भाव-भूमि को अवगाहित करती हैं, उसको प्रवाह की निरन्तरता से अभिषिक्त करना अन्य कलाओं के लिए सुगम नहीं है। शब्द का माध्यम समर्थ होने के साथ-साथ सूक्ष्म भी है। इस सूक्ष्मता के कारण उसके अवच्छेद्य रूपों में भी प्रवाह की एकतानता सम्भव है। अर्थ का द्रवणशील रूप शब्द और अर्थ के अवच्छेदों को गौण बनाकर प्रवाह की एकतानता को सम्भव बनाता है। अर्थ के

इसी विस्तार की सम्भावना के कारण साहित्य की कृतियो के आकार का अधिकतम विस्तार हो सकता है। महाभारत और पुराणो का आकार इस विस्तार की सम्भव सीमाओ का सकेत करता है। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक महाकाव्यो और उपन्यासो के आकार मे भी पर्याप्त विशालता मिलती हैं। ऐसी एकतानता और विशालता अन्य कलाओ मे सम्भव नही है। अन्य कलाओ के रूप का माध्यम ऐसा है कि उसमे एकतानता या अधिक विस्तार सम्भव नही हो सकता। चित्र के फलक, सगीत के राग, नृत्य की लय, मूर्ति के आकार, स्थापत्य के विस्तार आदि की सीमाये साहित्य के विस्तार को देखते हुए बहुत लघु और सकुचित हैं। इस सकोच का कारण मनुष्य के जीवन मे प्रकृति का सकोच है। किसी सीमा तक सभी कलाओ मे इन्द्रियो का उपयोग होता है। कलाओ के रूपो की रचना और उनके आस्वादन मे इन्द्रियो का योग रहता है। किन्तु सभी कलाओ मे इन्द्रियो का महत्व समान नही है। विभिन्न इन्द्रियो मे भी कई प्रकार का अन्तर है। इन्द्रिया कला के प्राकृतिक यन हैं। इन्द्रियो के प्रसग की दृष्टि से 'साहित्य' कलाओं में सबसे कम ऐन्द्रिक है। शब्द का ग्रहण श्रवण के द्वारा ही होता है। किन्तु शब्द का माध्यम दृष्टि के माध्यम की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। दर्शनो मे 'शब्द को आकाश का गुण माना है जो स्वय एक अत्यन्त सूक्ष्म द्रव्य है। दृश्य 'रूप तेज का गुण है। ध्वनि-रूप मे शब्द का रूप के समान बहिर्मुख विस्तार भी होता है किन्तु सार्थक शब्द का प्रसार विशेषत अन्तर्मुख होता है। यह प्रसार अर्थ अथवा भाव के रूप में होता है। यह अर्थ अथवा भाव शब्द से इतना अभिन्न है कि व्याकरण दर्शन मे मुखर शब्द के अतिरिक्त मध्यमा, पश्यन्ति और परा वाणी के रूप मे शब्द के ऐसे सूक्ष्म रूपो की कल्पना की है, जो भाव के पर्याय जान पडते हैं। शब्द के ये आन्तरिक रूप चेतना मे प्रकाशित और विकसित होते हैं। चेतना ही इनके प्रसार का क्षेत्र है। चेतना में एक स्वरूपगत नैरन्तर्य है। चेतना के इस नैरन्तर्य का विस्तार एक प्रकार से अनन्त है। इसीलिए साहित्य की कृति के रूप का अधिकतम विकास सम्भव है। सूक्ष्म होने के कारण साहित्य का रूप उसके अन्तर्गत भाव से अभिन्न होता है। कालिदास की अभीष्ट वाक् और अर्थ की सम्पृक्ति का मर्म इसी अभिन्नता मे निहित है। शब्द के माध्यम की सूक्ष्मता इस अभिन्नता का सूत्र है।

अन्य कलाओ के माध्यम इतने सूक्ष्म नहीं होते। वे शब्द की अपेक्षा अधिक स्थूल और ऐन्द्रिक होते हं। इन माध्यमो के रूप परिच्छिन्न अथवा परिच्छेद्य होते

हैं। सगीत के अतिरिक्त अन्य कलाओ के रूपो मे दृश्य रूप की प्रधानता होती है। दृश्य 'रूप' तेज का गुण है। 'तेज' का स्वभाव शब्द की तुलना मे वहिर्मुख अधिक है। तेज के रूप का विस्तार वहिर्मुख होता है। यह वहिर्मुख विस्तार दिक्गत प्रसार है जिसमे स्थिरता और यौगपद्य का आभास होता है। दृश्य रूप के ग्रहण मे शब्द की अपेक्षा ऐन्द्रिकता अधिक होने के कारण परिच्छेद अधिक सीमित होता है। स्वरूपत दिक् भी अनन्त है। दिक् का परिच्छेद उसके स्वरूप की सीमा नही वरन् उसके ग्रहण की ऐन्द्रिक सीमा है। ग्रहण के अतिरिक्त इन्द्रियों की शक्ति की भी सीमा है। ये सीमाय ही साहित्येतर कलाओ के रूप के विस्तार की सीमा बनती हैं। इसके अतिरिक्त कलाओ के दृश्य रूप जिन माध्यमो में साकार होते हैं, उनकी भी कुछ व्यावहारिक सीमाय हैं। चित्र का फलक, मूर्ति का प्रस्तर आदि इन माध्यमो के उदाहरण हैं। शब्द का माध्यम आकाश सूक्ष्म और अनन्त है। इसीलिए आकाश को वेदान्त दर्शनो मे आत्मा का उपमान माना गया है। सूक्ष्मता और अनन्तता की दृष्टि से आकाश और आत्मा मे बहुत साम्य है। इसी कारण जितनी सरलता के साथ शब्द का भाव चेतना मे समाहित होता है, उतनी सरलता के साथ अन्य कलाओ के रूप अथवा भाव का अन्वय आत्मा मे नही होता। इसका एक अन्य कारण अन्य कलाओ के दृश्य रूप की वहिर्मुख गति भी है। सूक्ष्म और भाव-प्रचुर होने के कारण शब्द के माध्यम का ग्रहण और उपयोग दोनो ही अन्य कलाओ के माध्यमो की अपेक्षा अधिक सरल हैं। शब्द के ग्रहण मे यह सुकरता सृजन से भी अधिक है। हम जितने अधिक काल तक काव्य अथवा साहित्य का पाठ कर सकते हैं, उतने अधिक समय तक हम दृश्य रूप का दर्शन नही कर सकते। इसके अतिरिक्त सृजन की विविक्त इकाई मे भी शब्द के सूक्ष्म माध्यम के कारण साहित्य के एक अखण्ड रूप का निर्माण करती है। अन्य कलाओ मे भी यह सभव है किन्तु उनमे अखण्डता के इस विस्तार की सीमा बहुत कम है। श्रवण, पाठ अथवा रचना से भी अधिक शब्द के भाव का अखण्ड विस्तार चेतना के द्वारा भाव के ग्रहण में होता है। साहित्य की भाव सम्पत्ति चेतना के अनन्त प्रवाह मे एक-रस हो जाती हैं। अन्य कलाओ में दृश्य 'रूप' की प्रधानता भाव के इस अन्तर्मुख विस्तार में बाधक होती है। यदि यह कहा जाय कि रूप और भाव का साम्य कला का सामान्य लक्षण होते हुए भी साहित्य मे भाव की प्रधानता तथा अन्य कलाओं मे रूप की प्रधानता होती है, तो अनुचित न होगा। मुद्रण और प्रकाशन के इस युग मे यह

ध्यान रखना आवश्यक है कि शब्द का रूप श्रव्य है, दृश्य नही। मुद्रित शब्द 'शब्द' का मौलिक रूप नही वरन् दृश्य रूप मे उसका अनुवाद है। प्राचीन काल मे सम्पूर्ण वेद कण्ठगत रहते थे। शब्द के रूप का विस्तार स्मृति मे होता है। मुद्रण के दृश्य रूप मे शब्द का अनुवाद साहित्य के विस्तार मे बहुत सहायक बना है, इसमे सदेह नही। एक बात और विचारणीय है कि सगीत का स्वर साहित्य के शब्द से कुछ भिन्न है। सगीत का स्वर साहित्य के शब्द की अपेक्षा अधिक ऐन्द्रिक और अधिक बहिर्मुख है। इसीलिए सगीत का रागमय रूप साहित्य के शब्द रूप की अपेक्षा कही अधिक सीमित है। सगीत का स्वर विधान और नृत्य की गति ऐन्द्रिक व्यापार है। ऐन्द्रिक शक्ति की सीमा भी इन कलाओ की सीमा बनती है। दृश्य रूप के बहिर्मुख होने के कारण दृश्य कलाओ की इकाइयो मे ऐसी एकतानता सम्भव नही होती, जैसी कि साहित्य के शब्द रूप मे सम्भव है। दृश्य रूप के स्वभाव से बहिर्मुख होने के कारण स्मृति मे उसका अन्तर्मुख आदान अधिक सफल नही होता। कालान्तर मे दृश्य रूप विस्मृत हो जाते हैं। **शब्द के व्यापक और स्थायी माध्यम के कारण कलाओं में साहित्य सबसे अधिक समृद्ध और स्थायी होता है।**

इस प्रकार साहित्य तथा अन्य कलाओ मे कुछ दृष्टियो से महत्वपूर्ण अन्तर है। साहित्येतर कलाओ म भी परस्पर भेद है। सभी कलाओ की अपनी अपनी विशेषतायें और श्रेष्ठताय हैं। विशालता और स्थायित्व साहित्य के अनुपम गुण हैं। इस दृष्टि से साहित्य अन्य कलाओ से श्रेष्ठ है। सगीत और नृत्य मे स्थायित्व सबसे कम है। चित्रकला और मूर्तिकला मे स्थायित्व सब से अधिक है, किन्तु वे इकाइयो की कलायें हैं। इन इकाइयो की शृखला सम्भव न होने के कारण इन कलाओ का प्रभाव चेतना के प्रवाह मे अन्वित नही हो पाता। स्वरूप से स्थायी होते हुए भी ये कलायें चेतना के प्रवाह को दृष्टि से अस्थायी हैं। नृत्य और सगीत की कलाये दोनो ही दृष्टियो से अस्थायी हैं। सृजन काल मे ही उनका अस्तित्व रहता है, साहित्य, चित्र तथा मूर्ति की तरह इनकी सृष्टि सरक्षित नही रहती। अस्तु विभिन्न कलाओ मे माध्यम के रूप, सृष्टि के विस्तार, स्थायित्व आदि अनेक दृष्टियो से भेद है। कुछ दृष्टियो से कुछ कलाय अन्य कलाओ से श्रेष्ठ ठहरती हैं। किन्तु सभी कलाओ की अपनी विशेषतायें हैं। **माध्यम की विविधतायें और कलाओ की विशेषतायें कला के सौन्दर्य को अपनी अनेक रूपता से सम्पन्न बनाती हैं और सस्कृति को समृद्ध करती हैं।** साहित्य यदि अधिक व्यापक

और गरिमामय है तथा उसकी परम्परा अधिक स्थायी है, तो उसकी रचना के लिए भाषा और भाव के भी संस्कार अपेक्षित हैं, जो सबको सुलभ नहीं। इसीलिए साहित्यकार कम होते हैं। सामान्यजन साहित्य के सृष्टा नहीं वरन् पाठक ही बन सकते हैं। मूर्तिकला अपने माध्यम के समान ही कठिन और दुष्कर है। अधिक श्रेष्ठ रूप में वह लोकप्रिय नहीं बन सकती। भारतीय संस्कृति की परम्परा में देवताओं की पूजा अधिक होने के कारण सामान्यजनों के लिए मूर्ति निर्माण कठिन होने पर भी मूर्तियों के प्रति लोगों की विपुल श्रद्धा रही है। इस दृष्टि में मूर्तिकला को लोकप्रिय भी माना जा सकता है। चित्रकला भी भारतवर्ष में बहुत लोकप्रिय रही है। फिर भी उसमें श्रेष्ठता प्राप्त करना साहित्य की भांति ही एक असाधारण बात है। नृत्य और संगीत की कलायें माध्यम की दृष्टि से अस्थायी होते हुए भी एक दृष्टि से अन्य सभी कलाओं से श्रेष्ठ हैं। नृत्य और संगीत के माध्यम सबसे अधिक परिमाण में साधारणजनों के लिए सुलभ हैं। शब्द और गति के माध्यम में सर्व साधारण को सहज रूप में जितनी श्रेष्ठता प्राप्त होती है, उतनी श्रेष्ठता वे अन्य कलाओं के माध्यम में प्रयत्न से भी प्राप्त नहीं कर सकते। नृत्य से भी अधिक संगीत के विषय में यह सत्य है। इसीलिए संस्कृति की परम्परा में संगीत सबसे अधिक लोकप्रिय है। लोक-संगीत संस्कृति की विशाल विभूति है। लोक साहित्य भी बहुत कुछ लोक संगीत के रूप में ही मिलता है। अन्य कलाओं का लोकप्रिय रूप इतना श्रेष्ठ और विपुल नहीं है। संस्कृति के प्रसंग में संगीत तथा नृत्य की एक और विशेषता विचारणीय है। संगीत और नृत्य का माध्यम अस्थायी है। काव्य अथवा साहित्य के भाव स्मृति में स्थायी रह सकते हैं, किन्तु राग और लय शीघ्र ही विस्मृत हो जाते हैं। उनका स्थायी प्रभाव नहीं रहता। साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि की भांति संगीत और नृत्य की सृष्टि का संरक्षण भी सम्भव नहीं है। इनका संरक्षण कला के रूप में नहीं वरन् शास्त्र के रूप में हुआ है। किन्तु इनके माध्यम की नश्वरता ही अन्य कलाओं की तुलना में इनकी अनुपम विशेषता बन जाती है। यह नश्वरता इनके पुनः पुनः सर्जन का अवसर देती है। संगीत और नृत्य के माध्यम के सुगम होने के कारण इस सर्जन में जनसाधारण भी सम्मिलित हो जाते हैं। संगीत और नृत्य की यह विशेषता उन्हें संस्कृति की जीवन्त परम्परा का प्रमुख अंग बना देती है। इस दृष्टि से नृत्य और संगीत कलाओं में सबसे अधिक सांस्कृतिक हैं। स्वर

का माध्यम सबसे अधिक सुलभ है। अत सगीत सबसे अधिक सास्कृतिक बन जाता है। शब्द और स्वर के माध्यम की सूक्ष्मता और सगीत के समारोह मे अनेक जनो के एक साथ सम्मिलित होने की सम्भावना व्यापक समात्मभाव को अवसर देती है और सस्कृति के भाव को अधिक सम्पन्न बनाती है। इस प्रकार सगीत की सास्कृतिकता और भी अधिक बढ जाती है। कलाकारो की ओर से सृजनात्मक होने के अर्थ मे तथा रूप और भाव के अतिशय से युक्त होने के अर्थ मे सभी कलाये सास्कृतिक है। **किन्तु सगीत और नृत्य के सर्वजन-सुलभ सृजनात्मकता से युक्त होने के कारण ये दोनो कलायें लोक सस्कृति की जीवन्त परम्परा का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अग रही है।**

सृजनात्मक होने के अर्थ मे पर्वो की जीवन्त परम्परा तथा साहित्य और कलाये सभी सस्कृति के अग है और सास्कृतिक कहलाने के अधिकारी है। यदि सस्कृति की रचना मे रूप और भाव के अतिशय तथा उनके साम्य को आवश्यक माने तो सस्कृति के ये लक्षण भी पर्वो की परम्परा, साहित्य और कलाओ मे मिलते है। यदि सस्कृति के इस लक्षण को कला का स्वरूप माना जाय तो सस्कृति और साहित्य दोनो मे कला का ये लक्षण मिलता है तथा उनको कलात्मक मानना उचित है। सस्कृति, साहित्य और कला तीनो के सास्कृतिक अथवा कलात्मक होने के कारण तीनो का एक दूसरे से परस्पर सम्बन्ध होता है। साहित्य और कला मे सस्कृति को मान मिलता है। सस्कृति की पर्व परम्परा को हम विशेष रूप मे जीवन्त और साक्षात् सस्कृति का स्वरूप माने तब सस्कृति, साहित्य और कलाओ का भेद बढ जाता है। कुछ अशो मे ही एक का दूसरे मे अन्तर्भाव मिलता है। सस्कृति की पर्व परम्परा मे लोक-जीवन का सामान्य और व्यापक क्षेत्र भाव और सौन्दर्य से उल्लसित होता है। सस्कृति की अभिजात धारणा से भेद करने के लिए हम इसे लोक सस्कृति कह सकते है। भारतीय परम्परा मे इस लोक सस्कृति का रूप इतना व्यापक और समृद्ध है कि वह जीवन के एक बहुत बडे भाग को सौन्दर्य और आनन्द से अभिषिक्त करता है। प्रतिदिन नये पर्व आते है। दैनिक जीवन के प्राकृतिक धर्मो मे ही सास्कृतिक सौन्दर्य का समवाय रहता है। छोटे बडे पर्वो का क्रम जीवन को सौन्दर्य की अपेक्षित लय प्रदान करता है। लोक सस्कृति की इस रजित मेघमाला मे प्रकृति के कुछ आकाश-द्वीप अवश्य शेष रह जाते है। किन्तु वे भी इस लय को सम का अवरोह

और आश्रय प्रदान कर जीवन की रागिनी की लय में योग देते हैं। सृजनात्मक होने के कारण तथा रूप और भाव के अतिशय से युक्त होने के कारण यह लोक-संस्कृति की परम्परा स्वरूप से कलात्मक है। किन्तु इसके साथ-साथ विशेष रूप में साहित्य और कलाओं का भी इसमें महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य और कलाओं के अधिक श्रेष्ठ और अभिजात रूप लोक संस्कृति में समाहित नहीं हो सकते। लोकगीत और लोक-कथा के रूप में साहित्य इस संस्कृति का अभिन्न अंग है। प्राचीन वेद पुराणों और काव्यों के अंश भी इसमें स्थान पाते हैं। नाटक का इसमें बहुत आदर है। कथा के अतिरिक्त विचारपूर्ण किन्तु कलात्मक गद्य इसमें स्थान नहीं पाता। कलाओं में नृत्य और संगीत इसमें सबसे अधिक आदर पाते हैं। ये कलाओं के सबसे अधिक सांस्कृतिक रूप हैं। इसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। आलेखनों में चित्रकला भी आदर पाती है। संस्कृति में भाव की प्रधानता रहती है। अतः रूप के अभिजात संस्कारों से युक्त कला के धरातलों का इसमें समन्वय नहीं हो पाता। संगीत के रूप की गति अन्तर्मुखी होने के कारण अन्य कलाओं की अपेक्षा उसका संस्कृति के अधिक घनिष्ठ अन्वय होता है। साहित्यिक काव्य में भी सूर, तुलसी, मीरा, जगनिक आदि की कृतियों के समान लोक का हृदय स्पर्श करने वाली रचनायें इस लोक-संस्कृति में भी उतना ही आदर पाती हैं जितना आदर कि उन्हें साहित्य के अभिजात क्षेत्र में प्राप्त है।

साहित्य और कलाओं का क्षेत्र संस्कृति की परम्परा के समान व्यापक नहीं है। साहित्य में जीवन के व्यापक अंशों को समाहित करने का प्रयत्न किया जाता है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि जीवन साहित्य से अधिक व्यापक है और जीवन के अनेक क्षेत्र साहित्य में अछूते रह जाते हैं। भाई-बहिन के सम्बन्ध, गुरुजनों का छोटों के प्रति कर्तव्य, आदर्श पिता, आदर्श पति, यौवन का मान आदि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनका इस प्रसंग में संकेत किया जा सकता है। साहित्य में प्रायः इतिहास का आधार रहता है। किन्तु इतिहास के अनेक महत्वपूर्ण वृत्त अभी तक साहित्य के प्रासाद में प्रवेश नहीं पा सके हैं। लोक-संस्कृति की जीवन्त परम्परा इतनी व्यापक और समृद्ध होते हुए भी साहित्य में बहुत कम स्थान पा सकी है। कालिदास के अतिरिक्त संस्कृत काव्य में भी सांस्कृतिक परम्परा के विशेष रूपों का सन्निधान बहुत कम मिलता है। हिन्दी काव्य में तो इनका प्रसङ्ग कदाचित् ही मिलता है।

सूर और तुलसी के अतिरिक्त इनके उदाहरण भी दुर्लभ हैं। हिन्दी का शेष साहित्य चाहे कलात्मक सौन्दर्य मे कितना ही समृद्ध हो किन्तु सास्कृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से वह अत्यन्त दीन है। कलाओ का क्षेत्र साहित्य की अपेक्षा अधिक सीमित है। शब्द के समर्थ माध्यम से 'साहित्य' जीवन और सस्कृति को यथेष्ट रूप मे समाहित कर सकता है। कलाओ के रूप अपने प्रभाव की विशेषता रखते हैं। किन्तु रूप की समृद्धि ही कलाओ मे भाव के सन्निधान मे बाधक बन जाती है। जीवन के कुछ प्रमुख प्रसग ही कलाओ के आधार बन सके हैं। साहित्य मे जीवन का सन्निधान कलाओ की अपेक्षा अधिक हुआ है। साहित्य मे विस्तार और व्यापकता की अद्भुत सम्भावना, जिसका हमने ऊपर विवरण किया है, इसका मूल रहस्य है। शब्द का समर्थ माध्यम इस रहस्य की मूल शक्ति है। **कलाकृतियो के बिन्दुओ में जीवन के सिन्धु और सरोवर समाहित नहीं हो सकते। कला की कृतियाँ जीवन के निर्झर के उच्छलित सीकरो के समान हैं।** फिर भी प्राचीन और मध्यकालीन कला के सम्बन्ध मे इतना स्वीकार करना होगा कि उनका अधिकाश भाव-तत्त्व सास्कृतिक है। भारतीय सगीत विशेषत हिन्दी सगीत के स्वर भक्ति और शृगार के परिचित सास्कृतिक भावो से ओतप्रोत है। राधा-कृष्ण का चरित अपने अद्भुत सौन्दर्य और अपूर्व प्रेम के कारण इस सगीत मे अधिक समादृत हुआ है। लोक-सगीत मे सस्कृति के अन्य रूप प्रतिष्ठित हुए हैं। प्राचीन और मध्यकालीन चित्रकला, मूर्तिकला एव नृत्यकला मे भी भारतीय सस्कृति का विपुल आधार मिलता है। इस दृष्टि से ये कलाय साहित्य की अपेक्षा अधिक सास्कृतिक हैं। हिन्दी काव्य मे मध्यकालीन कवियो की भक्ति-परक रचनाये ही सास्कृतिक भाव की दृष्टि से इन कलाओ की तुलना कर सकती हैं। किन्तु साहित्य और कला के इन रूपो मे भी जीवन्त भारतीय सस्कृति का भक्ति पक्ष ही कुछ स्थान पा सका है। तुलसी के काव्य मे कुछ सामाजिक भाव भी प्रतिष्ठित हुए हैं। **किन्तु भारतीय लोक-संस्कृति की जीवन्त परम्परा को वर्ष भर सौन्दर्य से आलोकित और आनन्द से उल्लसित करने वाले प्रमुख पर्व, व्रत, संस्कार, आचार आदि साहित्य और कला दोनों में ही अधिक स्थान नहीं पा सके हैं।** ज्ञात नही कि अधिक निकट होने के कारण सस्कृति के इन रूपो को कवियो ने अधिक महत्व नही दिया अथवा भावना की दृष्टि से वे इनसे दूर रहे। जीवन और सस्कृति के जो रूप हमारे मत मे साहित्य और कलाओ मे कुछ उपेक्षित रहे वे श्रेय और सौन्दर्य के तीर्थ हैं। इस दृष्टि से यह उपेक्षा साहित्य और कला की

दीनता का कारण रही। रूप का सौन्दर्य तो साहित्य और कला दोनो की विशेष विभूति है। किन्तु भाव और श्रेय की दृष्टि से जीवन और सस्कृति के इन उपेक्षित पक्षो को आदर देकर साहित्य और कला अधिक समृद्ध बन सकते थे। आज भी यह सम्भावना समाप्त नही हुई है। किन्तु राष्ट्रीय गरिमा की सम्भावना का सूर्य साहित्य और कला दोनो मे पश्चिमी प्रभाव की आँधी मे तिरोहित हो रहा है। चित्र, सगीत, काव्य सभी क्षेत्रो मे सास्कृतिक परम्परा से विच्छिन्न प्रधानत रूपात्मक कला का सम्मोहन ही आधुनिक युग मे बढता जा रहा है। पश्चिमी देशो में जहाँ भारतवर्ष के समान जीवन्त सस्कृति की कोई परम्परा नहीं थी, साहित्य और कला के ये परिणाम स्वाभाविक थे। किन्तु एक समृद्ध सस्कृति के उत्तराधिकारी भारतवर्ष में कला और काव्य के क्षेत्र में पश्चिम की यह विडम्बना शोचनीय है। आज जबकि सस्कृति की चर्चा एक फैशन बन गई है तथा कलाओ के प्रदर्शन बढ रहे हैं, स्वतत्र भारत के नागरिक-जीवन तथा अभिजात साहित्य और कला की सास्कृतिक दीनता आश्चर्यजनक है। कला को सस्कृति का पर्याय मानने वाले इस विडम्बना को समझने मे असमर्थ हैं। सस्कृति के स्वरूप के सम्बन्ध मे यह अज्ञान साहित्य और कला की विडम्बना को एक अभिशाप बना देता है। स्वतत्र भारत के उज्ज्वल भविष्य को इस अभिशाप का जो फल भोगना होगा उसकी कल्पना किसी भी राष्ट्रीय चेतना से प्रवण हृदय को कम्पित कर सकती है।

अध्याय ९

कविता का स्वरूप

कविता की कोई सर्वमान्य परिभाषा कठिन है। सामान्यत सभी लोग कविता के रूप को पहचानते और किसी न किसी अश में उसका आनन्द लेते हैं। किन्तु कविता के स्वरूप के निरूपण का प्रयत्न करते हुए इस सम्बन्ध मे अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि कविता मानवीय कृतित्व की एक व्यापक व्यजना है। उसकी व्यापक परिधि मे जीवन और कला की अनेक प्रेरणाओ और विधियो का समाहार है। मानवीय चेतना के अनेक रूप, पक्ष और धरातल हैं। सभव है भागीरथी के स्रोत की भाँति विश्व मानस के अन्तर से उदित होने वाली कोई एक मूल प्रेरणा ऐसी हो जिसे हम कविता का उद्गम कह सकें। भागीरथी के उद्गम की भाँति ही कविता की इस मूल प्रेरणा को खोजना कठिन है। चेतना के उस ऊर्ध्व और दुर्गम देश मे मन की गति कठिन है। आदि-कवि की विगलित करुणा के गोमुख से कविता की भागीरथी के उदात्त और उज्ज्वल समारम्भ के पीछे मानवीय चेतना की कितनी दुर्लक्ष्य सरणियो का सहयोग है, यह अन्वेषण सहज नही है। सामान्य जीवन के समतल पर कविता की भागीरथी के जिस प्रौढ प्रवाह से हम सामान्यत परिचित हैं तथा जिसके पुण्य तटो पर हम प्राय अवगाहन करते हैं, उसके निर्माण मे भी उद्गम के दुर्गम देश की न जाने कितनी सहस्र धाराओ का सहयोग है।

कविता के लिए भागीरथी की यह उपमा सुन्दर ही नही उपयुक्त भी है। वस्तुत यह कविता की भाषा मे ही कविता के स्वरूप की परिभाषा है। **कविता जीवन की भागीरथी है।** तर्क की दृष्टि से इस परिभाषा मे आलकारिता का दोष भले ही हो किन्तु कविता की दृष्टि से यह परिभाषा अत्यन्त उपयुक्त और अर्थपूर्ण है। इस परिभाषा में हमे कविता के स्वरूप का उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार स्वय कविता के रूपो मे मानवीय जीवन और आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार जगत के ऊर्ध्व लोको से भागीरथी गगा का उद्गम होता है उसी प्रकार मानवीय चेतना के ऊर्ध्व लोको मे कविता का मूल स्रोत है। हिमालय के

उज्ज्वल शिखरों पर सूर्य के सप्तरश्मि आतप के पड़ने से आरम्भ होने वाला हिम का विगलन ही भागीरथी के प्रवाह का आदि सूत्र है। उसी प्रकार मानवीय चेतना में सत्व के उत्कर्ष जीवन की रश्मियों से रंजित और विगलित होकर कविता के प्रवाह का आरम्भ करते हैं। सूर्य विश्व को जीवन-शक्ति है, वही हिम के विगलन का प्रेरक है। हिम के साथ सूर्य के सम्पर्क में आलोक की वर्णविभूति भी विच्छुरित होती है। प्रवाह की तरंगों पर यह वर्ण विभूति इन्द्रधनुषी स्वप्नों का अनन्त विधान करती है। हिम के उज्ज्वल सत्य में स्रवण के शिवम् के साथ अभिव्यक्ति के सुन्दरम् का उदय होता है। उसी प्रकार सत्व के उत्कर्ष में जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से जिस व्यापक करुणा में चेतना का द्रवण होता है, वही कविता का प्रथम दर्शन है। जीवन की ध्वनि पर तरंगित चेतना के इस प्रवाह में सांस्कृतिक विधानों के अनन्त इन्द्रधनुष कल्पना की तूलिका से अंकित होते हैं। सत्व के मंगलमय स्रवण की करुणा में कल्पना के ये चित्र विधान ही सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।

सत्य की भूमि पर मंगल की गति में सौन्दर्य की सृष्टि ही कविता का पूर्ण रूप है। सत्य जीवन की स्थिति है। उसमें उज्ज्वल आलोक की समष्टि है, किन्तु गति नहीं है। सत्य का उत्कर्ष होने के कारण ही अध्यात्मवादी दर्शन परम सत्य को अचल और अविकारी मानते रहे हैं। हिमाचल इसी सत्य के उत्कर्ष का प्रतीक है। जीवन की ऊष्मा के सम्पर्क से सत्व का हिमाचल विगलित होता है। करुणा का यही स्राव कविता का आदि स्रोत है। आदि कवि का प्रथम उच्छ्वास इसी कविता के प्रवाह का प्रथम बिन्दु है। यह स्रवण ही शिवम् है। आत्मदान इसका स्वरूप है। अभिव्यक्ति की प्रेरणा बनकर यही आत्मदान सुन्दरम् की सृष्टि करता है। जीवन की ऊष्मा से विगलित होकर हिम का तीव्र प्रवाह पृथ्वी के प्रदेशों को अपना जीवन समर्पण करता है। उसका यही आत्मदान प्रकृति के वृक्ष, वीरुध, लता, गुल्म, पादप, तृणादि में के रूपों में पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य बनकर यही आत्मदान खेत, शाद्वल, उपवन, वन आदि की सृष्टि करता है। इसी प्रकार सत्व की करुणा रसमय आत्मदान के द्वारा मंगलमयी गति से जीवन के सौन्दर्य-लोकों की रचना करती है।

जिन सूक्ष्म और दुर्लक्ष्य धाराओं के रूप में सत्व के इस विगलित प्रवाह का आरम्भ होता है, उनका अनुसंधान इन ऊर्ध्वलोकों के श्रद्धालु और साहसपूर्ण यात्री कर सकते हैं। सत्व के उत्कर्ष के उत्तुंग कैलाश और उसके अंचल में लहराते

करुणा के निर्मल मानसरोवर के दर्शन विरले ही पुण्यशाली कर पाते हैं। उपत्यकाओ और तराइयो के वासियो को उन सहस्रधाराओ के कौमार्य मे कविता की भागीरथी की विकसित लीलाओ का दर्शन अवश्य होता है। उन्हें इन सहस्रधाराओ के शत-शत सगमो पर निर्मित होने वाले शतश प्रयागो के पुण्य का भी लाभ होता है। लोक-जीवन की साधारण समतल भूमि के निवासियो को तो एक मन्थर और समवेत प्रवाह के रूप मे ही इस कविता की भागीरथी के दर्शन होते हैं। इसी के तट पर उनके अनेक सास्कृतिक तीर्थ निर्मित हैं। इस रस की भागीरथी मे अनुराग की यमुना के सगम से निर्मित एक प्रयाग ही उनका तीर्थराज है। इस कविता भागीरथी का मधुर-मधुर कल कल ही उनकी दिव्य श्रुति है। उसका विशाल अचल ही उनके जीवन का करुणामय आश्रय है। उद्गम के ऊर्ध्व लोको की रसकुमारियो की क्षिप्र गति, चचल लीला, बकिम विलास, उज्ज्वल कान्ति और मन्द्र सगीत के वास्तविक रूप की कल्पना भी उनके लिए कठिन है। खेतो, शाद्वलो, उपवनो और वनो की विभूति को ही बहुत मानने वाले समतल-वासियो को इन ऊर्ध्व लोको के देवदारु वनो, गन्ध-मादनो, औषधि-प्रस्थो आदि के सौरभ और सौन्दर्य की कल्पना भी सभव नही है।

कविता की भागीरथी के उद्गम की सुषमा और विभूतियो का अनुसधान जितना दुष्कर है, उसके कौमार्य की सहस्रधाराओ के समवाय से निर्मित समतल की उदारधारा के दर्शन और अवगाहन का पुण्य उतना ही सुलभ है। उद्गम के रहस्य और चमत्कारो की प्रतिभा का दर्शन चाहे इसमे दुर्लभ हो किन्तु उसके रस का प्रसाद इसमें भी समान रूप से प्राप्य है। **यह रस ही कविता की भागीरथी का स्वरूप और सार है।** मूलत कविता की भागीरथी का रस पवित्र और अविकार्य है। समतल के प्रवाह मे यदि कोई विकार अथवा अपवित्रतायें मिलती हैं तो वे उस रसप्रवाहिनी का स्वरूपगत दोष नही है, वे सभ्यता के विकारो के कलुष हैं। कविता की रसप्रवाहिनी इस कलुष को आत्मसात् और प्रच्छालित करने की शक्ति रखती है। सूरदास के समदर्शी भगवान के समान कविता की प्रवाहिनी इन कलुषो को भी आत्मसात् करके 'सुरसरी' की सज्ञा प्रदान करती है। वस्तुत उपनिषदो के 'रसो वै स' के अनुरूप रस ही इसका स्वरूप है। पुराणों में भागीरथी के रसप्रवाह को ब्रह्म-द्रव कहा गया है। कविता की भागीरथी का प्रवाह ब्रह्म के समान ही रसमय और अविकारी है। **कविता ब्रह्म के रसमय तत्व का ही सगीतमय प्रवाह है।**

कविता की रसमय भागीरथी अपने मूल और दिव्य रूप में ब्रह्मा के कमण्डलु की विभूति है। ब्रह्मा सृजन का देवता है। क्षीर सागर पर शेष शय्या पर विराजमान विष्णु की नाभि से नि सृत कमल पर आसीन ब्रह्मा सृजन के प्रतीक हैं। क्षीर सागर मानवीय संस्कृति की आधारभूत मातृ-भावना का प्रतीक है। अनन्त की संज्ञा से विभूषित सत्य के अनुरूप शुभ्रवर्ण और सहस्र-फण-युक्त शेषनाग अनन्त और अनेक शाखाओं से सम्पन्न ज्ञान का प्रतिक है। 'विष्णु' चक्र और गदा से सूचित विक्रम के द्वारा शंख और पद्म से द्योतित धर्म और अध्यात्म के रक्षक हैं। मातृशक्ति की प्रेरणा और ज्ञान का सम्बल उनकी स्थिति का स्थायी आश्रय और अवलम्ब है। आदि-शक्ति की प्रेरणा और अनन्त ज्ञान के सम्बल से विष्णु अपने विक्रमों मे सफल होते हैं। 'नाभि' देह का केन्द्र है। कमल जीवन के रस (जल) और कलुष (पंक) से उद्भूत जीवन की ऊर्ध्वगामी श्री का आसन है। उसी श्री की सृजनात्मिका विभूति से विष्णु के विक्रमों का केन्द्रीय प्रयोजन सफल होता है। सृष्टि के विधाता होने के साथ-साथ ब्रह्मा वेदों के आदि वक्ता भी हैं। सृष्टि प्रकृति है। वेद ज्ञान और संस्कृति के आगार हैं। ब्रह्मा प्राकृतिक और सांस्कृतिक सृजन के पौराणिक प्रतीक हैं। उनका कमण्डलु उनकी अर्चना का पात्र और साधना का उपकरण है। उसमें वर्तमान गंगा सृजन की साधना और अर्चना का रसमय तत्व है। ब्रह्म-लोक की वासिनी गंगा के पृथ्वी पर अवतार के लिए भगीरथ की तपस्या अपेक्षित है। कवि ब्रह्म-लोक की रसभूति को भूलोक में प्रवाहित करने वाला तपस्वी भगीरथ है। तप से ही उसकी साधना सफल हो सकती है। भूलोक में कविता की भागीरथी की रसधारा प्रवाहित करने के साथ-साथ वह अनन्त वैभव और अनन्त विलास के आकांक्षी लोक की कामना के प्रतीक स्वर्ग के अभिशप्त इन्द्र के छल से भस्म हुए अपने उद्वेजित पूर्वजों का भी उद्धार कर सकता है।

किन्तु कवि रूपी भगीरथ की यह साधना शिव के सहयोग के बिना संभव और सफल नहीं हो सकती। शिव लोक मंगल के प्रतीक हैं। अनन्त ज्ञान के प्रतीक शेषनाग के फणों पर पृथ्वी की स्थिति है। उत्कृष्ट सत्य के शुभ्र सचय का प्रतीक कैलाश पृथ्वी का चूडामणि है। उस कैलाश पर आसीन 'शिव' सत्त्व के उत्कर्ष की साधना द्वारा प्राप्य लोक के चरम और उच्चतम मंगल के द्योतक हैं। शिव का गुम्फित जटाजूट साधना की सघन वीथियों का संकेत करता है। लोक की उच्चतम मंगल साधना की सघन वीथियाँ ही सृजन के देवता के साधना-पात्र के रस-प्रवाह को

वलंधित करने में समर्थ है। इस लोक-मंगल की साधना और उसकी प्रीति के अनुग्रह से ही कवि-रूपी भगीरथ उस रस-प्रवाहिनी को पृथ्वी पर उतारने में समर्थ होता है। ब्रह्मा का यह वचन कि 'अन्यथा वह प्रवाह पाताल को चला जावेगा' लोक-मंगल की साधना के बिना रस-साधना की निष्फलता का व्यंजक है। पाताल विश्व का अधोलोक है। शिव की साधना के अभाव में कितनी रस साधना इस अधोलोक की गामिनी बनी है, यह कला, कविता और साहित्य का स्वस्थ अनुशीलन करने वाले पाठकों को अविदित नहीं है। शिव का स्वरूप स्वयं साधनामय है। भगीरथ और शिव का सहयोग रस और मंगल की साधना की संगति का सूचक है। तप और साधना प्रकृति के संस्कार के मार्ग हैं। रस और मंगल की दिशा में इस साधना की समन्वित गति ही पृथ्वी पर मंगलमयी रस-भागीरथी को अवतरित करने में सफल होती है। पौराणिक कल्पना में गंगा की धारा शिव के शीष से प्रवाहित होती है। लोक-मंगल के शीष से प्रवाहित होने पर ही रस-भागीरथी कल्याणमय आनन्द का वरदान बन सकती है। भागीरथ के समान दृढ और दीर्घ साधना के द्वारा ही शिव के प्रसाद की विभूति मंगलमयी रस-भागीरथी पृथ्वी पर प्रवाहित होती है।

ब्रह्मा, शिव और भागीरथ के पौराणिक निमित्तों से निर्मित भागीरथी का यह रूपक कविता के स्वरूप उद्गम और अभिव्यक्ति के रहस्यों का एक अद्भुत मार्मिकता के साथ संकेत करता है। कविता का स्वरूप भागीरथी के समान ही रसमय है। यह रस साधारण भावों अथवा जलों के समान विकार-शील नहीं वरन् ब्रह्म-रस के समान अविकार्य है। उपनिषदों में इस रस के आश्रयभूत ब्रह्म को 'कवि' की संज्ञा दी गई है। वह सर्वद्रष्टा कवि अपने स्वरूप-भूत रसतत्व से विश्व की सृष्टि करता है। यह सृष्टि चिन्मय ब्रह्म के स्वभाव की अनायास अभिव्यक्ति है। भामती के मंगलाचरण में 'वीक्षितमेतस्य पंचभूतानि' और 'स्मितमेतस्य चराचरम्' में दिव्य सृष्टि के इस अनायास सौन्दर्य का संकेत मिलता है। ब्रह्मा सृजन के देवता हैं। उन्हें हम ब्रह्म-शक्ति के सृजनात्मक रूप का प्रतीक मान सकते हैं। ब्रह्मा का ऋषि-रूप सांस्कृतिक साधना का सूचक है। साधना का कमण्डलु ही ब्रह्म की रस विभूति का आश्रय और त्रिलोक में उसके प्रवाह का आदि-स्रोत बनता है। सांस्कृतिक जगत में कवि अनन्त रस-लोकों का विधाता है। काव्य-शास्त्र की परम्परा में कवि को 'प्रजापति' माना है, यह उचित ही है। कवि स्रष्टा है। साथ ही वह द्रष्टा भी है। शंकराचार्य ने उपनिषदों के कवि का 'कवि

क्रान्तदर्शी सर्वदृक्' भाष्य किया है। चतुर्मुख होने के कारण विश्व के स्रष्टा ब्रह्मा सर्वदर्शी हैं। वेद के विधाता होने के कारण वे सर्वज्ञ भी हैं। अनाविल ज्ञान-दृष्टि विधाता की सृष्टि किया का आलोक है। उज्ज्वल और अनाविल ज्ञान-दृष्टि से समन्वित होकर ही कवि की सांस्कृतिक सृष्टि भी सफल होती है। अस्तु, ज्ञान-दृष्टि से युक्त सृष्टि ही कविता का रूप है। साधना से युक्त सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है।

साधना से सत्व का उत्कर्ष होता है। कैलाश उसी का प्रतीक है। कवि का कैलाश उसका मस्तक है। यह कल्पना योग के प्रतीकवाद के अनुरूप है। तप और शक्ति साधना के सम्बल हैं। तप प्रकृति का मर्दन तथा वशीकरण है। 'शक्ति' क्रिया की सामर्थ्य है। यों तो यह शक्ति अणु अणु में व्याप्त है और आज उसके विस्फोट विश्व को प्रलय का द्वार दिखा रहे हैं। निसर्ग प्रकृति की सृजनात्मक क्रिया में शक्ति की अभिव्यक्ति प्रकृति की एक अन्तर्गत नियति बन गई है। शक्ति की कृत्रिम अभिव्यक्तियां मनुष्य-तन्त्र हैं। मनुष्य की चेतना में शक्ति का स्वतन्त्र रूप अभिव्यक्त हुआ है। तन्त्रों में इस चिन्मयी शक्ति को 'चिच्छक्ति' की संज्ञा दी गई है। समस्त विश्व इस शक्ति का ही विलास है। विश्व का काव्य शक्ति की महाकला का अद्भुत सौन्दर्य है। कविता की सृष्टि भी कवि की शक्ति साधना का फल है। सत्व का उत्कर्ष शक्ति का भी अभ्युदय है। कवि की समर्थ चेतना की विभूति ही कविता बनकर विलसित होती है। जीवन की ऊष्मा से विद्रवित सत्व का हिमालय ही मानस के मार्ग से कविता की भागीरथी के रूप में प्रवाहित होता है। इस प्रवाह में सत्व की भास्वरता और कांति, शक्ति का वेग और गति, कल्पना का रंजित वीचिविलास तथा सृजन का अद्भुत सौन्दर्य और प्रगति का मन्द्र मधुर संगीत है।

कविता की भागीरथी की मौलिक कांति, वेग, संगीत आदि का परिचय तो उसके उद्गम के ऊर्ध्व लोकों में ही मिलता है, जो दुर्लभ है। समतल भूमि के निवासियों को इन तीनों के मन्द रूप का ही साक्षात्कार होता है। किन्तु वे भी अपनी कल्पना के द्वारा इन मूल रूपों का मानसिक साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं। समतल के प्रवाह में भी कान्ति की अद्भुत आभा, गति का प्रबल वेग, सृजन की व्यापक विभूति और संगीत का मनोहर माधुर्य है। मन्द होते हुए भी प्रवाह का वेग अविच्छिन्न है और उसका विस्तार अधिक है। प्रवाह की यह अविच्छिन्न परम्परा कविता की वास्तविक गति है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदि के

समान विरले ही काव्यो में प्रवाह की यह परम्परा मिलती है। अधिकाश काव्य भावो के सुन्दर सरोवर हैं जो युग की मान्यता के काल में तो स्वच्छ बने रहते है। किन्तु बाद में उपेक्षित होकर सिवार और काई से ढँक जाते हैं। राम चरितमानस के समान बिरले ही सरोवर भाव की उस ऊर्ध्व भूमि पर स्थित हैं जहा ये विकार से कलकित नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ, जयशकरप्रसाद, निराला और कुछ आधुनिक कवियो के गीतो मे भावना के स्वल्प किन्तु स्वच्छ उत्स हैं जो अधिक दूर तक नही जाते फिर भी उनके प्रवाह मे कान्ति, गति और सगीत है। कुछ सामयिक प्रवन्ध वर्षाकाल की नदियो की भाँति अपने आविल प्रवाह मे गम्भीरता की भ्राति उत्पन्न करके लोक की पूजा के पात्र बन जाते हैं। किन्तु शरद् के निर्मल वातावरण मे वे दीन हो जाते हैं। जिन स्थायी काव्यो में विकार का कुछ अश है वे उन अन्य नदियो के समान हैं, जिनका प्रवाह तो निरन्तर है किन्तु उनका उद्गम निम्न लोक के पर्वतो की सुगम और सुविदित कन्दराओ मे है। कविता का उत्तम रूप तो भागीरथी का पवित्र और अविकारी प्रवाह ही है जो साधना के ऊर्ध्व लोको से नि सृत होकर सामान्य जीवन की समतल भूमि को श्रय और सौन्दर्य से निरन्तर अचित करता रहता है और जिसका दीर्घ पथ मनुष्य के सास्कृतिक तीर्थो का आश्रय है।

भागीरथी का उज्ज्वल और अमृत प्रवाह ही कविता का उत्तम रूप है। लोक-चेतना के गगासागर म विलीन होकर भी इस प्रवाह की गति विच्छिन्न नही होती। जीवन की ऊष्मा से आन्दोलित होकर उसका रस-तत्व करुणामयी मेघमालाओ के रूप मे अनन्त के मार्ग से साधना के उसी हिमालय की ओर चल पडता है जो कविता की भागीरथी का मूल उद्गम बनता है। इस प्रकार अविच्छिन्न रहकर कविता की भागीरथी का प्रवाह अपनी एकता मे अनेकता का समाहार करके मानवीय जीवन के लिए सृजन और सौन्दर्य की मगलमयी परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन जाता है।

उद्गम की कान्ति, गति और सगीत के अतिरिक्त भागीरथी के प्रवाह की दिशा भी कविता के स्वरूप का मर्म उद्घाटित करती है। पौराणिक परम्परा के अनुसार गगा 'त्रिपथगा' कहलाती है। तीनो लोको मे उसके प्रवाह की गति है। स्वर्ग की गगा का नाम 'मन्दाकिनी' है। भूलोक की गगा 'भागीरथी' है उसी प्रकार पाताल के अधोलोक मे भी गगा का प्रवाह है। ये तीनो लोक जीवन के ऊर्ध्व, मध्यम और अधम लोको के प्रतीक हैं। तीनो ही लोक गगा के दिव्य प्रवाह से

अधिकारी हैं। यद्यपि पुराणों का स्वर्ग अनन्त विलास और अनन्त वैभव की कामना का मूर्त्त रूप है किन्तु देवों मे सत्व की प्रधानता की दृष्टि से हम उसे अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक का प्रतीक मान सकते हैं। पाताल का अधोलोक विकृतियों और अनीतियों का तामस देश है। भूलोक सत्व और तम से संतुलित राग का लोक है। यहाँ मनुष्य का मुख्य निवास है। सत्व के हिमालय से नि सृत होकर कविता की भागीरथी इसी मे प्रवाहित होती है। अध्यात्म के ऊर्ध्व लोक मे भी कविता के भागीरथी का प्रवाह हुआ है। अधोलोक भी इसके प्रसाद से वंचित नही है। किन्तु मध्यलोक की धारा ही मनुष्यों के कल्याण का मुख्य मार्ग है। भूलोक की भागीरथी का उद्गम शिव के साधनामय पीठ हिमालय से है। इससे इसकी मगला-मूलकता स्पष्ट है। इसकी दिशा पूर्व की ओर है। ज्ञान के सूर्योदय के कारण पूर्व का महत्व अपूर्व है। सूर्य जीवन और ज्योति का स्रोत है। योग मे वह आत्मा का भी प्रतीक है। आत्मा का स्वरूप प्रकाश और शक्ति है। उस सूर्य की दीप्त रश्मियो से विगलित होकर ही सत्व का हिमालय भागीरथी के स्रोत मे प्रवाहित होता है। उसके प्रवाह की दिशा भी पूर्व की ओर है जो सूर्य के उदय की दिशा है। निरन्तर प्रवाह का श्रेय और सौन्दर्य तो कविता की भागीरथी का लक्षण है ही, किन्तु इसके साथ-साथ ज्योति और जीवन के सूर्योदय की दिशा की निरन्तर व्यजना करना भी उसकी स्वाभाविक गति है। वस्तुत इसी व्यंजना के द्वारा कविता की भागीरथी जीवन की उज्ज्वल और रसमयी सृजन परम्परा की चिरन्तन प्रेरणा बन सकती है। भागीरथी की अपार महिमा के कारण गाव गाव की बरसाती धारा को भी 'गगा का नाम मिला। इसी प्रकार कविता की प्रवाहिनी की अपार महिमा का साम्य पाकर अनेक रचनायें 'काव्य' पद की भागिनी बनी। किन्तु उनका स्वरूप कविता की भागीरथी से कितना भिन्न है यह दोनो मे अवगाहन करने वाले विवेकीजन ही जान सकते हैं। जहाँ तक जल के प्रवाह का सम्बन्ध है वहा तक ये बरसाती धाराये भी 'पयस्विनी' की परिभाषा के अन्तर्गत ही हैं। उसी प्रकार जहा तक रस के प्रवाह का सम्बन्ध है कविता के नाम से प्रसिद्ध सभी रचनाओ मे वह किसी न किसी परिमाण म मिलता है। प्रश्न यह है कि काव्य का सामान्य स्वरूप क्या है और किस आधार पर काव्य के उस सामान्य में विशेष विभेद किये जा सकते हैं ? इस विभेद का क्या अधिकार और महत्व है ? काव्य की सामान्य परिभाषाये बहुत व्यापक हो जाती हैं। अत अनेक रचनाये इसके अन्तर्गत आ जाती हैं। किन्तु दूसरी ओर

काव्य की किसी भी परिभाषा का पूर्णत निर्वाह दुर्लभ है। पूर्णता बड़ी कठिन कोटि है। अत वह अत्यन्त दुर्लभ भी है। विरली ही कृतियो में परिभाषा की पूर्णता का आभास मिलेगा। परिभाषाओ के भेद के अतिरिक्त उनके निर्वाह की अनेक कोटियाँ हैं। इस प्रकार कविता के सामान्य मे अनन्त विशेषो का समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अनेक प्रकार से भिन्न प्रतीत होने वाली अनेक कृतियाँ कविता के अन्तर्गत सम्मिलित होती रही हैं।

यदि कविता का एक सामान्य लक्षण समव भी हो तो भी उसके निर्वाह के अनेक उपकरण और धरातल हैं। इन उपकरणो और धरातलो का सापेक्ष भेद कविता के रूपो मे भेद उत्पन्न करता है। जिस एक ही सामान्य के अन्तर्गत होते हुए भी लोक की प्रत्येक वस्तु-विशेष दूसरी वस्तुओ से भिन्न है उसी प्रकार कविता के विशेष रुप भी उसके अन्य रूपो मे भिन्न हैं। इस भेद के कारण ही जिस प्रकार एक ही सामान्य मे समाविष्ट एक विशेष वस्तु को हम अन्य वस्तुओ से पृथक नही पहचानते हैं उसी प्रकार हम काव्य के विशेष रूपो को भी पृथक-पृथक पहचानते हैं। कालिदास के एक श्लोक को सुनकर हम तत्काल पहचान जाते हैं, चाहे उस श्लोक को हमने पहले न पढा हो। तुलसीदास, पन्त, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि प्रत्येक की रचना मे एक अपनी विशेषता है जिसके द्वारा हम उसे पहचानते हैं। इतना अवश्य है कि यह पहचान उस विशेषता के साथ हमारे परिचय पर निर्भर है। इस विशेषता को हम कवि अथवा काव्य के व्यक्तित्व की विशेषता कह सकते हैं। इस दृष्टि से काव्य के उतने ही भेद होगे जितने कवि हैं। किन्तु काव्य के उपकरणो और धरातलो के आधार पर अन्य प्रकार से काव्य के भेद किये जा सकते हैं। साम्य के आधार पर एक वर्ग के अन्तर्गत इस विभाजन मे अनेक रचनाये आ सकती हैं। यह विभाजन काव्य के सामान्य लक्षण और अनन्त विशेषो के बीच मे है। आलोचना ही नही काव्य के आस्वादन की दृष्टि से भी उसके इस त्रिविध निरुपण का महत्व है। इसलिए साहित्य के इतिहास मे काव्य शास्त्रो मे काव्य के सामान्य लक्षण के साथ-साथ उसके भेदो का भी निरूपण किया गया है। आधुनिक अध्ययन और आलोचना की रुचि प्रत्येक कवि की मौलिक विशेषता मे भी है।

सामान्यतः कविता को कला का शब्दमय रूप माना जाता है। कविता भाषा के माध्यम से भाव की अभिव्यक्ति है। साधारणत हम भाषा के मुखर रूप को ही जानते हैं। किन्तु भारतीय शब्द-दर्शन मे शब्द की और भी कई कोटियाँ बताई हैं।

चतुर्विध वाक् के अन्तर्गत, परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी चार कोटियाँ हैं। इनमें हमारी परिचित भाषा वाक् का अन्तिम और सबसे स्थूल रूप है। अन्य तीन रूपों को हम सामान्यतः नहीं जानते। शब्द-दर्शन में 'शब्द' को 'ब्रह्म' माना गया है। ब्रह्म चिन्मय है। अतः शब्द का मूल स्वरूप भी चैतन्य है। मुखर शब्द उसी का विवर्त है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वेदान्त मे जगत के पदार्थ ब्रह्म के विवर्त हैं। मुखर भाषा के द्वारा कविता मे जिस भाव की अभिव्यक्ति की जाती है वह भी कवि के मानस मे चिन्मय ही होता है। इस चिन्मय भाव को हम कविता का आन्तररूप कह सकते हैं। मुखर भाषा मे उसकी अभिव्यक्ति उसका बाह्य रूप है। भारतीय काव्य शास्त्र मे इस बाह्य रूप को काव्य पुरुष की देह माना गया है। आन्तरिक चिन्मय भाव उसकी आत्मा है। जिस प्रकार चिन्मय आत्मा की शक्ति देह को अनुप्राणित और सचालित करती है उसी प्रकार भाव की विभूति शब्दो के देह मे व्याप्त रहती है। देह और आत्मा का सामजस्य ही मनुष्य का जीवन है। उसी प्रकार चिन्मय भाव के साथ शब्द के बाह्य रूप का सामंजस्य ही कविता का जीवन है।

इसलिए भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य की सबसे अधिक सामान्य और सम्भवतः सबसे प्राचीन परिभाषा शब्द और अर्थ का सहितभाव (साहित्य) है। "शब्दार्थे सहितौ काव्यम्" काव्य शास्त्र के अत्यन्त प्राचीन आचार्य भामह का प्रसिद्ध वचन है। यद्यपि भामह वक्रोक्ति को काव्य का स्वरूप मानते हैं, फिर भी शब्द और अर्थ के साहित्य के बिना वह सभव नही। आगे चलकर भामह के अनुयायी कुन्तक ने 'वक्रोक्ति से युक्त शब्दार्थ के साहित्य' को काव्य मानकर भामह का अभिप्रेत स्पष्ट कर दिया। कुन्तक की वक्रोक्ति के समान अन्य आचार्यो ने ध्वनि, अलकार, गुण, रीति, रस आदि मे से एक अथवा कई तत्वो से विशिष्ट शब्दार्थ के साहित्य को काव्य का लक्षण माना है। शब्दार्थ का साहित्य प्राय सभी परिभाषाओ मे समान है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ का साहित्य भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार कविता की परिभाषा का एक आवश्यक अग है। वस्तुत यही कला के अन्य रूपो से काव्य का भेदक भी है। कला के अन्य रूपो का माध्यम शब्द अथवा अर्थ-सहित शब्द नही। यहाँ हम शब्द का प्रयोग भाषा के व्यवहार मे रूढ अर्थ-युक्त शब्द के अर्थ मे करते हैं। यदि सामान्य नाद अथवा ध्वनि के अर्थ में हम 'शब्द' को ग्रहण करें तो संगीत भी शब्द के अन्तर्गत आ जायेगा। सगीत का शब्द

केवल नाद अथवा ध्वनि है। शुद्ध सगीत मे भाव अथवा अर्थ का सयोग आवश्यक नही। वह केवल ध्वनि का लययुक्त क्रम है। सामान्यत हम जिसे सगीत समझते हैं वह काव्य और सगीत का सम्मिश्रण है। यदि सगीत के लिए सार्थक ध्वनि आवश्यक होती तो सगीत के मूल स्वरो की स्थापना पशु-पक्षियों के स्वरो मे नही की जाती। चित्रकला वर्णो (रंगो) के माध्यम से रूप की रचना है। भाव की अभिव्यक्ति इसका भी आवश्यक अग नहीं है, अन्यथा अल्पनाओ (डिजाइन) के समान भावहीन रचनाओ को चित्रकला मे सम्मिलित नही किया जा सकता। नृत्यकला का माध्यम मनुष्यो के अगो की गति है। उसमे भाव का अनुयोग स्वाभाविक है अत उसे भाव से अलग करना कठिन है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि अगो की गति ही नृत्य-कला का मुख्य रूप है।

अस्तु, माध्यम की दृष्टि से भाषा में प्रसिद्ध शब्द का अर्थयुक्त रूप अन्य कलाओ की तुलना में काव्य का भेदक हो सकता है। किन्तु इस मान्यता के निर्वाह की सफलता शब्द और अर्थ के अर्थ पर निर्भर है। शब्द अभिव्यक्ति के सकेत मात्र हैं। इसका निर्माण अक्षरो से होता है, जिन्हे 'वर्ण' भी कहते हैं। सस्कृत का 'वर्ण' पद कई अर्थो का द्योतक है। मूलत वर्ण सकेत अथवा चिन्ह को कहते हैं जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति अथवा वर्ग को पहिचानते हैं। इसी अर्थ मे 'वर्ण' समाज के वर्गो का वाचक बना। 'वर्ण' रग को भी कहते हैं। रग और रूप चित्रकला के माध्यम हैं। वे चित्रकला की भाषा हैं। नृत्य की गति और भगिमाये भी अभिव्यक्ति के सकेत हैं। उन्हे हम नृत्य की भाषा कह सकते हैं। यदि भाषा को एक व्यापक अर्थ मे अभिव्यक्ति के अगो का समूह माने तो सभी कलाओ को भाषा का रूप मानना होगा और वर्ण इस सामान्य भाषा के चिन्ह होगे। भाषा और वर्ण के इस व्यापक अर्थ से समस्त कलाओ की एक सामान्य परिभाषा हो जाती है। इस परिभाषा के अनुसार कला सकेतो के द्वारा रूप अथवा भाव की अभिव्यक्ति है। यह कला के व्यक्त और बाह्य रूप की ही परिभाषा है। उसका आन्तरिक स्वरूप चिन्मय अनुभूति है जिसे हम 'भाव' कह सकते हैं। यदि भाव में रूप की अनुभूति भी सम्मिलित है तो कला की यह सामान्य परिभाषा सभी कलाओ पर लागू हो जाती है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि भिन्न-भिन्न कलाओं का इसके अतिरिक्त कोई अपना विशेष रूप भी है, जिसके द्वारा वे एक दूसरे से पृथक समझी जाती हैं। भाषा और वर्ण की जो व्यापक व्याख्या ऊपर की गई है उसके अनुसार तो कला के

माध्यमो मे भी भेद करना कठिन है। भारतीय आचार्यों ने शब्द को काव्य का माध्यम माना है। केवल ध्वनि अथवा नाद के अर्थ मे शब्द सगीत का भी माध्यम है। अन अर्थ से युक्त शब्द कविता का माध्यम है। तात्पर्य यह है कि मुख से उत्पन्न ध्वनिमय सकेत अन्य कलाओं से सगीत तथा काव्य के विभेदक हैं तथा 'अर्थ' काव्य का सगीत से विभाजन करता है।

किन्तु 'अर्थ' का अभिप्राय क्या है? यदि अर्थ का आशय सकेत मे निहित तत्त्व से है तब तो चित्र विधान मे ग्रहित रूप (आकार) तथा सगीत मे निहित रूप (राग) भी अर्थ के अन्तर्गत हैं। चित्र और सगीत के रूपविधान ऐन्द्रिक ग्रहण के विषय हैं, यद्यपि ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष मे भी मन का सहयोग रहता है। शब्द का ग्रहण भी श्रवण के द्वारा होता है किन्तु उसके तात्पर्य ग्रहण मे मन की क्रिया होती है। रूप और ध्वनि के सौन्दर्य का बोध बच्चो का भी होता है। किन्तु बुद्धि का विकास न होने के कारण शब्द के अर्थ का बोध उन्हे नही होता। शब्द बच्चों के लिए वस्तुओं के ध्वनिमय सकेत मात्र होते हैं। बौद्धिक भावों के सकेत रूप मे शब्दो का बोध बच्चो का धीरे धीरे होता है। इससे विदित होता है कि शब्द का अर्थ उसके रूप में निहित बौद्धिक अथवा मानसिक तत्व है। इसे हम 'चिन्मय भाव' कह सकते है। यद्यपि सगीत और चित्र के रूप विधान मे भी मन का सहयोग रहता है, फिर भी उसमे ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्रमुखता है। शब्द के अर्थ ग्रहण में मनोव्यापार की प्रधानता है। ऐन्द्रिक व्यापार उसका निमित्त मात्र है। इसलिए शब्द दर्शन मे वाणी के तीन रूपो मे ऐन्द्रिक व्यापार का सन्निकर्ष नही है। उनमे चिन्मय भाव-तत्व का ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता जाता है और अन्त मे मध्यमा के स्वरूप मे रूप का प्राय विलय हो जाता है। परा तो पूर्णत ही चित्-स्वरूप है।

अत मानसिक अर्थ अथवा चिन्मय भाव ही शब्दो के माध्यम का मुख्य तात्पर्य है। एक सीमा तक हम इसे बौद्धिक कह सकते हैं किन्तु यह पूर्णत बौद्धिक नहीं है। बुद्धि चेतना का सामान्य तथा विश्लेषणात्मक रूप है। विज्ञान और दर्शन बुद्धि के अध्यवसाय के फल हैं। इनमे विवेक पूर्वक प्रत्ययो और सिद्धान्तो का सामान्य रूप निर्धारित किया जाता है। सामान्य होने के कारण मनुष्यो मे उनका परस्पर सम्वाहन सभव है। बुद्धि द्वारा निर्धारित प्रत्ययों और सिद्धान्तो का रूप बहुत कुछ निश्चित होता है। निश्चित होने के कारण उनका सम्वाहन सुगम और सफल होता है। काव्य शास्त्र की भाषा में शब्द के इस निश्चित अर्थ को 'अभिधार्थ'

कह सकते हैं। किन्तु यह अभिधार्थ ही शब्द की भाव सम्पत्ति का सर्वस्व नहीं है। शब्द के संकेत में अभिधार्थ के अतिरिक्त अधिक व्यापक अर्थ को व्यंजित करने की शक्ति होती है। इस शक्ति का नाम ही 'व्यंजना' है। आनन्द वर्धन ने इसे 'ध्वनि' की संज्ञा दी है। वे इसे काव्य की आत्मा मानते हैं। वस्तुतः यह व्यंजना कला का सामान्य लक्षण है। कला भाव की अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का स्वरूप है। चित्रकला में प्रायः रूप ही भाव होता है किन्तु आधुनिक चित्रकला में भाव के माध्यम के रूप में भी रूप के दर्शन होते हैं। पिकासो से प्रभावित अति आधुनिक चित्रकला में तो रूप की विकृति के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। चित्रकला के प्रतीकात्मक रूप में भाव को ही प्रधानता है। संगीत का शुद्ध रूप चाहे ध्वनियों का भावहीन क्रम ही हो, किन्तु संगीत की लय भाव की लहर बनकर ही हमारी चेतना को स्पर्श करती है। नृत्य और मूर्तिकला में तो मनुष्य की देह के माध्यम से प्रायः भाव की अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य के अंग, विशेषतः उसका मुख, चिन्मय भावों की अभिव्यक्ति का सहज माध्यम हैं। इस प्रकार यदि कलाओं के रूपों में रूप के साथ-साथ उसके भाव की अभिव्यक्ति भी मान्य हो तो फिर काव्य और अन्य कलाओं में माध्यम के रूप के अतिरिक्त और कोई भेद खोजना कठिन होगा। इसी कारण पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कला के एक सामान्य के अन्तर्गत काव्य को भी सम्मिलित करते रहे हैं। यह कहना भी कठिन है कि शब्द में भाव की अभिव्यक्ति की क्षमता अधिक है। चित्रकला और नृत्य की ये मुद्राओं में बहुत से भावों की ऐसी मार्मिक और सजीव अभिव्यक्ति होती है जैसी काव्य में दुर्लभ है। इतना अवश्य है कि संभवतः भाव के सभी अभिप्रेत चित्र और नृत्य के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किये जा सकते। भाव की व्यंजना में संभवतः शब्द की शक्ति अधिक व्यापक है। इसीलिए अभिव्यक्ति के माध्यमों में सबसे अधिक समृद्धि भाषा की हुई है।

भाषा शब्द संकेत के द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन है। शब्द में निश्चित अभिधार्थ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त एक अनुरक्त और व्यापक भाव की अभिव्यक्ति की भी सामर्थ्य है। अभिधार्थ से भेद करने के लिए हम इसे 'आकृति' कह सकते हैं। काव्य शास्त्र की परम्परा में इसे व्यंग्यार्थ कहा जाता है। ध्वनि सम्प्रदाय में रस को मुख्य व्यंग्यभाव माना है। इसी आधार पर आगे चलकर विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा 'रसात्मकं वाक्यम्' की है। ध्वनि अथवा व्यंजना

शब्द की शक्ति अथवा उसके द्वारा भाव की अभिव्यक्ति की शैली है। विभाव, अनुभाव आदि सहकारी कारणो के सहयोग से मनुष्य के मन मे रति आदि स्थायी भावो का जो परिपाक होता है उसी मे रस की निष्पत्ति होती है। भारतीय रसवाद का मूल उपनिषदो के 'रसौवै स' मे खोजा जाता है किन्तु काव्य-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक रस उससे नितान्त भिन्न है। यद्यपि पडितराज जगन्नाथ ने 'चिदावरणभग' के सिद्धान्त के द्वारा दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। किन्तु रति आदि से अवच्छिन्न रहने के कारण न यह चिदावरणभग ही पूर्ण हो सका और न इस समन्वय का रूप ही समीचीन बन सका। अवच्छेद भी चित् के आवरण ही हैं। चित् का वास्तविक स्वरूप इन अवच्छेदो को अतिक्रान्त करके ही उदित होता है। इस अतिक्रान्ति के क्रम विभाव के बिन्दुओ के अहकार का विस्तार और विलय होता है। इसी विस्तार मे चित् का आवरण भग होता है और रस का उदय होता है। रस का यही वास्तविक स्वरूप है जिसे उपनिषदकारो ने ठीक-ठीक समझा। इसी रस का स्वरूप आनन्द है। चिद्-बिन्दुओ का एकात्मभाव इसका लक्षण है। अनुभूति, सहानुभूति, समानुभूति आदि से भेद करने के लिए हमने इसे समात्मभाव की सम्भूति कहा है। मोक्ष और समाधि से लेकर हमारे साधारण लोक व्यवहार तक इस सम्भूति के तारतम्य का क्रम सम्भव है। वस्तुत सामाजिक जीवन, सभ्यता और सस्कृति मे इसी का सूत्र आनन्द का स्रोत है। काव्य शास्त्रो मे सामान्यत जिसे रस माना है वह ऐन्द्रिक और प्राकृतिक सुख है, आत्मिक आनन्द नही है। काव्य शास्त्रो मे काव्य के आनन्द को लोकोत्तर तथा ब्रह्मानद सहोदर माना है। ज्ञात नही कि काव्य का आनन्द किस अर्थ मे लोकोत्तर है तथा किस अर्थ मे ब्रह्मानद का सहोदर है। उपमा और अनुमान के लिए ब्रह्मानद के प्रसग मे विषयानन्द का भी उल्लेख मिलता है। लोकोत्तर से अभिप्राय ऐन्द्रिक सुख से अतीत आनन्द से है। कदाचित् इसलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर कहा है।

कला चाहे केवल अभिव्यक्ति हो और उसमे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की दृष्टि से चाहे भाव-तत्व का अधिक महत्व न हो, किन्तु काव्य में अभिव्यक्त (रूप) और तत्व दोनो का समान महत्व है तथा उनके समन्वय से ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि होती है। 'शब्दार्थौ सहितौ' का यही तात्पर्य है तथा कालिदास की 'वागर्थ सम्पृक्ति' का यही अभिप्राय है। इस दृष्टि से यदि हम काव्य का अवलोकन करे तो हमे अधिकाश काव्य का भाव-तत्व लौकिक ही प्रतीत होगा। काव्य शास्त्र के रसवाद

की कल्पना तथा अधिकांश काव्य कृतियों का उपादान लौकिक सम्वेदनाएँ और सुख ही हैं। ऐसी स्थिति में काव्य के अलौकिक आनन्द का आधार केवल अभिव्यक्ति की कला ही हो सकती है। यह सत्य है कि अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अद्भुत चमत्कार है। वह साधारण को असाधारण तथा लौकिक को अलौकिक बना देती है। हमारा साधारण लोक-व्यवहार अभिधान पर आश्रित होता है। इस दृष्टि से अभिव्यक्ति की व्यंजना अलौकिक ही है। इस व्यंजना का कोई व्यावहारिक और लौकिक लाभ नहीं है अतः यह स्वयं अपना लक्ष्य बनकर अलौकिक आनन्द की सृष्टि करती है। काव्य-शास्त्र और काव्य कृतियों में इसके इतने व्यापक महत्व का यही कारण है। किन्तु केवल अभिव्यक्ति का सौन्दर्य कला और काव्य का सर्वस्व नहीं है। अभिव्यक्ति के अतिरंजित रूप में मनोविलास की आशंका होने लगती है।

मनोविलास अवश्य मन का विलास है, वह स्वस्थ मन का आनन्द नहीं है। कला में विशेषतः काव्य में अभिव्यक्ति के रूप के साथ साथ भाव तत्व का भी समान महत्व है। यह भाव तत्व मूलतः जीवन का लौकिक रूप ही है। जीवन के इस लौकिक रूप के आनन्द के अनुरूप होने पर ही अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से इसका उचित समन्वय हो सकता है। आनन्द का वास्तविक स्वरूप वही है जिसे उपनिषदों में 'रस' कहा है तथा एकात्मभाव इसका लक्षण है। प्राकृतिक सुख से इसका कोई विरोध नहीं है, किन्तु इसमें अन्वित होकर ही प्राकृतिक सुख आनन्द की कोटि तक पहुँच सकता है। इस अन्वय में ही जीवन और काव्य के रस तथा आनन्द का स्रोत है। खेद की बात है कि काव्य में यह अन्वय दुर्लभ ही है। अभिव्यक्ति के चमत्कार के आनन्द के अतिरिक्त भाव-तत्व के समन्वय के आनन्द की क्षमता बहुत कम काव्य में है। अधिकांश काव्य प्राकृतिक और लौकिक सुख का ही साधन है इसी कारण लोक की उसमें रुचि भी है। ब्रह्मानन्द के सहोदर पद का अभिलाषी होते हुए भी अधिकांश काव्य लोक की प्राकृतिक रुचि का ही रंजन करता रहा है। प्रायः इस काव्य में लौकिक संवेदना के तत्व को इतनी प्रबलता रही है कि अभिव्यक्ति के अलौकिक सौन्दर्य का चमत्कार भी लौकिक सुख के व्यक्तिगत रूप के आकर्षण का ही संवर्धन करता है।

काव्य के समग्र स्वरूप में रूप और तत्व दोनों का समान महत्व है। दोनों के समन्वय से ही काव्य का पूर्ण रूप निर्मित होता है। काव्य के रूप को अभिव्यक्ति अथवा व्यंजना कह सकते हैं। काव्य का तत्व जीवन और जगत का सत्य है।

अभिव्यक्ति में अन्वित होकर वह एक व्यापनशील रूप धारण करता है। सत्य के सागर की लहरों में अभिव्यक्ति के आलोक की शिखायें अनन्त ज्योतिर्लोकों का निर्माण करती हैं। कल्पना के वीचिविलास में इन लोकों का रूप नव-नव आभा से निखरता रहता है। उसकी यह निरन्तर नवीनता ही सौन्दर्य की इस परिभाषा को सार्थक बनाती है—'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'। प्रकृति के काव्य में नये-नये रूपों की रचना होती रहती है। मनुष्य के काव्य में भी रचना का यह क्रम-अनन्त है। किन्तु मनुष्य का काव्य इस दृष्टि से अलौकिक है कि विकीर्ण होते हुए भी उसका सौन्दर्य और सौरभ प्रकृति के पुष्पों की भांति विशीर्ण नहीं होता। ये काव्य कुसुम अपने अविनश्वर सौन्दर्य से मानव मन में नित्य नवीन भावों की रचना करते रहते हैं। काव्य की भावव्यंजना की व्यापकता और समृद्धि का यह पर्याप्त उदाहरण है। यह साकृत और व्यापक व्यंजना ही विज्ञान, शास्त्र और दर्शन से कला तथा काव्य की भेदक है। काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम 'शब्द' अर्थ-सन्निधान के कारण व्यंजना का साधन होने के साथ-साथ तत्व का वाहक भी है। यह तत्व जीवन और जगत का सत्य है। अभिव्यक्ति के माध्यम से वह चेतना या भाव-तत्व बन जाता है। विज्ञान और शास्त्रों के अभिधान में भी तत्व का चेतना से यही सम्बन्ध है। किन्तु उसमें अर्थ और आकृति की समानता के कारण कोई चमत्कार नहीं होता, अतः उनमें अवगति का आलोक तो होता है किन्तु अभिव्यक्ति का आह्लाद नहीं होता। अभिव्यक्ति की भंगिमा और आकृति की व्यापनशीलता दोनों मिलकर काव्य के भावतत्व में सौन्दर्य और आह्लाद का संचार करते हैं।

सभी कलाओं में भावतत्व का स्थान है और अभिव्यक्ति उनका सौन्दर्य है। चित्रकला, संगीत आदि में चाहे रूप की प्रधानता हो किन्तु काव्य में भावतत्व का महत्व अभिव्यक्ति के समान है। भाव सत्य का चिन्मय रूप है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में अन्वित होकर वह रस का रूप ग्रहण करता है। रस का स्वरूप आनन्द है इसीलिए रसमय काव्य को लोकोत्तर आनन्द का प्रदाता माना गया है। उपनिषदों में इस रस का रूप आध्यात्मिक है और काव्य शास्त्र में इसका लौकिक रूप ही ग्रहण किया गया है। रस का यह लौकिक रूप मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिनिष्ठ और संवेदनामय है। इसी कारण काव्य-शास्त्र के रसवाद में अनेक समस्यायें पैदा हुई और उपनिषदों के आध्यात्मिक रस से उसका समन्वय कठिन हो गया।

उपनिषदो के रस की पूर्ण कल्पना करना कठिन है। वह एक दीर्घ और दुष्कर साधना है। किन्तु सामाजिक जीवन के आत्मीय सबन्धो मे हमे उसकी झलक मिलती है। जो मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिनिष्ट भाव काव्य शास्त्र के रस का आधार है, वही मनुष्य जीवन सर्वस्व नही है। स्वार्थ प्रकृतिका स्वभाव है। प्रकृति का पुत्र होने के कारण स्वार्थ का सश्लेष मनुष्य के जीवन मे वर्तमान है, किन्तु वह अहकार के एक अनिश्चित बिन्दु के रूप मे है। जीवन के सम्बन्धो मे उस बिन्दु का विस्तार सदा एक व्यापक परिधि मे होता रहता है। प्रकृति के स्वार्थ मे सुख है जो सम्वेदनामय है। मनुष्य के जीवन मे चेतना का जागरण होने के कारण प्रकृति और सम्वेदना का स्वार्थमय सुख अपनी सीमाओ मे सुरक्षित नही रह गया है। चेतना की व्यापनशीलता के सस्कार लेकर वे प्राकृतिक सुख आत्मिक आनन्द मे अन्वित हो गये हैं। उनकी प्राकृतिक भूमि मे भी अध्यात्म और सस्कृति के समृद्ध कल्पतरु पुष्पित हुए हैं। प्राकृतिक सवेदना और आत्मिक चेतना के इसी सगम मे सस्कृति का बीज और रस का स्रोत है। रस सगम मे उपनिषदो का आध्यात्मिक रस लोक-जीवन की विभूति बनता है। प्रकृति की भूमि मे यह आत्मा का विलास है। कविता इसी रस की भागीरथी है।

भारतीय काव्यशास्त्र में रस को मनोवैज्ञानिक, व्यक्तिनिष्ठ और सवेदनाशील मानकर काव्य के विवेचन को एक ऐसे मार्ग पर डाल दिया जो जीवन और काव्य दोनो के वास्तविक लक्ष्य से दूर हो गया है। किसी सीमा तक यह सत्य है कि जीवन और काव्य दोनो के रस का अनुभव व्यक्ति के आश्रय मे होता है और इस अनुभव मे अहभाव का सश्लेष भी रहता है। **किन्तु रस के अनुभव में इनके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही तत्व रस के उद्रेक का मुख्य कारण है।** जो व्यक्ति और सम्वेदना काव्य शास्त्र मे रस के मुख्य उपकरण माने गये हैं वे उसके निमित्त मात्र हैं। **रस का वास्तविक स्वरूप सामाजिक समात्मभाव है जिसे अनुभूति, सहानुभूति, समानुभूति आदि से पृथक करने के लिए हम सम्भूति कह सकते हैं।** क्रोचे और भारतीय काव्य शास्त्र दोनो ही एक प्रत्याहार के सीमित रूप मे व्यक्ति को कला और काव्य के रस का आश्रय मानते हैं। ऐसे एकान्त व्यक्ति की कल्पना करना कठिन है। उपनिषदो के प्रजापति भी इस एकान्त मे आनन्द न पा सके और उन्होने मिथुन सृष्टि की रचना की। उसमें प्रवेश करके उन्होंने आनन्द की प्राप्ति की। यह प्रवेश आन्तरिक एकात्मभाव है। यही रस का

मूल है। यदि एकान्त सम्भव हो तो उसमें रस का अनुभव तथा कला और काव्य की सृष्टि सम्भव नहीं है। एकान्त साधना और एकान्त भाव को एक समझना भ्रम है। वाह्य रूप में अकेले होते हुए भी हम मन से अकेले नहीं होते। भाव-प्रवण कल्पना के द्वारा अनेक वस्तुओं और व्यक्तियों से आत्मभाव स्थापित करके हम अपने एकान्त की शून्यता को सम्पन्न बनाते हैं। यही सम्पन्नता संस्कृति की समृद्धि तथा कला और काव्य का स्रोत है।

कला और काव्य के अनेक सिद्धान्तों में मानवीय चेतना के इस सांस्कृतिक सत्य का संकेत है, किन्तु किन्हीं कारणों से काव्य-परम्परा में इस मौलिक सत्य का समुचित उद्घाटन नहीं हो सका। भारतीय काव्य शास्त्र में पात्रों के साथ दर्शक के तादात्म्य के प्रसंग आते हैं। क्रोचे की अनुभूति और कौलिंगवुड की कल्पना में भी कला के विषय के साथ कलाकार की चेतना के तादात्म्य का भाव है। वौलकैल्ट और लिप्स के द्वारा प्रतिपादित समानुभूति के सिद्धान्त में भी इस तादात्म्य का बीज है। किन्तु ये सभी सिद्धान्त व्यक्तित्व और अहंभाव के बिन्दु में ही इस तादात्म्य का संकोचन करते हैं। वस्तुतः यह तादात्म्य संकोचन नहीं, विस्तार है। यह विस्तार चेतना की सहज वृत्ति है। इस विस्तार में अहंकार के बिन्दुओं का विलय नहीं, उन्नयन और सामंजस्य है। युगल अथवा अनेक बिन्दुओं में युगपत् उदय होने के कारण इसे 'समात्म-भाव' कहना उचित है। यह अनुभूति नहीं सम्भूति है। पश्चिमी चेतना की वृत्ति वहिर्मुख है अतः कला के विषयों में वस्तुओं का ही प्रसंग प्रमुख रहा। व्यक्तिगत संवेदना में सीमित रहने के कारण भारतीय काव्य शास्त्र भी इस सम्भूति की यथोचित कल्पना नहीं कर सका। सत्य यह है कि सृष्टि में विशृंखल अनेकता होने पर कलाकार की कल्पना मौलिक प्रेरणा से रहित होती है। काल्पनिक अथवा वास्तविक (और कल्पना का आधार वास्तविक ही होता है) साहचर्य, सहकार और सम्बन्ध के समात्मभाव में ही सृजनात्मक कल्पना को प्रेरणा मिलती है तथा इसी भाव की सम्भूति में सौन्दर्य और रस का उदय होता है।

समात्मभाव की सम्भूति जीवन का एक साधारण सत्य है। उसमें रहस्य अथवा अलौकिकता की कोई बात नहीं। हमें अपने आत्मीय सम्बन्धों में प्रायः इसका साक्षात्कार होता है। वस्तुतः मनुष्य के सम्बन्ध का यह सामान्य भाव है। मनुष्य का स्वरूप आत्मा और प्रकृति का संयोग है। यह संयोग किस प्रकार सम्पन्न हुआ, यह सृष्टि-शासन की एक जटिल पहेली है। जीवन में इन दो विषम तत्वों की संगति

का सिद्धान्त क्या है यह दर्शन का एक दुरूह प्रश्न है। किन्तु सामान्य व्यवहार और अनुभव मे इन समस्याओ और प्रश्नो के कारण कोई बाधा नही आती। सृष्टि शास्त्र और दर्शन दोनो की कठिनाइया कुछ मान्यताओ को लेकर हैं। इन मान्यताओ म विचार का विश्लेषण और कारणवाद का आग्रह मुख्य है। विश्लेषणात्मक होने के साथ साथ वस्तु रूपो के निश्चित परिच्छेद का निर्धारण विचार का स्वभाव है यद्यपि हीगल ने यह दर्शित किया था कि दूसरी ओर विचार इन परिच्छेदो का अतिक्रमण भी करता है। हीगल के अध्यात्मवाद मे इसी अतिक्रमण के आधार पर विचार और अध्यात्म का समन्वय हो सका। किन्तु तर्क विज्ञान और व्यवहार म विचार का परिचित स्वभाव अवच्छेदन ही है। अवच्छेदन निश्चित एकरूपता की सीमा मे वस्तुओ, व्यक्तियो और प्रत्ययो को निर्धारित करता है। पृथककरण इसका धर्म और अनेकरूपता इसका फल है।

वस्तुत यह परिच्छेद प्रकृति का विधान है। प्रकृति के रूप परिच्छिन्न आकार मे ही व्यक्त होते हैं। मनुष्य की आत्मा को भी देह का परिच्छेद प्रकृति से ही प्राप्त हुआ है। परिच्छेदो की अनेकता व्यवहार को सम्भव बनाती है तथा साथ ही जीवन के भावो की समृद्धि का साधन भी है। पूर्णत परिच्छिन्न और पृथक होने के कारण जड प्रकृति के पदार्थों मे न कोई आ तरिक सम्बन्ध है और न उनके भाव एव रूप की समृद्धि होती है। जड प्रकृति के क्षेत्र में केवल स्वगत परिणाम की क्रिया है किन्तु सजीव प्रकृति में पारस्परिक और आन्तरिक सम्बन्ध का विकास हुआ है उसमे रूपो की अभिव्यक्ति परिच्छेदो मे होते हुए भी एक सृजनात्मक धर्म मे तत्वो का परस्पर अन्तर्भाव है। यह अ तर्भाव एक आ तरिक सम्बन्ध है। इसी के द्वारा प्रकृति के रूपो मे समृद्धि होती है। पृथ्वी क रसो को आत्मसात करके बीज नित्य, नवीन पल्लवो पुष्पो फलो मे साकार होते हैं। सजीव प्रकृति क इस सृजनात्मक धर्म मे कोई सचेतन भाव है अथवा नही यह कहना कठिन है किन्तु इसमे रूप की समृद्धि एक परम्परा बन गई है यह स्पष्ट है।

मनुष्य में आन्तरिक सम्बन्ध का यह अन्तर्भाव सचेतन हो गया है। जहाँ प्रकृति का धर्म परिच्छेद है, वहाँ चेतना का धर्म विस्तार है। इन्द्रियो की दूर गति मे विषयो के ज्ञान मे भी चेतना क इस विस्तार का आभास मिलता है। कल्पना में यह चेतना अनन्त बन गई है। विषयो के ज्ञान मे भेद और अनेकता प्रमुख जान पडती है। यह विचार के तटस्थ स्वभाव का फल है। किन्तु कला और कल्पना

के क्षेत्र मे यह पथक्त्व और परिच्छेद इतना कठोर नही रहता। पृथक होते हुए भी कल्पना के द्वारा कलाकार वस्तुओ के साथ एकात्मता का अनुभव करता है। वस्तुत यह एकात्मभाव मानवीय सम्बन्ध का लक्षण है, इसीलिए कला और काव्य मे प्राय जिन वस्तुओ के साथ एकात्मभाव की स्थापना होती है उनमे मानवीय भावनाओ का आरोपण मिलता है। प्रकृति का मानवीयकरण कला और काव्य का एक परिचित तथ्य है। वस्तुओ के सम्बन्ध मे जो एकात्मभाव आरोपण के द्वारा सभव होता है मानवीय सम्बन्धो म वह स्वाभाविक है। चेतना की विस्तारमुखी वृत्ति इसे सहज सभव बनाती है। हमारी इन्द्रियाँ ही बहिर्गामिनी नही हैं, वरन् हमारी चेतना भी विस्तारशील है। वस्तुत इन्द्रियाँ चेतना क विस्तार का माध्यम हैं। इस दृष्टि से इन्द्रियाँ अध्यात्म की एक गर्हणीय बाधा नही है, वरन् उसकी व्यवहारिक सफलता की सहयोगिनी है। मनुष्य-देह मे सजीव और सचेतन होकर प्रकृति अपनी जड सीमाओ से ऊपर उठ गई है। जहाँ उसके रूप, आकार और कुछ धर्मो मे प्रकृति का परिच्छेदमूलक लक्षण भी वर्तमान है वहा दूसरी ओर इन्द्रियो और मस्तिष्क के रूप मे चेतना के साथ सहयोग की दिशा म भी उनका उत्कर्ष हुआ है। मनुष्य की देह मे मानव प्रकृति आत्मा को साकार करने की साधना कर रही है।

आत्मा और प्रकृति का सगम होने के कारण मनुष्य की सत्ता मे विरोध का बीज है। किन्तु यह विरोध ही उसके स्वरूप का सर्वस्व नही है। इस विरोध मे भी एक नैसर्गिक सगति है तथा इस सगति को पूर्णतर बनाने की सभावना मनुष्य मे निहित है। लिस्टोवेल का मत है कि कला म इस सगति को अद्भुत बनाने की क्षमता है वस्तुत इसी सगति की समृद्धि सस्कृति की साधना का लक्ष्य है। जहाँ पृथकत्व और परिच्छेद प्रकृति का रूप है वहाँ सगति और समात्मभाव चेतना का लक्षण है। वेदान्त मे आत्मा के एकत्व की जो स्थापना की गई है वह अपने पूर्ण रूप मे चाहे कितनी ही दुरूह हो किन्तु आत्मीयता के सामाजिक सम्बन्धो मे हमे एकात्मता का साक्षात्कार होता है। इस एकात्मता मे चेतना का आत्म विस्तार सम्पन्न होता है। प्राकृतिक देह के परिच्छिन्न माध्यम मे सभव होने के कारण इसमे विचार की कठिनाइयाँ पैदा होती हैं। विज्ञान अथवा मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति को एक पृथक और स्वतन्त्र इकाई मानकर जब हम मनुष्य के जीवन और सम्बन्धो को समझना चाहते हैं तो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इस कठिनाई का मूल व्यक्ति को वस्तु समझने में है। प्राकृतिक वस्तुओ के समान ही पृथक और

परिच्छिन्न रूप में व्यक्ति को ग्रहण करके वैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य के साथ अन्याय ही नहीं करता वरन् वह जीवन के साधारण सत्य को भी भ्रात बनाता है। किसी सीमा तक यह ठीक है कि प्राकृतिक परिच्छेद की सीमा और अहभाव के केन्द्र मे मनुष्य का व्यक्तित्व साकार होता है। किन्तु यही मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण सत्य नही है। चेतना से अनुप्राणित होने के कारण एक अनिश्चित परिधि की ओर सदा उसका विस्तार होता रहता है। प्रकृति का पृथक्त्व जब मानवीय सबन्धो मे विरोध बन जाता है तभी इस अहकार का उग्र और केन्द्रित रूप प्रकट होता है। वाह्य होते हुए भी यह विरोध एक आन्तरिक विषमता उत्पन्न कर देता है। इस विषमता से आन्तरिक अशान्ति होती है। इसके विपरीत प्रेम और सद्भावो के सबन्धो मे सामाजिक सगति होती है। इसका फल आन्तरिक सामजस्य है।

अहकार के बिन्दुओ के इस सामाजिक और आन्तरिक सामजस्य मे एक व्यापक परिधि की ओर उनका विस्तार होता है। कुछ अध्यात्मवादी दर्शन इस विस्तार मे अहकार के बिन्दुओ का विलय मानते हैं, किन्तु यह आवश्यक नही है। वास्तविक मानवीय सम्बन्धो में इस विलय के बिना भी हमें विस्तार का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः बिन्दु की केन्द्रीयता और उनके विस्तार के सबन्ध में एकता और अनेकता, भेद और अभेद आदि की समस्यायें विचार के विश्लेषणात्मक स्वभाव से उत्पन्न होती हैं। विचार का तटस्थ दृष्टिकोण सजीव और सचेतन व्यक्तियो को भी जड वस्तुओ की भाति पृथक और परिच्छिन्न रूप मे देखना चाहता है। किन्तु सजीव और सचेतन व्यक्तित्व मे प्रकृति के परिच्छेद की सीमायें उदार तथा उसके नियमो की नियति मृदुल हो गई है। इसी मृदुलता और उदारता मे आत्मा के साथ सामजस्य की ओर प्रकृति का उत्कर्ष सभव हो सका है। मनुष्य जीवन मे प्रकृति के इस उत्कर्ष के कारण प्रकृति के नियमो और विचार के सिद्धान्त के अनुरूप जीवन के सत्यो का निर्धारण नही हो सकता। इसी कठिनाई से बचने के लिए वेदान्त के विधाताओ ने अपने दर्शन को अद्वैतवेदान्त की निषेधात्मक और अनिश्चित सज्ञा दी। 'अद्वैत' का तात्पर्य यही है कि प्राकृतिक सत्ता और विचार-प्रणाली का भेद-मूलक रूप जीवन और चेतना के क्षेत्र में मान्य नहीं है। भेद के निषेध का अर्थ एकत्व की स्थापना नही है। वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट कहा है कि वेदान्त का उद्देश्य भेद का निराकरण है, अभेद की स्थापना नही। 'एकत्व' प्रकृति की सत्ता का रूप और विचार का आग्रह है और दूसरी

और वह अनेकत्व से सापेक्ष है। विचार के इसी द्वन्द्व की सध्या में जीवन और अध्यात्म का सत्य तिरोहित हो गया। एकत्व का आग्रह और स्वीकरण आकृति के रूप और विचार के चरणों में जीवन का आत्मसमर्पण है। मानवीय सबन्धों के समात्मभाव का रूप एकत्व और अनेकत्व के नियमों से अतीत है। वस्तुत वह दोनों का सामजस्य है। आत्मीय सम्बन्धों म हमें सामजस्य का साक्षात्कार होता है। कला और सस्कृति की साधना का लक्ष्य यही सामजस्य है। बाह्य और आन्तरिक सगति के द्वारा यह सामजस्य जीवन को समृद्ध बनाता है।

प्रकृति की सत्ता और विचार के नियमों के एकत्व और अनेकत्व तथा परिच्छेद और पृथकत्व से अतीत समात्मभाव का सामजस्य ही कला और सौन्दर्य का मूल है। किन्तु प्रकृति के प्रभाव और विचार के आग्रह के कारण कला और काव्य के अनेक सिद्धान्तो मे इसके विपरीत स्थापनाय मिलती हैं। इन स्थापनाओ मे प्राकृतिक पदार्थों की सत्ता और विचार के आग्रह के अनुरूप कलाकार, दर्शक अथवा पाठक के विविक्त व्यक्तित्व को ही कला अथवा काव्य की रसानुभूति का आधार माना गया है। यदि कलाकार अपनी आन्तरिक अनुभूति को ही सर्वस्व मानकर इसी से सन्तुष्ट रहता है तो कला की बाह्य अभिव्यक्ति और कलाकार के अतिरिक्त अन्य सामाजिको के द्वारा उसके रसास्वादन के प्रसग मे पैदा होने वाली समस्यायें न उठती। कलाकार को अपनी कलानुभूति की पूर्णता के लिए 'स्वान्त नुखाय' बाह्य अभिव्यक्ति की आकाक्षा भी होती किन्तु यदि वह उसे दूसरा तक न पहुँचने देता तो भी इस परिस्थिति मे कोई अन्तर न पडता। सत्य यह है कि अभिव्यक्ति मनुष्य की चेतना का स्वभाव है। जिस ज्ञान के अनुसन्धान में आन्तरिक जिज्ञासा मनुष्य को प्रेरित करती है उस ज्ञान को भी वह दूसरों के प्रति प्रकट करने के लिए आकुल हो उठता है। सौन्दर्य की अनुभूति भी उसे अभिव्यक्ति के लिए उत्सुक बना देती है और वह दूसरो को अपनी अनुभूति में भाग लेने के लिए आमत्रण देता है। कलात्मक अभिव्यक्ति इसी आमत्रण की भाषा है। असख्य कला-कृतियो और काव्यो में यही आमत्रण साकार हुआ है। यह आमत्रण कला और काव्य के सामाजिक स्वरूप का सूचक है। कला का वह आमत्रण उसके स्वरूप को व्यक्तिगत अनुभूति के स्थान पर सामाजिक समात्मभाव की सम्भूति बना देता है।

वस्तुत यही सम्भूति कला और काव्य का मूल स्रोत है। किन्तु पूर्व और पश्चिम के प्राय सभी सिद्धान्तो में कला और सौन्दर्य की अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ

माना गया है। दूसरी ओर कला की वाह्य और सामाजिक अभिव्यक्ति ने इन विचारको और आचार्यो को यह मानने के लिए विवश कर दिया है कि दूसरे लोग भी कलाकारो की इस अनुभूति मे भाग लेकर रस का अनुभव करते हैं। कलात्मक अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण दूसरो के रसास्वादन की भी व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर ही व्याख्या करने के लिए वे विवश हुए। एक दूसरे के अनुभव मे भाग लेने की स्वाभाविक क्षमता जीवन का एक साधारण सत्य होते हुए भी इन आचार्यो को कला और काव्य के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण न जान पडी। अत उन्होने व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर ही सामाजिको के द्वारा कला के रसास्वादन की व्याख्या की। भारतीय नाट्य-शास्त्र और काव्य शास्त्र का रस सिद्धान्त इस व्याख्या का भारतीय रूप है। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा मे भरत से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक इस सिद्धान्त के विकास का विशद और विपुल रूप मिलता है। **किन्तु इस समस्त परम्परा में अपने अहभाव में सीमित व्यक्ति ही रसानुभूति का आश्रय रहा है।** प्रश्न यह है कि पाठक काव्य के रस का आस्वादन किस प्रकार और किस रूप में करता है। नाटक मे यह समस्या और भी जटिल हो जाती है। अभिनय का एक नवीन तत्व इस जटिलता का कारण है। **नाटक को सम्मिलित करके कला और काव्य की अनुभूति की चार कोटियाँ हैं।** सबसे पहली कोटि जीवन की रसानुभूति है जिसके आश्रय नाटक और काव्य के मौलिक और वास्तविक पात्र हैं। दूसरी कोटि इस अनुभूति का कवि के द्वारा अपनी चेतना मे अनुभावन है। इस अनुभावन के विना कवि अथवा कलाकार उसका चित्रण नही कर सकता। तीसरी कोटि नाटक की विशेषता है। नाटक मे अभिनेता वास्तविक पात्र का रूप धारण करके उनके व्यवहार और भावो का अनुकरण करता है। चौथी कोटि सामाजिको का रसास्वादन है। वे नाटक के दर्शन और काव्य के पाठ मे रस लाभ करते हैं। ये चारो व्यक्ति भिन्न हैं, किन्तु इनकी अनुभूति का आधार एक ही है। **चार भिन्न भूमियों में स्थित व्यक्तियो में समान रसानुभूति का स्फुरण किस रूप में और किस प्रकार होता है, कला और काव्य का यही प्रमुख प्रश्न है।**

भारतीय काव्य शास्त्र मे कवि को स्रष्टा माना गया है। किन्तु जिन पात्रो के जीवन व्यवहार और अनुभव का अकन वह अपनी रचना मे करता है, उनके साथ कवि के भाव सम्बन्ध की प्रथम कोटि का स्पष्ट विवेचन भारतीय काव्य शास्त्र मे नही मिलता। भारतीय साहित्य-शास्त्र मे काव्य की परिभाषायें मुख्यत काव्य के

स्वरूप को लेकर ही की गई हैं। जिन आचार्यों ने कवि-कर्म के महत्वों का संकेत भी किया है, उन्होंने भी कवि की सृजनात्मक शक्ति को ही महत्व दिया है, रचना के उपादानों के साथ कवि के सम्बन्ध का निर्देश उनमें भी नहीं मिलता। किन्तु इसके विपरीत मूल पात्रों के साथ अभिनेता तथा दर्शक और पाठक के सम्बन्ध का विवेचन भारतीय काव्य शास्त्र में बड़े ही विशद रूप में मिलता है। कलात्मक अनुभूति को व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण सामाजिक समानुभूति का मार्ग इन आचार्यों को दिखाई नहीं दिया। अतः उनकी व्याख्यायें अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता के आधार पर ही काव्य के रसानुभव की सगति सिद्ध करने के प्रयास हैं। ऐसी स्थिति में तद्रूपता अथवा स्थानापन्नता के अर्थ में व्यक्तित्वों का तादात्म्य ही एक मात्र मार्ग प्रतीत होता है। सम्भवतः कवि अपने को पात्रों के साथ तद्रूप करके उनकी भावनाओं का अनुभावन तथा अंकन करता है। अभिनेता भी इसी तद्रूप भाव से उनका अभिनय करता है। दर्शक और पाठक भी तद्रूप भाव से ही नाटक अथवा काव्य का रसास्वादन करते हैं।

किन्तु व्यक्तित्वों की तद्रूपता में मनोवैज्ञानिक असगति के अतिरिक्त अन्य अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। मनोवैज्ञानिक आपत्ति की चर्चा कलानुभूति और व्यक्तिनिष्ठ मानने वाले भारतीय अथवा पश्चिमीय किसी भी आचार्य ने सभवतः नहीं की। मनोवैज्ञानिक तर्क की दृष्टि से यह कहना होगा कि यदि व्यक्तित्व ही अनुभूति का अधिष्ठान है तो अनुभूति के लिए व्यक्तित्वों की तद्रूपता संभव नहीं हो सकती। अपने केन्द्रों में सीमित इकाइयाँ एक दूसरे की स्थानापन्न नहीं हो सकतीं। व्यक्तिवाद एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद है। प्रकृति के क्षेत्र की भांति व्यक्तित्व की इकाइयाँ भी एक दूसरे से बहिर्गत हैं, अतः वे एक दूसरे की स्थानापन्न अथवा एक दूसरे के साथ तद्रूप नहीं हो सकतीं। कल्पना के द्वारा यदि कवि, अभिनेता अथवा पाठक इसे सम्भव बनाने का प्रयत्न करता है तो यह एक असाधारण परिस्थिति में पैदा होने वाला अल्पकालिक भ्रम है। वस्तुतः इस भ्रम में भी वह अपने व्यक्तित्व में ही आरूढ़ रहता है। तन्मयता की अवस्था एक क्षणिक और काल्पनिक भ्रम है। अपनी अनुभूति के आधार पर साम्य के द्वारा दूसरे की अनुभूति का जो अनुभावन किया जाता है वह वास्तविक परानुभूति का अनुभावन नहीं है वरन् उसके साम्य की एक काल्पनिक सृष्टि है। सारूप्य मुक्ति के साथ साम्य मुक्ति के भेद के समान पात्रों की वास्तविक अनुभूति और दूसरे के द्वारा उनके अनुभावन में

अन्तर है। यह अन्तर तद्रूपता के भ्रम को खंडित करता है। **सत्य यह है कि व्यक्तित्वो की तद्रूपता मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है।** वस्तुतः **व्यक्तित्वो में एक विचित्र प्रकार का सम्बन्ध है जो सीमित व्यक्तिवाद और तद्रूपता दोनो से भिन्न है। इसे हम 'समात्मभाव' कह सकते हैं।** जिसमे व्यवहार और विचार के लिए व्यक्तित्वो की धुरिया बनी रहती हैं किन्तु उनकी अनुभूतियो के क्षितिज मिलते रहते हैं। आकाश और प्रकाश की भाति हम एक दूसरे के अनुभवो मे भाग लेते हैं। व्यक्तित्व का मर्म चिन्मय है। **चेतना के क्षेत्र में प्राकृतिक परिमाणुवाद के नियम कठोरता से लागू नहीं होते।**

भारतीय काव्य शास्त्र मे अनुभूति को सीमित अर्थ मे व्यक्तिनिष्ठ मानने के कारण अनेक समस्याये पैदा हुईं और इन समस्याओ के दुरुह समाधान किये गये। व्यक्तित्व के सिद्धान्त को मानकर एकवार अभिनेता और दर्शक के मूल पात्रो के साथ तद्रूप होने की कल्पना की गई। धार्मिक कथानको के प्रसग मे इस तद्रूप भाव मे पातक की आशका प्रकट हुई। सामाजिक कथानको के प्रसग मे भी यह पातक की सभावना हमारी दृष्टि मे समानरूप से उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान के तर्क इस तद्रूपता का खडन करते हैं। हम अभिनय को वास्तविक घटना नही समझ लेते और न हम अपने व्यक्तित्व को भूलकर पात्रो के समान व्यवहार अथवा अनुभव करने लगते हैं। अभिनेता के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है। पात्रो का अनुकरण करते हुए भी अभिनेता अपने व्यक्तित्व को भूल नही जाता। अपने व्यक्तित्व की धुरी मे स्थित रहकर ही वह अभिनेय पात्रो के चरित्रो के क्षितिजो का विक्षेप करता है। इस विक्षेप की सफलता ही उसका कौशल है। **इस विक्षेप के कौशल का मूल हमारे समात्मभाव की वही क्षमता है जिसके द्वारा हम दूसरो के अनुभवो में भाग लेते हैं।** व्यक्तित्वो की तद्रूपता की उक्त धार्मिक और मनोवैज्ञानिक आपत्तियो का समाधान करने के लिए काव्य शास्त्र में साधारणीकरण के सिद्धान्त का उदय हुआ। साधारणीकरण बुद्धि का धर्म है। बुद्धि का आधार सत्वगुण मे है। इसके विपरीत रागात्मकता व्यक्तित्व का विशेष लक्षण है। रजोगुण राग का आधार है। साधारणीकरण और व्यक्तिवाद के दोनो पक्ष मनुष्य के व्यक्तित्व के इन दो प्रमुख तत्वो का प्रत्याहार करके एकागी भाव से उन पर आश्रित हैं। **आश्चर्य की बात है कि एकागी व्यक्तिवाद पर आश्रित होते हुए भी भारतीय काव्य शास्त्र ने साधारणीकरण के विपरीत मत का प्रतिपादन किया है।** काव्य-शास्त्र की

मान्यता मे अन्तर्निहित तथा मनोविज्ञान से सम्मत व्यक्तिवाद के आधार पर साधारणीकरण अनुभव द्वारा असिद्ध है। वस्तुत मनुष्य के व्यक्तित्व मे सत्वगुण और रजोगुण दोनो का समवाय है। इसी कारण अहंकार की धुरी पर जीवन की परिक्रमा करते हुए भी व्यक्तित्व की पृथ्वी साधारणीकरण के क्षितिजों का भी स्पर्श करती है। तम प्रधान देह की धरती के अचल में सत्य का आलोक और रजस् का राग एक अद्भुत रूप में समाहित है। इस समाधान के द्वारा ही व्यक्तित्व की पृथ्वी के पलक साधारणीकरण के आकाश के क्षितिजो का स्पर्श करते हैं। यही समाधान क्षितिजो के पलको का सजल और रगीन स्वप्न बनकर जीवन और काव्य में स्नेह और सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

वस्तुत साधारणीकरण के क्षितिज की छाया हमारे समस्त प्रत्यक्षो और अनुभवो मे रहती है। इसी साधारणीकरण के आधार पर साहित्य, विज्ञान, दर्शन और व्यवहार मे सामाजिक सगति पैदा होती है। इसके बिना हमारा समस्त जीवन अहभाव के बिन्दुओ मे सीमित रह जायगा। हमारा जगत लाइब्नीज के जगत की भांति वातायन विहीन चिद् बिन्दुओ का जगत बन जायेगा। पूर्णत सम्बन्ध रहित अनेकता इसका रूप होगी। इस अनेकता मे किसी परमेश्वर द्वारा सनिहित सगति का कोई आत्मिक प्रयोजन न होगा। किन्तु अनेकता का यह रूप हमारे वास्तविक अनुभव और व्यवहार से असिद्ध है। चेतना प्रकृति के परिच्छेद, बहिष्करण आदि नियमो का पालन करने के लिए विवश नहीं है। वह इन नियमो की ज्ञाता होने के कारण ही इनसे अतीत है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक अनेकता तथा चेतना की पूर्ण एकता के बीच मे हमारे लौकिक व्यवहार और सास्कृतिक अनुशीलन का समस्त क्षेत्र है। प्रकृति की परस्पर बहिष्कारमूलक वृत्ति व्यक्ति की चेतना को अहंकार के बिन्दु मे केन्द्रित करती है, किन्तु इस बिन्दु की परिधि मे चेतना की व्यापकता का असीम सागर उमडता है। चेतना की छाया पाकर प्राकृतिक इन्द्रियाँ भी दूरगामिनी अथवा दूर ग्रहिणी बन गई हैं। मन और कल्पना की गति तो पूर्णत स्वच्छन्द है। *बुद्धि में प्रकृति और चेतना दोनो के लक्षणो का सगम है।* वह एक ओर विश्लेषण के द्वारा परिच्छेदो का विधान करती है, दूसरी ओर साधारणीकरण की वृत्ति द्वारा परिच्छेदो की अनेकरूपता मे एकरूपता का सूत्रपात करती है। यह ठीक है कि यह एकता एक प्रत्याहार है। किन्तु वास्तविक अनुभव और व्यवहार में बुद्धि के सहयोग से ही हमे इस एकता का सजीव और सम्पन्न रूप प्राप्त

होता है। सजीव और सम्पन्न होने के कारण यह एकता प्रत्यक्ष की और विचार की इकाइयों की भांति विविक्तता का एकान्त नही है। हम इसे अनेक चिद्‌बिन्दुओं का समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव ही कला और काव्य का मूल है। इसी के द्वारा हम दूसरो के अनुभव मे भाग लेते हैं। प्रेम और सौन्दर्य के अनुभव तथा कला और काव्य की सृष्टि इसी पर आश्रित है। **यह समात्मभाव न प्राकृतिक व्यक्तिवाद है और न बौद्धिक साधारणीकरण, जिसमें व्यक्ति का विलय हो जाता है।** प्रेम और शृंगार तथा अन्य आत्मीय सम्बन्धो मे हमे सजीव और साक्षात् अनुभव होता है।

आश्चर्य की बात है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने एक ओर मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद को अपने रस सिद्धान्त का आधार बनाया और दूसरी ओर साधारणीकरण के पूर्णत बौद्धिक और विपरीत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। व्यक्तिवाद के ध्रुव से एकदम कूदकर वे सामान्यता के दूसरे ध्रुव पर पहुँच गये। इस छलाग के कारण वे जीवन और काव्य के वास्तविक अनुभव और व्यवहार की भूमि का अनुभव नही कर सके। जीवन और काव्य का वास्तविक सत्य काव्य-शास्त्र की इस गति के विल्कुल विपरीत है। उसमे व्यक्तित्व की भूमिका मे बौद्धिक साधारणीकरण नही होता वरन् साधारणीकरण की सामान्य और अलक्षित भूमिका मे विशेषीकरण होता है। किन्तु यह विशेषीकरण प्रत्यक्ष और बुद्धि के प्रत्याहार की भांति वस्तुओ अथवा व्यक्तियो का परस्पर प्रथक्करण अथवा वहिष्कार नही है वरन् उनकी परस्पर सगति और उनका आन्तरिक समात्मभाव है। इस भाव को स्पष्ट करने के लिए *डॉक्टर आर्नेय के द्वारा दिया हुआ समुद्र के द्वीपो का उदाहरण* सबसे उपयुक्त और उत्तम है। वे पृथक होकर भी आन्तरिक सम्बन्ध से एक होते हैं। द्वीपो के जड उदाहरण का सजीव रूप हमे मानवीय सम्बन्धो की आन्तरिक एकात्मता से मिलता है।

भारतीय काव्य शास्त्र की भाँति पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र में कुछ प्रमुख सिद्धान्तो म भी व्यक्तिवाद का ही आधार रहा है। प्राय सभी आचार्य यही मानते हैं कि सौन्दर्य के सृजन म कलाकार अपने विषय से एकाकार हो जाता है। यह तन्मयता ही कलात्मक अनुभूति का मूल स्वरूप है। लिप्स ने इस समानुभूति का नाम दिया है। क्रोचे ने इसे सामान्यत अनुभूति कहा है। दोनो ही कलाकार अनुभूति के साथ पूर्ण एकता स्थापित करते हैं। एकात्मभाव को मानते हुए भी दोनो मान्यताओ का आधार व्यक्तिवाद है। उनकी अनुभूति वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अपनी निरपेक्ष

सत्ता के आध्यात्मिक तत्व से रूपो का सृजन करती है। इस सृजन को क्रोचे ने अभिव्यक्ति की सज्ञा दी है। अनुभूति और अभिव्यक्ति को उन्होंने एकाकार माना है। उनके अनुयायी कैरिट ने इस एकीकरण पर आपत्ति की है। किन्तु कला के आधुनिक क्षेत्र मे क्रोचे का मत बडा ही प्रभावशाली रहा है। ज्ञात नही कि ऐसी शुद्ध अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता कैसे मान्य हो सकी। अनुभूति के जिस स्वरूप को क्रोचे सत्य और सुन्दर मानते हैं उसमें व्यक्तिमूलकता का कोई लक्षण शेष नहीं रह जाता। वह वेदान्त के ब्रह्म के समान ही निर्विशेष, सामान्य और अनन्त है। यह अभिव्यक्ति पूर्णतः आन्तरिक है और इस अभिव्यक्ति के रूप आध्यात्मिक तथा अनुभूति की आत्मगत सृष्टि है। क्रोचे के अनुसार बाह्य जगत और कला की बाह्य अभिव्यक्ति दोनो का महत्व गौण है। वे उपचार मात्र हैं उनका स्थान वेदान्त की माया के समान है। ऐसी अवस्था मे कला और काव्य की बाह्य सृष्टि का महत्व बहुत कम रह जाता है। वह वास्तविक सौन्दर्य का वास्तविक और उपयुक्त माध्यम नही है। व्यक्ति की अनुभूति मे केन्द्रित होने के कारण सौन्दर्य की भावना के सवहन का कोई मार्ग नही है। सौन्दर्य एकान्त अनुभूति है। वह सामाजिक समात्मभाव की विभूति नहीं।

कौलिंगवुड भी क्रोचे के अनुयायी हैं। उनके कला-सिद्धान्त की दार्शनिक भूमिका भी क्रोचे के समान हीगल का अध्यात्मवाद है। उन्होने क्रोचे की अनुभूति के लिए 'कल्पना' पद का प्रयोग किया है, किन्तु अनेक स्थानो पर कला, क्रीडा, कल्पना, सौन्दर्य आदि का समानार्थ पदो के रूप मे प्रयोग भ्रांति उत्पन्न कर देता है। कौलिंगवुड की कल्पना का रूप बहुत कुछ क्रोचे की अनुभूति के समान ही प्रतीत होता है। कल्पना मे चेतना की सक्रियता और रचनात्मकता की भावना अधिक स्पष्ट है। किन्तु सिद्धान्तत क्रोचे की अनुभूति भी सक्रिय और रचनात्मक है। अत अनुभूति और कल्पना मे कोई मौलिक भेद नही है। अनुभूति चेतना की मौलिक अवस्था है जिसमे वह स्वय अपने विषयो का सृजन करती है। इस प्रकार क्रोचे ने कलात्मक अनुभूति के मौलिक रूप की स्थापना की है। कौलिंगवुड की कल्पना चेतना का वह व्यापार है, जिसके द्वारा वह बाह्य विषयो का अनुभावन करती है। किन्तु इस अनुभावन मे सौन्दर्य का उदय तभी होता है जब कल्पना के द्वारा चेतना विषयो का आत्मसृष्टि के रूप में अनुभावन करती है। अत यह क्रोचे की अनुभूति की ही अवस्था है। बाह्य विषयो के सम्बन्ध का प्रसंग होने के कारण व्यवहार मे हम

सौन्दर्यानुभूति को कल्पना का फल मान सकते हैं, किन्तु तत्वत कौलिंगवुड की कल्पना क्रोचे की अनुभूति ही है। उसका रचनात्मक व्यापार भी अन्तत एक आन्तरिक अभिव्यक्ति ही है। केवल इतना अन्तर है कि कल्पना के अनुभावन धर्म के द्वारा कौलिंगवुड उदात्त और असुन्दर की व्याख्या अधिक सफलता पूर्वक कर सके हैं। उनके अनुसार उदात्त और असुन्दर का सौन्दर्य के साथ कोई जातिगत भेद नही है। वे सौन्दर्य की वे कोटिया हैं जिनमे कल्पना के अनुभावन का व्यापार पूर्ण नही हो पाता। अत भेद और विषमता के कारण वे उदात्त और असुन्दर प्रतीत होते हैं। कल्पना का अनुभावन पूर्ण होने पर वे ही सुन्दर बन जाते हैं। अत वे कला के अपूर्ण रूप हैं। कला का पूर्ण रूप सुन्दरम् है जो कल्पना की पूर्णता मे उदित होता है। कौलिंगवुड ने कल्पना के आश्रय और स्वरूप की व्यक्तिनिष्ठता अथवा सामान्यता को स्पष्ट नही किया है। किन्तु क्रोचे के समान कलाकार के व्यक्ति को कलाविवेचन का केन्द्र मानने के कारण उनकी धारणा का आधार भी क्रोचे के समान ही व्यक्तिगत है। क्रोचे के समान उनके मत मे भी व्यक्तित्व के विशेषक न स्पष्ट हैं और न सम्भव हैं। **ये हीगल के अध्यात्मवाद पर आश्रित सौन्दर्य शास्त्र की स्वाभाविक कठिनाइयां हैं।** अनुभूति अथवा कल्पना की केन्द्रीयता मे तन्मय रहने के कारण क्रोचे और कौलिंगवुड दोनो के मत मे सौन्दर्यानुभूति के विभाजन, सम्वहन और समास्मभाव के आनन्द के लिए अवकाश नही है।

लिप्स का समानुभूति का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिक और व्यक्तिवादी है। उसमे किसी अध्यात्मवाद का आधार अथवा आग्रह नही है। किसी सीमा तक यह समानुभूति हमारे सामान्य व्यवहार का एक साधारण तथ्य है। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति मे हमारी रुचि तीव्र होती है जो हम प्राय इनके साथ अपने को तद्रूप कर देते हैं, तथा उसी के समान अनुभव और व्यवहार करने लगते हैं। मनोविज्ञान मे इसके अनेक उदाहरण दिये जाते हैं। वुडवर्थ ने अपने ग्रन्थ मे खेल का उदाहरण और चित्र दिया है। खेल म खिलाडियो के साथ दर्शको की ऐसी तद्रूपता जाती है कि वे भी उनके साथ खेल मे भाग लेने लगते हैं। भाव और क्रिया की तद्रूपता का प्रमाण यह है कि दर्शक भी खिलाडियो के समान उत्साह तथा आवेश का अनुभव करते हैं तथा व्यवहारिक रूप मे खिलाडियो के अनुरूप क्रियाओ का प्रदर्शन करते हैं। उनकी मानसिक और आंगिक अवस्था खिलाडियो के समान होती है। रस्सा-कशी मे दूर खड़े हुए दर्शक भी 'सचमुच' जोर लगाते हैं। गाव मे जो छप्पर उठाया

जाता है, तो उसमे दूर खडे हुए दर्शक भी अपने शरीर और मन का जोर लगाते हैं। जीवन का यह साधारण सत्य सहानुभूति और अनुकरण के तुल्य है। सहानुभूति और अनुकरण दोनो को ऐसी क्रियाये है, जो भेदमूलक हैं तथा मूल क्रिया के बाद होती हैं। मूल क्रिया वास्तविक पात्र का कर्म है, उसके साथ कोई दु खद घटना होती है तो हम उसके बाद उसके साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं। अधिक से अधिक हम घटनाकाल मे साथ ही सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। घटना के पूर्व सहानुभूति का प्रश्न ही प्रसगत है। दूसरे हम सहानुभूति मे दूसरे व्यक्ति के साथ तद्रूप नही हो जाते और न उसके समान व्यवहार करते हैं। हम रोने वाले के साथ स्वय नही रोते वरन् उसे समझा बुझाकर सात्वना देते हैं। सहानुभूति की इस क्रिया मे हम अपने को दूसरे से भिन्न मानकर ही प्रवृत्त होते हैं। इसी प्रकार अनुकरण भी समान काल मे और तद्रूप भाव से नही होता। अनुकरण तो स्पष्टत मूल क्रिया के बाद होने वाली क्रिया है। मूल कर्त्ता से हम अपने को भिन्न मानकर उत्तरकाल में उसकी क्रिया का अनुकरण करते हैं। यदि सहानुभूति समानकाल मे सम्भव है, तो अनुकरण बाद मे होता है और दोनो मे मूल कर्ता और उपकर्त्ता मे भेद है। उसके विपरीत समानुभूति मे तद्रूपता का भाव होता है तथा वह मूल क्रिया के पूर्व ही सम्पन्न हो जाती है। अनुकरण से भेद करने के लिए बुडवर्थ ने समानुभूति की पूर्ववर्तिता पर जोर दिया है। किन्तु सम्भवत कला के रसास्वादन मे इसका प्रतिपादन करने वाले तद्रूपता के तत्व को मुख्य मानते हैं।

कला, काव्य और साहित्य के रसास्वादन मे किसी सीमा तक यह समानुभूति का सिद्धान्त सत्य है। उपन्यासो तथा नाटको मे प्राय पाठक उनके नायको के साथ तद्रूपता के भाव से ही उन कृतियो मे रुचि लेते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र मे भी नाटक के दर्शक के रसास्वादन के सम्बन्ध मे इसी प्रकार के मत की स्थापना की गई थी। यद्यपि उसमे कुछ आपत्तियाँ उपस्थित होने के कारण साधारणीकरण आदि के समाधान अवश्य हुए। यह सहानुभूति कल्पना के द्वारा होती है। व्यक्तित्व और सहानुभूति की वास्तविक तद्रूपता असभव है। किन्तु कल्पना की शक्ति अपार है। सृजनात्मक होने के कारण वह वास्तविक के अतिरिक्त अन्य अनेक भावो का सृजन कर सकती है। तद्रूपता उनमे से ही एक भाव है। किसी अश मे यह साहित्य के रसास्वादन का ही नहो, जीवन का एक साधारण सत्य है। किन्तु सभवत इस तद्रूपता में पूर्ण एकता नहीं होती। हम अपने व्यक्तित्व को भूल नहीं जाते। यदि

यह तद्रूपता पूर्ण होगी, तो इसका रूप एक क्षणिक भ्रम होगा जो शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा। ऐसा क्षणिक भ्रम साहित्य के स्थायी मूल्य और उसमें हमारी स्थायी रुचि का आधार नहीं हो सकता। समानुभूति की तद्रूपता से अधिक व्यापक और स्थायी हमारी चेतना का एक दूसरा भाव है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। समात्मभाव में सामान्यत अपने व्यक्तित्व में भिन्न रहते हुए भी दूसरों के अनुभव में भाग लेते हैं। वस्तुत यही समात्मभाव कला और काव्य के सौन्दर्य तथा रस का मूल है। यदि हम समानुभूति के सिद्धान्त को सत्य भी मान ले तो भी केवल समानुभूति के आधार पर कला और काव्य के सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नही हो सकती। समानुभूति व्यक्तित्वो की तद्रूपता है। न अपने मूल रूप में और न अपनी तद्रूपता में केवल व्यक्तित्व कला के सौन्दर्य का आधार है। व्यक्तित्वो के समात्मभाव में ही कला का सौन्दर्य उदय होता है। समानुभूति की तद्रूपता की अवस्था मे भी सामान्य जीवन की भाँति हमारा व्यवहार एकान्त नही होता। हम दूसरे व्यक्तित्वो के साथ समात्मभाव से एक दूसरे के अनुभव मे भाग लेते हैं। नाटक, उपन्यास आदि मे नायक के साथ तद्रूपता के द्वारा हम इसी समात्मभाव का लाभ करते हैं। किन्तु यह आवश्यक नही है और कला एव काव्य के रसास्वादन की सभी परिस्थितियो मे चरितार्थ नही होता। इस तद्रूपता के बिना अपने व्यक्तित्व के द्वारा भी हम इसकी प्राप्ति कर सकते हैं।

केवल व्यक्तित्व की सीमा में प्राकृतिक क्रियाओ और अनुभवों का सुख तो सभव है किन्तु साहित्यिक रस और सास्कृतिक आनन्द की व्याख्या व्यक्तित्व की सीमा में नहीं हो सकती। समात्मभाव के द्वारा एक दूसरे के अनुभव के भागी बनकर ही हम साहित्य और सस्कृति के अनुरागी बनते हैं। सीमित अर्थ मे व्यक्तित्व को मानकर जीवन के प्राकृतिक धर्म के अतिरिक्त और कुछ शेष नही रह जाता। एक खेदजनक सत्य यह है कि साहित्य मे भी प्राकृतिक धर्मों का आधार बहुत है। इसलिए समानुभूति से सूचित व्यक्तित्व की तद्रूपता के द्वारा हम अधिकाश साहित्य का रसास्वादन करते हैं। नाटक अथवा उपन्यास के नायक बनकर हम समानुभूति के रूप में अनेक साहसपूर्ण कृत्य करते हैं तथा प्रेम, प्रशसा, सफलता आदि के गौरव प्राप्त करते हैं। किन्तु प्राकृतिक धर्मो की गति प्रेयमुखी है। प्रकृति मे जो अप्रिय है उसकी ओर से हम स्वभावत विमुख होते हैं। यह कहा जा सकता है कि यह विमुखता भी काल्पनिक तद्रूपता के द्वारा ही होती है। किन्तु वस्तुत

यह दूसरे व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता नहीं है वरन् यह अपने ही पूर्व व्यक्तित्व के साथ तद्रूपता है। इसका आधार अपने ही पूर्व अनुभव की स्मृति है। इस अनुभव की सीमा के बाहर हमारे प्राकृतिक व्यवहार की विमुखता साम्य अथवा अनुमान के द्वारा होती है। वस्तुत जिसे समानुभूति कहा जाता है, वह प्राय पूर्वानुकृति है। उत्सुकता और उत्साह में हम दूसरो के अनुकरण के लिए व्यवहार के एक आदर्श का रूप प्रस्तुत करते हं अथवा उन्हें अपने भाव और क्रिया का सहयोग देते हं। खेल की समानुभूति मे तो यह अधिक सत्य प्रतीत होता है। खेल के अतिरिक्त जीवन अथवा साहित्य में अन्य सभी क्षेत्रो में समानुभूति को सिद्ध करना कठिन है। नीचो, दुष्टो, आततायियो के व्यवहार के साथ हमारी सामान्य समानुभूति मान्य नही है। आपत्ति और अतिचार की अन्य अनेक ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमे समानुभूति की अपेक्षा हम अपने को अलग समझने मे अधिक गौरव मानते हैं। खेल मे जिस वर्ग के साथ हमारी सहानुभूति है, उसके साथ समानुभूति भी हो सकती है। किन्तु दूसरे वर्ग के कौशल का रसास्वादन हम किस प्रकार करते हैं। साहित्य के रसानुराग तथा सामान्य व्यवहार के प्रेम और सद्भाव में तद्रूपता की अपेक्षा समात्मभाव अधिक रहता है। इस समात्मभाव मे व्यक्तित्व की तद्रूपता का तो कोई प्रश्न ही नही है, अनुभूति की एकरूपता भी आवश्यक नही है। समात्मभाव का अभिप्राय केवल दूसरो की अनुभूति में भाग लेना है। उसे अपनी अनुभूति बनाने का अर्थ तद्रूपता नहीं है। यह समात्मभाव व्यक्तित्व के सामाजिक और सास्कृतिक सम्बन्ध तथा आनन्द का मूल है। प्रकृति, विज्ञान, गणित और तर्क के नियमो की सार्वभौमिकता का आग्रह छोडकर ही हम मानवीय चेतना और सस्कृति के इस सारभूत सिद्धान्त का मर्म समझ सकते हैं।

यही समात्मभाव कला और काव्य के रस और सौन्दर्य का मूल है। यही हमारे सामाजिक व्यवहार में स्नेह, सद्भाव और आनन्द का सूत्र है। अभिव्यक्ति और कल्पना के अतिरिक्त व्यवहारिक जीवन और कला मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह अभिव्यक्ति और कल्पना भी सामान्य-जीवन म पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। कलाकार और कवि मे इसका विशेष उत्कर्ष हाता है। यही उनकी विशेषता है। कल्पना इस समात्मभाव के विस्तार और तीव्रता की मानसिक शक्ति है। अभिव्यक्ति उसके सम्प्रेषण का माध्यम है। यदि क्रोचे की मान्यता के अनुरूप कल्पना और अभिव्यक्ति एक नहीं है, तो भी वे एक दूसरे की पूरक और सहयोगी अवश्य है।

कला और काव्य की उत्कृष्टता इन दोनो की समगति पर निर्भर होती है। जो समात्मभाव कल्पना मे सिद्ध होता है, वह अभिव्यक्ति मे सार्थक होता है। जीवन में कला और काव्य की रसप्रवाहिणी कल्पना और अभिव्यक्ति के दो कूलो में बहती है। रसप्रवाह की दृष्टि से दोनो कूल उसके आन्तरिक अग हैं। वस्तुत अङ्ग नहीं, वे उसके स्वरूप की मर्यादा के लक्षण हैं। सामान्यत सभी कलाओ मे रस का तत्व वर्तमान है। अध्यात्म की भाषा में रस ही ब्रह्म है। सस्कृति की भाषा में रस ही जीवन है और कला की भाषा में रस ही सौन्दर्य है। रस अध्यात्म का सत्य, व्यवहार का शिवम् और कला का सुन्दरम् है। रस ही अध्यात्म, जीवन, सस्कृति और कला की एकता का सूत्र है। कला के अनेक रूपो मे यह रस अनेक आकारो मे मिलता है। चित्रकला की कृतिया रस के सुन्दर सरोवर हैं। सगीत के राग उसके मनोहर उत्स हैं। रस के प्रवाह की धारा काव्य में और विशेषत. प्रबन्ध काव्यो में मिलती है। मुक्तक तथा गीतकाव्य रस के उत्स अथवा निर्झर हैं। उनमे जीवन की गति और प्राणो का सगीत है, किन्तु प्रवाह की प्रधानता नही है। जीवन मे उनका सौन्दर्य और उनका महत्व है किन्तु जीवन के विशाल क्षेत्र को पवित्र और पोषित करने वाली कविता की रस भागीरथी गगा के समान ही जीवन और सस्कृति की माता है।

कविता की यह रस-भागीरथी सत्व के उत्कर्ष और साधना के हिमालय के अलक्ष्य और दुर्गम गह्वरो से निकलकर लोक जीवन की भावभूमि में प्रवाहित होती है। जीवन की उष्मा से सत्व का द्रवण ही इसका उद्गम है। जीवन के स्वास्थ्य और सस्कार के तीर्थ इसी तट पर बसे हुए हैं। जीवन की गति के समान इसका वेग निरन्तर है। जीवन की गम्भीरता इसके अन्तर की गरिमा का रहस्य है। काल की गति के समान ही इसका प्रवाह अनन्त है। मनुष्यो के समात्मभाव की सम्भूति में काव्य के रस का उदय होता है। कविता का केवल विषय और उपयोग ही सामाजिक नहीं है, उसका स्वरूप भी सामाजिक है। कलाकार को एक स्वतत्र इकाई के रूप मे लेकर जिन्होने कला अथवा काव्य के स्वरूप को उसकी कल्पना अथवा चेतना की आन्तरिक सृष्टि माना है, वे उसके इस सामाजिक स्वरूप की उपेक्षा करते है। कविता का समस्त विषय सामाजिक है। इस सामाजिकता मे सर्वत्र समात्मभाव न होने पर भी इस स्थिति मे कोई अन्तर नही पडता कि यह समात्मभाव ही कला और काव्य का स्रोत है। समात्मभाव की रहस्यात्मक अनुभूति को रूप देने

के लिए ही मानव मनुष्य ने अभिव्यक्ति की भाषाओं का निर्माण किया। इस अभिव्यक्ति का मूल स्वरूप आन्तरिक ही है और इस दृष्टि से वह अनुभूति के साथ एकाकार है। कला के इस मर्म का उद्घाटन करके क्रोचे ने सौन्दर्य शास्त्र का जो उपकार किया उसके लिए मनुष्य जाति सदा उसकी ऋणी रहेगी। किन्तु यह आन्तरिक अभिव्यक्ति भी कलाकार की केवल व्यक्तिगत अनुभूति नहीं है। व्यक्तित्व के अहभाव और उसकी इकाई की परिधि इस अनुभूति की अन्तिम सीमा नहीं है। केवल आत्मानुभूति अथवा समानुभूति न होकर समात्मभाव इस कलात्मक अनुभूति की अन्ततंम भूमिका है। जिस प्रकार क्रोचे के उद्घाटन के पूर्व शुद्ध अनुभूति के मर्म को कला और काव्य के क्षेत्र में स्पष्टत न समझा गया था, उसी प्रकार क्रोचे के बाद भी इस शुद्ध अनुभूति के पीछे उसके आधारभूत सत्य के रूप में निहित रागात्मभाव को स्पष्टत नहीं समझा गया। यह समात्मभाव सम्प्रेषण नहीं है वरन् उसका आधार तथा उसकी सम्भावना एव प्रेरणा है। किन्तु यह सम्प्रेषण समात्मभाव की सम्भूति का उपचार मात्र नहीं है, जिस प्रकार कला की बाह्य अभिव्यक्ति क्रोचे की कलानुभूति का केवल उपचार है। क्रोचे की अनुभूति और बाह्य अभिव्यक्ति में स्वरूपगत विषमता है। अनुभूति निर्विकल्प समाधि के समान अथवा सविकल्प समाधि की अन्तिम अवस्था के समान तन्मय भाव है। बाह्य अभिव्यक्ति व्यवहार की अनेक विषमताओं से आक्रान्त है, किन्तु रागात्मभाव की आन्तरिक अनुभूति और सामाजिक सम्प्रेषण में स्वरूपगत साम्य है। वस्तुत समात्मभाव ही सम्प्रेषण का अन्ततंम भाव है। समात्मभाव और सम्प्रेषण की यह स्वरूपगत सगति कला और काव्य की बाह्य अभिव्यक्तियों की सार्थकता और उनके महत्व को प्रकाशित करती है।

इस सगति का रहस्य शब्द के स्वरूप और उसकी शक्ति में निहित है। कुछ विद्वानों ने क्रोचे पर कला और भाषा शास्त्र को एक बनाने का आरोप लगाया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हीगल पर तत्व शास्त्र और तर्कशास्त्र के एकीकरण का आरोप लगाया जाता है। यह आरोप सत्य भी हो तो भी क्रोचे का एकीकरण इतना स्फुट और स्पष्ट नहीं है। हीगल के सार्वभौम अध्यात्म तत्व में खोये हुए व्यक्तित्व का उद्धार क्रोचे का एक महान कृत्य था। हीगल के अध्यात्मवाद में आस्था रखते हुए भी क्रोचे ने व्यक्ति की रक्षा का प्रयत्न किया। इस रक्षा के लिए ही उन्होंने अनुभूति को अभिव्यक्ति से एकाकार माना। शुद्ध अनुभूति हीगल

के सामान्य आध्यात्मिक तत्व से भिन्न नहीं हैं। दोनों चेतना की निर्विशेष आस्थायें हैं। स्पिनोजा और अद्वैत के ब्रह्म के समान समस्त विशेष उसमें विलीन हो जाते हैं। अतः क्रोचे ने व्यक्ति की विशेषता की रक्षा अभिव्यक्ति में की। आन्तरिक होते हुए भी इस अभिव्यक्ति का रूप व्यक्तिगत है। क्रोचे ने यह भी संकेत किया है कि इस अभिव्यक्ति का रूप भाषा है। यह स्पष्ट है कि आन्तरिक अभिव्यक्ति का रूप भाषा का बाह्य और मुखर रूप नहीं हो सकता। अतः भाषा का यह रूप भारतीय शब्द दर्शन की मध्यमा अथवा पश्यन्ती वाणी के समान होगा। आश्चर्य की बात है कि अनुभूति को अभिव्यक्ति से तथा अभिव्यक्ति को भाषा के आन्तरिक रूप से एकाकार मानकर भी क्रोचे कलात्मक अनुभूति के समात्मभाव तथा बाह्य अभिव्यक्ति के साथ उसकी संगति के सूत्र का उद्घाटन नहीं कर सके। भारतीय काव्य शास्त्र के आचार्य भाषा और शब्द की अलौकिक शक्तियों से अवगत थे। **'शब्द ब्रह्म' की कल्पना में अनुभूति और अभिव्यक्ति की एकात्मकता का मूल आधार उपलब्ध है।** किन्तु काव्य शास्त्र के रसवाद में 'व्यक्तिगत अनुभूति का आग्रह' शब्द की प्रेषणीयता और उसके मर्म में अन्तर्निहित समात्मभाव के अवगम में बाधक रहा। **इस प्रेषणीयता को न मानना समस्त कला और साहित्य की कृतियों को निष्फल बना देना है। इन कृतियों में प्रेषणीयता को मानने वाली कृतियाँ भी सम्मिलित हैं। इनके मत में जो आत्मघाती आत्म विरोध है वह इन कृतियों के कर्त्ताओं को स्पष्ट नहीं है। सीमित अर्थ में व्यक्तिवाद का आग्रह वस्तुतः उसका (व्यक्तिवाद का) खंडन है।** व्यक्तिवाद का किसी से भी उसके समझने या मानने की आशा करना असंगत है। **वस्तुतः सम्प्रेषण हमारे समस्त व्यवहार, कला और साहित्य की साधारण मान्यता है। समात्मभाव की सम्भूति इसका आन्तरिक आधार है।**

हमारे व्यक्तित्व की आधार-भूत चेतना का स्वरूप इस समात्मभाव का आधार है। शब्द की अपूर्व शक्ति इस समात्मभाव की अन्तर्भावना से अनुप्राणित होकर सम्प्रेषण की सम्पन्न सम्भावना बन गई है। इस शब्द की सम्पन्न विभूति को प्राप्त करके ही कविता कलाओं की चूडामणि है। भारतीय शब्द दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना है। ब्रह्म चिन्मय है। दुरूह होते हुए भी यह सिद्धान्त वाणी के साथ चेतना की एकात्मता तथा इस एकात्मता के आधार पर अभिव्यक्तियों के स्तरों की सम्भावना का संकेत करता है। जो शब्द के इन दार्शनिक रहस्यों को समझने अथवा मानने में असमर्थ हैं, वे भी शब्द के मुखर रूप में भी उसकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा

सकते हैं। मुखर शब्द का नभ एक कालगत परम्परा है। कान्ट ने काल को आन्तरिक प्रत्यक्ष का रूप माना है। इसमे अनुभूति के साथ कला की गहन सगति का सकेत है। अभिव्यक्ति मे यह सगति और स्पष्ट हो जाती है। यदि कला अभिव्यक्ति है, तो काल उसका रूप है। शैवदर्शन मे 'क' एव 'ल' दो समान वर्णो से 'कला' और 'काल' दोनो की व्युत्पत्ति है। अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है, अत 'कल' का अर्थ 'सुन्दर' भी है। 'गति' और 'सस्थान' के अर्थ मे भी 'कल' का प्रयोग होता है। गति क्रिया का लक्षण है। अभिव्यक्ति भी चेतना की क्रिया है। सस्थान रूपो का विशेषीकरण है। यह अभिव्यक्ति का वाह्य रूप है। यह वाह्य अभिव्यक्ति भी शिव, शक्ति अथवा ब्रह्म की ही विभूति है। इस अभिव्यक्ति का रूप होने के कारण ही गीता मे भगवान ने काल को अपनी विभूति कहा है (काल कलयतामहम्)।

चित्रकला मे दिग्गत रूप को प्रधानता है। यह भी सस्थान का रूप है, अत इस रूप मे भी मौलिक कला शक्ति की ही अनुभूति है। किन्तु शब्द का कालक्रम-रूप हमारी आन्तरिक सम्वेदना और जीवन की गति के अति निकट है। जीवन और चेतना से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही शब्द में समात्मभाव की अभिव्यक्ति और उसके सम्प्रेषण की अद्भुत शक्ति है। यह शक्ति ही कलाओ में कविता की श्रेष्ठता का रहस्य है। अर्थ से अन्वित होकर शब्द की यह शक्ति काव्य और साहित्य की सम्पन्न सृष्टि का आधार बन गई है। अर्थ चिन्मय भाव है। शब्द का ब्रह्म-स्वरूप शब्द और अर्थ की एकात्मकता का सकेत करता है। 'रघुवश' के मगलाचरण की भाँति समस्त साहित्य परम्परा शब्द और अर्थ को अभिन्न मानती है। दोनो का सहितभाव काव्य और साहित्य का लक्षण है। अर्थवान् शब्द की सामर्थ्य और शक्ति अपार है। अर्थ से रहित केवल नादमय शब्द में कितनी शक्ति है, इसका प्रमाण सगीत है। सगीत का स्वर भी हमारे मर्म को स्पर्श कर हमारे अन्तर को आन्दोलित कर देता है। भाव से रहित होने पर भी उसमें भाव से विभोर कर देने की शक्ति है। अर्थ अथवा भाव से युक्त होने पर सगीत की शक्ति और भी बढ जाती है, फिर भी सगीत मे स्वर की प्रधानता रहती है। कविता मे भाव की प्रचुरता होते हुए भी सगीत का समन्वय है। स्वर और शब्द के माध्यम से चेतना की भाव-सम्पत्ति प्रेषणीय बनती है। कविता को आत्मा का मुखर सगीत कहना

उपयुक्त ही है। मुखर शब्द नश्वर है तथा उसका उत्पादन और ग्रहण सम्वेदना पर आश्रित है। कविता में चिन्मय भाव की प्रचुरता उसे प्रवाह की परम्परा का स्थायित्व देती है। साथ ही उसमें संगीत के स्वर, नृत्य की गति और चित्रकला के रूप का समन्वय है। इसी सम्पन्नता के कारण कविता कलाओं की चूड़ामणि है।

अध्याय ७

काव्य और अन्य कलायें

काव्य के स्वरूप का निरूपण करने के बाद कला के अन्य रूपों के साथ काव्य की तुलना करना उपयुक्त होगा। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र में प्राय अन्य कलाओं के साथ ही काव्य का विवेचन किया जाता है। 'काव्य' कला का ही एक भेद है, इसमें सन्देह नहीं। भारतीय परम्परा में काव्य-शास्त्र का ही विवेचन अधिक है। कला के सामान्य रूप तथा अन्य कलाओं के स्वरूप का निरूपण अधिक नहीं मिलता। यह बात नहीं है कि भारत में अन्य कलाओं का प्रचार अथवा विकास नहीं हुआ था। प्राचीन काल से लेकर चित्रकला, मूर्तिकला, नृत्य, संगीत आदि का एक विशाल और समृद्ध इतिहास भारत में मिलता है। सभी कलाओं के सम्बन्ध में ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। किन्तु इन ग्रन्थों में व्यवहारिक कौशल प्रणाली तथा इन कलाओं के अन्तर्गत अंगों और रूपों का विवेचन अधिक है। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र की भाँति भारतवर्ष में कला के सामान्य स्वरूप और विभिन्न कलाओं के रूपों के निरूपण की दीर्घ और सम्पन्न परम्परा नहीं है। सौन्दर्य-शास्त्र की यह स्थिति आचार-शास्त्र के समान है। पश्चिमी चिन्तन में सौन्दर्य-शास्त्र की भाँति आचार-शास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन का भी एक दीर्घ और व्यवस्थित इतिहास है। भारतीय दर्शन में आचार-शास्त्र का ऐसा सैद्धान्तिक विवेचन व्यवस्थित रूप में बहुत कम मिलता है। धर्म-शास्त्रों और शास्त्रों में आचार का निरूपण एक व्यवहारिक रूप में मिलता है। सिद्धान्तों की सूक्ष्म मीमांसा की अपेक्षा आचार के आदर्शों का उल्लेख तथा विधिनिषेध ही उनमें अधिक है। इसके विपरीत तत्व-शास्त्र, तर्क-शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि के अत्यन्त गम्भीर व्यवस्थित और विस्तृत विवेचन की एक दीर्घ परम्परा भारतीय इतिहास में मिलती है।

भारतीय प्रतिभा का यह दृष्टिकोण जीवन के अनुरूप है। जीवन का रूप सक्रिय व्यवहार है। नृत्य, संगीत आदि कलायें व्यवहारिक अधिक हैं। आचार तो व्यवहार का नैतिक रूप है। व्यवहारिक दृष्टिकोण रखने के कारण भारतीय आचार्यों ने व्यवहारिक विषयों को शास्त्रीय विवेचन के द्वारा जटिल और पगु नहीं

बनाया। व्यवहार को शास्त्र बना लेने पर उसकी सजीवता मन्द हो जाती है और उसका तत्व मुख्यत बौद्धिक विलास का विषय बन जाता है। यह जीवन की प्रौढता और यौवन के अवसान का लक्षण है। यही जीवन की जरा का भी चिन्ह है, जिसमे जीवन के तत्व सजीव व्यवहार के विषय होने की अपेक्षा बौद्धिक विलास के विषय अधिक बन जाते हैं। जीवन के इस अवरोह मे आदर्शों का व्यवहार से समुचित समन्वय नही रहता। यही कारण है कि पश्चिम के इतिहास में आदर्श व्यवहार की अपेक्षा चिन्तन के विषय अधिक रहे हैं। अरिस्टोटिल के जिस वैज्ञानिक चिन्तन को पश्चिम अपनी शास्त्रीय और वैज्ञानिक चेतना का आरम्भ मानते हैं, उसी मे ग्रीक सभ्यता तथा पश्चिमी सभ्यता के जरण का आरम्भ हुआ। किन्तु यौवन भविष्य की आकाक्षा है पूर्व स्मृति के आधार पर जीने वाला जागरण नही। पश्चिमी नव जागरण मे यौवन के चिन्ह् वही तक हैं जहाँ तक उसमे पूर्वस्मरण की अपेक्षा स्वतन्त्र कल्पना अधिक है। अग्रेजी का रोमान्टिक काव्य इसका उत्तम उदाहरण है।

इसका अभिप्राय यह नहीं कि यौवन का लक्षण विचारहीन और उच्छृखल कल्पना है। परिपक्व यौवन में विचार और भावना का समन्वय होता है। विचार वासनाओ को सयम देता है और भावना विचार के आदर्शों को जीवन की स्फूर्ति प्रदान करती है। इसी स्फूर्ति से अनुप्राणित होकर आदर्श व्यवहार मे अन्वित होते हैं। यही अन्वय सस्कृति की जीवन शक्ति है। व्यवहारिक विषयो मे व्यवहार की अपेक्षा बौद्धिक विवेचन का आधिक्य इस जीवन शक्ति का ह्रास करता है। व्यक्ति और समाज दोनो के जीवन मे यह सत्य है। भारतीय इतिहास में व्यवहार के विषय विवेचन से आक्रात नहीं हुए। यह एक दृष्टि से भारतीय सस्कृति के यौवन का ही लक्षण है। दूसरी ओर चिन्तन के अनुकूल विषयो मे विचार और विवेचन की विपुलता इस यौवन की प्रतिभा के मानवोचित सतुलन का सूचक है। सस्कृति की सजीवता और व्यवहारिकता के प्रभाव से दार्शनिक चिन्तनो की परिणति आध्यात्मिक साधनाओं में हुई। योग और साधना की प्रधानता भारतीय दर्शन की सजीवता का ही प्रमाण है। इस व्यवहारिकता की सजीवता का ही यह फल है कि भारतीय तत्व शास्त्र मे बडी विपुलता के साथ साधना की सरणियो का विधान हुआ है, अध्यात्म के क्षेत्र मे जीवित सम्प्रदायो की परम्परायें रही हैं तर्क शास्त्र का निरूपण भी व्यवहारिक वाद विवाद के रूप मे है तथा काव्य शास्त्र जैसे प्रतिभामूलक क्षेत्र मे भी 'कवि-कल्पना' जैसी व्यवहारिक शिक्षाएँ समाविष्ट हुई। विचार, भावना और

व्यवहार की संगति का यह सांस्कृतिक यौवन कुछ अपने आन्तरिक दोषों के कारण तथा कुछ अपने ऐतिहासिक दुर्भाग्यों के कारण जरा-जर्जर हुआ।

अस्तु, भारतीय प्रतिभा के इतिहास में व्यवहारिक विषयों की अपेक्षा विचार के विषयों में ही सैद्धान्तिक और व्यवस्थित विवेचन अधिक मिलता है। अतएव कला के क्षेत्र में चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि की अपेक्षा काव्य शास्त्र का ही विवेचन अधिक उपलब्ध है। 'विचार चेतना का अन्तर्मुखी धर्म है। व्यवहार उसकी बहिर्मुखी क्रिया है। साधना जीवन में दोनों की संगति का सूत्र है। विचार और विवेचन के सम्बन्ध में एक स्मरणीय तथ्य यह है कि भाषा उसका एक उपयोगी माध्यम है भाषा और भाव (विचार) का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भारतीय परम्परा में शब्द और अर्थ को अभिन्न तथा दोनों के 'सहितभाव' को 'साहित्य' का लक्षण माना है। शब्द-दर्शन में तो शब्द ब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्म चिन्मय है। विचार, भाव आदि भी चेतना के ही रूप हैं। शब्द की ब्रह्मरूपता तथा शब्द और अर्थ की अभिन्नरूपता के ये सिद्धान्त विचार और भाषा के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रकाशित करते हैं। यह सम्बन्ध भारतीय प्रतिभा के उस दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि चित्रकला, नृत्य, संगीत आदि का भाषा और विचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यह सत्य है कि विचार की अपेक्षा इनमें भाव और कल्पना की प्रधानता है। विचार के विश्लेषणात्मक, जड और परिच्छिन्न प्रत्ययों की तुलना में कल्पना के भाव गत्यात्मक और संश्लेषणात्मक होते हैं। चित्रकला, संगीत, नृत्य आदि में इन भावों की अभिव्यक्ति के माध्यम को हम एक व्यापक अर्थ में 'भाषा' कह सकते हैं। इस व्यापक अर्थ में भाषा किसी भी प्रकार के संकेतों का व्यवहार है। किन्तु अन्य कलाओं के संकेत प्रतीकात्मक अधिक हैं। वे एक सजीव व्यंजना द्वारा भावों का संकेत करते हैं। इन प्रतीकों में शक्ति है, किन्तु इनके साथ भावों की ऐसी तद्रूपता नहीं है, जैसी भाषा में है। भाषा में मानो शब्दों का रूप प्रत्ययों, विचारों और भावों के साथ एकाकार हो गया है। इसलिये कुछ दर्शन शब्द की अलौकिक शक्ति में विश्वास करते हैं। शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध की एक स्वतन्त्र परम्परा बन गई है जो काव्येतर कलाओं की भाँति व्यक्तियों की रुचि पर निर्भर नहीं है। शब्द और अर्थ के इसी घनिष्ठ सम्बन्ध और शब्द की इसी अलौकिक शक्ति के कारण भाषा साहित्य के साथ-

साथ हमारे सामान्य व्यवहार का माध्यम बन सकी है। अथवा यो कह सकते हैं कि भाषा का सामान्य व्यवहार ही साहित्य के रूप मे पल्लवित हुआ है।

भाषा के व्यवहार की समृद्धि का कारण विचार के साथ उसके घनिष्ठ सम्बन्ध के अतिरिक्त शब्द के माध्यम की सूक्ष्मता और उससे प्रसूत सुकरता भी है। सम्भवत मस्तिष्क और बुद्धि के विकास के साथ साथ ही मनुष्य के जीवन मे भाषा का विकास भी हुआ है। पशुओ के मस्तिष्क और उनकी भाषा की शक्ति के साथ मनुष्य के मस्तिष्क और उसकी भाषा शक्ति की तुलना तो यही सकेत करती है कि मस्तिष्क और भाषा के विकास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मस्तिष्क भावनाओ के साथ-साथ बुद्धि का भी आश्रय है। यह कहना अनुचित नही है कि बुद्धि की विभूति को प्राप्त करके ही मनुष्य की भावना भी समृद्ध होती है। मस्तिष्क और भाषा के विकास की यह सगति बुद्धि और विचार के साथ भाषा और शब्द की घनिष्ठता का ही समर्थन करती है। मस्तिष्क के साथ इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण भाषा विचारो और भावो के माध्यम का अधिक उपयुक्त रूप है। साथ ही वह अधिक समर्थ और समृद्ध भी है। सूक्ष्मता के कारण वह अधिक सुकर माध्यम भी है। अन्य कलाओ के माध्यम भाषा और शब्द की अपेक्षा अधिक ऐन्द्रिक और स्थूल हैं। सगीत के स्वर मे शब्द की ऐन्द्रिकता भाषा की शक्ति के सबसे अधिक निकट पहुँचती है। सूक्ष्म और भावप्रवण होने के कारण सगीत कला का सबसे अधिक लोक प्रियरूप है। सामान्यत इस सगीत के स्वर में भाषा के शब्द का भी सयोग है, यद्यपि सगीत मे स्वर ही प्रधान है और शब्द गौण है। काव्य मे शब्द की प्रधानता है किन्तु उसमे सगीत के स्वर, लय आदि का भी समन्वय है। **मस्तिष्क की समृद्ध सम्पत्ति का सूक्ष्म और सुगम वाहक होने के कारण 'काव्य' कला का सबसे अधिक समर्थ और समृद्ध रूप है।**

कलाओ मे काव्य की श्रेष्ठता के प्रतिपादन का यह तात्पर्य नही है कि अन्य कलायें काव्य की तुलना मे हीन अथवा हेय हैं। **सभी कलायें अपने स्वरूप में श्रेष्ठ और सुन्दर हैं।** मनुष्य के सास्कृतिक जीवन मे सभी का महत्वपूर्ण योग है। माध्यम, स्वरूप आदि की दृष्टि से सभी कलाओ की अपनी-अपनी विशेषताय हैं। इन विशेषताओ के कारण एक कला दूसरे का स्थान नही ले सकती और न एक दूसरे के अभाव की पूर्ति कर सकती। रूप और भावो के क्षणो को व्यक्त करने की जो शक्ति चित्रकला मे है, वह अन्य किसी कला मे नही। मन की गहराइयो मे उतरकर

प्राणो के मर्म को स्पर्श करके उसे भाव से आन्दोलित कर देने की जो क्षमता सगीत मे है वह अन्य किसी कला मे नही हो सकती। अगो की गतिशील भगिमाओ के द्वारा जीवन की सजीव स्पन्दन और मूर्त भावो को आकार और अभिव्यक्ति देने की अनन्य क्षमता नृत्य कला की विशेषता है। इसके अतिरिक्त स्वरूप, माध्यम और अभिव्यक्ति के भेद से कलाओ के अन्य अनेक भेद हो सकते हैं। कलाओ के ये भेद और इनकी अनेकरूपता कला की समृद्धि का लक्षण है। जीवन, प्रकृति और सौन्दर्य इतने समृद्ध और अनेकरूप हैं कि किसी भी एक कला के द्वारा उनकी पूर्ण और सफल अभिव्यक्ति कठिन है। वस्तुत कोई भी कला उनकी समस्त विभूतियो को समान सफलता के साथ अभिव्यक्त करने मे समर्थ नहीं है। प्रत्येक कला अपने स्वरूप और माध्यम की विशेषता के अनुसार उनके किसी एक पक्ष की अधिक सफलता से अभिव्यजना करती है। सभी कलाये पूर्णत जीवन और जगत की अभिव्यक्ति मात्र नही हैं। सगीत के शुद्ध रूप मे जगत के रूपो और जीवन के भावो का कोई आवश्यक अनुपग नही है। सगीत के शुद्ध रूप मे, विशेषत वाद्य सगीत मे, केवल स्वर विधानो की सृष्टि है। चित्रकला का मूल रूप भी वर्णात्मक रूप-विधान है। नृत्य कला के सरल रूप भी कुछ भगिमाओ की लय मे खोजे जा सकते हैं। कला के इस शुद्ध और सरल रूप में किसी तत्व का आधार आवश्यक नहीं दिखाई देता। वह केवल रूपो की सृष्टि है। इस अर्थ में यदि हम चाहें तो उसे अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। इस अभिव्यक्ति का तात्पर्य किसी भाव तत्व को आकार देना नही है। किन्तु कला का यह शुद्ध और सरल रूप अत्यन्त अप्रचलित, अतएव दुर्लभ है। सामान्यत प्रत्येक कला के विकसित रूप मे अपने अनुरूप तत्व का भी आधान हुआ है। कलाओ के शुद्ध रूप चेतना की सृजनात्मक अभिव्यक्तियो को माध्यमो के अनुरूप विविक्त और विभाजित कर देते हैं। इस पृथकत्व और विभाजन मे जहाँ कलाओ का शुद्ध रूप उद्भासित होता है, वहा दूसरी ओर जीवन की अल्प-क्रिया हो जाती है। इन कलाओ के माध्यम जीवन की चेतना के एक पक्ष को ही अभिव्यक्त देने मे समर्थ हैं। कलाओ की यह एकागिता जीवन की पूर्णता और समृद्ध के सौन्दर्य की घातक है। इसलिए लोक सस्कृति की परम्पराओ में विभिन्न कलाओ का सम्मिश्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त कलाओ की शिष्ट शैलियो मे भी कला के शुद्ध रूप भी भाव-तत्व के आधान से अधिक सजीव और सम्पन्न बने हैं। चित्रकला का शुद्ध रूप विधान जगत के रूपो और जीवन के भावो के अकन मे विकसित हुआ।

सगीत का शुद्ध स्वर विधान भी भाषा के सयोग से जीवन के भावो का आधान करके अधिक सम्पन्न और अधिक लोकप्रिय बना। नृत्य कला की आगिक भगिमाओ मे शरीर के माध्यम से जीवन के भावो का सयोग सहज ही होता रहा है। लोक नृत्यो मे सगीत का सहयोग उनके भाव तत्व को और समृद्ध बनाता है।

तत्व के आधान के द्वारा कलाओ के विकास के अतिरिक्त इनकी समृद्धि का एक दूसरा रूप कलाओ का सम्मिश्रण है। एक ओर जहा यह सम्मिश्रण समृद्धि का कारण है वहा दूसरी ओर माध्यम के अनुसार इस मिश्रण की सीमाय हैं। समान माध्यम की अभिव्यक्तियो का सम्मिश्रण ही सम्भव और हितकर है। एक माध्यम की अभिव्यक्ति मे दूसरे माध्यम की अभिव्यक्ति का सम्मिश्रण कठिन होने के साथ साथ कलात्मक सौन्दर्य और सफलता मे एक प्रकार से बाधक है। चित्रकला मे स्वर और गति का सयोग असभव है। स्वर मे रूप का सयोग सम्भव नही है। **शब्दों की भाषा ही एक ऐसा समृद्ध माध्यम है जो किसी न किसी रूप और सीमा में अभिधान और व्यजना के द्वारा सभी कलाओ के भाव तत्वो को अभिव्यक्त करने में समर्थ है।** यह शब्द के समर्थ और समृद्ध माध्यम की शक्ति का चमत्कार है। किन्तु वस्तुत कलाओ का यह सम्मिश्रण सयोग ही अधिक रहता है क्योकि उनके विभिन्न माध्यमो के रूपो का समवाय सम्भव नही है। कला के माध्यमो के रूप वस्तुत प्रकृति के गुणो के अनुरूप हैं जिनका सकर सभव नहो। विविक्तता प्रकृति के रूपो का उपलक्षण है। अत एक तो माध्यमो के रूपो का सम्मिश्रण स्वभावत ही कठिन है, दूसरे सम्भव होने पर भी इन सम्मिश्रणो मे सभी माध्यमो की विभूति को समान भाव से सुरक्षित रखना कठिन है। चित्रकला मे स्वर का सयोग स्वभावत असम्भव है। किन्तु सगीत के स्वर मे भाव का अथवा नृत्यकला मे चित्रकला और सगीत का सम्मिश्रण सम्भव होने पर यह कहना कठिन है कि सम्मिश्रणो मे उपग्रहीत माध्यमो की विभूति का कितना समन्वय और सरक्षण होता है। सामान्यत इन सम्मिश्रणो मे उपग्रहीत माध्यमो के रूप गौण ही रहते हैं। उपग्रहीत माध्यम के रूप उपकारक के रूप मे ग्रहण किये जाते हैं और उनका समन्वय होने पर भी उनका महत्व गौण ही रहता है। सम्मिश्रण के इसी रूप के अनुरूप विभिन्न कलाओ के समृद्ध रूपो का विकास हुआ है। समन्वय के समानुपात मे कला का जटिल रूप अधिक सफल और समृद्ध होता है। इसलिए आदिम लोगो की प्राचीन कलाओ मे इन सम्मिश्रणो मे यथासम्भव समानुपात मिलता है। यह कहना कठिन है कि आदिम लोगों के लोक-

नृत्य मे चित्रकला, नृत्यकला अथवा सगीत मे किसको प्रधानता है। उनकी वेपभूषाओ मे चित्रकला का समृद्ध रूप मिलता है और इनके लोक-नृत्य मे सगीत और नृत्य एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं। समानुपात के कारण लोक-नृत्य जटिल कला के समन्वय का एक समृद्ध रूप है। इसलिए वह प्राचीनो मे अधिक लोक प्रिय हुआ। ग्रामीण सस्कृतियो मे इसके अवशेष अभी उपलब्ध हैं।

किन्तु भाव तत्व के समन्वय से भी कलाओ का जो शास्त्रीय विकास हुआ है उसमे इतना सफल समन्वय नही है। इसका कारण यह है कि कलाओ के इन शास्त्रीय रूपो मे उनके स्वरूप और मौलिक माध्यमो का अधिकाधिक विकास और परिष्कार हुआ है। यह विकास और परिष्कार जितने उन्नत धरातल पर है उतना ही दूसरे माध्यमो का समन्वय एक कला मे कठिनतर हो जाता है। इसलिए एक कला मे दूसरी कला के रूप और माध्यम का ग्रहण अल्प मात्रा मे और गौण भाव से हुआ है। सभवत यह मात्रा और भाव कलाओ के शुद्ध रूपो को सुन्दरतर और सबलतर बनाने मे उसी प्रकार सहायक होता हो जिस प्रकार आभरणो के निर्माण मे सोने मे अल्प मात्रा मे तांबे का मिश्रण सहायक होता है। चित्रकला मे तो केवल जगत के रूपो और जीवन के भावो का ही ग्रहण सभव है। रूप मे स्वर का सयोग स्वभावत असम्भव है। सगीत के स्वर-विधान मे भाव का तथा अर्थवती भाषा का सयोग सभव है। स्वर और भाषा का एक ही ध्वनिमय रूप होने के कारण तथा भाव के बहुत कुछ अनुक्त और व्यग्य तथा कुछ शब्दो के द्वारा अभिधेय होने के कारण यह सयोग समन्वय और समवाय का रूप भी ले सकता है। उसी प्रकार नृत्य मे भी चित्रकला, सगीत और नृत्य का सगम है। किन्तु 'शास्त्र' कला का शुद्ध एकागी रूप है। इसलिए कला के शिष्ट और शास्त्रीय रूपो मे इन सयोगो और समन्वयो का विकास कम हुआ है। जहाँ तक सम्भव हो सका है आचार्यों ने कलाओ के शुद्ध रूपो और मौलिक माध्यमो मे ही विकास और समृद्धि का प्रयत्न किया है। मध्य युग की चित्रकला मे रूप-विधान और भाव-तत्व के अधिकतम समन्वय की साधना लक्ष्य रही है। किन्तु पिकासो तथा अन्य आधुनिकतम कलाकारो के प्रभाव से आधुनिक चित्रकला मे रूप की अभिव्यक्ति का ही महत्व बढ रहा है। इस अभिव्यक्ति के आग्रह के कारण भाव-तत्व का ग्रहण आधुनिक चित्रो मे कुछ कठिन भी है। साथ ही जीवन का सामान्यत परिचित भाव अपने परिचित रूपो मे इन चित्रो का भाव-तत्व नही है। एक दुरूह और दुर्ग्राह्य व्यजना इन चित्रो मे अन्तर्निहित

भावों का विलक्षण साधन है। इसी प्रकार संगीत के शास्त्रीय रूप मे भी स्वर, भाव और शब्द का समन्वय समानुपात में नही है। रूप की दृष्टि से स्वर, भाव और शब्द समानधर्मा हैं अत उनका समन्वय सहज सम्भव है तथा संगीत और काव्य दोनो मे पर्याप्त मात्रा मे हुआ है। किन्तु संगीत का शुद्ध स्वरूप स्वर विधान ही है। शिष्ट और शास्त्रीय संगीत की परम्परा मे संगीत के इसी पक्ष का विकास अधिक हुआ है। उस्तादो के आलाप और आचार्यो की ताने जिन्हे सामान्य संगीत-प्रेमियो की प्रतिभा पूर्णत ग्रहण नही कर सकती शिष्ट और शास्त्रीय संगीत के महत्वपूर्ण चमत्कार हैं। इन आलापो और तानो मे शुद्ध स्वर-विधान का वैभव है। इनमे भाव का संयोग ढूँढना कठिन है। शब्द का भी इनमे कोई स्थान नही है। मध्ययुग की चित्रकला की भांति संगीत के माध्यमिक रूप में स्वर और भाव का समृद्ध समन्वय हुआ है। किन्तु इस समन्वय मे भी शब्द की मात्रा और उसका महत्व अल्प है। ख़याल, ठुमरी आदि संगीत के प्रसिद्ध और प्रचलित शिष्ट रूपो मे स्वर संयोजन की विविध भंगिमाओ के द्वारा भाव के विविधपक्षों की अभिव्यक्ति ही प्रधान है। शब्द इस अभिव्यक्ति के गौण और स्वल्प निमित्त मात्र हैं। स्वर-संयोजनो के द्वारा कितनी विविधता के साथ और कितने समृद्ध रूप मे भावो की अभिव्यक्ति सम्भव है यह किसी सिद्ध-कंठ गायक की कला का साक्षात् प्रदर्शन देखने पर ही विदित हो सकता है। संगीत मे एक अल्प मात्रा म अंग-भंगिमाओ का संयोग भी सम्भव हो सकता है। किन्तु तबले के उस्तादो की कवायद तथा कुछ चचल गायको की भंगिमाओ से जिन्हे इस सम्बन्ध मे भ्रम हो सकता है उन्हे अब्दुल करीम के द्वारा प्रवर्तित ख़याल की उस निश्चल गायकी की शैली से परिचय पाने की आवश्यकता है जिसका प्रतिनिधित्व आज उनकी प्रधान शिष्या हीराबाई बडौदकर कर रही हैं।

जिस प्रकार चित्रकला मुख्यत वर्ण संयोजन और रूप-विधान है तथा संगीत मुख्यत स्वर-योजना तथा भावाभिव्यक्ति है उसी प्रकार नृत्य-कला भी मुख्यत अंग-भंगिमाओ की योजना है। इन योजनाओं मे प्राय संगीत के अनुरूप लय का आधान होता है। इसलिए प्राय नृत्यकला के साथ संगीत की समगति रहती है। तबले अथवा पखावज का आधार तो प्राय सभी शास्त्रीय नृत्यों मे रहता है। लोक-नृत्यों के आकार के अनुरूप आयोजित नृत्यो मे उदयशंकर के कुछ प्रदर्शनो की भांति एक जटिल वाद्य संगीत (ऑर्केस्ट्रा) की समगति भी देखने मे आती है। किन्तु यह संगीत नृत्य

की भूमिका मात्र है। शास्त्रीय नृत्यों में नृत्य के आन्तरिक अंग के रूप में संगीत का समन्वय नहीं मिलता। जिस प्रकार उत्कृष्ट शास्त्रीय संगीत अंग-भंगिमाओं की चंचलता से रहित केवल स्वर-योजना का चमत्कार है उसी प्रकार उत्कृष्ट शास्त्रीय नृत्य भी मौखिक संगीत से रहित मौन अंग भंगिमाओं की गतियों की योजना है। वैसे यदि लय का एक सूक्ष्म क्रम संगीत का सामान्य लक्षण है तो नृत्य और गान दोनों समान रूप से एक ही संगीत की परिभाषा के अन्तर्गत हैं। फिर भी संगीत की सामान्य लय नृत्य और गान में भिन्न रूपों में साकार होती है। यह भेद लय की अभिव्यक्ति के माध्यम का भेद है। सौन्दर्य शास्त्र के कुछ विशारद चित्र की रूप-योजना में भी लय देखते हैं और इस प्रकार 'लय' कला का सामान्य लक्षण बन जाती है। तब कलाओं के भेद का आश्रय उनके माध्यमों का ही अन्तर रह जाता है। कलाओं के शास्त्रीय रूपों में इन विविक्त माध्यमों का विशेष परिष्कार और विकास हुआ है। लोक-संगीत और लोक-नृत्य में ही इन माध्यमों का संकर अथवा संगम अधिक देखने में आता है। लोक की प्रवृत्ति संश्लेषणात्मक है तथा लोक-नृत्य में इन माध्यमों का संकर सबसे अधिक समृद्ध रूप में सम्भव है। इसीलिए लोक-नृत्य प्राचीन संस्कृति की सबसे प्रिय निधि है। शास्त्रीय नृत्यों में संगीत की संगति आधार और संकेत भर के लिए होती है। लोक नृत्यों की भाँति मुखर और मौखिक संगीत का अनुयोग इनमें नहीं रहता। वेष-भूषा का चित्र विधान भी संगीत की भांति नृत्य की केवल भूमिका के ही रूप में होता है। आदिम वासियों के लोक-नृत्यों के समान चित्र-विधान का अतिरंजित रूप इनमें नहीं मिलता। अतः संगीत और चित्र विधान की भूमिका रहते हुए भी शास्त्रीय नृत्य अन्य गतियों की लय और उनके द्वारा भवाव्यक्ति की ही कला है।

अस्तु, कलाओं के शास्त्रीय रूपों में मुख्यतः उनके विशेष माध्यमों का ही परिष्कार और विकास हुआ है। कलाओं की यह गति उनकी शास्त्रीय समृद्धि के अनुरूप है किन्तु लोक के साधारण जीवन के अधिक अनुरूप नहीं है। जीवन का स्वरूप संश्लेषणात्मक है। विभिन्न वृत्तियों और रूपों के संगम के द्वारा ही जीवन की स्थिति समृद्ध होती है। अतः शास्त्रीय कलाओं की अपेक्षा उनके लोक रूप ही समाज में प्रिय और अधिक प्रचलित रहे हैं। इन रूपों में यथासम्भव विभिन्न कलाओं के माध्यमों का संगम मिलता है। इस संगम की क्षमता चित्रकला, संगीत और नृत्य में उत्तरोत्तर अधिक है। चित्रकला में वर्ण और रूप के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम

के सकर की सम्भावना नही है। फिर भी हमारे सास्कृतिक लोक पर्वो मे जिस सरल रूप मे भी चित्रकला का स्थान है वह भी परम्परा मे सगीत का अवसर वन गया है। स्त्रियो के शृगार अथवा पर्वो के अवसर पर गृहो के रजित अलकरण मौन आलेखन नही होते। प्राचीन सस्कृति मे मौन नृत्य की प्रथा बहुत कम है। लोक-नृत्य के रूप मे चित्रकला, सगीत और नृत्य का एक समृद्ध सगम है। निश्चल गायन भी लोक-वृत्ति के अनुकूल नही है। सगीत की भावाभिव्यक्तियो के साथ अगो की भगिमाओं का अनुयोग स्वाभाविक है। वेद-पाठ की मुद्राओ की भाति लोक-सगीत मे यह पाया जाता है। शास्त्रीय सगीत में भी आलापो के व्याज से उस्तादो का भी हाथ प्राय उठ जाता है। यह प्राचीन अग-भगिमाओ के अनुयोग का ही अवशेष है। माध्यमो के सगम की समृद्धि लोक-रुचि के अधिक अनुकूल है, इसलिए प्राचीन सस्कृति मे लोक नृत्य अधिक प्रचलित और लोक प्रिय है। ये लोक-नृत्य प्राय सामूहिक होते हैं। इनके सामूहिक रूप में कला का एक दूसरा तत्व प्रकाशित होता है, जिसे हम समात्मभाव कह सकते हैं। यह समात्मभाव एक ही सामान्य अनुभूति में अनेक व्यक्तियो का समान भाव से भाग लेना अथवा भाव की समानता और उसका सम्वाद है। वस्तुत यह समात्मभाव ही कला के सौन्दर्य और आनन्द का मूल स्रोत है। इसलिए लोक नृत्य के साथ साथ लोक सगीत का रूप भी सामूहिक था। वेद-मन्त्रो का पाठ भी सामूहिक गान के रूप मे होता था। बाणभट्ट ने हर्ष चरित् मे ऋषियो के सामूहिक वेद पाठ का उल्लेख किया है, जिसमे विस्वर हो जाने के कारण दुर्वासा सरस्वती के उपहास के पात्र बने और सरस्वती दुर्वासा के शाप की भाजन बनी। इसी परम्परा के आधार पर तुलसीदासजी ने अपने वर्षा वर्णन मे दादरो की सामूहिक ध्वनि की उपमा वटु-समूह के वेद-पाठ से दी है। आरम्भिक वैदिक युग के बाद देश मे कृषि और उद्योगो के क्रमिक विकास के कारण पुरुषो के जीवन मे कला के लिए अवकाश कम होता गया। अत आलेखन और गायन दोनो मुख्य रूप से स्त्रियो की जीवनचर्या के अग बन गये। खेत मे हल चलाता हुआ किसान और वन मे गाय चराता हुआ गोपाल भी अपनी मनचली तानो से श्रम और शून्यता का भार हलका कर लेता है। किन्तु कला का समृद्ध रूप पारिवारिक और सामाजिक उत्सवों के अवसर पर ही देखने मे आता है। आदिम और ग्रामीण समाजो मे पुरुष भी इनमे भाग लेते थे। किन्तु धीरे-धीरे शिष्ट समाजो मे जहाँ एक ओर कला के शास्त्रीय रूपो मे पुरुषो का आधिपत्य बढता रहा, वहाँ उसके लोक-

सामान्य रूपों की ओर से पुरुष विरत होते गये। होली, रसिया, सावनी, बिरहा, कजरी आदि के रूप में पुरुषों के सामूहिक संगीत बहुत काल तक सुरक्षित रहे हैं किन्तु स्त्रियों की जीवनचर्या में वे अधिक व्यापक रूप में वर्तमान हैं। मध्ययुग के नाटकों में प्राय चित्रकर्मी और नर्तकी के रूप में स्त्रियां ही अंकित की गई हैं। कालिदास के दुष्यन्त और भास के उदयन प्राचीनों के प्रतिनिधि तथा मध्य युग के अपवाद हैं।

नृत्य के समान जीवन की गति से अनुप्राणित न होते हुए भी सामूहिक संगीत के समात्मभाव भाव में कला की मूल भावना एक सम्पन्न रूप में सुरक्षित है। इसलिए मध्य वर्ग के शिष्ट समाज में भी कला का यह रूप आज तक प्रचलित है, तथा लोक-जीवन में कला का यही सबसे व्यापक रूप है। सामूहिक नृत्य की परम्परा कुछ नैतिक और कुछ ऐतिहासिक कारणों से शिष्ट वर्ग में शिथिल होती गई, आज वह मुख्यत आदिमजातियों और ग्रामीणों में ही शेष है। नैतिक और ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त इसका एक अन्य कारण भी है जिसका सम्बन्ध जीवन, संस्कृति और कला के स्वरूप से है। 'मनुष्य-जीवन' प्रकृति के आधार में सभ्यता और संस्कृति का विकास है। पृथकत्व, परिच्छेद और स्वार्थ प्रकृति का लक्षण है। देह के धर्मों और मन के अहंकार में यह साकार होता है। इसके विपरीत अहंकार के क्षितिजों पर चेतना के विस्तार और समात्मभाव के भाव-लोकों की सृष्टि ही संस्कृति है। कला इस संस्कृति का माध्यम है। कला के रूपों में ही यह संस्कृति साकार होती है। जहां एक ओर चित्रकला में विशेष रूपों और भावों को रूप देने की अद्भुत शक्ति है तथा जहां नृत्य कला में जीवन की गतियों और भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता अधिक है, वहां रूप और अंग के अनुपात की प्रधानता के कारण प्रकृति के लक्षणों की छाया भी इनमें शेष रह जाती है। इसके विपरीत सामूहिक संगीत में सभी के स्वर मिलकर एक हो जाते हैं। प्रकृति के परिच्छेद और स्वार्थ की सीमाएं इस स्वर-संगम में अतिक्रान्त हो जाती हैं। यह स्वर और उसके आश्रय आकाश की एक अद्भुत विशेषता है। यदि आकाश जीवन का अवकाश है तो स्वर संस्कृति का सूत्र है। सम्भवत इसीलिए संस्कृति की समृद्धि में शब्द का सबसे अधिक योग है। वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप की उपमा आकाश से दी जाती है। एकता और व्यापकता दोनों का समान लक्षण है। आकाश के आश्रय में व्याप्त होने वाला शब्द जीवन में

समात्मभाव का साधन है, यह प्रकृति का एक अनर्थक सयोग नही है वरन् प्रकृति के आधार मे सस्कृति के आविर्भाव का मूल सूत्र है। स्वर मे समात्मभाव की सर्वाधिक क्षमता होने के कारण भी लोक नृत्य की अपेक्षा लोक सगीत की परम्परा अधिक प्रचलित, व्यापक और स्थायी रही। स्त्रियो मे समात्मभाव की भावना स्वभावत पुरुषो की अपेक्षा अधिक होती है, इसीलिये स्त्रियो की सास्कृतिक चर्या मे लोक सगीत मुख्यत सुरक्षित रहा है। नारी का मातृत्व इस समात्मभाव की प्रचुरता का स्रोत है। सृजनात्मक सहयोग से कुछ विरत रहने के कारण अधिक उद्दण्ड बना रहने वाला पुरुष का अहकार सभ्यता के इतिहास में समात्मभाव के विकास में बाधक रहा।

लोक-कला की परम्परा मे विभिन्न कला के रूपो और माध्यमो का जो सकर होता है, उसमे एक कला के मौलिक माध्यम की प्रधानता रहती है, अन्य कलाओ के माध्यम गौण रहते हैं। इस मुख्य-गौण सम्बन्ध से ही अन्य कलाओ के माध्यमो की भूमिका मे मुख्य कला का रूप निखरता है। भिन्न अनुपात मे भी माध्यमो का यह सकर कला को अधिक समृद्ध और प्रभावशाली बनाता है। इसलिए लोक परम्परा मे कलाओ के रूपो का मिश्रण और सयोग होता रहा है। किन्तु इस सम्मिश्रण मे कला का विकास सीमित हो जाता है। एक ओर जहाँ मुख्य कला के सयोग मे अन्य कलाओ के रूपो को गौण स्थान मिलता है, वहाँ मुख्य कला के शिल्प की समृद्धि भी सीमित हो जाती है, यद्यपि यह सत्य है कि इस सम्मिश्रण से वह लोकप्रिय अधिक हो जाती है। आधुनिक चल-चित्रो के गीतो में सगीत और काव्य का अच्छा सम्मिश्रण है। भाव और स्वर का समन्वय होने के कारण सिनेमा के गीत बडे लोक प्रिय हैं। लोक-प्रिय सगीत और लोक-गीतो मे भी यही समन्वय मिलता है, तथा यही दोनो की लोक-प्रियता का एक मुख्य कारण है। सगीत मे यह समन्वय सबसे अधिक सफल होता है, क्यो कि स्वर और शब्द दोनो का समान रूप मुखरध्वनि है। शब्द और स्वर दोनो का एक ही स्वरूप होने के कारण वे दोनो अनायास मिल जाते हैं। कलाओ के अन्य किन्हीं रूपो मे समन्वय की यह सफलता सम्भव नही है। इसका कारण विभिन्न कलाओ के माध्यमो और रूपो का भेद है। चित्रकला और नृत्य के माध्यम स्थूल, दृश्य और पूर्णत प्राकृतिक हैं। प्राकृतिक होने का तात्पर्य यह है कि वे विविक्तता, परिच्छिन्नता आदि के नियमो से शासित रहते हैं। अत विभिन्न कलाओ के रूपो

और माध्यमा का मकर सम्भव नहीं है। एक कला के क्षेत्र में भी भिन्न-भिन्न कृतित्वो का समन्वय नहीं हो सकता। चित्रकला में तो इकाई का गणित बड़ा कठोर और अनुल्लंघनीय है। नृत्यकला में भी नर्तक की आंगिक भंगिमा की इकाई अलग रहती है यद्यपि इन कई इकाइयो मे समगति सम्भव है। लोक नृत्य में यह समगति साक्षात् मिलती है, किन्तु गतियो का यह समन्वय भी नृत्य शिल्प के विकास के अधिक अनुकूल नहीं है। इसलिए शास्त्रीय नृत्य की विकसित परम्परा मे सामूहिक नृत्य की अपेक्षा एकाकी नृत्य ही अधिक दिखाई देते हैं। दक्षिण की कथाकली नृत्य की शैली मे इकाइयो की समगति का कुछ स्थान अवश्य है। किन्तु भरतनाट्यम और उत्तर भारत के कत्थक नृत्य की शैलियो मे एकाकी अंग-भंगिमाओ का ही प्राधान्य है। कत्थक नृत्य की परम्परा का प्रतिनिधित्व लखनऊ के पंडित बिन्दादीन के परिवार के सदस्य अकेले ही करते रहे हैं। सामूहिक नृत्य मे एक ऐसी समगति अवश्य बन जाती है जो अनेक चित्रो मे सम्भव नहीं है। किन्तु सामूहिक नृत्यो मे भी विभिन्न अंग भंगिमाओ का ऐसा समन्वय सम्भव नहीं है, जैसा कि संगीत मे अत्यन्त सरल है। इसलिए सामूहिक नृत्य मे प्राय संगीत का सहारा लिया जाता है। लोक नृत्यो के सम्बन्ध में तो यह निर्णय करना भी कठिन है कि उन्हें सामूहिक नृत्य कहा जाय या सामूहिक संगीत, उनको दोनो का ही समानुपात में समन्वय दिखाई देता है।

अनेक कृतियो की समगति और उनका समन्वय सहज सम्भव होने के कारण संगीत की कला मानवीय संस्कृति के समात्मभाव के सबसे अधिक अनुरूप है। इसलिए लोक संस्कृति की परम्पराओ मे संगीत ही सबसे अधिक प्रचलित और आदृत रहा है। संस्कृति की विविधता और समृद्धि के नाते चित्रकला और नृत्य का भी लोक संस्कृति मे बहुत कुछ स्थान रहा है, किन्तु इनकी लोक प्रियता की तुलना संगीत से नहीं की जा सकती। उत्तर भारत मे मुसलमानी आधिपत्य के कारण संगीत के कलाधर को अनैतिकता का कलंक लग गया। अत इसके विकसित रूप की परम्परा समाज और परिवारो मे अनादृत हो गई। किन्तु बंगाल और महाराष्ट्र के समाज और परिवारो मे संगीत की एक समृद्ध और विकसित परम्परा आज तक सुरक्षित है। 'नृत्य' संगीत की अपेक्षा कम प्रचलित है और चित्रकला उससे भी कम। इसका कारण मनुष्य अथवा समाज का कलाओ के प्रति भेद-भाव अथवा पक्षपात नहीं है। जीवन और संस्कृति के साथ कलाओ के माध्यमो और रूपो के सम्बन्ध का यह

स्वाभाविक परिणाम है। **संस्कृति मानवीय सम्बन्धों की समात्मभावना से प्रेरित एक सृजनात्मक परम्परा है।** प्रकृति के आधार पर संस्कृति की प्रतिष्ठा और उसके विकास से मानव-जीवन पूर्ण तथा सफल होता है। प्रकृति की सीमाओं की कठोरता संस्कृति के विकास और जीवन की पूर्णता में बाधक होती है। चित्रकला और नृत्य मे प्रकृति के अनुषग संगीत की अपेक्षा अधिक शेष रह जाते हैं। संगीत मे स्वर के उद्गम की केन्द्रीयता और अनेक इकाइयों रहते हुए भी स्वर के रूप और प्रवाह अनायास मिलकर एक हो जाते हैं। स्वर-विधान के क्षितिजो की समृद्धि और उनके वैभव मे इकाइयो के बिन्दु प्रवाह मे बुदबुदो के समान अन्तर्निहित हो जाते हैं। **इसी कारण संगीत सामाजिक संस्कृति की आत्मा के अधिक अनुरूप है।** चित्र और नृत्य मे व्यक्तियो का ऐसा समात्मभाव सम्भव नही है। जहाँ चित्रकला कलाकार के विशेष कृतित्व का ही अवसर है, वहा संगीत साक्षात् जीवन का स्वरूप है। चित्रकला जीवन और जगत के साथ केवल कलाकार के रागात्मक सम्बन्ध का फल है। **किन्तु संगीत अनेक व्यक्तियो की आत्माओं की समगति की अन्तर्ध्वनि से निर्मित जीवन का समृद्ध राग है। चित्रकला में सौन्दर्य का रूप साकार होता है। किन्तु संगीत में जीवन में व्याप्त आत्मा ही मानो मुखर हो उठती है।** वैयाकरणो का शब्द ब्रह्म और संगीताचार्यो का नाद-ब्रह्म दोनो जीवन और संस्कृति के एक महत्वपूर्ण सत्य का संकेत करते हैं।

शब्द और स्वर की इस महान शक्ति के कारण ही कदाचित मनुष्य मे बुद्धि और चेतना के विकास के साथ साथ भाषा का विस्तार हुआ तथा साहित्य और संस्कृति की परम्पराओ मे काव्य एव संगीत की समृद्धि हुई। शब्द की समृद्ध व्यजना-शक्ति के कारण ही कदाचित आंगिक संकेतो और चित्ररूपो की प्राचीन लिपियो का स्थान मुखर भाषा ने ले लिया। इसी कारण शब्द हमारे भाव विनिमय और व्यवहार का सबसे अधिक प्रचलित और लोकप्रिय माध्यम बन गया। **व्यवहार की यह भाषा अर्थ से संयुक्त शब्द है। यही शब्दार्थ का सहित-भाव भारतीय आचार्यों के अनुसार काव्य का भी लक्षण है।** किन्तु संगीत अर्थ और भाव से रहित शुद्ध स्वर-योजना है। इस स्वर योजना मे भी हमारे हृदय को स्पर्श करने की अद्भुत शक्ति है। भाव का आधान न रहने पर भी स्वर-योजना का भावमय प्रभाव होता है। वाद्य-संगीत के प्रभाव मे शुद्ध संगीत की इस भाव-शक्ति की प्रमाणिक परीक्षा हो जाती है। संगीत की इसी सहज भाव प्रवणता के कारण हीगल ने उसे

गीतात्मक कला का प्रतिनिधि माना है। काव्य-क्रम की दृष्टि से गीत मे भाव का ही आधिक्य रहता है। इसके अतिरिक्त संगीत को माध्यम की सूक्ष्मता, सहजता, सुलभता, प्रेषणीयता और जटिलता का भी वरदान है। चित्रकला और नृत्य के माध्यम रूप, वर्ण, मुद्रा और भंगिमा के स्थूल विधान हैं। इसके विपरीत शब्द एक अरूप और सूक्ष्म माध्यम है। सूक्ष्मता के कारण इसमें प्रेषणीयता भी अधिक है। यद्यपि शब्द के उत्पादन और ग्रहण का माध्यम भी ऐन्द्रिक है, फिर भी दृश्य रूप की तुलना मे शब्द सूक्ष्म और अलक्ष्य है। उसका उत्पादन और ग्रहण अधिक गम्भीरता से युक्त होते हुए भी अधिक सहज है। जहाँ दृश्य रूप हमारी संवेदना को सन्तुष्ट करता है, वहाँ शब्द हमारी आत्मा को स्पर्श करता है। अर्थ से युक्त होने पर उसकी यह प्रभविष्णुता और अधिक बढ जाती है। इसके अतिरिक्त दृश्य रूप और अंग-भंगिमाओं की तुलना मे कही अधिक अल्प प्रायास से यथेष्ट परिमाण मे शब्द की सृष्टि की जा सकती है। कर्मेन्द्रियो मे सम्भवत वाणी की गति ही सबसे अधिक सहज और विपुल है। कदाचित इसलिए कर्मेन्द्रियो की गणना मे वाक् प्रथम है (वाक्प्राणिपादपायूपस्थानाम्)। उत्पादन की सहजता के कारण माध्यम तत्व की दृष्टि से शब्द सबसे अधिक सुलभ भी है। यदि स्पेन्सर के विकासवाद के अनुसार जटिलता को विकास और समृद्धि का लक्षण माना जाय, तो हमारे माध्यमो मे कदाचित शब्द सबसे अधिक जटिल है। इन्द्रियो के निर्माण मे भी श्रवणेन्द्रिय की निर्मिति सबसे अधिक सूक्ष्म और जटिल है। चित्रकला के रूपो और वर्णो तथा नृत्यकला की भंगिमाओ मे बहुत कुछ जटिलता सम्भव है। किन्तु संगीत के स्वर-भेदो और उसकी राग-योजनाओ मे कदाचित सबसे अधिक जटिलता की सम्भावना है। स्वर का वैज्ञानिक विवेचन इस जटिलता को स्वर का एक विशेष लक्षण मानता है। इसी जटिलता और विशेषता से व्यक्तियो के स्वर और स्वर से व्यक्ति पहचाने जाते हैं। स्वर की स्वरूपगत सूक्ष्मता और जटिलता के अतिरिक्त उसकी जटिलता की व्यक्तिगत विशेषतायें उसे भाव-सम्वहन और कलात्मक अभिव्यक्ति का कहीं अधिक समर्थ, सम्पन्न और समृद्ध माध्यम बना देती है।

शब्द की इन विभूतियो में मिलकर अर्थ उसे और समर्थ तथा सम्पन्न बना देता है। 'अर्थ' शब्द का मानसिक अथवा चिन्मय तत्व है। कला के पक्ष मे हम इसे 'भाव' कह सकते हैं। काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओ मे भी इसका आधान रहता है, यद्यपि यह आवश्यक नही। अन्य कलाओ के माध्यमो मे युक्त होकर भाव उनके

रूप को अधिक समृद्ध और लोक-प्रिय बना देता है। एक अर्थ में चित्रकला और संगीत में भाव के कुछ रूपों, विशेषत भाव क्षणों और भंगिमाओं को व्यक्त करने की शक्ति कविता की अपेक्षा अधिक है। दृश्य रूप तो चित्रकला की विशेष सम्पत्ति है। रूप के वैभव में चित्रकला की तुलना कोई भी कला नहीं कर सकती है। संगीत अथवा काव्य के शब्द क माध्यम से जो रूप की रचना के प्रयत्न किये जाते हैं, वे चित्रकला के समान स्पष्ट और प्रभविष्णु रूप की विवृति में सफल नहीं होते। जो कुछ सफलता उन्हें मिलती है, वह भी शब्द से प्रेरित मानसिक चित्रकला पर निर्भर है। 'कोटि मनोज लजावन हारे' और 'चन्द्रमुख' से भी मानवीय रूप लावण्य की वह सजीव अभिव्यक्ति नहीं होती, जो किसी श्रेष्ठ चित्रकार की रचना से हो सकती है। रूप के अतिरिक्त चित्र में भाव की अभिव्यक्ति की वृत्ति भी है। जिस प्रकार मनुष्य के मुख और अगों की आकृति भावों को व्यक्त करने में समर्थ है, उसी प्रकार चित्रों की रूप योजना भी भावों की सजीव व्यजना करती है। स्मृति में भी भूत और उसका भाव बहुत स्थिर रहता है। कदाचित दृष्टि के साथ मस्तिष्क का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए इन्द्रियों में अक्षप्रधान है और सर्व इन्द्रियों के सामान्य 'प्रत्यक्ष' को यह नाम मिला। किन्तु चित्रकला में रूप और भाव के क्षणों का अकन सम्भव है। कला के क्रम तथा जीवन की प्रगति को चित्रकला की परिधि में समेटना कठिन है। इसीलिए चित्रकला संस्कृति की परम्परा की वाहक नहीं बन सकती। कला की दृष्टि से अपनी विलक्षण विशेषताओं के कारण उसका गौरव अक्षुण्ण है, किन्तु सास्कृतिक परम्पराओं के निर्माण और निर्वाह में उसका योग कम है। सास्कृतिक कला की अपेक्षा उपयोगिता के क्षेत्र में इसका महत्व व्यापक रहा है। वस्त्रों, वस्तुओं आदि के निर्माण में रूप का सौन्दर्य सभ्यता में आत्मसात् हो रहा है। यह चित्रकला और जीवन के व्यवहार में ऐन्द्रिक सम्वेदना, विशेषत दृष्टि सवेदना, की प्रमुखता के कारण है।

इसके अतिरिक्त चित्र में शब्द का अभाव है। यह प्रकृति के विधान में तथा इन्द्रियों के निर्माण में गुणों की विविक्तता के कारण है। शब्द में मानो जीवन की आत्मा मुखर हो उठती है, इसलिए शब्द को ब्रह्म माना जाता है। शब्द सजीवता का लक्षण है। चित्र के रूप में सजीवता और स्पष्टता बहुत होती है, फिर भी शब्द के अभाव के कारण यह निष्प्राण जान पडता है। उर्दू के शायर की इस परेशानी में चित्रकला की एक अपूर्णता का ही सकेत है—'मैं परेशां हूँ

इस तदबीर से कि जान आजाये तेरी तस्वीर में । हम कितनी बार चाहते हैं कि हमारे आत्मीयों और इतिहास के परिचितों के अथवा कल्पना के रूपों के ये चित्र हमसे बोल उठते । चित्र के रूप में वाणी का संयोग करने में सफल होने के कारण ही सवाक् चित्र-पट आज इतना लोक-प्रिय हो रहा है । वस्तुतः 'शब्द' जीवन के भाव की बड़ी सूक्ष्म और सबल अभिव्यक्ति है । शब्द की ध्वनि में मानो प्राणों का स्पन्दन साकार हो उठता है । अर्थ और भाव से रहित शुद्ध संगीत की शब्द योजना का प्रभाव भी कितना मर्मस्पर्शी होता है । अर्थ से युक्त होने पर उसकी शक्ति और समृद्ध हो जाती है । दृश्य रूप और सम्वेदना जहाँ स्वार्थमय है, वहाँ शब्द की संवेदना भाव के परस्पर विनिमय सम्वाहन और सम्प्रेषण का माध्यम है । दृश्य रूप का अभाव होने के कारण शब्द में रूप की विवृति की सामर्थ्य उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार चित्रकला में शब्द की क्षमता नहीं है । चित्र का रूप मौन है, उसी प्रकार शब्द नीरूप है । यदि परिभाषिक अर्थ में हम संगीत की लय-योजना को ही रूप मान लें तो दूसरी बात है । यह दृश्य रूप नहीं है, वरन् स्वर योजना का आकार है । किन्तु जहाँ शब्द का अभाव चित्र को निष्प्राण बनाता है; वहाँ रूप का अभाव शब्द के माध्यम को अधिक सूक्ष्म तथा पारस्परिक सम्प्रेषण के अधिक योग्य बनाता है । शब्द का यह गुण उसे समात्मभाव के अधिक अनुकूल बनाता है । चित्र-निर्माण और चित्र-दर्शन में भी समात्मभाव सम्भव है । किन्तु वह चित्रकला का स्वरूपगत अंग नहीं है, उसकी सामाजिक परिस्थिति का अनुषंग हो सकता है । किन्तु शब्द के सम्बन्ध में यह समात्मभाव उसके स्वरूप का ही अंग है । हम अकेले भी शब्द और स्वर का उत्पादन कर सकते हैं, किन्तु उसमें शब्द की सार्थकता नहीं है । इसलिए वह बहुत कम देखने में आता है । व्यवहार और कला दोनों में शब्द का उत्पादन दूसरों के ग्रहण के लिए किया जाता है । रूप का एकान्त सृजन और दर्शन सम्भव है, किन्तु शब्द की सार्थकता परस्पर के समात्मभाव में ही है ।

इस दृष्टि से शब्द और स्वर कला के स्वरूप के अधिक निकट है । इसलिए संगीत और काव्य चित्रकला की अपेक्षा अधिक प्रचलित और लोक प्रिय हैं । किन्तु यदि रूप मौन है, तो शब्द नश्वर है । मर्मस्पर्शी होते हुए भी उसका प्रभाव, श्रवणकाल में ही रहता है । चित्र की रूप-रचना जीवन के 'क्षणों को ही' साकार बनाती है । शब्द और स्वर में नश्वर होते हुए भी सन्तान-क्रम है, जिससे संगीत

मे भाव और जीवन की एक लघु परम्परा मूर्त्त हो सकती है। किन्तु इस विस्तार की सीमा अल्प है। इसके अतिरिक्त नश्वर होने के कारण शब्द का प्रभाव तत्काल मे ही होता है और नीरूप होने के कारण स्मृति मे उसका आधान चित्र की अपेक्षा कठिन है। **स्वर की अपेक्षा अर्थ की धारणा अधिक स्थायी होती है। 'अर्थ' भाव-रूप है।** इस भाव का आधान ही सगीत के स्वर को अधिक मर्मस्पर्शी बनाता है। अर्थ के सयोग से स्वर की मर्मस्पर्शता स्मृति मे स्थायी बन जाती है। इसीलिए पशुओ के अर्थहीन शब्द के स्थान पर मनुष्य की भाषा मे सार्थक शब्द का विकास हुआ है। इसीलिए सगीत मे भी अर्थहीन स्वर योजना की अपेक्षा सार्थक शब्द स्वर योजना अधिक प्रचलित और लोकप्रिय रही है। **स्मृति मनुष्य स्वभाव की एक अद्भुत विशेषता है। धारणा पर ही इतिहास, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति आदि का प्रासाद आधारित है।** स्मृति की धारणा ही व्यवहार और विचार मे सगति का सूत्र है। **'अर्थ और भाव धारणा के सबसे अधिक अनुकूल हैं।** चित्र की धारणा का कारण रूप की दृश्यता और स्पष्टता है। किन्तु वह भी काल-क्रम से मन्द होती जाती है। जीवन और अनुभव के आरम्भ की स्पष्टता और सजीवता उसमे क्रमश कम होती जाती है। इसका कारण यह है कि एक क्षण का अकन करने के कारण काल परम्परा के निरूपण तथा उसके द्वारा काल के अनुकूल चलने की सामर्थ्य गतिहीन चित्र मे नही है। अर्थहीन स्वर तत्काल मे तो काल के अनुकूल चलता है और एक परम्परा का निर्माण करता है, किन्तु नश्वर होने के कारण वह उस परम्परा को स्मृति मे स्थायी बनाने मे समर्थ नही है। इसके विपरीत अर्थ-धारणा के अधिक अनुकूल है। शब्द के सयोग से वह एक दीर्घ-कालिक परम्परा मे भी साकार हो सकता है और साथ ही धारणा म स्थायी भी बन सकता है। शब्द के साथ अर्थ का सयोग अर्थ को एक कालगत परम्परा बनाने मे समर्थ है। चेतना के साथ अर्थ का घनिष्ठ सयोग उसे स्थायी और काल-जयी बनाता है। सयोग की अपेक्षा इसे समन्वय कहना अधिक उचित है। **यदि अर्थ चेतना का स्वरूप नहीं तो, उसके साथ समवेत अवश्य है। ऐन्द्रिक सम्वेदनाओ की अपेक्षा अर्थ में चेतना का अधिक आन्तरिक रूप अभिव्यक्त होता है। अर्थ चिन्मय तत्व है।** कालिदास ने रघुवश के मगलाचरण मे पार्वती की उपमा वाक् से तथा परमेश्वर की उपमा अर्थ से दी है। परमेश्वर 'शिव' आत्मा के पर्याय और चित्स्वरूप हैं। चेतना का स्वरूप आन्तरिक अनुभव मे विवृत होता है। कान्ट के अनुसार काल आन्तरिक

अनुभव का रूप है, इसलिए चिन्मय होने के कारण अर्थ काल-परम्परा के अधिक अनुरूप है। किन्तु साथ ही 'काल' चेतना का विषय भी है, अत चेतना कालातीत है। आत्मा के नित्यत्व का यही प्रमाण है। चेतना के कालातीत होने के कारण उसमे समवेत अर्थ काल-परम्परा मे अनुगत होने के साथ-साथ कालजयी भी है। यही धारणा में अर्थ के स्थायित्व का रहस्य है।

काल-परम्परा के अनुरूप तथा साथ हो कालजयी और स्थायी होने के कारण 'अर्थ' मानवीय जीवन को अद्भुत शक्ति और सस्कृति की अद्भुत विभूति बन गया हैं। विषय, तात्पर्य, लक्ष्य, प्रयोजन आदि अनेक अर्थों मे उसका प्रयोग उसकी सम्पन्नता का द्योतक है। भाषा, सस्कृति और समाज की परम्परा और व्यवस्था का सूत्र यही अनेक-रूप अर्थ है। एक ओर चेतना से समवेत और दूसरी ओर शब्द से समन्वित होने के कारण सम्बन्ध और व्यवहार मे अर्थ की सम्वहनशीलता तथा प्रेषणीयता प्रचुर है। शब्द की भांति अर्थ की सफलता और सार्थकता भी सम्प्रेषण मे है। अत 'अर्थ' सस्कृति और कला के समात्मभाव का मूल सूत्र है। अर्थ के बिना चेतना एक निराकार और स्वरूपगत सत्ता रह जाती है तथा शब्द एक तात्कालिक और अल्प-प्रयोजन माध्यम रह जाता है। अतएव अर्थ ही जीवन, कला और संस्कृति की सबसे समर्थ और सम्पन्न विभूति है। अर्थ मे साकार होकर ही चेतना सम्बन्धो के समात्मभाव मे रस और सौन्दर्य का स्रोत बनती है। अर्थ से अन्वित होकर ही 'शब्द' साहित्य और सस्कृति की अनन्त परम्परा का माध्यम बना है। अर्थ के रूप मे ही कला और काव्य के भाव स्मृति की स्थायी विभूति बनते हैं। इस स्थायित्व मे कला और सौन्दर्य का अमृतत्व है। अर्थ के अन्वय से ही सगीत की स्वर-योजना की मर्मस्पर्शता इतनी समृद्ध और लोकप्रिय हुई है। शब्द और अर्थ की सगति स्थायित्व और समात्मभाव के अनुरूप होने के कारण कला का सबसे श्रेष्ठ रूप है। अत अर्थ-युक्त सगीत और काव्य कला के सर्वोतम रूप हैं। दोनो मे ही अर्थ और लय का समन्वय होता है। अन्तर केवल इतना ही है कि सगीत मे अर्थ की प्रचुरता होते हुए भी स्वर-योजना प्रधान है। कविता मे शब्द की प्रचुरता मे स्वर और लय का समन्वय होता है, फिर भी उसमे अर्थ का ही प्रभुत्व है। कला का सर्वोत्तम रूप स्वर और अर्थ का सतुलन, समानुपात और समन्वय है। सूर और तुलसी के पदो मे कला के इसी रूप की सफलता उनके सौन्दर्य का रहस्य है। आधुनिक हिन्दी के गीतकाव्य मे कला का यही रूप एक नई

आभा से निखर रहा है। प्राचीन काव्य तथा संगीत में भी कला का यही समन्वित रूप सबसे अधिक लोकप्रिय रहा है। वैदिक काव्य में तो कला का यही रूप आदि काव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। लोकगीतों की परम्परा में भी कला का यही रूप सुरक्षित तथा दीर्घजीवी रहा है। गीतगोविन्द, आल्हखण्ड, सूरसागर, रामचरितमानस आदि के स्थायित्व और लोकप्रियता का भी यही रहस्य है। मध्यकाल के हिन्दी मुक्तक काव्य में भी संगीत का पर्याप्त समन्वय है। लौकिक संस्कृत के रूप में वैदिक संस्कृत का स्वर-सन्निवेश नहीं है, फिर भी संस्कृत भाषा का गठन स्वभावतः ही ऐसा है कि उसमें नाद और स्वर का बड़े समृद्ध रूप में समावेश है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा को न समझने वाला व्यक्ति भी संस्कृत काव्य के नाद-सौन्दर्य से ही मुग्ध हो जाता है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में बंगला में यह नाद सम्पत्ति सबसे अधिक है। इसलिए बंगला संगीत अथवा कविता-पाठ भाषा न समझने वाले को भी प्रिय लगता है।

यह नाद-सौन्दर्य स्वर के मूल परिमाण के विस्तार, उसकी गूंज और झंकार में रहता है। स्वर के बिन्दुओं का यही विस्तार संगीत का स्वरूप है। 'अर्थ' में यह विस्तार 'आकृति' कहलाता है। शब्द और अर्थ की यह व्यापनशीलता कला के सम्प्रेषण को समृद्ध बनाती है। इन दोनों का समन्वय कला के सुवर्ण में सुगन्ध का संयोग है। वैदिक मन्त्रों और लोक-गीतों में यह समन्वय उत्तम रूप में मिलता है। सामूहिक होने के कारण इनमें समात्मभाव की सम्भावना भी काव्य तथा संगीत के अन्य व्यक्तिगत रूपों की अपेक्षा अधिक है। अतः इनमें कला की आत्मा और उसका रूप दोनों उत्कृष्ट रूप में साकार एवं सजीव हुए हैं। सामान्यतः सभी काव्य और सार्थक संगीत में शब्द और अर्थ का समन्वय मिलता है। अतः सभी संगीत और काव्य कला के उत्तम रूप हैं। किन्तु जिस संगीत में नाद-सौन्दर्य अधिक होता है तथा जिस काव्य में आकृति की व्यंजना अधिक होती है, वह अधिक श्रेष्ठ और समृद्ध है। शास्त्रीय संगीत और काव्य का विकास इसी समृद्धि की दिशा में हुआ है। किन्तु इस विकास में संगीत में अर्थ-सम्पत्ति तथा काव्य में स्वर-विभूति कम हो गई। समन्वय विच्छिन्न हो जाने से दोनों एकांगी हो गये। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वर की अपेक्षा अर्थ का महत्व अधिक है। स्वर माध्यम साधन है और अर्थ साध्य है। स्वर शक्ति है, किन्तु अर्थ शिव है। स्वर-शक्ति के बिना अर्थ का शिव निष्प्राण (शव) है। किन्तु अर्थ के बिना स्वर का

महत्व स्वल्प है। अर्थ से रहित स्वर मर्मस्पर्शी होते हुए भी एक तात्कालिक संवेदना मात्र रह जाता है। **अर्थ ही स्वर के माध्यम से अभिव्यक्ति भाव-विभूति को धारणा से स्थायी बनाता है।** अतः काव्य में अर्थ के आधान को अधिक महत्वपूर्ण माना है। इसी अर्थ-प्राचुर्य के कारण बाण, माघ और श्रीहर्ष की कृतियाँ संस्कृत में तथा रामचरितमानस और कामायनी हिन्दी में अधिक श्रेष्ठ मानी जाती हैं। अर्थ में भी एक सूक्ष्म ध्वनि और नाद निहित है, जो शब्द के संयोग से अधिक व्यक्त होता है। संस्कृति का विकास भी अर्थ-विभूति के ही रूप में हुआ है। अर्थ चिन्मय भाव है। संस्कृति चेतना की ही समृद्धि है। अर्थ का चिन्मय भाव ही समात्मभाव का सूत्र है। यही चिन्मय भाव कला की भी विभूति है। संगीत का स्वर भी लय योजना के कौशल से उसी का प्रयत्न करता है। किन्तु स्वर माध्यम (साधन) है, साध्य नहीं। अर्थ और भाव साध्य हैं। **'आकृति' व्यंजना के द्वारा अर्थ की समृद्धि है। अर्थ और आकृति में ही समात्मभाव और संस्कृति की परम्परा स्मृति की धारणा में स्थायी बनती है।**

अस्तु, काव्य में अर्थ अथवा आकृति के साथ स्वर का समुचित समन्वय होता है। अर्थ और शब्द दोनों ही सम्प्रेषण अथवा सम्वहन के अनुकूल हैं, अतः समात्मभाव के अनुरूप हैं। **'अर्थ' सम्प्रेषण का विषय और समात्मभाव का आधार-तत्व है।** 'अर्थ' चिन्मय भाव है, अतः समात्मभाव के साथ उसकी एकात्मता कल्पनीय है। 'शब्द' अर्थ का माध्यम और सम्प्रेषण का सूत्र है। वैसे तो सभी कलाओं में तत्व और माध्यम की एकात्मता से ही सौन्दर्य की सृष्टि होती है, किन्तु शुद्ध चित्रकला और शुद्ध संगीत में तत्व का आधान आवश्यक नहीं है। इन कलाओं में पूर्णतः रूपात्मक रचना भी देखी जाती है। किन्तु सामान्यतः इनके तत्व से समन्वित रूप ही प्रचलित रहे हैं। इनमें जहाँ ऐन्द्रिक प्रभविष्णुता अधिक है, वहाँ धारणा का स्थायित्व कम है। सम्वेदना प्रधान होने के कारण चेतना की परम्परा में एकात्म होने की क्षमता भी इनमें कम है, इसलिए इनकी साधना सौन्दर्य और रंजन से युक्त रही है। किन्तु सामाजिक संस्कृति के निर्माण के विकास में इनका योग इतना अधिक नहीं रहा। **'संस्कृति' चेतना के उत्कर्ष और विकास की एक स्थायी और प्रगतिशील परम्परा है। काव्य में अर्थ अथवा भाव का सन्निवेश प्रधान होने के कारण वह कलाओं में संस्कृति के सबसे अधिक अनुरूप है।** इस दृष्टि से हम उसे सबसे अधिक सांस्कृतिक कला कह सकते हैं।

'संस्कृति' सौन्दर्य और श्रेय का समन्वय है। कलात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्य का स्वरूप है। 'श्रेय जीवन का चिन्मय भाव है। जीवन की पूर्णता, समृद्धि, शान्ति, प्रेम, आनन्द आदि सांस्कृतिक भाव के अंग अथवा लक्षण हैं। समात्मभाव इन सबका मूल आधार है। कलात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी इस समात्मभाव में फलित होता है। सत्य और माध्यम दोनों की दृष्टि से 'काव्य' संस्कृति और समात्मभाव दोनों के सबसे अधिक निकट है। इसके अतिरिक्त काव्य की एक और विशेषता है। वह शुद्ध कला और तत्त्वज्ञान की सुन्दर सन्धि है। जिन कलाओं में तत्व का निधान गौण है उनमें अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का आकर्षण भले ही अधिक हो किन्तु सांस्कृतिक कल्याण की संभावना कम रहती है। इसी कारण इन कलाओं के प्रदर्शन में तात्कालिक अनुराग तो बहुत लोग दिखाते हैं और तत्काल में इनके प्रति बहुत उत्सुक हो जाते हैं, किन्तु इनमें स्थायी अनुराग बहुत कम लोगों का होता है। ऐन्द्रिक सम्वेदना के लिए तीव्र उत्तेजना न रहने के कारण कविता की ओर लोगों की ऐसी उत्सुकता नहीं होती। फिर भी सत्य यह है कि कविता के प्रति लोगों का सबसे अधिक स्थायी और व्यापक अनुराग रहा है। आधुनिक युग में कविता की प्रतिष्ठा का जो ह्रास हो रहा है वह सांस्कृतिक मूल्यों के सामान्य ह्रास का ही एक अंग है। भौतिक वैभव और ऐन्द्रिक रंजन आधुनिक सभ्यता की दो मुख्य ध्रुवायें हैं। पहले की प्रधानता ने सभी कलाओं को ऐन्द्रिक रंजन का साधन बना दिया है। चित्रकला, संगीत और नृत्य में ऐन्द्रिक सम्वेदना का सन्निवेश अधिक रहने के कारण तत्काल में उनके प्रति लोगों की रुचि अनायास जागरित हो जाती है। ऐन्द्रिक रंजन की सम्पूर्णता के कारण ही सिनेमा इतना लोकप्रिय हो रहा है। दृष्टि-रंजन के कारण अशिक्षित और अल्पशिक्षित लोग भी धर्मयुग, फिल्मफेयर, रंगभूमि आदि रंगीन और सचित्र पत्रिकाओं को देखते और खरीदते हैं। शिक्षित लोग भी उन्हें पढ़ने की अपेक्षा देखते अधिक हैं। नृत्य और संगीत के प्रदर्शन से मार्ग की भिखारिन भी कुछ अनुरागियों को इकट्ठा कर सकती है किन्तु कवियों को आज रसिक श्रोताओं का अभाव है। पत्रिकाओं और कवि-सम्मेलनों में भी भाव की दृष्टि से ऐन्द्रिक रंजन के अधिक निकट होने वाली कविताएँ ही अधिक पसंद की जाती हैं। ऐन्द्रिक रंजन प्राकृतिक धरातल का व्यापार है। उसका स्वभाव भी स्वार्थमय है। पारस्परिकता और समात्मभाव की भूमि पर ही संस्कृति का उदय होता है। समात्मभाव में ही कला का अतीन्द्रिय सौन्दर्य और सांस्कृतिक रूप निखरता है। भाव

और शब्द के समन्वय के कारण काव्य सांस्कृतिक कला का सबसे उत्कृष्ट रूप है।

काव्य में भाव ही प्रधान है। शब्द की ऐन्द्रिक सम्वेदना सम्प्रेषण का साधन मात्र है। शब्द भी पूर्णत ऐन्द्रिक नहीं है। शब्द-दर्शन में उसकी अतीन्द्रिय कोटियाँ भी मानी गई हैं। मुखर और ऐन्द्रिक शब्द में भी उनका अन्तर्भाव रहता है। अतएव शब्द के साथ भाव का समन्वय अधिक पूर्ण है। काव्य की श्रेष्ठता का एक यह भी कारण है। भाव का सन्निवेश होते हुए भी अन्य कलाओ मे ऐन्द्रिक सम्वेदना का आधिक्य रहता है। इसके अतिरिक्त भावो के अनेक रूप अतीन्द्रिय हैं जो ऐन्द्रिक रूपो के माध्यम से अधिक सफलता पूर्वक व्यक्त नही हो सकते। अनेक शब्द ऐन्द्रिक भावो के भी प्रतिनिधि हैं, किन्तु दूसरी ओर उनमे अतीन्द्रिय भावो की अभिव्यक्ति की शक्ति भी विकसित हुई है। शब्द में अतीन्द्रिय रूप और शक्ति के अन्तर्भाव के कारण तथा शक्ति और सूक्ष्मता के नाते भाव-विनिमय के उच्चतम धरातलो पर प्रयुक्त होने के कारण अतीन्द्रिय भावो की अभिव्यक्ति की क्षमता रूप और स्वर के माध्यम की अपेक्षा शब्द में कहीं अधिक विकसित हुई है। भाव की व्यापकता और उसके उत्कर्ष दोनो की दृष्टि से शब्द का माध्यम काव्य की प्रतिभा का अद्भुत बल है। दृश्य रूप इन्द्रिय का विषय है। चित्रकला मे वह साक्षात् उपस्थित होता है। अत रूप की अभिव्यक्ति मे तो काव्य चित्रकला की तुलना नही कर सकता। किन्तु भाव की अभिव्यक्ति मे वह चित्रकला की अपेक्षा कही अधिक समर्थ है। संगीत के स्वर और शब्द का समन्वय काव्य मे सहज सभव है। वेद मन्त्रो, लोकगीतो और गीत-काव्य में तो संगीत का समन्वय प्रचुर मात्रा मे है। सामान्य काव्य मे भी यह समन्वय बहुत कुछ अश मे वर्तमान है। नृत्य में जिस गत्यात्मक सजीवता के साथ भाव की अभिव्यक्ति होती है, वह किसी भी अन्य कला में सभव नहीं। किन्तु जिस प्रकार शब्दों के द्वारा रूप की अभिव्यक्ति सभव है उसी प्रकार शब्द गति के वाहक भी बन सकते हैं। एक दृष्टि से गति ही उनका क्रम है। इसके अतिरिक्त भी नृत्य की सजीवता के साथ तो नहीं किन्तु बहुत कुछ सफलता के साथ वह गत्यात्मक भावो की व्यजना कर सकते हैं। अभिधान ही शब्दो की शक्ति की अन्तिम सीमा नही है। चेतना की कल्पना-शक्ति को प्रेरित करके व्यजना अथवा आकृति की समृद्ध शक्ति के द्वारा वे रूप और गति की भी बहुत अधिक सफल अभिव्यक्ति कर सकते हैं।

इसीलिए प्रकृति वर्णन, अभियान, युद्ध आदि के स्थल कविता में रूप और गति के सजीव तथा साकार अनुभव उद्भावित कर सकते हैं। एक ओर जहाँ कविता में सभी कलाओं से अधिक अतीन्द्रिय भावों की अभिव्यक्ति की शक्ति है, वहाँ दूसरी ओर उसमें अन्य कलाओं के समान रूप और गति को भी बहुत कुछ अंश तक सजीवता और साकारता के साथ अंकित करने की क्षमता है। यह कविता की सम्पन्नता और समृद्धि का प्रमाण है। इसी समृद्धि और सम्पन्नता के कारण वह कलाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

काव्य-कला की इस सम्पन्नता का रहस्य उसके माध्यम की विशेषताओं में है। अन्य कलाओं के माध्यम की अपेक्षा शब्द का माध्यम अधिक समर्थ और व्यापक है। यह समर्थता और व्यापकता भाषा का सामान्य गुण है। इसीलिए साहित्य और संस्कृति की सबसे अधिक समृद्धि भाषा के द्वारा हुई है। भाषा का माध्यम एक मात्र काव्य का अधिकार नहीं है। साहित्य के अन्य रूप भी भाषा के माध्यम से विकसित हुए हैं। अतः जहाँ एक ओर काव्य के माध्यम की समर्थता और व्यापकता काव्य कला को अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक समर्थ बनाती है, वहाँ दूसरी ओर यह जानना भी आवश्यक है कि साहित्य के अन्य रूपों में भाषा के प्रयोग की तुलना की दृष्टि से काव्य में भाषा का प्रयोग किस प्रकार भिन्न है? माध्यम की दृष्टि से भाषा की समर्थता और व्यापकता का कारण शब्द में अर्थ का अन्वय है। यह अर्थ का अन्वय शब्द की अभिव्यक्ति को माध्यम के अन्य रूपों की अपेक्षा व्यापक बनाने के साथ-साथ चेतना के संस्कारों और स्मृति की धारणा में उसके तात्पर्य को स्थायी बनाता है। अर्थ के स्थायी संस्कार व्यक्ति और समाज की चेतना में एक परम्परा बनकर संस्कृति के वाहक बनते हैं।

शब्द का यह प्रयोग साहित्य के सभी रूपों में समान है। इसलिए 'साहित्य' कलाओं के साथ साथ संस्कृति का भी महत्वपूर्ण अंग बन गया है। वस्तुतः 'साहित्य' संस्कृति का इतिहास और स्वरूप दोनों ही है। इसके विपरीत कलाओं में केवल संस्कृति का स्वरूप ही साकार होता है। उनकी परम्परा में वह पौर्वापर्य क्रम नहीं है जो उन्हें सजीव इतिहास का रूप दे सके। इसके अतिरिक्त रूप-प्रधान होने के कारण ये कलाएँ लोक में इतनी अधिक प्रचलित भी नहीं जितना कि काव्य अथवा सार्थक संगीत है जो काव्य के अत्यन्त निकट है। भारतीय परम्परा में 'साहित्य' का प्रयोग काव्य अथवा अर्थ युक्त शब्द के माध्यम में साकार होने वाली नाटक आदि

कलाओं के अर्थ में हुआ। 'साहित्य का आधुनिक प्रयोग अत्यन्त व्यापक है। काव्य, नाटक आदि के अतिरिक्त उसमे विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि सभी प्रकार की रचनायें सम्मिलित हैं, जिनका माध्यम सार्थक शब्द है। यह स्पष्ट है कि इन सबको कला की परिभाषा के अन्तर्गत नही समेटा जा सकता। कला का लक्ष्य सौन्दर्य है। विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि का सौन्दर्य से कोई प्रयोजन नही होता। उनका एकमात्र प्रयोजन सत्य का अनुसधान होता है। मनुष्य ही इस सत्य का अनुसधान करता है और सम्भवत मनुष्य जीवन मे इस सत्य का प्रयोजन भी है। किन्तु विज्ञान और शास्त्रो मे एक तटस्थ भाव से उदासीन रूप मे सत्य का निर्णय किया जाता है। इस भाव को और स्पष्ट करके यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और शास्त्र सत्य के अनुसधान और उद्घाटन हैं। इनके विशारद सत्य का निर्माण नही करते। **दूसरे अर्थों में विज्ञान और शास्त्र रचनात्मक नहीं है।**

काव्य के अतिरिक्त व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त 'साहित्य' के अन्य रूपो को पृथक करने के लिए उनके सामान्य लक्षण इस प्रकार हैं। **व्यापक साहित्य के विज्ञान, शास्त्र आदि अगो का प्रयोजन सत्य का उद्घाटन है, सौन्दर्य का सृजन नहीं है।** कला और सौन्दर्य का विवेचन करने वाले शास्त्र भी रचनात्मक नही वरन् अन्य शास्त्रो के समान ही कला और सौन्दर्य के स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। मानवीय चेतना का धर्म होते हुए भी जीवन के प्रयोजन से इनका आवश्यक सम्बन्ध नही। **ज्ञान को समृद्ध बनाना तो इनका उद्देश्य है किन्तु जीवन को समृद्ध बनाना इनके ध्येय का अग नहीं है।** मानवीय जीवन सम्बन्धी विज्ञान और शास्त्र भी सामाजिक सत्य का उद्घाटन करते हैं। **वे न अपने स्वरूप में रचनात्मक है और न समाज की रचनात्मक योजना उनका ध्येय है।** सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि 'कला' साहित्य के **प्राचीन और नवीन, सीमित और व्यापक प्रयोगो की विभाजक है। सौन्दर्य का साधक रचनात्मक साहित्य 'कला' है** और कला के समान ही यह जीवन को समृद्ध बनाता है। शब्द के माध्यम मे मूर्त होने वाली यह 'साहित्य कला' एक ओर समस्त विज्ञानो, शास्त्रों और दर्शनो की अर्थ-सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी है तथा दूसरी ओर शब्द की व्यापक सामर्थ्य के कारण उसे सभी कलाओं की रूप-विभूति प्राप्त है। जिसे काव्य शास्त्र की परम्परा मे कवि का महान् भार कहा गया है, वह उसका गौरव भी है। **कला और ज्ञान, सौन्दर्य और सत्य की दो महान् विभूतियों का उत्कृष्टतम समन्वय होने के कारण साहित्य अथवा काव्य कला और सस्कृति का**

सबसे अधिक सम्पन्न रूप है। जिस समात्मभाव को हमने कला का रूप माना है वह सौन्दर्य के साथ साथ शिवम् का भी लक्षण है। अत काव्य मे सौन्दर्य के साथ-साथ श्रेय का भी समन्वय है। यह श्रेय काव्य का बहिर्गत लक्ष्य नहीं वरन् उसके स्वरूप से एकाकार है। सत्य, सौन्दर्य और श्रेय का उत्कृष्टतम समन्वय होने के कारण काव्य कला और सस्कृति का सबसे अधिक सम्पन्न रूप है।

'साहित्य' अथवा 'काव्य' पद का प्राचीन और सीमित प्रयोग भी बहुत व्यापक है। जिसे छन्दोवद्ध अथवा सगीत की लय से युक्त रचना कहते हैं, उसके अतिरिक्त गद्य, नाटक आदि भी साहित्य अथवा काव्य की प्राचीन परिभाषा मे सम्मिलित हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा में साहित्य और काव्य पदो का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। 'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण, के नाम भिन्न हैं किन्तु उनमें एक ही विषय का विवेचन है। सामान्यत नाटक, साहित्यिक गद्य आदि सबको काव्य के अन्तर्गत माना गया है। इस दृष्टि से 'साहित्य' शब्द 'काव्य' का पर्याय है। दूसरी ओर काव्य एक कला है। कला का सामान्य स्वरूप सौन्दर्य का समानार्थक है। अत हम इसे विकल्प से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अथवा अभिव्यक्ति का सौन्दर्य कह सकते हैं। अभिव्यक्ति प्रधानत रूपात्मक है। कला में रूप की ही प्रधानता होती है, चाहे तत्व का अल्प आधार आवश्यक माना जाये अथवा नहीं। काव्य मे तत्व और अभिव्यक्ति दोनो का समन्वय है। यही उसकी सम्पन्नता का रहस्य है। काव्य का माध्यम 'शब्द' अर्थ-तत्व का सबसे समर्थ और व्यापक वाहन है। यदि रूप और तत्व, सौन्दर्य और अर्थ के समन्वय को काव्य का लक्षण माना जाये तो वह साहित्य के नाटक आदि रूपो मे भी व्याप्त है। इसलिए भारतीय आचार्यों ने इन्हे काव्य के अन्तर्गत माना है। तथा शब्द और अर्थ के 'सहित भाव' मे काव्य का लक्षण स्थापित किया है। अभिव्यक्ति का सौन्दर्य विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि से कला और काव्य का विभेदक है। सौन्दर्य रचनात्मक है। अत रचनात्मकता भी इस विभेदक के अन्तर्गत है। अभिव्यक्ति के रूप-सौन्दर्य मे अर्थ-तत्व का समन्वय अन्य कलाओ की तुलना मे काव्य की विशेषता है।

सामान्यत काव्य के अन्तर्गत नाटक आदि साहित्य के अनेक सृजनात्मक रूप हैं, जिनके साथ काव्य की समानता भी है, किन्तु साथ ही इनमे कुछ अन्तर भी है। दूसरी ओर विज्ञान, शास्त्र और दर्शन मे भी शब्द के माध्यम से अर्थ का आधान होता है। अत यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। एक तो यह है कि शब्द के माध्यम

से अर्थ की सौन्दर्य-पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाले काव्य के विभिन्न रूपों में क्या अन्तर है। दूसरा यह कि शब्द के माध्यम से अर्थ का आधान करने वाले विज्ञानों, शास्त्रों आदि की तुलना में काव्य की क्या विशेषता है। दूसरे प्रश्न का विवेचन पहले करना उचित है, क्योंकि वह काव्य को अन्य शब्द साहित्य से पृथक करता है। शब्द का अर्थ निमित्त मात्र है। इतना अवश्य है कि शब्द की अद्भुत सामर्थ्य के कारण उसमें अभिव्यक्ति की समृद्ध शक्तियाँ विकसित हुई हैं। शब्द की इस शक्ति के कारण ही शब्द दर्शन में शब्द को ब्रह्म माना गया है। यहाँ शब्द और अर्थ एक अध्यात्म में एकात्म हो जाते हैं। किन्तु यदि उनके व्यवहारिक भेद को स्वीकार करके हम उनके सम्बन्ध पर विचार करें तो हमें इस सम्बन्ध के दो रूप दिखाई देते हैं। परम्परा में ये रूप शब्द की शक्तियों के नाम से विख्यात हैं। उन्हें हम परम्परा की भाषा में अभिधा और व्यजना कह सकते हैं। 'अभिधा' शब्द और अर्थ के अभिप्राय की तुल्यता है। उसका एक निश्चित और सामान्य रूप होने के कारण वह सत्य और यथार्थ की अभिव्यक्ति करती है तथा विज्ञान, शास्त्र आदि के अधिक अनुरूप है। शब्द-शक्ति अथवा अभिव्यक्ति के दूसरे रूप में शब्द और अभिप्राय की यह तुल्यता नहीं होती। इस अभिव्यक्ति में अर्थ का एक अनिश्चित अतिशय रहता है। यही अतिशय ध्वनि अथवा व्यजना का विषय है। लक्षणा में भी यह समान होने के कारण लक्षणा का इसी में अन्तर्भाव है। व्यजना और ध्वनि अभिव्यक्ति की बोधक हैं। अर्थ-तत्व की दृष्टि से हम इस अतिशय को 'आकृति' कह सकते हैं। पश्चिमी आचार्य इस आकृति की विशेषता और व्यक्तिमत्ता पर जोर देते हैं। किसी सीमा तक यह सत्य है, किन्तु केवल इनमें सीमित होकर यह आकृति व्यर्थ हो जायगी। चेतनाओं के संवाद और समात्मभाव में ही इस आकृति की सफलता है। समात्मभाव का सम्प्रेषण ही आकृति की समृद्ध अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। आकृति में अर्थ की व्यापकता होती है। इस अतिशय के कारण अनेक व्यक्ति अनेक रूपों में और अनेक धरातलों पर इस अतिशय की अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का आस्वादन कर सकते हैं। आकृति में अर्थ की विस्तारशील अतिशयता ही कलात्मक सौन्दर्य की विशेषता है। शब्द के माध्यम से अर्थ की निश्चित अभिव्यक्ति करने वाले विज्ञान, शास्त्र आदि से काव्य का पार्थक्य इसी आधार पर किया जा सकता है।

आकृति के अतिशय की अभिव्यक्ति कला के सभी रूपों और माध्यमों में होती है। जिन कलाओं में ऐन्द्रिक रूप की प्रधानता होती है, उनका अर्थ-तत्व प्रत्यक्ष के

अनुरूप है। इन कलाओं का प्रत्यक्ष से वही भेद है, जो अभिधान का आकृति से है। एक में अभिव्यक्ति और अभिप्राय की तुल्यता है, दूसरे में व्यजना का अतिशय है। जिन कलाओं के माध्यम ऐन्द्रिक रूप हैं उनमे व्यजना का यह अतिशय ही सौन्दर्य का विधायक है। चित्र, सङ्गीत, आदि में प्रकाश वर्ण स्वर आदि के वैज्ञानिक मूल्य के अतिरिक्त जो अतिशय है उसी में उनका कलात्मक सौन्दर्य निहित है। काव्य में शब्द के माध्यम से यह आकृति का अतिशय अभिव्यक्त होता है। नाटक, गद्य, कथा आदि मे वर्तमान होने पर यह इनको भी काव्य की कोटि म ले आता है। प्राय छन्द, लय आदि से युक्त रचना को कविता कहा जाता है। किन्तु यह भेद कृत्रिम है। सस्कृत साहित्य मे गद्य भी काव्य है। कादम्बरी की प्रतिष्ठा इसका उदाहरण है। लय भी सम्भवत काव्य का आवश्यक अग नहीं है। अथवा लय को हमे एक व्यापक अर्थ मे ग्रहण करना होगा। लय को महत्व देने पर कविता के प्रचलित रूप का गद्य, नाटक आदि से भेद सम्भव हो जाता है। कविता का प्रसिद्ध रूप लय-युक्त व्यजना है। कथा मे यह लय जीवन की कालगति का रूप ग्रहण कर लेती है और मुखर अथवा स्थूल होने की अपेक्षा सूक्ष्म अथवा व्यापक अधिक हो जाती है। नाटक मे जीवन की कालगति अधिक सजीव और स्फुट हो जाती है। इस प्रकार कविता, नाटक गद्य आदि काव्य के रूपो का भेद किया जा सकता है। किन्तु यह भेद भी कृत्रिम है। साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है। इतिहास मे नाटक और कथाओ मे कविता का समन्वय है। शेक्सपीयर और कालिदास इसके उदाहरण हैं। प्रबन्ध काव्य मे कथा और जीवन की कालगति तथा व्यजना दोनो का समन्वय होता है। इसलिए प्राचीन साहित्य मे प्रबन्ध-काव्य अधिक प्रतिष्ठित रहे। गेटे का 'फाउस्ट' प्रबन्ध काव्य और नाटक का समन्वय है। किन्तु कविता के किसी रूप की लय जीवन की लय से रहित नही होती। अत कविता, नाटक, कथा आदि का भेद औपचारिक तथा गौण प्रधान भेद से ही है। जिस प्रकार माध्यम के रूपो की दृष्टि से काव्य सब कलाओ मे अधिक सम्पन्न है, उसी प्रकार अर्थ अथवा आकृति के बहु-रूप तत्व भी काव्य मे समाहित हो सकते हैं। इस समाधान से काव्य का समृद्ध रूप निर्मित होता है। दान्ते की 'डिवाइन कौमेडी', तुलसीदास का 'रामचरितमानस' तथा जयशकरप्रसाद की 'कामायनी' इस समृद्ध काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। इनमे चित्रकला के रूप, नृत्य की सजीवता, कथा के क्रम आदि सभी तत्वो का समन्वय है। काव्य का यह समृद्ध और समन्वित रूप कला का उत्कृष्टतम उदाहरण है।

कला और साहित्य के अनेक रूपों के कारण 'काव्य जीवन और संस्कृति का एक अत्यन्त समर्थ तथा सम्पन्न रूप है। व्यंजना और आकृति की विशेषता उसकी शक्ति को समृद्ध बनाती है। साथ ही सौन्दर्य में श्रेय का समन्वय होने के कारण उसकी महिमा बढ़ और जाती है। 'सौन्दर्य' रचना है, किन्तु 'श्रेय' रचनात्मक है। श्रेय रचना होने के साथ रचना की प्रेरणा भी है। सौन्दर्य हमें आल्हादित करता है, किन्तु श्रेय हमें जीवन निर्माण की प्रेरणा देता है। शास्त्र और दर्शन में निर्माण के आदर्श बुद्धि के प्रकाश में उद्घाटित होते हैं, किन्तु जीवन की प्रेरणा नहीं बनते। प्रेरणा बुद्धि का नहीं, आत्मा का लक्षण है। समात्मभाव के सौन्दर्य और आकृति की व्यंजना में अन्वित होकर काव्य का श्रेय आत्मा से एकाकार हो जाता है। प्रचलित भाषा में हम इसे अर्थ में भावना का समन्वय कह सकते हैं। काव्यप्रकाशकार के 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' का यही तात्पर्य है। प्राकृतिक परिधि की रचनाओं और क्रान्तियों की प्रेरणा अन्य साहित्य से भी मिल सकती है, किन्तु सांस्कृतिक निर्माण और क्रान्ति की प्रेरणा समात्मभाव, अर्थ, आकृति और सौन्दर्य से सम्पन्न काव्य ही बन सकता है।

अध्याय ८

सत्यं शिव सुन्दरम् से काव्य का सम्बन्ध

सत्य शिव और सुन्दरम के स्वरूप और अन्य कलाओ की तुलना मे काव्य के महत्व के विवेचन के बाद सत्य शिव सुन्दरम के साथ काव्य के सम्बन्ध का निरूपण उपयुक्त होगा। **काव्य कला का सबसे समृद्ध और सबसे अधिक सास्कृतिक रूप है। इसका कारण यह है कि काव्य में अन्य सभी कलाओ के माध्यमो का किसी सीमा तक समाहार सम्भव है।** शब्द के माध्यम की इस व्यापक क्षमता के अतिरिक्त काव्य मे अर्थ का समन्वय कला और सस्कृति के सस्कारो को स्मृति की धारणा मे अमर बनाकर सस्कृति की परम्परा के स्थायित्व का साधक बनता है। अन्य कलाओ की भाति रचना होने के साथ-साथ काव्य रचनात्मक भी है। 'कान्ता सम्मिततया उपदेश युजे' के अनुरूप काव्य जीवन और सस्कृति की सृजनात्मक प्रेरणा भी है। **इन विशेषताओ के कारण काव्य कला और सस्कृति का सबसे समृद्ध और उत्कृष्ट रूप है।**

काव्य के स्वरूप निरूपण मे हमने उसे जीवन की रस भागीरथी कहा है। यह काव्य की भाषा मे ही काव्य की परिभाषा है किन्तु बौद्धिक परिभाषाओ की अपेक्षा इस व्यजनामय निर्देश मे काव्य का सम्पूर्ण रूप अधिक मार्मिकता और सजीवता के साथ व्यजित हुआ है। **रस काव्य का तत्व है और प्रवाह उसका रूप है। सत्व के उज्ज्वल हिमालय से जीवन के भागो की ऊष्मा के सम्पर्क से सहस्र धाराओं में निष्यदित होकर कविता को रस-भागीरथी जीवन की भाव-भूमि को अभिसिंचित करती है।** उसके रस सम्पोषण से ही सस्कृति के तीर्थ, खेत और नन्दन निर्मित एव विकसित होते हैं। काव्य का रस अमृत और आनन्दमय है जैसा कि भागीरथी का जल है। स्वय अविकारी होने के साथ साथ वह विकारो का नाशक और स्वास्थ्य का साधक है। सामान्यत सभी कलाओ मे प्रवृत्तियो के उन्नयन और सस्करण की क्षमता मानी जाती है किन्तु काव्य के माध्यम मे अन्य कलाओ की तुलना मे ऐन्द्रिकता कम और अर्थ का समन्वय अधिक होने के कारण यह शक्ति सबसे अधिक है। **अन्य कलाओ का उपयोग रजन में**

ही अधिक हुआ है, इसके विपरीत कविता जीवन के संस्कार, निर्माण और विकास की प्रेरणा रही है। इस प्रकार जीवन की रस-भागीरथी के रूपक मे काव्य के तत्व, रूप और प्रयोजन तीनो का व्यजनामय निर्देश है।

सत्य, शिव और सुन्दरम् को मौलिक साम्कृतिक मूल्य माना जाता है। इनमे सामान्यत 'सत्य' विज्ञान और दर्शन का, 'शिवम्' शास्त्र का तथा 'सुन्दरम्' कला का लक्ष्य माना जाता है। किन्तु संस्कृति के पूर्ण रूप मे तीनो का सगम है। सत्य की कुछ आध्यात्मिक और परिपूर्ण कल्पनाओ मे भी संस्कृति के समान ही इन तीनो मूल्यो का समाहार है। एक सीमा तक इन तीनो को विविक्त रूप मे समझना सम्भव है और इसी सम्भावना के आधार पर विज्ञान, दर्शन, नीति और कलाओ का विकास होता है। किन्तु संस्कृति और चेतना के क्षेत्र मे विभाजन औपचारिक ही है। एक सीमा तक ही इनकी उपयोगिता और सार्थकता है। चेतना और संस्कृति दोनो ही जीवन के समृद्ध रूप हैं जिनके पूर्ण स्वरूप मे अनेक पक्षो का समाहार है। किन्तु भेद के साथ-साथ उन पक्षो मे एकता और अन्वय भी अपेक्षित है। एकता के सूत्र के बिना संस्कृति की कल्पना इन अनेक पक्षो मे विशृखल हो जायेगी। कला के क्षेत्र मे इस समन्वय का सबसे समर्थ और सम्पन्न प्रतिनिधि होने के कारण काव्य कला का सबसे समृद्ध रूप है।

यह एकता और समन्वय काव्य का लक्ष्य नहीं वरन् उसका स्वरूप ही है। इस समन्वय का सिद्धान्त काव्य के निर्माण में ही निहित है। काव्य अन्य कलाओ के शुद्ध रूपो की भाँति केवल रूपात्मक नहीं है और न अन्य कलाओ के सामान्य रूपो की भाँति उसमें रूप की प्रधानता ही है। काव्य में रूप और तत्व का समान भाव से समन्वय है। इस समन्वय से युक्त काव्य ही श्रेष्ठ काव्य है। कला का विशेष रूप सौन्दर्य है। सौन्दर्य एक रूपात्मक कल्पना है, वह तत्व और प्रयोजन से उदासीन है। सौन्दर्य एक अन्तिम मूल्य है। वह स्वय अपना साध्य है, अन्य किसी लक्ष्य का साधन नही। उसे सत्यम् अथवा शिवम् का अग अथवा उनका साधन नही बनाया जा सकता। अधिक से अधिक इन्हे सौन्दर्य के समान गौरव दिया जा सकता है। अन्तिम होने के कारण तीनो ही मूल्यो का समान महत्व है। कोई किसी का आधीन या आश्रित नहीं हो सकता। काव्य अथवा संस्कृति में इनका समन्वय मुख्य-गौण सम्बन्ध से नहीं वरन् समभाव के सम्बन्ध से उचित है। इस दृष्टि से काव्य जीवन को रस भागीरथी ही नहीं

[illegible]

[illegible]

[illegible]

लक्षण है। कला का भावात्मक लक्षण अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। कलाओं के इतिहास में भी अभिव्यक्ति और सौन्दर्य को कला की सम्पूर्णता मानना उचित नहीं है। इस अभिव्यक्ति में कलाओं ने जीवन की यथार्थताओं और सम्भावनाओं को रूप देने का प्रयत्न भी किया है। जीवन के सूक्ष्म और मार्मिक सत्यों का अन्तर्भाव कला के रूपात्मक सौन्दर्य को संस्कृति की व्यापक कल्पना में समन्वित करता है। इतना अवश्य है कि तत्व का यह समन्वय सभी कलाओं में समान रूप से नहीं हुआ है। यह भी कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति या सौन्दर्य ही कला का मूल स्वरूप होने के कारण तत्व का पक्ष कला में गौण रहा है और वह इसके प्रति अधिक सजग नहीं रही है। दूसरे चित्र, संगीत आदि कला के कुछ मुक्त रूपों में ऐन्द्रिक सम्वेदना की प्रधानता होने के कारण संस्कृति की रचनात्मक प्रेरणा की अपेक्षा प्रकृति के रंजन में उसकी रुचि अधिक रही है। फिर भी जीवन के यथार्थ और संस्कृति की सम्भावनाओं को साकार करके संस्कृति के विकास में योग देने का बहुत कुछ श्रेय कला को देना होगा। इतना अवश्य है कि अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की तुलना में कला का यह पक्ष गौण रहा है।

इसका कारण केवल कला का स्वरूप ही नहीं उसके माध्यमों के विशेष गुण भी हैं। कलाओं के माध्यम ऐन्द्रिक हैं। ऐन्द्रिक रूपों में ही कला की बाह्य अभिव्यक्ति होती है। इन्द्रियाँ अपने अनुरूप गुणों का ग्रहण करती हैं और उनमें अपना रंजन खोजती हैं। अनुकूल संवेदना होने के कारण हम इस रंजन को 'सुख' कह सकते हैं। इन्द्रियों के ये गुण पदार्थों के गुण हैं। इन्द्रियों की गति भी बहिर्मुखी है। कठ उपनिषद के अनुसार विधाता ने इन्द्रियों को स्वभाव से ही बहिर्मुखी बनाया है।[२] कला की बाह्य अभिव्यक्ति में बाह्य और ऐन्द्रिक विषयों का प्रसंग रहता है। चित्रकला में यह प्रसंग अधिक स्पष्ट होने के कारण प्राचीन ग्रीक आचार्य कला को अनुकरण मानते थे। चित्र प्रकृति के बाह्य पदार्थों की अनुकृति है। अन्य कलाओं में बाह्य विषयों का अनुषंग चित्रकला के समान नहीं है। उदाहरण के लिए संगीत का बाह्य विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक स्वतंत्र स्वर-योजना है। किन्तु संगीत का स्वर भी एक इन्द्रिय-ग्राह्य गुण है। अतः बाह्य विषय से सम्बन्ध न होते हुए भी ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं से उसका सम्बन्ध स्पष्ट है। नृत्यकला का विषय आंगिक गति की लय है। बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में वह भी ऐन्द्रिक सम्वेदना का विषय है। काव्य

मे भी दृश्य अथवा मुखर शब्द का आधार रहता है अत ऐन्द्रिक सम्वेदना से पूर्णत स्वतन्त्र वह भी नही है।

अस्तु, न्यूनाधिक मात्रा में ऐन्द्रिक सम्वेदना सभी कलाओ का आधार है। सम्वेदना की अनुकूलता सुख का कारण है। कलाओ के ऐन्द्रिक माध्यमो मे सम्वेदना के सुख का सृजन किया जाता है। इसीलिए न्यूनाधिक मात्रा मे सभी कलायें रजन का साधन रही। **किन्तु यह कलाओ का यथार्थ रूप नहीं है। कला का यथार्थ रूप वह है जिसमें कला ही साध्य है।** यदि कला का रूप ऐन्द्रिक है तो सुख उसके स्वरूप का अग अथवा उसका सहज फल हो सकता है। किन्तु कला का रूप ऐन्द्रिक मानने पर उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को कला का प्रतिनिधि मानना होगा। अनेक विद्वान् कला को एक आत्मगत और आन्तरिक अनुभूति अथवा कल्पना मानते हैं। विषय के ऐन्द्रिक गुण और बाह्य अभिव्यक्ति के ऐन्द्रिक रूप कला के आवश्यक अग नही हैं। उनकी दृष्टि म वे गौण उपचार हैं। जिस अनुभूति अथवा कल्पना को वे कला का स्वरूप मानते हैं उसमे विषय, बाह्यता और ऐन्द्रिकता का प्रसग आवश्यक नही है। इस आत्मगत कलानुभूति के विषय बाह्य और ऐन्द्रिक नही होते। क्रोचे और कौलिङ्गवुड के मत मे कलात्मक चेतना अपनी स्वतन्त्र क्रिया के द्वारा अपने विषयो की सृष्टि करती है।[3] मानो बाह्य जगत से विमुख होकर अन्तर्मुखी आत्म जगत म विलीन होना ही कला है। बाह्य विषयो के दर्शन आदि मे भी हम जो सौन्दर्य विभासित होता है उसकी स्थिति को भी कौलिङ्गवुड ने कलात्मक कल्पना के अनुरूप ही बताया है। यह सौन्दर्य तभी विभासित होता है जबकि बाह्य विषय हम अपनी सृजनात्मक चेतना की रचना और अभिव्यक्ति प्रतीत होने लगते हैं। बाह्य और स्वतन्त्र रूप म विषयो का प्रसग न होने के कारण कला की इस कल्पना मे सत्य और मिथ्या का भेद नही है। कौलिङ्गवुड के अनुसार कला सत्य और असत्य की धारणाओं के प्रति उदासीन है।

इस दृष्टि से बाह्य यथार्थ के रूप में सत्य का कला में कोई स्थान नहीं। यह कल्पना करना कठिन है कि कलात्मक अनुभूति मे विषय का उद्भावन किस रूप मे होता है। बाह्यता के लिए तो इसमे स्थान नही है, किन्तु ऐन्द्रिक गुणो से विषय की कल्पना को मुक्त करना कठिन है। ऐन्द्रिक गुणो मे रहित विषय की कल्पना नहीं की जा सकती। अतीन्द्रिय विषय पदार्थों के प्रतिरूप नही हो सकते। चिन्मय भाव ही कदाचित आन्तरिक कल्पना के विषय बन सकते हैं। सम्भवत ये ही भाव

कला के विषय हैं। किन्तु ये विषय रूपात्मक न होकर भाव-तत्व के रूप मे होंगे। कलाओं की बाह्य अभिव्यक्ति की ऐन्द्रिकता के साथ इन भाव-तत्वों की विषमता के कारण कला के आन्तरिक और बाह्य रूप की संगति कठिन है। किन्तु ये भाव-तत्व भी एक सूक्ष्म अर्थ मे सत्य कहे जा सकते हैं। सत्य का समग्र रूप बाह्य और ऐन्द्रिक यथार्थ ही नहीं है, चिन्मय भाव भी उसके अन्तर्गत है। किन्तु सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे ही ये भाव सत्य की परिभाषा के अन्तर्गत माने जाते हैं। क्रोचे और कौलिङ्गवुड के अनुसार बाह्यता के समान ही सामान्यता का भी कला मे कोई स्थान नही है। उनके मत मे कला एक व्यक्तिगत अनुभूति अथवा कल्पना है। व्यक्तिगत अनुभव ही उसका स्वरूप और सत्य है। कला अपने इसी स्वरूप मे पूर्ण है। बाह्य यथार्थ और सामान्य सिद्धान्तो के साथ संगति कला की आकांक्षा नही है। बाह्य और ऐन्द्रिक माध्यम मे अभिव्यक्ति भी उसके लिए एक गौण उपचार मात्र है। कला के इस स्वरूप का सत्य केवल अपना आन्तरिक अनुभूतिमय स्वरूप है। इस सत्य को भी सत्य कहना कठिन है क्योंकि यह भी सम्भवत सत्य और असत्य के भेदो से अतीत एक निरपेक्ष भाव है।

यह कला का एकान्त और आन्तरिक रूप है। क्रोचे से प्रभावित विचारको का मत है कि कलाकार अपनी कल्पना मे इसी रूप म सौन्दर्य का उद्भावन करता है। कला के अनुरागियो मे इसी स्थिति के साथ एकात्मभाव के द्वारा इस सौन्दर्य की आवृत्ति होती है। कलाकार की सृष्टि के अतिरिक्त भी साधारण जीवन मे कला के सौन्दर्य का साक्षात्कार इसी रूप मे होता है। आदिमवासियो और बच्चो के उदाहरण इस प्रसंग मे दिये जाते हैं। किन्तु कलात्मक अनुभूति और कल्पना का यह रूप हमारे साधारण व्यवहार और अनुभूति की तुलना में असाधारण प्रतीत होता है। कल्पना की केन्द्रीयता व चित्त के समाधान द्वारा कुछ काल के लिए ऐसी स्थिति प्राप्त की जा सकती है, किन्तु इसे व्यवहार के जीवन मे स्थायी नही बनाया जा सकता। व्यवहार की बाह्यता और सापेक्षता मे इसकी आन्तरिकता और आत्म-लीनता का वैषम्य है। अत दोनो की संगति संभव नही। यदि क्रोचे के मत मे यह संगति सहज और मान्य होती तो कला की बाह्य अभिव्यक्ति को, जो व्यवहार के अनुरूप है, केवल उपचार मानना उचित न था। आदिमवासियो की कला एकान्त और आत्मलीन कल्पना नहीं है वह एक सामाजिक भाव का सौन्दर्य है, जिसे हम समात्मभाव की सम्भूति कह सकते हैं। बालकों के जीवन मे कलात्मक कल्पना और

व्यवहार की एक सहज और स्थाई सगति दिखाई देती है। जीवन की बाह्यता, यथार्थता और अनेकता का कलात्मक कल्पना के साथ एक अद्भुत और अनायास सामजस्य बाल्य जीवन मे रहता है किन्तु यह सामजस्य अनुभूति की व्यक्तिनिष्ठता और कल्पना की आत्मलीनता से प्राप्त नही होता। **इस सामजस्य की भूमिका वही समात्मभाव है जिसे हमने कला और साहित्य का मूल मन्त्र माना है। यह समात्मभाव एकाधिक चिद् बिन्दुओ के परस्पर भाव-सम्प्रेषण से प्रसूत एक अद्भुत और आन्तरिक सम्बन्ध है।** इस अदभुत सम्बन्ध मे एकता अनेकता के सौन्दर्य और वैभव को तथा अनेकता एकता के भाव और मर्म को समृद्ध बनाती है। इस समात्मभाव मे कल्पना का भी योग है किन्तु वह आत्मलीनता के रूप मे नही वरन् आत्मविस्तार के रूप मे है। बालको मे प्रकृति की प्रधानता के कारण स्वार्थ की भावना होती है मनोविज्ञान का यह आग्रह सत्य है। किन्तु साथ ही उनकी चेतना के विकासशील संस्कार उनके जीवन का एक अधिक महत्वपूर्ण और प्रगतिशील सत्य है। वे अकेले प्रसन्न नही रहते। सगी साथियो के बीच ही उनके क्रीडा और कला के व्यवहार होते हैं। आरम्भ की असमर्थ अवस्था मे भी उन्हे यह सग प्रिय होता है। **अत सास्कृतिक दृष्टि से समात्मभाव को ही उनके स्वभाव का महत्वपूर्ण पक्ष तथा उनके क्रीडा और कला का आधार मानना उचित है।** युवावस्था तक इसी भाव का उत्कर्ष होता है। उपनिषदो म बाल्यभाव को आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य माना है। ऋषियो का अभिप्राय सभवत बाल्य की सरलता और निश्छलता के अतिरिक्त बाल्य के इसी समात्मभाव से भी रहा होगा। **यौवन में जहां एक ओर प्रकृति अपने प्रबलतम उत्कर्ष को प्राप्त होती है वहां दूसरी ओर समात्मभाव की सास्कृतिक सम्भावनायें भी अपनी पूर्ण समृद्धि को पहुंच जाती हैं। यौवन में दोनो का समुचित सामजस्य ही संस्कृति का सर्वोत्तम लक्ष्य है।**

बाल्य जीवन मे जीवन के यथार्थ की अपेक्षायें कम होती हैं क्योकि जीवन के उत्तरदायित्व कम होते हैं। अत सभव है बाल्य मे यथार्थ की अपेक्षा कल्पना की प्रधानता रहती है। किन्तु अनेकता के यथार्थ की उपेक्षा बाल्य मे भी नही होती। यौवन म यथार्थ की बाह्यता और अनेकता का कलात्मक कल्पना और सौन्दर्य से समृद्धतम सामजस्य होता है। जिस यौवन को यथार्थ से पलायन और कल्पना के अनुराग मे लक्षित किया जाता है वह मनोविलास यौवन का रुग्ण रूप है, यौवन का स्वस्थ रूप नहीं। **स्वस्थ यौवन में अनुराग के साथ ओज का भी पूर्ण प्रकर्ष होता**

है, स्नेह में साहस का समन्वय होता है। योरप के युवक शौर्य' (शिवैलरी) का युग तथा भारतवर्ष के राजपूत काल में यह समन्वय इतिहास मे चरितार्थ हुआ था। यौवन का यह स्नेह और अनुराग अनेकता में समात्मभाव की प्रेरणा और कलात्मक सौन्दर्य का स्रोत है। यौवन का साहस यथार्थ की वाह्यता का स्वीकरण, उसके विरोध की सहिष्णुता और उसके साथ सामजस्य की शक्ति है। इनही दोनो भावो का समन्वय यौवन की महिमा के साथ साथ कला और सौन्दर्य का भी लक्ष्य है। समात्मभाव तो कला और सौन्दर्य के सभी रूपो का सामान्य और व्यापक लक्षण है, अत अनेकता में फलित होने वाला यह भाव जीवन में कला और सौन्दर्य का मौलिक स्रोत है। प्रसाद और माधुर्य इसके सहज सयोगी हैं। कला और काव्य में 'साहस' श्रोजं का रूप ग्रहण करता है। जिस प्रकार साहस यौवन को पूर्ण व स्वस्थ बनाता है, उसी प्रकार ओज कला और काव्य को पूर्ण तथा स्वस्थ बनाता है। इस पूर्णता और स्वस्थता में अनेकता के अन्तर्गत समात्मभाव के साथ-साथ यथार्थ की वाह्यता की स्वीकृति, उसके विरोध की सहिष्णुता और उसके साथ सामजस्य की भावना भी होती है। एक दृष्टि से साहस और ओज की इन्हीं विभूतियो के द्वारा यौवन, सौन्दर्य और कला का स्वस्थ और समृद्ध रूप वस्तुत पूर्ण होता है।

हमारे सास्कृतिक जीवन में जिन अनेक रूपों में कला और काव्य उपलब्ध होते हैं उनमें क्रोचे और उनके अनुयायियो की व्यक्तिगत तथा आत्मलीन कल्पना का आधार खोजना कठिन है। उनमें समात्मभाव का सामान्य अथवा समृद्ध रूप ही अधिक दिखाई देता है। सभ्यता की व्यवस्था तथा जीवन के सम्बन्ध और व्यवहार मे समात्मभाव के अनुरूप ही कलात्मक सौन्दर्य फलित होता है। कला और काव्य की कृतियो मे महत्व की सगति भी इसी के अनुरूप सम्भव है। यथार्थ की वाह्यता और अनेकता के रूप मे ही कलाओ का सौन्दर्य साकार हुआ है। प्रसिद्ध कलाकारो और कलाकृतियो के अतिरिक्त जीवन और सभ्यता के व्यवहार के अनेक साधारण और लघुतर रूपो में भी कला की आत्मा अवतार लेती है। छोटे देवी देवताओ की भाँति इन्हीं लघुतर रूपो की अर्चना साधारण जनता का धर्म और उसकी सस्कृति है। सौन्दर्य शास्त्र के इतिहास में कला के इन लघुतर रूपो को यथोचित महत्व नहीं दिया गया है। इसीलिए अनेक आचार्य प्रसिद्ध कलाकार के एकान्तव्यक्तित्व की महिमा के प्रभाव में व्यक्तिगत और आत्मलीन कल्पना को ही कलात्मक सौन्दर्य का मूल मानते रहे। लोक-नृत्य और लोक-गीत

इन कलाओं के अत्यन्त महत्वपूर्ण रूप हैं। इसके अतिरिक्त बच्चों के खेल खिलौने तथा देह और घर के शृंगार और सज्जा के उपकरणों में तथा हमारे दैनिक उपयोग की वस्तुओं में कला के ये लघुतर रूप साकार होते हैं। तैंतीस करोड़ देवताओं की भांति लोक कला के ये रूप भी अनन्त हैं, किन्तु अनन्त होते हुए भी इनका एक सामान्य लक्षण है। यह सामान्य लक्षण वही समात्मभाव है जिसे हमने कला और सौन्दर्य का मूल स्वरूप माना है। प्रसिद्ध कलाकृतियों की रचना चाहे कलाकारों ने एकान्त में और अकेले की हो, किन्तु लोक-कला के ये लघुतर रूप सहयोग और समात्मभाव में ही मूर्त्त हुए हैं। मूलतः ये कलायें कुलों के सहयोग-धर्म में प्रसूत और प्रचलित हुई हैं। कुम्हारों के कुल जहां मिलजुल कर मिट्टी के बर्तन बनाते हैं और उन्हें अलंकृत करते हैं वहां मिट्टी की देह में कला और सौन्दर्य की आत्मा साकार होती है। प्रजापति की सौन्दर्य-सृष्टि में कला का जो सिद्धान्त साकार हुआ है वह इस कला में प्रतिदिन चरितार्थ होता है। व्यंग्य की दृष्टि से दिया हुआ 'प्रजापति' नाम कुम्भकारों के लिए अत्यन्त सार्थक और समीचीन है। मिट्टी के खिलौनों की कला तथा अन्य अनेक लघुतर कला के रूपों में कला का यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। यदि एकान्त अनुभूति कला का सामान्य लक्षण है तो प्रसिद्ध कलाकारों की व्यक्तिगत कृतियों में भी यही लक्षण घटित होना चाहिए। व्यक्तिगत और आत्मलीन कल्पना का सिद्धान्त लोक-कला के रूपों की व्याख्या नहीं करता और न वह सांस्कृतिक जीवन के सामान्य रूप तथा कलाओं की बाह्य अभिव्यक्ति के अनुकूल है। 'समात्मभाव' कला और सौन्दर्य का एक ऐसा सामान्य लक्षण है जो कला के सभी रूपों, सभी धरातलों और सांस्कृतिक जीवन की सभी स्थितियों के मर्म का उद्घाटन करता है।

कलात्मक अनुभूति जीवन की कोई ऐसी असाधारण स्थिति नहीं है जो कुछ विशेष व्यक्तियों को, जिन्हें कलाकार कहते हैं, असाधारण परिस्थिति में अल्पकाल के लिए ही प्राप्त होती है। इसमें संदेह नहीं कि कलात्मक भावना की तीव्रता, जो महान् कृतियों की जननी है, कुछ विशेष व्यक्तियों को अल्पकाल के लिए ही प्राप्त होती है। किन्तु उसके इस असाधारण रूप तथा जीवन और व्यवहार में व्याप्त रहने वाले साधारण रूप में कोई प्रकार का भेद नहीं है। उनको केवल परिमाण, धरातल और परिप्रेक्ष का भेद है। अतः कला और सौन्दर्य का सामान्य लक्षण वही होगा जो कलानुभूति सब स्थितियों में सामान्य है। क्रोचे और उनके अनुयायियों

के अनुसार एकान्त और आत्मलीन अनुभूति अथवा कल्पना, जो बाह्यता और अनेकता के प्रसंगों से रहित है, कला का सामान्य रूप है। उनके अनुसार यह रूप कलात्मक भाव की सभी स्थितियों में व्याप्त है। किन्तु इस मत में बाह्यता और अनेकरूपता के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली कलात्मक अनुभूति का अपनी बाह्य अभिव्यक्ति के साथ समुचित सामंजस्य नहीं। उनके मत में बाह्य अभिव्यक्तियाँ उपचार मात्र हैं। पूर्णतः भिन्न होने के कारण वे आन्तरिक अनुभूति के अनुरूप नहीं, वे केवल कलानुरागियों के लिए मूल अनुभूति के उद्भावन का निमित्त बन सकती हैं। इनसे उद्भावित कलानुभूति कलाकार की मौलिक अनुभूति के समान न होगी। वह उसी के समान एक व्यक्तिगत, विलक्षण और आत्मगत अनुभूति होगी। इस प्रकार कलानुभूति एक व्यक्तिगत और विलक्षण इकाई है जिसका अन्य इकाइयों से कोई साम्य नहीं है। आत्मलीनता और विलक्षणता के कारण इन इकाइयों में सम्प्रेषण और संवाद सम्भव नहीं है। कलानुभूति अपने एकान्त और आन्तरिक रूप में पूर्ण है। एक आत्मगत अभिव्यक्ति में जिसे कौलिंगवुड ने 'कल्पना' का नाम दिया है इसका विलक्षण सौन्दर्य विभासित होता है। कलाकार अथवा कलानुरागी की चेतना एकान्त और अलक्षित भाव से इसका आस्वादन करती है।

कलात्मक अनुभूति और अभिव्यक्ति अपने इस आन्तरिक सौन्दर्य में ही परिपूर्ण है। यह सौन्दर्य ही उसका स्वरूप है। सत्यम् और शिवम् दोनों ही मूल्य इसके बहिर्गत हैं। सत्य और असत्य तथा शिव और अशिव के भेद बुद्धि और आचार के धरातल पर पैदा होते हैं, कला और सौन्दर्य की परिधि में इनके लिए स्थान नहीं है। कौलिंगवुड ने स्पष्ट किया है कि सत्य और असत्य अथवा यथार्थ और अयथार्थ के भेद का प्रसंग कलात्मक अनुभूति में नहीं होता, वह इनसे परे अथवा इनके प्रति उदासीन है।[४] सत्य की अन्य बौद्धिक और सामाजिक कोटियों का भी इसमें अवकाश नहीं है। सत्य के समान ही शिवम् का भी इसमें कोई प्रसंग नहीं है। पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र के आधुनिक आचार्यों ने सत्यम् और शिवम् से सुन्दरम् का भेद किया है और उसे एकान्त रूप से भिन्न कोटि का मूल्य माना है। सुन्दरम् अपनी स्वतंत्र महिमा में प्रतिष्ठित है। सत्यम् और शिवम् से उसकी सत्ता और स्वरूप का कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है वरन् यों कहना चाहिए कि इनसे स्वतंत्र होकर ही सौन्दर्य अपने शुद्ध रूप में विभासित हो सकता है।

जहाँ तक सुन्दरम् के मौलिक और स्वतंत्र रूप का सम्बन्ध है वहाँ तक इसमें संदेह नहीं कि वह सत्यम् और शिवम् पर निर्भर नहीं। सुन्दरम् के इसी मौलिक रूप को एकान्त और आत्मलीन चेतना की कल्पना में क्रोचे और उसके अनुयायियों ने लक्षित किया है। किन्तु सत्यम शिवम् और सुन्दरम् तीनों ही जीवन और संस्कृति के मौलिक मूल्य हैं। क्या जीवन और संस्कृति की एकता के कारण इन मूल्यों का कोई पारस्परिक और आन्तरिक सम्बन्ध नहीं? यदि ऐसा नहीं है तो कला और काव्य की आलोचनाओं में किसी भाव को असत्य और अशिव क्यों कहा जाता है? उत्तर में कहा जा सकता है कि ऐसी आलोचनाये अनधिकार हैं। ये आलोचनायें कला के बहिर्गत मानदंडों से कला का मूल्यांकन करती हैं। कलात्मक सौन्दर्य स्वयं अपना साध्य है, वह अन्य किसी लक्ष्य का साधन नहीं। कला के स्वरूप को स्वतंत्र और साध्य मानना नितान्त उचित है फिर भी यह प्रश्न शेष रह जाता है कि सत्यम् और शिवम् से उसका क्या सम्बन्ध है? बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में कलाओं का जो आकार मिलता है उसमें सुन्दरम् के साथ-साथ सत्यम् और शिवम् का भी सम्मिश्रण मिलता है। कलानुभूति को पूर्णतः आन्तरिक और आत्मलीन मानने वाले कहेंगे कि यह कला का शुद्ध और स्वतंत्र रूप नहीं है। सम्भवतः इसीलिए वे बाह्य अभिव्यक्ति को उपचार मात्र मानते हैं।

यह ठीक है कि सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का अपना स्वरूप है। वे तीनों जीवन के स्वतन्त्र और मौलिक मूल्य हैं। उनके स्वरूपों का संकर नहीं हो सकता। किन्तु कला अथवा सौन्दर्य के साथ सत्यम् और शिवम् के सुन्दरम् में समन्वय का विवेचन सौन्दर्य के स्वरूप की मौलिकता को खंडित करना नहीं है। संश्लिष्ट जीवन की संश्लिष्ट अभिव्यक्तियों में इन मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण ही इसका उद्देश्य है। इनके स्वरूपों का संकर नहीं होता क्योंकि संकर में स्वरूप अपनी मौलिक विशेषताओं को छोड़कर कुछ विकृत और भिन्न रूपों को जन्म देते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या जीवन और कला की अभिव्यक्तियों में इन मूल्यों का समन्वय नहीं होता? क्या इस समन्वय में इनके मौलिक और स्वतन्त्र रूप अपनी महिमा में एक दूसरे को मंडित नहीं करते? क्या यह समन्वय सम्भव अथवा अभीष्ट नहीं है? क्या सम्भव होने पर यह जीवन और कला को समृद्ध नहीं बनाता?

इन प्रश्नों का उत्तर इन तीनों मूल्यों के स्वरूप और लक्षण तथा विशेषतः

कला और सौन्दर्य की परिभाषा पर निर्भर है। यह स्पष्ट है कि यदि आन्तरिक और आत्मगत अनुभूति अथवा कल्पना ही कलात्मक सौन्दर्य का वास्तविक रूप है तो सत्यम् और शिवम् के साथ उसके समन्वय की कोई सम्भावना नही। कलात्मक सौन्दर्य का भाव सत्यम् और शिवम् दोनो से निरपेक्ष और उदासीन है। इनका प्रसग उपस्थित होते ही सौन्दर्य का मूल और शुद्ध रूप खण्डित हो जाता है। सत्यम् और शिवम् का प्रश्न बाह्यता और अनेकता अथवा सम्प्रेषण और सम्वाद के प्रसग मे ही उपस्थित होता है। कलात्मक सौन्दर्य के आन्तरिक और आत्मगत रूप मे इनका कोई स्थान नही। सत्य का सामान्य स्वरूप अवगति है, चाहे वह बाह्य यथार्थ का ग्रहण हो अथवा सूक्ष्म सिद्धान्तो का स्वीकरण। सत्य के अनेक रूपो मे प्रमाता और अवगति का भेद स्पष्ट होता है जो सौन्दर्य की उक्त कल्पना के साथ सगत नही। बाह्य यथार्थ और सूक्ष्म सिद्धान्तो की सामान्यता के कारण अनेक प्रमाताओ मे सत्य का सम्प्रेषण और सम्वाद होता है। सौन्दर्य के समान सत्य भी केवल एकान्त आस्वादन का विषय नहीं। वह विचार और व्यवहार की सामाजिक भूमिका में प्रतिष्ठित होता है। अनुभूतिवादी दर्शनो को छोडकर सत्य के स्वरूप को व्यवहार-मूलक अथवा बुद्धि-मूलक मानने वाले सभी विचारक सत्य को सामान्य और सम्प्रेषणीय मानते हैं। विचारकों की यह धारणा हमारे सामान्य व्यवहार के अनुकूल है। सामान्य व्यवहार मे भी हम सत्य को व्यक्तिगत नही मानते वरन् सामान्य और सम्प्रेषणीय मानते हैं।

सत्य के समान ही शिवम् की कल्पना भी व्यक्तिगत नहीं है। जो सम्प्रेषण और सम्वाद सत्य की अवगति और धारणा को व्यवहार में प्रतिष्ठित करने की भूमिका मात्र है, वह शिवम् का आन्तरिक स्वरूप है। सत्य की व्यक्तिगत अवगति सभव भी है। बाह्य यथार्थ का ग्रहण तो प्राकृतिक रूप से व्यक्तिगत ही होता है, यद्यपि व्यवहार मे यह ग्रहण सम्प्रेषण और सम्वाद का निमित्त बन गया है। किन्तु शिवम् के केवल व्यक्तिगत रूप की कल्पना ही असम्भव है। प्राकृतिक और ऐन्द्रिक सुख का प्रेय किसी सीमा तक व्यक्तिगत कहा जा सकता है, यद्यपि इसका रूप भी व्यक्तिगत सम्वेदना मे पूर्ण नही होता। शिवम् का मुख्य अर्थ श्रेय है, प्रेय नही। श्रेय का स्वरूप सास्कृतिक है। वह सामाजिक सम्प्रेषण मे ही साकार होता है। इसमे व्यक्ति के हितो का विलय नही होता, किन्तु यह पूर्णत व्यक्तिनिष्ठ नही है। सामाजिक समात्मभाव में ही

शिवम् फलित होता है। जहाँ हमने सत्यम् के मूल रूप को अवगति कहा है वहाँ शिवम् को हम आत्मदान कह सकते हैं। किन्तु यह आत्मदान सामाजिक सम्प्रेषण और आत्मभाव में ही चरितार्थ हो सकता है।

सत्यम् और शिवम् के इन स्वरूपों के साथ एकान्त और आत्मलीन सौन्दर्य की कोई संगति नहीं है। उनका समन्वय अभीष्ट हो अथवा न हो, किन्तु उनके स्वरूपों की विलक्षणता के कारण वह सम्भव हो नहीं है। यदि कला का यही वास्तविक स्वरूप है तो यह निश्चित है कि सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की तीनों धारायें त्रिपथगा गंगा के समान तीन भिन्न लोकों में प्रवाहित होती हैं, जिनमें सत्यम् का प्रवाह ही जीवन के भूलोक में है। शिवम् स्वर्लोक की आकाशगंगा का दूर और दुर्लभ प्रवाह है। किन्तु सुन्दरम् चेतना के भू-गर्भ में (पाताल में) विलीन अलक्ष्य और अन्तर्गत प्रवाह है। वे त्रिवेणी की तीन धाराओं के समान नहीं हैं, जिनका संगम संस्कृति के तीर्थराज पर सम्भव होकर जीवन के उत्सव और पर्वों का पवित्र पीठ बन सके। जीवन की सांस्कृतिक कल्पना के लिए यह धारणा कल्याणकर नहीं है। किन्तु केवल यही इसके खण्डन का आधार नहीं बन सकता। कलात्मक चेतना की वास्तविक स्थितियों के आधार पर ही सौन्दर्य के स्वरूप तथा सत्यम् और शिवम् के साथ उसके सम्बन्ध का निर्णय हो सकता है। यदि कलानुभूति और सौन्दर्य की आन्तरिक और आत्मगत कल्पना ही सत्य है तो सत्यम् और शिवम् के साथ उसके उदासीन सम्बन्ध को हमें जीवन का एक कठोर सत्य मानकर स्वीकार करना होगा। किन्तु इस कठोर सत्य के स्वीकार करने से पूर्व कला और सौन्दर्य की चेतना की वास्तविक स्थितियों का निरीक्षण आवश्यक है। यदि एकान्त और आत्मलीन अवस्था में किसी को भी कलात्मक सौन्दर्य का अनुभव हुआ हो तो उसे अपवाद के रूप में भी प्रमाण माना जा सकता है। खेद की बात है कि इस आत्मगत सिद्धान्त के प्रतिपादकों में कोई भी स्वयं कवि अथवा कलाकार नहीं है। वे सब दार्शनिक और विचारक हैं। दार्शनिकों को प्रत्याहार का अभ्यास होता है। जिन प्रत्ययों के आधार पर विचार किया जाता है वे भी प्रत्याहार ही होते हैं। यह माना जा सकता है कि कला की बाह्य अभिव्यक्ति आन्तरिक अनुभूति का अनुवाद मात्र है। किन्तु यदि अनुवाद में मूल के तात्पर्य की आंशिक छाया भी रहती है, तो असंख्य कलाकारों और कवियों की कृतियां अपने रूप और तत्व दोनों से उक्त सिद्धान्त का

खंडन करती है। 'रूप' की दृष्टि से सम्प्रेषण, सम्वाद और समात्मभाव को मानकर ही बाह्य अभिव्यक्ति के रूपों में कलाकार अपनी कल्पना को आकार देता है। 'तत्व' की दृष्टि से भी इन भावों की विभूति से ये कलाकृतियाँ परिपूर्ण है। इनके तत्व में वस्तुओं, विषयों, पशुओं और व्यक्तियों के साथ समात्मभाव और सम्प्रेषण की भावना ओत-प्रोत है।

अस्तु, यदि समात्मभाव की सभूति कला और सौन्दर्य का मूल है तो सत्यम् और शिवम् पूर्णतः कला के बहिर्गत भाव नहीं है। जो कला के सौन्दर्य को सत्यम् और शिवम् से निरपेक्ष मानते हैं उनके अनुसार कला केवल रूपात्मक है और उसका रूप भी केवल उसके माध्यम की योजना है। पूर्णतः रूपात्मक होने के कारण तत्व की दृष्टि से कला के इस दृष्टिकोण को वस्तुगत नहीं कहा जा सकता। किन्तु रूप की योजनायें वस्तुगत ही है, व्यक्तिगत नहीं। इस रूप के ग्राहक के रूप में कला में चेतना का अनुपग अवश्य है, किन्तु उसमें चेतना का कोई सृजनात्मक सहयोग नहीं। क्रोचे ने इस अभिव्यक्ति को एक चिन्मय रूप देकर अनुभूति से एकाकार बना दिया है। किन्तु इसका फल यह हुआ कि माध्यम की स्वतत्र योजना के रूप में कला के रूप की जो अभिव्यक्ति सामान्य सौन्दर्य की वाधक थी, वह अभिव्यक्ति के रूप में व्यक्तिगत बन गई है। यह सत्य है कि कलात्मक सौन्दर्य की भावना का केन्द्र व्यक्ति की अनुभूति में है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि पूर्णतः व्यक्ति के बिन्दु में केन्द्रित अनुभूति में कलात्मक सौन्दर्य की भावना का उदय सम्भव नहीं है। जहाँ कि क्रोचे और उनके अनुयायियों के मत में अनुभूति के इसी रूप में मौलिक सौन्दर्य का उदय होता है, वहाँ हमारे मत में चेतना की एक यही अवस्था सौन्दर्य के उदय का अस्थान या अनवसर है। समात्मभाव की काल्पनिक अथवा वास्तविक (इनमें अन्तर नहीं) भूमिका के पीठ पर ही चेतना, विषय, वस्तु, सबन्ध आदि की किन्ही स्थितियों में सौन्दर्य उदित होता है। सामान्य रूपात्मक योजनाओं का सौन्दर्य भी अपने आप में पूर्ण नहीं है। समात्मभाव का सम्वहन अथवा सम्प्रेषण उन रूपों की अभिव्यक्ति को आकार देकर सुन्दर बनाता है। यही सौन्दर्य को तत्वनिष्ठ तथा अन्य वास्तविक व्याख्याओं के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। समात्मभाव के प्रकाश में ही वास्तविक तत्व तथा उनके गुण और रूप सौन्दर्य के विधान बनते हैं। वस्तुतः रूप-योजना और तत्व दोनों समात्मभाव में समाहित होकर ही सौन्दर्य के व्यंजक बनते हैं। इनमें से किसी एक को सौन्दर्य का आधार मानना एकांगी दृष्टिकोण है। यदि किसी भी रूप और तत्व से

रहित केवल शुद्ध समात्मभाव की कल्पना की जा सकती है तो कदाचित वह एक ऐसी स्थिति है जिसमे सूक्ष्म और शुद्ध भाव के सौन्दर्य का उदय सम्भव है। यह सौन्दर्य का वह रूप है जो कैवल्य (एकान्त का कैवल्य नहीं वरन् शुद्ध समात्मभाव का कैवल्य जो अनेकत्व में ही सम्भव है) तथा बाह्य सम्बन्ध दोनो की स्थितियो में सम्भव और समान रूप से व्याप्त है। यह सौन्दर्य का वह आन्तरिक रूप है जिसकी बाह्य स्थितियो और अभिव्यक्तियो से पूर्ण सगति है।

इसके विपरीत एकांतिक अनुभूति, सामान्यरूप, रूप योजना अथवा तत्व आदि किसी के आधार पर निर्मित होने वाली सौन्दर्य की धारणायें एकागी हैं। वे सौन्दर्य के सभी रूपो की समुचित व्याख्या नही करती। क्रोचे का आन्तरिक अनुभूति का सिद्धान्त कला की बाह्य अभिव्यक्तियो को गौण उपचार तथा सौन्दर्य की भावना के सम्प्रेषण को असम्भव तथा अर्थहीन बना देता है। सामान्य रूप, माध्यम की योजना अथवा तत्व के गुणो मे सौन्दर्य का लक्षण मानने वाले सिद्धान्त चेतना के अनुपग को एक निष्क्रिय निमित्त बना देते हैं। वस्तुत सौन्दर्य को वस्तुगत मानने वाले सिद्धान्त सुन्दर और असुन्दर के अनिवार्य भेद से पीडित हैं। सौन्दर्य की आत्मगत धारणाओ मे ही प्रत्येक वस्तु को सौन्दर्य का वरदान देना सहज सम्भव है। वस्तुगत सौन्दर्य की कल्पनायें सौन्दर्य म चेतना के सृजनात्मक सहयोग का अवसर नही देती। समात्मभाव के सकोच तथा चेतना की सक्रियता की मन्दता की स्थिति मे भी कुछ विशेष रूप, माध्यम की योजनायें तथा तत्वो के गुण अनुकूल-वेदनीयता के विशेष प्रभाव से अपने वस्तुगत सौन्दर्य से हमे प्रभावित कर सकते हैं। यह सौन्दर्य का ग्रहणात्मक रूप है। ऐन्द्रिक माध्यमो के आधार पर ही यह सम्भव है। सौन्दर्य के सृजनात्मक रूप म चेतना का समात्मभाव और उसकी सक्रियता किसी भी रूप-योजना और तत्व को सुन्दर बनाने मे समर्थ है। सुन्दर और असुन्दर का भेद ग्रहणात्मक सौन्दर्य म ही सम्भव है। क्रोचे के सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्य सभी रूपवादी तथा वस्तुवादी सिद्धान्तो मे यह भेद अनिवार्य है। इस भेद के कारण ही ये सिद्धान्त कला और सौन्दर्य की पूर्ण तथा सतोषजनक व्याख्यायें नही हैं। हमारा तात्पर्य यह नही है कि रूप योजना और तत्व के वस्तुगत पक्ष सौन्दर्य के महत्वपूर्ण अग नही हैं। हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि केवल इन पर आश्रित सिद्धान्त सुन्दर और असुन्दर का भेद करते हैं तथा उस स्थिति की व्याख्या नही करते जिसमें चेतना की सृजनात्मक क्रिया के द्वारा प्रत्येक वस्तु और रूप सुन्दर बन

जाता है। क्रोचे की आन्तरिक अनुभूति की इन वस्तुगत पक्षों के साथ समुचित संगति नहीं है, किन्तु समात्मभाव की धारणा इनसे पूर्णतः यद्यपि संगत है। कुछ असाधारण स्थितियों में इनके तथा ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के (जो इनकी ग्राहक हैं) अभाव में भी शुद्ध समात्मभाव का सूक्ष्म और भावमय सौन्दर्य सम्भव है। किन्तु वस्तुगत रूप, गुण और तत्व के साथ उसकी पूर्ण संगति है। ये समात्मभाव के भाव सौन्दर्य के निमित्त बनकर उसे और सम्पन्न तथा समृद्ध बनाते हैं।

सौन्दर्य की व्यक्तिगत धारणाओं पर अथवा रूप, योजना, गुण और तत्व की वस्तुगत कल्पनाओं पर एकांगी भाव से आश्रित होने के कारण अधिकांश सिद्धान्त सौन्दर्य की पूर्ण और सन्तोष-जनक व्याख्या उपस्थित नहीं कर सके। सौन्दर्य के इन्द्रिय-ग्राह्य रूपों के अनुपग से अपनी कल्पना को मुक्त न कर सकने के कारण वे सौन्दर्य के आन्तरिक भाव तक न पहुँच सके। यह सत्य है कि सौन्दर्य के अधिकांश भावों में ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं का अनुपग रहता है **किन्तु ये सम्वेदनाएँ सौन्दर्य का कारण नहीं, उसके निमित्त मात्र हैं।** सामान्यतः सौन्दर्य इनमें सम्पन्न होता है, किन्तु इनके बिना भी सम्भव है। रूप, योजना, गुण और तत्व ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं पर ही मुख्यतः आश्रित हैं। ऐन्द्रिक सम्वेदना एक व्यक्तिगत व्यापार है, उसका सम्प्रेषण नहीं होता। यह प्रकृति के क्षेत्र का धर्म है और प्रकृति के नियमों से शासित है। किन्तु, सौन्दर्य एक सांस्कृतिक कल्पना है। उसमें भाव का विभाजन और विस्तार, उसका सम्प्रेषण और उसकी समृद्धि प्रकृति के नियमों के विपरीत नहीं तो उनसे भिन्न भाव में अवश्य होती है। **समात्मभाव इस सौन्दर्य की सूक्ष्म और अतीन्द्रिय भावना का मूल स्वरूप है।** अधिकांश सिद्धान्तों में ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं का आधार और व्यक्तिगत अनुभूति का आग्रह रहने का कारण यह है कि कलाओं के क्षेत्र में कला के वे रूप ही अधिक प्रसिद्ध हैं जो ऐन्द्रिक सम्वेदनाओं के माध्यमों में साकार होते हैं। इनमें चित्रकला और संगीत प्रधान हैं। **कलाओं में काव्य को प्रधानता देने पर ही समात्मभाव, सम्प्रेषण और कला के सूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय भाव-तत्व का महत्व प्रकट हो सकता है।** जहाँ चित्रकला और संगीत में ऐन्द्रिक रूप की योजना सौन्दर्य का स्वरूप मानी जा सकती है वहाँ वह योजना काव्य में भाव की अभिव्यक्ति का केवल एक निमित्त है। **रूप अथवा योजना को सौन्दर्य का सर्वस्व मानने वाले सिद्धान्त चित्रकला अथवा संगीत को प्रधान मान कर ही बने हैं।** शुद्ध ऐन्द्रिक रूप का प्रत्याहार इन्हीं में सम्भव है और इस रूप के आधार पर इन कलाओं में रचनाएँ हुई

हैं। चित्रकला मे अल्पनाओं (डिजाइनों) तथा संगीत में वाद्य-संगीत और आलापो का सौन्दर्य शुद्ध रूपात्मक कला है। किन्तु काव्य में शुद्ध रूप का प्रत्याहार सम्भव नही है। 'काव्य' रूप और तत्व का समन्वय है। रूप के प्रत्याहार की कठिनाई को स्पष्ट न समझने के कारण काव्य के रूपात्मवादी सिद्धान्त अपने मत का अनुचित आग्रह करते रहे हैं। तत्व और गुण की प्रधानता पर आश्रित सिद्धान्त भी रूपात्मक मतो की भांति सुन्दर और असुन्दर का भेद तो उत्पन्न करते ही हैं, साथ ही ऐन्द्रिक धर्म की प्रधानता के कारण काव्य के सूक्ष्म और अतीन्द्रिय भाव को भूल जाते हैं। वस्तुनिष्ठता के आग्रह के कारण सौन्दर्य के सम्प्रेषण का भी इनमे कोई महत्व नही है। अत सौन्दर्य के सामान्य रूप के निर्धारण के प्रयास होते हुए भी ये व्यक्ति-निष्ठता से आक्रान्त रहते हैं। वस्तुगत आधारो पर सौन्दर्य के विषय मे मत भेद इसके प्रमाण हैं।

संक्षेप मे तात्पर्य यह है कि कला के अधिकांश सिद्धान्त ऐन्द्रिक माध्यमो की कलाओ को ही मुख्य मानने के कारण काव्य के अतीन्द्रिय भाव सौन्दर्य की समुचित व्याख्या नही करते। कलाओ म काव्य को उचित महत्व न देने के कारण चेतना की सृजनात्मक क्रिया, समात्मभाव और सम्प्रेषण के स्वरूप और महत्व का उद्घाटन भी वे नही कर पाते। **चेतना की सृजनात्मक क्रिया का महत्व सौन्दर्यशास्त्र में क्रोचे ने सबसे अधिक गम्भीरता और सबलता के साथ प्रतिपादित किया है।** रूपयोजना, तत्व और गुण पर आश्रित सिद्धान्त इस सृजनात्मक क्रिया के महत्व को इतनी स्पष्टता के साथ नही समझ सके। **किन्तु क्रोचे के सिद्धान्त में यह सृजनात्मक क्रिया उक्त सभी उपकरणो से विलग्न होकर एक आन्तरिक प्रत्याहार बन गई है।** अनुभववादी सिद्धान्तो का तर्क के द्वारा खण्डन अनुचित है। प्रत्येक मनुष्य स्वय ही अपने लिए प्रमाणित कर सकता है कि कलात्मक सौन्दर्य की भावना का उदय मूलत ऐकान्तिक कैवल्य की निर्विकल्प चेतना मे होता है अथवा समात्मभाव की सम्भूति तथा उक्त उपकरणो के द्वारा सौन्दर्य के सम्प्रेषण और उसकी समृद्धि मे होता है। इस अनुभव मूलक तर्क के प्रसग म यह ध्यान रखना आवश्यक है कि व्यक्तिगत अनुभव म समर्थन पाने पर समात्मभाव का सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत अथवा आत्मगत नही रह जाता वरन वह भी समात्मभाव स अन्वित हो जाता है। बाह्य अभिव्यक्तियो के रूप मे प्राप्त कलाकृतियों के रूप और तत्व पिछले सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जीवन म सौन्दर्य की भावना भी सम्भवत इसी सिद्धान्त के

अनुकूल है। जीवन और कला के लिए सौन्दर्य के भिन्न भिन्न सिद्धान्त नहीं हो सकते। क्रोचे के सिद्धान्त मे भी विषयो का प्रसंग आता है, यद्यपि सृजनात्मक चेतना ही सौन्दर्य का स्वरूप है। किन्तु क्रोचे के ये विषय बाह्य और वस्तुगत नहीं वरन् चेतना की स्वतंत्र और आत्मगत सृष्टि है। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने भी इन्हें कलात्मक कल्पना का विषय कहकर चेतना की ही सृष्टि माना है। अतः बाह्य विषयो और रूपो में साकार होने वाली कलाकृतियाँ इनके मत मे केवल उपचार हैं। वे मूल आन्तरिक सौन्दर्य के उद्‌भावन की निमित्त मात्र हैं। किसी भी रूप मे ऐन्द्रिक विषयो और रूपो का अनुराग रहने के कारण क्रोचे का कलात्मक सौन्दर्य भी व्यक्तिगत है। समात्मभाव और सम्प्रेषण उसके स्वरूप के विधायक तत्व नहीं हैं।

इसके विपरीत कलाओं में काव्य को प्रधान मानने पर सौन्दर्यशास्त्र की ये सभी मान्यताएँ असिद्ध हो जाती हैं। ऐन्द्रिक रूप, गुण और तत्व काव्य के उपकरण बन सकते हैं। इन उपकरणो से काव्य का मूल भाव-सौन्दर्य समृद्ध होता है। ये काव्य के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उसके सम्प्रेषण के माध्यम हैं। किन्तु काव्य का मूल सौन्दर्य भाव में ही निहित है। आकृति की व्यंजना शब्द के भाव-तत्व में सौन्दर्य का उदय कर काव्य को विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि से भिन्न बनाती है। समात्मभाव और सम्प्रेषण में ही भाव की आकृति की व्यंजना सफल तथा सार्थक होती है। शब्द इस व्यंजना का माध्यम है। इसीलिए शब्द और अर्थ का 'सहित भाव' काव्य की सबसे उपयुक्त परिभाषा है। यद्यपि काव्य की बाह्य अभिव्यक्ति मुखर शब्द के रूप मे ही होती है, किन्तु शब्द दर्शन मे शब्द की अन्य सूक्ष्म कोटियां भी मानी गई हैं। शब्द का चिन्मय रूप काव्य मे भाव और रूप की एकात्मता का द्योतक है। शब्द-दर्शन और वेदान्त दोनों शब्द अथवा चेतना के तात्विक और पारमार्थिक रूप के अनन्त कैवल्य को जीवन और जगत का अन्तिम तत्व बना देते हैं। सत्य होते हुए भी यह तात्विक स्थिति अग्राह्य और अनिर्वचनीय है। व्यवहार में चिद्-विन्दुओं के समात्मभाव में ही यह परमतत्व चरितार्थ होता है। इसी समात्मभाव में चिन्मय भाव का सौन्दर्य शुद्ध भाव में अभिव्यक्त होता है। वस्तु रूप, तत्व, गुण आदि के बाह्य माध्यमो में यह अभिव्यक्ति व्यावहारिक जीवन में कला और सौन्दर्य को साकार बनाती है। ब्रह्म के अनन्त कैवल्य को परमार्थ मानने वाले शब्द दर्शन और वेदान्त मे वह बाह्य और व्यावहारिक अभिव्यक्ति के उपचार अथवा मिथ्या हैं। किन्तु कला

और सौन्दर्य को परमतत्व का स्वभाव मानने वाले शैव दर्शन मे यह सत्य है। पारमार्थिक तात्विकताओं के अग्राह्य और अनिर्वचनीय आग्रह के आधार पर कला के लोक जीवन मे व्याप्त सामान्य रूप की संतोष जनक व्याख्या नही की जा सकती। खेद की बात है कि ये परमार्थ दर्शन अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिए व्यवहार के मिथ्या माध्यमो का अवलम्ब ग्रहण करते हैं। यह एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण बात है कि इन परमार्थ तत्वो की सबसे अधिक सुन्दर और ग्राह्य व्यंजना काव्य के माध्यम से हुई है। गद्य ग्रन्थो मे भी उपमा आदि का आश्रय लिया गया है। सम्भवत काव्य का रूप इस परमार्थ तत्व के भी सबसे अधिक निकट है। रूप और तत्व की एकात्मता तथा शब्द और अर्थ का एक चिन्मय भाव में सन्निधान काव्य के स्वरूप को परमार्थ तत्व के अत्यन्त निकट ले आता है। उपनिषदो के वेदान्त के अनुसार चेतना का समात्मभाव परमार्थ तत्व के अद्वैत भाव के अनुरूप है। जीवन मे परमार्थ का अद्वैत इसी समात्मभाव मे साकार होता है। इस दृष्टि से काव्य परम सत्य का सुन्दरतम रूप है। उपनिषदो और वेदो मे ब्रह्म की कवि संज्ञा भी यहा सार्थक होती है। लोक-जीवन मे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी इसी समात्मभाव में होती है। यह समात्मभाव अनुभूति-रूप अवश्य है क्योकि यह चेतना का जाग्रत भाव है। किन्तु क्रोचे की अनुभूति और कौलिंगवुड की कल्पना के समान यह एकातिक और आत्मगत अनुभूति नहीं है। यह चिद्बिन्दुओ के साहचर्य, सम्प्रेषण और समभाव में सम्पन्न होती है। जहा यह साहचर्य सम्प्रेषण और समभाव प्रत्यक्ष रूप मे वर्तमान नही होते वहाँ भी मेघदूत के कवि और मेघ दूत के यक्ष की भाति कल्पना मे इनका अन्तर्भाव रहता है। वस्तुओं, विषयो, जीवो, मनुष्यो, आदि के साथ इसी समात्मभाव में कलात्मक सौन्दर्य का स्फोट होता है। सौन्दर्य के इस स्फोट को हम अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। स्फुट रूप मे व्यक्त होने के कारण सौन्दर्य की अनुभूति अभिव्यक्ति भी है। किन्तु क्रोचे की अभिव्यक्ति की भाति यह एकातिक और आत्मगत अभिव्यक्ति नही है, और न बाह्य उपकरणो से इसका स्वरूप विच्छिन्न होता है। क्रोचे की अभिव्यक्ति अनुभूति से एकाकार है अथवा यो कह सकते हैं कि कलात्मक अनुभूति आन्तरिक अभिव्यक्ति के रूप मे *ही साकार होती है।* उनके मत मे अभिव्यक्ति के बाह्य रूप उसके गौण उपचार मात्र हैं। वे कला के वास्तविक आन्तरिक स्वरूप के वाहक होने के स्थान पर उसमे विक्षेप के कारण हैं। किन्तु

समात्मभाव की स्थिति जीवन और व्यवहार की बाह्यता और अनेकता से पूर्णतः सगत है। अत समात्मभाव मे उदय होने वाली सौन्दर्य की अनुभूति आन्तरिक अभिव्यक्ति के रूप मे स्फुटित होते हुए भी बाह्य अभिव्यक्ति के उपकरणों से पूर्णत सगत है। सौन्दर्य की अनुभूति की भाँति यह अभिव्यक्ति भी एकान्तिक और आत्मगत नही है। जिस प्रकार समात्मभाव के साहचर्य, सम्प्रेषण और समभाव में सौन्दर्य की अनुभूति स्फुटित होती है उसी प्रकार सौन्दर्य की अभिव्यक्ति भी साहचर्य और सम्प्रेषण के समभाव में ही साकार होती है। असाधारण और अल्पकालीन अवस्थाओ म शुद्ध चिन्मय भाव के रूप मे भी इस सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति सम्भव है। किन्तु साधारणत ये बाह्य वस्तुओ, विषयो और माध्यमों के अनुगम और उनकी अनेकता मे ही चरितार्थ होती हैं। इन बाह्य विषयो और माध्यमो की बाह्यता तथा अनेकता से समात्मभाव के सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति का कोई मौलिक विरोध नहीं है। सामान्यत सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति इन्ही के बीच सम्पन्न होती है। शुद्ध समात्मभाव की अनुभूति और अभिव्यक्ति एक अल्पकालीन और एक असाधारण स्थिति है। इस स्थिति का महत्व केवल शुद्ध और आन्तरिक सौन्दर्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति की तीव्रता, तन्मयता और महिमा को स्पष्ट करने मे है। एकबार अपने शुद्ध स्वरूप की महिमा मे अनावृत होकर बाह्य रूपो और माध्यमो मे इसकी अभिव्यक्ति और भी अधिक सम्पन्न तथा समृद्ध रूप मे होती है।

मनुष्यो के सामाजिक साहचर्य मे ही सम्भव होने वाले समात्मभाव मे स्फुटित होने वाला सौन्दर्य चिन्मय और भाव स्वरूप ही है, किन्तु इस सौन्दर्य का भाव बाह्य विषयो और माध्यमो की अनेकता मे ही सम्पन्न होता है। अत बाह्य यथार्थ के सत्य के साथ इसकी कोई असगति नही है। प्राकृतिक सत्य के तथ्य और सिद्धान्त के रूप समात्मभाव के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के सजीव परिवेश का निर्माण करते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्य की कुछ वृत्तियाँ (अहकार, क्रोध, द्वेष आदि) जिन्हे 'विकार' की सज्ञा दी जा सकती है, अवश्य इस समात्मभाव के सौन्दर्य की विरोधी हैं। इनके रहने तक समात्मभाव की स्थिति सम्पन्न नही होती और सौन्दर्य का उदय नही होता। इसका अभिप्राय यही है कि सौन्दर्य की भावना सहज और स्वाभाविक होते हुए भी मानसिक संस्कार की अपेक्षा करती है। सम्भवत क्रोचे की कलात्मक अनुभूति भी इन विकारो की अवस्था मे सम्भव नही है। भारतीय काव्य-

शास्त्र मे रति, वात्सल्य, भक्ति आदि समात्मभाव-मूलक मनोभावों को क्रोध, भय जुगुप्सा आदि वैषम्य मूलक मनोभावो के साथ रखकर जो आवेगरूपक रस की कल्पना की गई है वह असगत है। यदि इन वैषम्य मूलक भावो को कला और काव्य के रस का आधार मान भी लिया जाय तो भी जीवन मे ये सौन्दर्य की भावना के आधार नही हैं। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति चेतनाओं के समात्मभाव में ही होती है। जीवन में तो ये वैषम्य-मूलक भाव स्पष्टत. सौन्दर्य के घातक हैं। कला और काव्य में किस प्रकार समात्मभाव के अनुरूप बनकर ये सौन्दर्य के साधक होते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। सम्भवत व्यापक सौन्दर्य और श्रेय के साधक विषयो और व्यक्तियो के साथ समात्मभाव के निषेधात्मक प्रेरक होने के कारण, क्रोध, द्वेष आदि मनोविकारो के कर्ता तथा निमित्त जीवन और कला दोनो मे ही सौन्दर्य के उपकरण बनते हैं। बाह्यता और अनेक रूपता मे सम्पन्न होने के कारण समात्मभाव का सौन्दर्य वैषम्य का भी सहिष्णु है। किन्तु व्यक्तित्व का मूल मनोवैज्ञानिक सत्व समात्मभाव के सौन्दर्य के साथ पूर्णत सगत है। व्यक्तित्व का मूल भाव अपने अस्तित्व और उसके गौरव की केन्द्रित चेतना है। सक्षेप मे इसे अहभाव कह सकते हैं। किन्तु अहकार से सूचित दर्प, दम्भ, द्वेष, विरोध आदि व्यक्तित्व के मौलिक अग नही हैं। वे व्यक्तित्वों के विषम सम्बन्ध मे उत्पन्न होते हैं। व्यक्तित्व का मौलिक अहभाव समात्मभाव के उतना ही अनुकूल है जितना कि इन विषम भावो मे उसका भ्रष्ट होना सम्भव है। यह कहना अनुचित न होगा कि इन विकारो और विषमताओं के सकोच के विपरीत स्नेह, सद्भाव, रति, वात्सल्य, सख्य आदि समात्म-मूलक भावो के विस्तार मे व्यक्तित्व अधिक सम्पन्न और समृद्ध रूप मे फलित होता है। इसीलिए मनुष्य का मन विरोध और वैषम्य के भावो से पूर्णत मुक्त न होते हुए भी इन्ही समात्ममूलक भावो की कामना और साधना करता रहा है। वस्तुत उसकी यह साधना सौन्दर्य की ही आराधना है क्योंकि इसी समात्मभाव मे सौन्दर्य का स्वरूप निहित है।

मनोवैज्ञानिक सत्य की भाति ऐतिहासिक और सामाजिक सत्य से भी समात्मभाव के सौन्दर्य की पुष्टि होती है। समाज और इतिहास के सत्य मानव स्वभाव के ही प्रतिफल हैं। अत. वे मानव मनोविज्ञान की ही व्यापक अभिव्यक्तियां हैं। स्वभाव के अतिरिक्त श्रेय और सौन्दर्य की साधना भी इनकी प्रेरणा रही है। यह प्रेरणा उन्हे समात्मभाव के और भी अधिक अनुकूल बनाती है। ऐतिहासिक

और सामाजिक सत्यो की व्यापकता सौन्दर्य की भावना को और भी अधिक सम्पन्न और समृद्ध बनाती हैं। समात्मभाव की परिधि को इसमे एक विशाल विस्तार मिलता है। इस विस्तार के क्षितिजो पर सौन्दर्य के दिव्य और अनन्त लोक प्रकाशित होते हैं। धर्म, आचार और अध्यात्म के क्षेत्रो मे जिस व्यापक अर्थ मे सत्य का प्रयोग होता है, वह समात्मभाव के सौन्दर्य के और भी अधिक अनुरूप है। सौन्दर्य का मूल होने के साथ साथ समात्मभाव को जीवन का एक व्यापक और परम सत्य भी कहा जा सकता है। इस सत्य में श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार है। इस दृष्टि से सौन्दर्य जीवन के श्रेय का ही मूल आकार है। पौराणिक कल्पना मे शिव को ही परम सत्य और सौन्दर्य से समन्वित मानने का यही आशय है। व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक सत्य की भाँति प्राकृतिक आकांक्षाओ के प्रेय से भी समात्मभाव के श्रेय और सौन्दर्य का कोई मौलिक विरोध नही है। जिस प्रकार बाह्य विषयो और माध्यमो तथा व्यक्तित्वो के अनेकरूप सत्य मे ही समात्मभाव का सौन्दर्य साकार होता है, उसी प्रकार प्राकृतिक आकांक्षाओ के बहुरूप माध्यमो मे ही समात्मभाव का श्रेय चरितार्थ होता है। जिस प्रकार सौन्दर्य का शुद्ध स्वरूप शुद्ध भाव का समात्म है उसी प्रकार श्रेय (शिवम्) का भी शुद्ध स्वरूप यही शुभ समात्मभाव है। इस दृष्टि से सौन्दर्य और शिवम् एक स्वरूप है तथा उनमें भेद करना कठिन है। सापेक्ष दृष्टि से जिस प्रकार उदासीन और तटस्थ अवगति सत्य का विविक्त स्वरूप है उसी प्रकार समात्मभाव में फलित होने वाली अभिव्यक्ति सुन्दरम् का तथा समात्मभाव में ही फलित होने वाला आत्मदान शिवम् का स्वरूप है। श्रेय और सौन्दर्य दोनो ही हर्षकारक है। 'सुन्दरम्' के हर्ष को हम आह्लाद तथा 'शिवम्' के हर्ष को आनन्द कह सकते हैं। एक में हम अपनी अनुभूति में भाग लेने के लिए दूसरो का आमन्त्रण करते हैं, दूसरे में हम दूसरो की चेतना में अपने चिन्मय भाव का योग देते हैं। एक मे हमारे भाव की समृद्धि हमारे और दूसरो के दोनो के भाव की समृद्धि का कारण बनती है, दूसरे मे दूसरो के भाव की समृद्धि दोनो के भाव की समृद्धि का कारण बनती है।

इस प्रकार एक ही समात्मभाव मे उदित होने वाले श्रेय और सौन्दर्य का भेद बहुत कुछ सापेक्ष ही है, यद्यपि सौन्दर्य शास्त्र मे उनके एकीकरण को सदा आपत्ति की दृष्टि से देखा गया है। ग्रीक विचारको मे तथा आधुनिक युग मे रस्किन, टाल्स्टाय आदि के सिद्धान्तो मे श्रेय के साथ सौन्दर्य के एकीकरण मे सौन्दर्य

शास्त्रियो को सदा आपत्ति रही है। किन्तु इस आपत्ति का मूल कारण यह है कि सौन्दर्य के अनुरागी सौन्दर्य का एक मौलिक मूल्य मानते हैं, वे किसी अन्य मूल्य मे उसका विलय अथवा अन्तर्भाव स्वीकार नही कर सकते। सौन्दर्य के मूल स्वरूप की मान्यता ही श्रेय के साथ उसके एकीकरण के प्रति उनके विरोध का कारण है। दूसरा कारण यह है कि पश्चिमी दर्शन मे सामान्यत श्रेय का सम्बन्ध सकल्प से माना जाता है। श्रेय सकल्प का गुण है। सकल्प क्रिया का अध्यवसाय है। वह बाह्य आचार म फलित होता है। सौन्दर्य का सकल्प और क्रिया से कोई सम्बन्ध नही है। वह चेतना की सृजनात्मक क्रिया अवश्य है किन्तु वह क्रिया शुभाशुभ के भेद से निरपेक्ष है। कौलिङ्गवुड ने कहा है कि अपने अवैध शिशु को नदी मे डुबाने वाली युवती कम सुन्दर नही लगती।[४] अशिव, अशुभ, अनीति, अनाचार आदि के कृत्य किस प्रकार कलात्मक सौन्दर्य के उपादान बनते हैं, यह एक जटिल प्रश्न है। यदि सौन्दर्य क्रोचे के अनुरूप एक आन्तरिक अथवा आत्मगत अनुभूति है अथवा कौलिङ्ग-वुड की कल्पना के अनुरूप है तो उसम सकल्प और श्रेय का कोई प्रसग नही है। यह स्पष्ट है यदि सौन्दर्य किसी भी भाव अथवा योजना की रूपात्मक अभिव्यक्ति है तो उसमे भी सकल्प और श्रेय का कोई स्थान नही है। सगीत की स्वरयोजना अथवा चित्रकला की रूप-योजना मे सकल्प और श्रेय का कोई प्रसग नही दिखाई देता। पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र मे कला और सौन्दर्य की जो कल्पना प्रस्तुत की गई है वह पश्चिमी आचार शास्त्र मे प्रस्तुत श्रेय की धारणा के साथ स्पष्टत सगत नही है। अनुभूति, कल्पना अथवा अभिव्यक्ति के रूपात्मक सौन्दर्य का अन्तर्भाव श्रेय मे नही हो सकता।

किन्तु भारतीय दर्शन शास्त्र में श्रेय की धारणा तथा काव्यशास्त्र में कलात्मक सौन्दर्य की कल्पना पश्चिमी स्थापनाओ के विपरीत है। जहा पश्चिमी आचार शास्त्र मे श्रेय को सकल्पात्मक माना गया है वहा भारतीय-दर्शन मे शिवम् की अद्वैत भाव के रूप म स्थापना की गई है। श्रेय का मूल स्वरूप आत्मा का समभाव है। यह समात्मभाव के ही अनुरूप है। चिद्बिन्दुओ के अद्वैतभाव में यह सम्पन्न होता है। चरित्र के गुण और व्यवहार के सत्कृत्य इसकी आन्तरिक अभिव्यक्ति है। जहाँ पश्चिमी सौन्दर्य शास्त्र म सौन्दर्य की अनुभूति, अभिव्यक्ति, कल्पना आदि चेतना की भाव-दृष्टिया के रूप म कल्पना की गई है वहा इसके विपरीत भारतीय काव्य-शास्त्र मे कलात्मक सौन्दर्य का स्वरूप सकल्पात्मक आवेग माना गया है। काव्य के

रस की यह कल्पना वेदान्त के आत्मभाव-रूप 'रस' (रसोवैस) से सम्भव है, किन्तु साधारणत काव्य-शास्त्र की परम्परा मे श्रेय और सौन्दर्य की धारणा पश्चिमी स्थापना का विलोम होते हुए भी श्रेय और सौन्दर्य के स्वरूप की मौलिक भिन्नता और उनकी असगति समान है। यह भिन्न क्रमो मे आत्मभावना की दृष्टि और सकल्प की क्रिया की परस्पर असगति है। सौन्दर्य को व्यक्तिगत भावना तथा श्रेय को सामाजिक धर्म मान लेने पर इस असगति मे विषमता और बढ जाती है। यह विषमता भी भारतीय धारणा मे वर्तमान है।

जिस समात्मभाव में हमने सौन्दर्य का मूल स्रोत माना है, उसमें एक अपूर्व रूप में सौन्दर्य और श्रेय की सगति सम्भव है। मूलतः यह समात्मभाव चिद्-विन्दुओं के साहचर्य में स्फुटित समभाव है। इसे हम अनुभूति, कल्पना, दृष्टि, भावना किसी भी नाम से पुकार सकते है। यह न सत्य की अवगति की भांति एकान्तिक है और न आवेग के समान उद्वेगमय है। यह चेतना की एक स्थिति है जो समात्मभाव में साकार होती है। यही सौन्दर्य का मूल स्वरूप है। यही श्रेय अथवा शिवम् का भी मूल स्वरूप है। इस प्रकार एक सीमा तक सौन्दर्य और श्रेय की एक स्वरूपता है। किन्तु यह सौन्दर्य का श्रेय में अन्तर्भाव नहीं, वरन् श्रेय का सौन्दर्य में अन्तर्भाव है। शोचे का यह मत क्रान्तिकारी किन्तु पूर्णत सत्य है कि सौन्दर्य मानव चेतना की सबसे मौलिक और आदिम भावना है। सौन्दर्य ही श्रेय की धारणा मे भी व्याप्त है। डॉ० हरद्वारीलाल के अनुसार "सौन्दर्य वस्तुत अनेक के सामजस्य, सतुलन और समता का नाम है। सामाजिक व्यवस्थाएँ जिनमे अनेक वर्गो अथवा व्यक्तियो का सामजस्य नही, जिसमे विषमता है वह न केवल अन्यायपूर्ण है, वरन् असुन्दर भी है। अन्ततो गत्वा सौन्दर्य के सम्पूर्ण सिद्धान्त 'सन्तुलन' मे आकर परिसमाप्त होते हैं। यह सतुलन ही सत्य है, यही 'शिव' है, यही स्वास्थ्य और यही न्याय भी है।"[१] समात्मभाव इसी सामजस्य और सतुलन का आत्मिक (व्यक्तिगत नही) और आन्तरिक रूप है। सामजस्य और सतुलन व्यवहार और व्यवस्थाओ के वे रूप हैं जिनमे चेतना के समात्मभाव की स्थिति सफल तथा साकार होती है। जीवन के व्यवहार और कर्म की प्रेरणा बन कर सौन्दर्य ही शिवम् बन जाता है। सौन्दर्य का समात्मभाव कलाधर की ज्योत्सना के समान स्निग्ध, शान्त, स्वप्निल और आत्मविभोर आह्लाद मे पूर्ण है। शिवम् में वह आत्मदान बनकर सूर्य के तेजोमय आलोक के समान सृजन की प्रेरणा बनता है। जहां सौन्दर्य सृजन है वहां शिवम्

सृजनात्मक है। कला और सौन्दर्य का आस्वादन और आह्लाद किसी को कलाकार बनने की प्ररणा नही देता, किन्तु श्रेय के आदर्श सभी को उसके सृजनात्मक अनुशीलन के लिए प्रेरित करते हैं। सौन्दर्य समात्मभाव की अभिव्यक्ति है उसमे समात्मभाव सफल और साकार होता है। इसमे सौन्दर्य की सृजनात्मक क्रिया की कृतार्थता है। **किन्तु शिवम् के समात्मभाव में समात्मभाव की सृजनात्मक परम्परा और उसके विकास को प्रेरित करने की शक्ति है। शिव से शक्ति की अभिन्नता और शक्ति के सृजनात्मक होने का यही रहस्य है।**

इस प्रकार सौन्दर्य मे श्रेय का अन्तर्भाव है। जो समात्मभाव सौन्दर्य का मूल स्वरूप और स्रोत है वही शिवम् मे भी अन्तर्निहित है। सौन्दर्य में वह समभाव का चिन्मयी भाव स्थितियो मे साकार होता है। शिवम् मे वह इन स्थितियो के सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा बनता है। यह समात्मभाव केवल एकान्त अनुभूति, अभिव्यक्ति अथवा कल्पना नही है और न केवल रूपात्मक अभिव्यक्ति है। इसमे रूप और तत्व दोनो का समन्वय है। वस्तुत चेतनाओ का समात्मभाव रूप और तत्व दोनो ही है। समात्मभाव के रूप के साथ वाह्य वस्तुओ, विषयो, माध्यमो, मनुष्यो की वाह्यता और अनेकता की पूर्ण सगति है। उन्ही के तत्व मे वह साकार और सम्पन्न होता है। काव्य मे इस रूप और तत्व का सबसे अधिक सम्पन्न समन्वय है। इसीलिए काव्य कला का सबसे अधिक सम्पन्न और समृद्ध रूप है।

अस्तु, काव्य में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् तीनो का समन्वय है। तीनो के समन्वय से ही उत्तम काव्य की सृष्टि होती है। इनमें से किसी एक की प्रधानता होने पर काव्य का रूप असतुलित हो जाता है। सत्य की प्रधानता विज्ञान, शास्त्र और दर्शन का लक्षण है। इनका उद्देश्य केवल सत्य की अवगति है उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति नही। सत्य की परिधि मे ज्ञाता और ज्ञेय का तथा गुरु शिष्य का भेद भी रहता हैं। अत उसमे समात्मभाव के लिए अवकाश नही रहता। **सत्य की परिधि में समात्मभाव की सम्भावना उदित होते ही वह सीमित अर्थ में सत्य नहीं रहता, उसमें शिवम् और सुन्दरम् का आविर्भाव होता है।** शिवम् और सुन्दरम् दोनों का मूल स्रोत समात्मभाव ही है। विविक्त और सीमित अर्थ मे शिवम् नीतिशास्त्र और धर्म शास्त्र का विषय है। इस रूप मे इसे आत्मदान कहना अधिक उचित है। **दूसरो की चेतना में विकास और समृद्धि की सृजनात्मक परम्परा की प्रेरणा के लिए अपनी चेतना का भाव-योग देना ही आत्मदान है।** प्रेम, परोपकार आदि

इसके व्यवहार हैं। सत्य के उपादान की भांति शिवम् के तत्व का समाहार भी काव्य में रहता है किन्तु जिस प्रकार केवल सत्य के उपादान से काव्य का निर्माण नहीं होता, उसी प्रकार शिवम् का तत्व भी काव्य के रूप का निर्णायक नहीं। सत्य और शिवम् के उपादानों में सुन्दरम् के रूप का समन्वय ही काव्य की सृष्टि करता है। मुख्यत यह सुन्दरम् रूपात्मक गुण है, यद्यपि 'रूप' तत्व से भिन्न नहीं है। तत्व के उपादान में ही रूप या आकार प्रकाशित होता है, किन्तु यह रूप ही काव्य का विधायक और विशेषक है। अन्यथा काव्य का उपादान इतिहास, विज्ञान, शास्त्र, दर्शन आदि के समान है। शिवम् की भाँति सुन्दरम् का मूल स्रोत समात्मभाव ही है। इस समात्मभाव में आकृति की अभिव्यक्ति का उदय होने पर कलात्मक सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। समात्मभाव चेतनाओं के सामजस्य, सम्प्रेषण और समभाव की आन्तरिक तथा आत्मिक स्थिति है। 'आकृति' शब्द अथवा कला के अन्य किसी माध्यम के अन्तर्गत स्वरूप, तत्व अथवा आशय का अनिश्चित विस्तार है। व्यंजना आकृति की अभिव्यक्ति की शैली अथवा शक्ति है। समात्मभाव की आन्तरिक स्थिति में सर्वदा ही आकृति का अन्तर्भाव रहता है। किन्तु वाह्य नियमों, माध्यमों, उपकरणों के संयोग से समात्मभाव में अन्तर्निहित आकृति का वैभव अधिक सम्पन्न रूप में स्फुटित होता है। समात्मभाव की विभूति की इसी समृद्धि में सुन्दरम् में सत्यम् और शिवम् का समाहार होता है, शिवम् के आत्मभाव में सुन्दरम् का उदय होता है तथा सत्यम् का शिवम् और सुन्दरम् में समन्वय होता है। विज्ञान, दर्शन आदि से कला और काव्य का विभेदक आकृति की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। किन्तु कुछ रूपात्मक कलाओं की भाँति केवल रूप की अभिव्यक्ति काव्य का निर्माण नहीं करती। शुद्ध संगीत और शुद्ध चित्रकला में शुद्ध रूपात्मक योजना को भी कलात्मक सौन्दर्य का विधायक माना जा सकता है, यद्यपि हम यही कहेंगे कि समात्मभाव के बिना इनमें भी सौन्दर्य का उदय नहीं होता। अभिव्यक्ति केवल रूपात्मक योजना नहीं है। आकृति में एक विस्तारशील अर्थ का अन्तर्भाव और उसकी अभिव्यक्ति दोनों ही समात्मभाव की भूमिका में ही कलात्मक सौन्दर्य का सृजन करती है। अन्य कलाओं के सम्बन्ध में यह स्पष्ट न भी हो किन्तु काव्य के सम्बन्ध में तो यह पूर्णत स्पष्ट है। एक ओर शब्द में अर्थ अन्तर्निहित है। वह शब्द के रूप का भाव तत्व है। सम्पन्न और विस्तारशील होने पर हम इसे 'आकृति' कहते हैं। समात्मभाव में चिन्मय रूप और तत्व दोनों का समन्वय है।

समात्मभाव के साथ सामजस्य मे ही यह आकृति अभिव्यक्ति बनती है। **अभिव्यक्ति के क्षितिजो पर ही समात्मभाव की धरती आकृति के आकाश का स्पर्श करती है। कला की इसी सन्ध्या के क्षितिजो पर सौन्दर्य के अनन्त रूप निर्मित होते हैं।** काव्य के रूप मे अर्थ-तत्व का स्वाभाविक समन्वय है, अत सत्यम् और सुन्दरम् की सगति काव्य मे आवश्यक है। कुछ लोग शिवम् के समन्वय को काव्य का आवश्यक अग नही समझते किन्तु ससार के सभी महान् काव्यो का रूप और काव्य की आलोचना दोनो ही यह प्रमाणित करते हैं कि **उत्तम काव्य में शिवम् का समन्वय भी अपेक्षित है।** कला की रूपात्मक कल्पना तथा अभिव्यक्ति को क्रोचे के समान पूर्णत व्यक्तिगत अथवा रूपात्मक योजना के साथ एकाकार मानने के कारण कला के इतिहास मे ऐसी धारणा प्रचलित हुई। किन्तु वस्तुत सामान्यत कला का और विशेषत काव्य का स्वरूप समात्मभाव है। इस समात्मभाव मे शिवम् और सुन्दरम् दोनो का बीज है। अपने स्वरूप का सगत और सफल विस्तार होने पर काव्य मे शिवम् का समन्वय भी अनायास हो जाता है। इसी कारण महान् काव्यो मे शिवम् का समन्वय पाया जाता है। **यह काव्य में नैतिकता का आरोपण नहीं है वरन् समात्मभाव की भूमिका में सहज भाव से सम्पन्न होने वाले सुन्दरम् में शिवम् का अन्वय है।** अत कलाओ के साथ काव्य का सामान्य लक्षण समात्मभाव की भूमिका मे आकृति की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य ही है, किन्तु काव्य मे सत्य के उपादान का आधार और शिवम् का समन्वय आवश्यक है। **काव्य का उत्तम और श्रेष्ठ रूप सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का समन्वय ही है।** इनकी त्रिवेणी का सगम ही कला और सस्कृति का तीर्थराज है। इसी तीर्थराज मे युग युग से मानव चेतना कल्पवास करती आई है।

सत्यम्

अध्याय ५

सत्य और सौन्दर्य

मनुष्य की सम्पूर्ण साधना के लक्ष्य के अर्थ मे 'सत्य' का प्रयोग करने पर जीवन के सभी मूल्यो का समाहार सत्य के अन्तर्गत हो जाता है। शिवम् और सुन्दरम् भी इसम समाहित हो जाते हैं। यह सत्य की व्यापक धारणा है, जिसके अनुसार जो कुछ भी वर्त्तमान है अथवा जो कुछ भी ज्ञेय, अनुसधेय एव साध्य है वह सब सत्य की सज्ञा का अधिकारी है। सत्य का यह रूप मनुष्य की आकाक्षा के सामान्य लक्ष्य का सूचक है। इस सामान्य अर्थ में हम श्रेय और सौन्दर्य को भी सत्य कह सकते हैं, क्योंकि वे भी जीवन के मौलिक लक्ष्य हैं। किन्तु सत्य के इस सामान्य रूप मे सत्य-शिव और सुन्दरम् की धाराओ का भेद मिट नही जाता। सत्य के व्यापक सामान्य मे भी हमे इन तीनो लक्ष्यो से भेद करना होगा। सत्य के व्यापक रूप मे समाहित होने पर इनमे केवल इतनी ही समानता है कि वे तीनो मनुष्य जीवन आकाक्ष्य हैं किन्तु इस समानता से इन तीनो के स्वरूप पूर्णत समान नही हो जाते। वस्तुत सामान रूप से जीवन के लक्ष्य होने के नाते उनके स्वरूप मे इतनी समानता नही आजाती जितनी कि इन लक्ष्यो की साधना करने वाली मानवीय चेतना की एकरूपता विदित होती है। वे एक ही चेतना के लक्ष्य हैं। इससे केवल इन लक्ष्यो की साधक चेतना की एकता सिद्ध होती है। यद्यपि चेतना और इन लक्ष्यों म विषयी और विषय का भेद पूर्णत लागू नही होता, फिर भी यदि हम इन लक्ष्यो की साधक चेतना को विषयी और इन लक्ष्यो को विषय माने तो ऊपर जिस एकता और समानता का निर्देश किया गया है उसको विषयो की अपेक्षा विषयी की एकता कहना अधिक उचित है। वस्तुत सत्य, शिव और सुन्दरम् चेतना के एक ही हिमालय के विभिन्न शिखरो अथवा स्रोतो से उदित होने वाली तीन धारायें हैं, जिन्हें हम त्रिवेणी की उपमा दे सकते हैं। सस्कृति के तीर्थराज मे इन तीनो का सगम भी होता है और सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे इनका समवेत प्रवाह भी मिलता है। किन्तु जीवन के भूमि-पटल पर ये बहुत दूर तक अलग-अलग भी प्रवाहित होती हैं। चेतना के हिमा-

त्य के गह्वरो में इनके उद्गम भी अलग खोजे जा सकते हैं। इनमें सत्य की सरस्वती तो सगम में अलक्ष्य रहती है। किन्तु शिव की उज्ज्वल गंगा और सुन्दरम् की श्यामल यमुना की धारायें चिरकाल से पृथक-पृथक प्रवाहित हो रही हैं। गगा और यमुना के जल की भांति इनके स्वरूप में भी कुछ विवेक किया जा सकता है। सत्य की अलक्ष्य सरस्वती के लुप्त अथवा गुप्त मार्ग का भी हम कुछ अनुसधान कर सकते हैं। इस अनुसधान के साथ-साथ हमे सत्य, शिव और सुन्दरम् के स्वरूपो के भेद तथा जीवन, सस्कृति एव काव्य मे इनके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन भी करना होगा।

अभी हमे केवल सत्य और सौन्दर्य के सम्बन्ध का विवेचन करना अभीष्ट है। इस विवेचन मे हमें सत्य को उस व्यापक रूप मे ग्रहण न करके, जिसका ऊपर निर्देश किया गया है, एक सीमित अर्थ मे उसे ग्रहण करना होगा। तभी श्रेय और सौन्दर्य मे भी विवेक हो सकेगा। इस रूप मे 'सत्य' हमारी जिज्ञासा का लक्ष्य है। जिज्ञासा ज्ञान की इच्छा है। यह चेतना की वह आकाक्षा है जो विषयो, तत्वो, सिद्धान्तो आदि की अवगति की ओर अभिमुख होती है। अवगति इनका उदासीन अनुसधान और ग्रहण है। अवगति के विषय के रूप मे इन्द्रिय-गम्य पदार्थो से लेकर आध्यात्मिक तत्व तक इस सत्य का विस्तार है। अवगति के इन सत्यो के कुछ विशेष लक्षण हैं जिनका हमे विचार करना होगा और इन लक्षणो के अनुसार ही सौन्दर्य के साथ सत्य के सबन्ध का निरूपण करना होगा। सत्य का अनुसधान और उसकी अवगति चेतना की उदासीन और तटस्थ वृत्ति की अभिव्यक्ति है। भाव का सश्लेष इस अवगति का आवश्यक लक्षण नही है, वरन् किसी सीमा तक भाव को ज्ञान की शुद्धता के प्रसग मे विकार समझा जाता है। भाव मे कुछ पक्षपात की आशका रहती है। इस पक्षपात से ज्ञान मे विकार की सभावना होती है। मनोविज्ञान की दृष्टि से भावना कुछ आवेशमय होती है। यह आवेश शरीर और मन की असाधारण एव उत्तेजित अवस्था है। भाव को यदि हम असाधारण उत्तेजना न मानें तो भी उसमें मन का कुछ उल्लास अवश्य मानना होगा। इस उल्लास का चित्त के प्रसाद से कोई विरोध नही है, फिर भी इसे भी ज्ञान की शुद्धता, तटस्थता और उदासीनता में बाधक समझा जा सकता है। यद्यपि भाव का यह उल्लास सर्वदा चेतना मे विक्षोभ उत्पन्न नही करता, फिर भी भावमयी चेतना को पूर्णत उदासीन नही कहा जा सकता और उसमें शुद्ध ज्ञान के लिए अपेक्षित उदासीनता

एव तटस्थता के भग होने की सभावना हो सकती है। उदासीन होने के कारण अवगति का ज्ञान नीरस होता है, किन्तु यह नीरसता ही ज्ञान की शुद्धता का लक्षण है।

यद्यपि सामान्य रूप से सभी चेतन व्यापारो का अधिष्ठान व्यक्ति होता है किन्तु अहभाव के रूप मे व्यक्तित्व का प्रसग चेतना के इन सभी व्यापारो मे समान रूप से नही रहता। मनुष्य के प्राकृतिक एव स्वार्थमय व्यापारो मे यह प्रसग सबसे अधिक रहता है। सामाजिक और सास्कृतिक सबन्धो के उदारभाव मे यह प्रसग उत्तरोत्तर कम होता जाता है। अहभाव के पूर्ण अभाव की सभावना तो कैवल्य मे ही हो सकती है। किन्तु उक्त उदार भावो मे परार्थभाव तथा समात्मभाव का प्रभाव बढ जाता है और अहभाव मन्द हो जाता है। परार्थभाव और स्वार्थभाव अहभाव को गौण बनाकर आत्मभाव की ओर प्रमुखता से अभिमुख होते हैं। देह के प्राकृतिक अधिष्ठान मे प्रकाशित होने के कारण अहबोध की केन्द्रीयता का कुछ अनुपग चेतना मे सदा ही रहता है। किन्तु उदारभावो मे परार्थ और समात्म की प्रबलता के कारण वह मन्द और गौण रहता है तथा साथ ही आत्मभाव के प्रतिकूल होने की अपेक्षा अनुकूल अधिक रहता है। व्यक्ति मे केन्द्रित रहते हुए भी यह अहभाव मानो आत्मा के उदार स्वरूप मे समा जाना चाहता है। श्रेय और सौन्दर्य के रूपो में अहभाव की यही स्थिति होती है। किन्तु चेतना की यह स्थिति भाव के उल्लास से रहित नही होती। अवगति के ज्ञान में अहंकार के इस अतिक्रमण की एक उदासीन भूमिका प्रकट होती है। हम इसे श्रेय और सौन्दर्य के भावो की 'भूमिका' कह सकते हैं। श्रेय और सौन्दर्य के भावो मे परार्थभाव और समात्मभाव की विपुलता अहभाव को मन्द और तिरोहित करती है। ज्ञान की उदासीन अवगति की भूमि मे परार्थभाव अथवा समात्मभाव तो अकुरित नही होता किन्तु अहभाव का निषेध और तिरोधान उससे भी अधिक हो जाता है, जितना कि उक्त भावो की स्थति मे होता है। एक ओर जहाँ ज्ञान की उदासीनता का भाव से विरोध है वहाँ दूसरी ओर अहभाव का यह निषेधात्मक तिरोधान भाव की एक आवश्यक एव दृढ भूमिका है। इस भूमिका मे हम ज्ञान और भाव तथा सत्य और सौन्दर्य के विरोधी प्रतीत होने वाले रूपो के सबन्ध एव साम्य का सूत्र खोज सकते हैं। अवगति के ज्ञान मे यदि भाव का उल्लास नही रहता तो उसकी उदासीनता में तटस्थता अधिक समय होती है। इस

तटस्थता मे दूसरो के प्रति कोई अनुचित पक्षपात नही रहता, जैसा कि भाव मे उचित रूप मे होता है। किन्तु इसके साथ-साथ ज्ञान की उदासीनता और तटस्थता इतनी शुद्ध होती है कि ज्ञान के अधिष्ठान का अपने प्रति भी कोई पक्षपात नही होता। ऐसी पूर्णत निष्पक्ष तटस्थता ही ज्ञान की उदासीनता का आदर्श है। ऐसा निष्पक्ष ज्ञान नि सन्देह सबसे अधिक पवित्र है। ज्ञान की पवित्रता के सबन्ध मे गीता का यह वचन पूर्णत सत्य है (न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते)। इतना अवश्य है कि इस निष्पक्षता के कारण ज्ञान निर्वैयक्तिक एव निरपेक्ष बन जाता है। किन्तु **इस निरपेक्षता में ही ज्ञान का स्वरूप प्रकाशित एव विकसित होता है।** ज्ञान की उदासीनता मे भाव का सामजस्य कर सत्य के उपादान मे सौन्दर्य की सगति-रचना कठिन अवश्य है तथा ज्ञान और सौन्दर्य के स्वरूप की कुछ भिन्नताए इस कठिनता को और बढाती हैं, किन्तु ज्ञान की तटस्थता, उदासीनता, निर्वैयक्तिकता एव निरपेक्षता मे अधिष्ठान के अहभाव का जो तिरोधान होता है वह इस सामजस्य की एक विलक्षण भूमिका रचता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान की उदासीनता मे सत्य के साथ सौन्दर्य के विरोध का बीज रहता है। किन्तु दूसरी ओर अधिष्ठान के अहभाव के तिरोधान मे चरितार्थ होकर यह उदासीनता भाव और सौन्दर्य के साथ सामजस्य के अकुर इस विरोध के बीज मे भी उगाती है। यदि अहकार की तुलना मे हम ज्ञान को ही पर मान ले तो इस निर्वैयक्तिक उदासीनता को परार्थभाव का मौलिक रूप कह सकते हैं, जो समात्मभाव का आवश्यक अग है। यदि ज्ञान का अधिष्ठान अहकार के प्रच्छन्न अनुरोध से बच जाता है तो ज्ञान के प्रति निर्वैयक्तिक उदासीनता के रूप मे प्रकट होने वाला परार्थभाव नि सन्देह मानवीय समात्मभाव मे चरितार्थ होता है। सत्य के साथ सौन्दर्य के सामजस्य की यह सभावना ज्ञान के उन रूपो मे अधिक रहती है जिनमे अहभाव का अनुरोध कम रहता है। ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के रूप मे प्राप्त होने वाला ज्ञान शरीर के सम्बन्ध से अधिक प्राकृतिक होता है। अत उसमे अहकार की सभावना अधिक रहती है। ऐन्द्रिक विषयो की प्राकृतिक उपयोगिता के कारण यह सभावना और बढ जाती है। किन्तु ऐन्द्रिक विषयो के बहिर्गत होने के कारण तथा उनकी परता के कारण ज्ञान मे अहभाव के कम होने की सभावना भी रहती है। भौतिक विषयों के सम्बन्ध मे यह अहभाव ममत्व के रूप मे प्रकट होता है। विषयो पर मनुष्य जितना अधिक अधिकार कर सकता है उतना ही यह अहकार

उसके अधिकार वा पोषण करता है। मनुष्य के अधिकार के प्रसग से अतीत विषयो के सम्बन्ध म यह अहकार कुछ अनवकाश हो जाता है और शुद्ध ज्ञान के दूरगत क्षितिज उद्घाटित होते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान का यही दृष्टिकोण है। बौद्धिक ज्ञान मे अतीन्द्रियता और उपयोगिता के कारण अहभाव की सभावना कम रहती है किन्तु दूसरी ओर बौद्धिक ज्ञान के मानसिक एव आन्तरिक होने के कारण उसम ममत्व के मोह की सभावना बढ जाती है। ज्ञानियो और विद्वानो के अभिमान का यही कारण है। बौद्धिक ज्ञान के आन्तरिक व्यक्तित्व में समवेत रहने के कारण अधिकार का ममत्व सहज और पूर्ण होता है। नीतिकारो के अनुसार ज्ञान की यह सम्पत्ति न चोरहार्य है और न भ्रातृभाज्य है। ज्ञान की यह सुरक्षितता अधिकार और अहकार के दभ को और बढाती है। उपयोगिता से तनिक मुक्त होते ही ऐन्द्रिक विषयो का सौन्दर्य में सामजस्य सरल होता है। रूप की विविधता के लिए उनमे अवकाश अधिक है किन्तु अहकार की कठोरता और विचार के रूपो की अल्पसख्यता के कारण बौद्धिक ज्ञान का सौन्दर्य के साथ सामजस्य अधिक कठिन होता है। ऐन्द्रिक विषयो की परता के कारण ऐन्द्रिक ज्ञान मे भाव की सभावना अधिक रहती है। किन्तु ममत्व की गहनता और परता की न्यूनता के कारण बौद्धिक ज्ञान मे भाव की सभावना बहुत कम रहती है। इसीलिए बौद्धिक ज्ञान अधिक नीरस होता है। इसीलिए दार्शनिक काव्यो मे कलात्मक सौन्दर्य का समाधान कठिन होता है, जब कि ऐन्द्रिक और प्राकृतिक विषयो के वर्णन सहज ही सुन्दर बन जाते हैं।

अस्तु, यद्यपि एक ओर सत्य के स्वरूप मे ऐसे लक्षण वर्तमान होते हैं जो सौन्दर्य के साथ उसका सामजस्य कठिन बनाते हैं, फिर भी सत्य के स्वरूप म कुछ ऐसे भी लक्षण खोजे जा सकते हैं जो इस सामजस्य की सभावना के अकुर कहे जा सकते हैं। ये लक्षण सौन्दर्य के साथ सत्य की सन्धि के सूत्र है। सामजस्य के अकुर पोषित करने से यह सन्धि अधिक दृढ और सफल बन सकती है। अधिष्ठान, विषय, उपयोगिता आदि की दृष्टि से सत्य के कुछ अधिक प्राकृतिक लक्षण ही सौन्दर्य के साथ सत्य के सामजस्य की मुख्य बाधाय हैं, अन्यथा अवगति, उदासीनता, तटस्थता आदि के लक्षण सौन्दर्य के साथ सामजस्य के अधिक विरोधी नही हैं। अधिष्ठान की व्यक्तिमत्ता सत्य के प्रसग म श्रेय और सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु वस्तुत प्राकृतिक और उपयोगी विषयो के ज्ञान मे ही इसका अनुरोध अधिक रहता है। व्यक्तिमत्ता प्रकृति का ही लक्षण है। प्रकृति के उपादान ही

अपने व्यक्तित्व की इकाइयों में प्राय स्थिर रहते हैं। पार्थिव वर्णो के सयोग से प्रकृति की इकाइयो मे सत्ता की केन्द्रीयता स्वरूपत दृढ नही हुई है। किन्तु वे भी पार्थिव तत्वो की केन्द्रीयता के निर्माण और सरक्षण मे योग देती हैं। इन्ही के योग से पार्थिव और विशेषत सजीव पिण्ड निर्मित होते हैं। **उपयोगिता इकाइयों में केन्द्रित इन प्राकृतिक पिण्डो के स्वरूप की रक्षा का साधन है।** जिन प्राकृतिक तत्वो का अवलम्बन करके ये इकाइया निर्मित होती हैं उन्ही तत्वो को ग्रहण और आत्मसात् करके वे अपने स्वरूप का सुरक्षित रखती हैं। **जड वृक्ष पशु और मनुष्य में यह प्रयत्न उत्तरोत्तर बढता जाता है।** जड मे इकाई के निर्माण और सरक्षण का अचेतन प्रयत्न रहता है। जीवो म इस सरक्षण का सवर्धन की ओर विकास होता है। जड और वृक्षो मे प्रतिरक्षा का प्रकट प्रसाय दिखाई नही देता। मनुष्य और पशु मे यह प्रयास बहुत प्रबल और सघर्षमय बन जाता है। अधिक सचेतनता के कारण मनुष्य मे ये सभी प्रयास अधिक तीव्र हो गये हैं यद्यपि सभ्यता के विकास के साथ इन प्रयासो की पूर्णता कुछ म द भी होती गई। अधिक सजग और अधिक सचेष्ट रूप मे मूत्त होने से मनुष्य के व्यक्तित्व मे प्राकृतिक इकाई की केन्द्रीयता भी अधिक प्रखर हो गई है। इस प्रखरता का प्रमाण मनुष्य क अहकार मे मिलता है। व्यक्तित्व की इकाई के सरक्षण और सवधन क प्रसग मे यह अहकार प्रति फलित होता है। बाल्यकाल मे देह के सवधन के लिए तथा उसके बाद देह के सरक्षण के लिए यह अहकार अधिक सचेष्ट रहता है। प्राकृतिक उपकरणो की उपयोगिता देह के सवधन और सरक्षण दोना का साधन है। उपयोगिता एक तक प्रधान युक्ति है। उपयोगिता के प्रसग मे विशेषत शरीर क सरक्षण के लिए पदार्थो के रूप का महत्व बहुत कम होता है।

इस अर्थ म कि रूप की भी सत्ता है और वह भी ज्ञान का विषय है रूप को भी सत्य कहा जा सकता है। **किन्तु सामान्यत सत्य' का तात्पर्य तत्व' से ही अधिक होता है।** इसीलिए दार्शनिक प्रयोग म तत्व शब्द सत्य का पर्याय बन गया है। सामान्य भाषा के व्यवहार म तत्व का अर्थ सार है। इस व्यवहार म भी रूप *की उपेक्षा है। रूप अभिव्यक्ति का माध्यम है।* **जब 'सार' के अर्थ में 'तत्व का प्रयोग किया जाता है तो हमारा सकेत अभिव्यक्ति के रूप की अपेक्षा वस्तु के सत्तागत स्वरूप की ओर अधिक होता है। तत्व की प्रमुखता और रूप की उपेक्षा दोनों ही उपयोगिता के लक्षण हैं।** देह के सरक्षण और सवधन म यह उपयोगिता

स्वार्थमुखी बन जाती है तथा मनुष्य के सचेतन अहंकार में वह सजग हो जाती है। चेतना, उपयोगिता और स्वार्थ की त्रिपुटी से निर्मित होकर मनुष्य का अहंकार तिगुना प्रबल हो जाता है। अवगति के रूप में भी अहंकार ज्ञान का सजग केन्द्र रहता है और अवगति के विषय इस केन्द्र में प्रतिबिंबित और अन्वित होते हैं। इस प्रकार विषयों के प्रसंग से बहिर्मुखी होते हुए भी अवगति की वृत्ति अन्तर्मुखी और स्वार्थमयी है। उपयोगिता से मुक्त होने पर अवगति में तटस्थता का निःस्वार्थ भाव अवश्य आ जाता है। प्रकृति की विराटता, अनिवार्यता, बहिर्गतता आदि के कारण वैज्ञानिक अनुसंधान में यह तटस्थता बहुत सुरक्षित रहती है। किन्तु बौद्धिक ज्ञान में (जिसके विषय प्राकृतिक न होकर बौद्धिक प्रत्यय होते हैं) ममत्व का अवकाश, अधिक होने के कारण तटस्थता की संभावना कम और अहंकार की सम्भावना अधिक हो जाती है। अधिष्ठान की इकाई में सजग होने वाले अहंकार का सौन्दर्य में अन्वय कठिन होता है। हमारे मत में सौन्दर्य का उदय असंदिग्ध रूप से समात्मभाव की स्थिति में होता है। अहंकार की इकाई की कठोरता चेतना की अन्तर्मुखी गति के कारण सौंदर्य के प्रतिकूल है। सचेतन होते हुए भी सौन्दर्य 'अभिव्यक्ति' का रूप है। अभिव्यक्ति को आन्तरिक मानने पर भी उसकी गति अथवा वृत्ति को अन्तर्मुखी मानना उचित नहीं है। आन्तरिक अभिव्यक्ति भी बहिर्मुखी होती है, इसीलिए वह बाह्य माध्यमों में साकार होती है। तंत्रों की भाषा में हम अभिव्यक्ति को 'विमर्श' कह सकते हैं। बहिर्मुखी होने के कारण अभिव्यक्ति के उन्मेष में ही अधिष्ठान की इकाई का एकान्त भंग हो जाता है। स्वरूप से ही अभिव्यक्ति समात्मभाव के अनुकूल रूप ग्रहण करती है। बाह्य और साक्षात् न होने पर यह समात्मभाव चेतना के आन्तरिक और भावगत साम्य के रूप में वर्तमान रहता है।

अधिष्ठान विषय और उपयोगिता की दृष्टि से अवगति के सत्य का सौन्दर्य के साथ यही वैषम्य है। इनमें अधिष्ठान के अनुरोध और उपयोगिता का सौन्दर्य के साथ विषय की अपेक्षा अधिक विरोध है। समात्मभाव के अनुरूप साम्य में समाहित होने पर सौन्दर्य के साथ इनका भी सामंजस्य सम्भव है। किन्तु इस सामंजस्य में इनका स्वरूप इतना कठोर नहीं रहता। इकाई और उपयोगिता का अनुरोध मन्द होने पर ही यह सामंजस्य सम्भव हो सकता है। विषय के साथ सामंजस्य का विरोध इतना अधिक नहीं है। आन्तरिक भाव का साम्य होते हुए भी समात्मभाव

का साम्य आवश्यक रूप से निर्विषय रूप से नहीं रहता है। अहंकार और उपयोगिता के स्वार्थ का अनुरोध न होने पर विषयो के प्रसग समात्मभाव के लिए अनुकूल अवसर बन जाते हैं। समात्मभाव के अनुकूल होने पर वे सौन्दर्य के भी अनुरूप बन जाते हैं। अवगति के विषय के रूप मे 'सत्य' ज्ञान का तत्व है। किन्तु इसका सौन्दर्य मे कोई आवश्यक विरोध नही है। **अपने आप में नि सन्देह सौन्दर्य 'रूप का अतिशय'** है। किन्तु रूप मे साकार होने वाला सौन्दर्य पूर्णत निर्विषय अथवा निस्तत्व नही होता। तत्व के आश्रय मे ही सौन्दर्य साकार होता है। समात्मभाव के आन्तरिक भाव का साम्य तत्व के साथ साम्य के द्वारा सौन्दर्य को मूर्त्त बनाता है। **रूपो की विविधता की दृष्टि से बाह्य विषय सौन्दर्य के अधिक अनुरूप होते हैं। विविधता सौन्दर्य का एक आवश्यक उपलक्षण है।** तत्वो मे भी विविधता हो सकती है किन्तु उसका महत्व उपयोगिता के लिए ही है। सौन्दर्य की दृष्टि से रूपो की विविधता ही महत्वपूर्ण है। तत्व की अनेकता होने पर भी पदार्थों में जब रूप की एकता होती है तो सौन्दर्य मन्द हो जाता है। इसके विपरीत तत्व की एकता होने पर भी रूप की अनेकता मे सौन्दर्य खिलता है। इस प्रसग मे समान तत्व से बनी हुई अनेक-रूप बगाली तथा विलायती मिठाइयो का उदाहरण दिया जा सकता है। **वस्तुत विविधता रूप में ही अधिक स्फुट होती है।** वैज्ञानिक सिद्धान्त भौतिक जगत के सम्पूर्ण तत्व की एकता पर पहुँच रहे हैं। किन्तु रूपो की विविधता का उच्छेद वे भी नहीं कर सकते। **रूपो की विविधता, नवीनता का मार्ग प्रशस्त करती है। यदि विविधता और नवीनता सौन्दर्य के अन्तर्तम रहस्य हैं तो इनके अधिक अनुकूल होने के कारण 'सौन्दर्य' के अर्थ में 'रूप' का प्रयोग और भी अधिक समीचीन है।**

उदासीन और तटस्थ अवगति के रूप मे भी सत्य का सौन्दर्य के साथ कोई आवश्यक विरोध नही है। विषयो का ज्ञाता होते हुए भी विषयो से अतीत होने के कारण **तटस्थता चेतना का स्वरूपगत लक्षण है।** यह चेतना का वह सर्वातीत भाव है, जिसका वेदान्त मे बडी प्रबलता के साथ प्रतिपादन हुआ है। अवगति की यह उदासीनता और तटस्थता ज्ञान के वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे भी रहती है। उपयोगिता का दृष्टिकोण होने पर इस अवगति मे स्वार्थ का पक्षपात आ जाता है और अहंभाव सजग हो जाता है। **उदासीनता और तटस्थता में यदि समात्म और सौन्दर्य के लिए अभीष्ट परार्थभाव के दिव्य क्षितिज नहीं खुलते तो इतना अवश्य है कि समात्म और**

सौन्दर्य के विघातक अहंकार के द्वार भी बन्द रहते हैं। इस दृष्टि से उदासीनता और तटस्थता सौन्दर्य के उदय की भूमिका अवश्य बन सकती है। उदासीन अवगति प्रकाश का उज्ज्वल रूप है, जिसमें सौन्दर्य के सतरंगी इन्द्र धनुष खिल सकते हैं। अवगति की उदासीनता और तटस्थता में स्वार्थ और अहंकार का विराम हो जाने के कारण सौन्दर्य की विरोधी संभावनायें विगत हो जाती हैं तथा समात्म एवं सौन्दर्य की संभावनाओं के क्षितिज खुल जाते हैं। यदि सौन्दर्य के स्वरूप को भी हम आत्मगत अथवा व्यक्तिगत न होने के नाते तथा बहुत कुछ सामान्य होने के नाते वस्तुगत मान लें तो विषय के प्रति अवगति के और सौन्दर्य के प्रति भाव के अनुराग में हम बहुत कुछ समानता पा सकते हैं। अनुराग के इन दोनों रूपों में ही परानुराग अधिक और स्पष्ट रहता है। इतना अवश्य है कि अवगति के अनुराग की अपेक्षा सौन्दर्य का अनुराग अभिव्यक्ति के कारण अधिक प्रखर होता है किन्तु अवगति के अनुराग की आन्तरिक गहनता भी किसी प्रकार कम नहीं होती। वैज्ञानिक और कलाकार दोनों की निःस्वार्थ निष्ठा प्रायः समान ही होती है। वैज्ञानिक के तत्त्वमुख और सिद्धान्त-गत अनुसंधान की अपेक्षा सौन्दर्य की निष्ठा में अभिव्यक्ति अधिक होती है। इसीलिये वह अधिक प्रभावशाली प्रतीत होती है। किन्तु दूसरी ओर कर्तृत्व के अभिमान की संभावना सौन्दर्य के प्रसंग में अधिक रहती है। प्रकृति के सौन्दर्य की अपेक्षा कलाओं के रचनात्मक सौन्दर्य में इस अभिमान का अवकाश अधिक रहता है। इसीलिए अहंकार का अभिमान कलाकारों को प्रायः विमोहित कर उनकी साधना के उत्कर्ष का अवरोध करता रहा है। यह स्पष्ट है कि कलाकारों का यह विमोह दुरत्यया प्रकृति के प्रबल अनुरोध का प्रमाण है। स्वरूपतः कला और सौन्दर्य में इसके लिए अवकाश नहीं है तथा उक्त अनुरोध सौन्दर्य के उत्कर्ष में बाधक है। इसी बाधा का सबसे अधिक अतिक्रमण करने के कारण कालिदास, तुलसीदास, सूरदास आदि श्रेष्ठतम काव्य के विधाता बने।

समात्मभाव की सघनता एवं विपुलता तथा सौन्दर्य के रूपों की जटिलता भी उनके काव्य की श्रेष्ठता के कारण हैं। किन्तु उक्त विमोह से बचकर उदारभाव का उत्कर्ष होने पर ही सौन्दर्य के इन साधनों का भी उत्कर्ष सम्भव होता। रूप की रचनात्मक स्वतंत्रता कर्तृत्व के प्रसंग से कलाकारों में उक्त विरोध उत्पन्न कर सौन्दर्य की हानि करती है। प्राकृतिक तत्त्वों और सिद्धान्तों के मनुष्य के अधिकार से अतीत होने के कारण उदासीन सत्य की साधना करने वाले वैज्ञानिक प्रायः

इस विमोह मे बच जाते हैं। वैज्ञानिक की उदासीन अवगति मे भाव का उन्मेष नही होता तो कलाकार के विमोह का अवकाश भी कम रहता है। वैज्ञानिक अवगति की उदासीनता और तटस्थता अहकार के विमोह से ऊपर उठकर सौन्दर्य के उदारभाव के क्षितिजो का स्पर्श करने लगती है। इतना अवश्य है कि उदासीन अवगति मे भाव का उन्मेष स्पष्ट नही रहता, किन्तु उसकी पूर्ण सम्भावना रहती है। भाव का स्पष्ट उन्मेष न होने के कारण सत्य ही उदासीन अवगति मे अधिष्ठान की इकाई का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह भ्रम एक बाह्य प्रतीति है, वैज्ञानिक अवगति का आन्तरिक सत्य नही। उपयोगिता और स्वार्थ से रहित होने पर जहां अवगति स्वार्थ से रहित होती है वहां इकाई के बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं। इसी निर्वैयक्तिक दृष्टिकोण के द्वारा प्राकृतिक सत्य की निर्वैयक्तिकता के साथ साम्य के अनुरूप सत्य के वैज्ञानिक अनुसधान सभव होते हैं। साक्षात् समात्मभाव का अभाव होने के कारण ये अनुसधान व्यक्तिगत जान पडते हैं किन्तु वस्तुत ये निर्वैयक्तिक अधिक होते हैं। **वैज्ञानिक चेतना के गर्भ में एक अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म समात्मभाव का बीज भी खोजा जा सकता है।** वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उदासीन और तटस्थ निर्वैयक्तिकता की भूमि मे अकुरित और पुष्पित होकर यह बीज सौन्दर्य के नन्दन भी रच सकता है। वस्तुत अवगति की उदासीनता सौन्दर्य के प्रतिकूल नही वरन् बहुत कुछ उसके अनुकूल है। सौन्दर्य की साधना अथवा रचना मे समात्मभाव तथा अन्यरूपो मे 'भाव का अतिशय' अवश्य रहता है। किन्तु सौन्दर्य के रूपो मे भाव को देह प्रदान करने वाले तत्त्व तथा ये रूप भी अवगति के विषय अवश्य बनते हैं। अवगति चेतना का वह सामान्य रूप है जो मनुष्य के सभी अध्यवसायो मे वर्तमान रहता है। उपयोगिता और स्वार्थ की ओर अभिमुख होने पर यह अवगति विज्ञान और कला दोनो के प्रतिकूल बन जाती है। यह स्थिति प्रकृति के अनुरोध से चेतना के विवश होने पर आती है। जिन इकाइयों मे प्रकृति के भौतिक तत्त्व केन्द्रित हुए हैं, उसी प्रकार की इकाइयो मे चेतना के परिच्छिन्न और केन्द्रित होने पर विज्ञान और कलाओ का उक्त विरोध उत्पन्न होता है। **वैज्ञानिक अनुसंधान में इस केन्द्रीयता के शिथिल होने पर चेतना उदार बनकर विराट सत्यो की खोज करती है।** कला और साहित्य मे अवगति की उदासीनता मे समात्मभाव के अकुर प्रस्फुटित होते हैं। यह भाव एकान्त का स्पष्ट परिहार है। वैज्ञानिक अवगति मे यह परिहार स्पष्ट नही

रहता। किन्तु दूसरी ओर अहकार का विरोध रहने के कारण इस परिहार की असाध्ट भूमिका अवश्य रहती है। दार्शनिक अवगति और खोज के विषय मे भी यही सत्य है। विज्ञान और दर्शन मे इतना अन्तर है कि जहा विज्ञान का सत्य प्राकृतिक और वहिर्गत होता है, वहाँ दर्शन का सत्य बौद्धिक और आन्तरिक होता है। अत उसमे कला के रूप के समान ही कर्तृत्व के अभिमान की सम्भावना रहती है जो अध्यात्म और कला दोनो की साधना के अभीष्ट भाव को खडित कर देती है।

विज्ञानो तथा दर्शनो के प्राकृतिक एव मौतिक सत्य मे सौन्दर्य के साथ सामजस्य की समावनाये होते हुए भी कुछ ऐसे लक्षण भी होते हैं जो इस सामजस्य को कठिन बनाते हैं। इनमे कुछ लक्षण उन मानसिक स्थितियो से सबन्ध रखते हैं जिनमे कि विज्ञानो और दर्शनो का अभीष्ट ज्ञान समव होता है तथा अन्य कुछ लक्षण इस ज्ञान के स्वरूप पर निर्भर हैं। ज्ञान की मानसिक स्थितियो में हम उदासीनता, तटस्थता, निरपेक्षता आदि का विवरण ऊपर कर चुके है। ये स्थितिया ज्ञान की ऐसी मानसिक भूमिकाएँ हैं जो अपने भिन्न भाव के कारण सौन्दर्य मे उदय के अनुकूल नही हैं। इन्हे सौन्दर्य के पूर्णत प्रतिकूल तो नहीं कहा जा सकता किन्तु सौन्दर्य की उपेक्षा और सौन्दर्य के प्रति उदासीनता इनमे अवश्य निहित रहती है। फिर भी सौन्दर्य के प्रतिकूल न होने के कारण सौन्दर्य के साथ इनका सामजस्य सम्भव है। हमने इस सम्भावना का सकेत ऊपर किया है। सौन्दर्य के समान ही सत्य भी एक निरपेक्ष मूल्य है। अत सत्य की वास्तविक साधना मे अहकार के अतिक्रमण की प्रेरणा रहती है। अहकार का अतिक्रमण उस समात्मभाव की आवश्यक भूमिका है जो हमारे मत में सौन्दर्य का आधार है। सत्य, श्रेय, सौन्दर्य तीनो की साधना मे अहकार की आशका हो सकती है। यह निश्चित है कि अहकार की सम्भावना इस साधना को शिथिल तथा इन मूल्यो के स्वरूप को मन्द बनाती है। श्रेय और सौन्दर्य की भाति सत्य की साधना मे 'साक्षात्' समात्मभाव का अधिक योग आवश्यक रूप से अपेक्षित न होने के कारण सत्य के प्रसग मे अहकार की समावना अधिक रहती है। सत्य के निरपेक्ष मूल्य की प्रभुता ही इस अहकार की अर्गला बन सकती है। यही अर्गला सौन्दर्य के साथ सत्य के सामजस्य की वन्दनवार भी बन सकती है। सत्य के निरपेक्ष मूल्य की उदासीनता में 'भाव' का अकुर उदय होते ही सत्य की भूमि में

सौन्दर्य के कुसुम खिलने लगते हैं। भाव का अभिषेक सत्य की भूमि को सरस बनाकर उसमें सौन्दर्य के नन्दन सजाता है। सत्य का तत्व 'रूप' की सज्जा से अलंकृत होकर सुन्दर बन जाता है।

किन्तु ज्ञान के स्वरूप में कुछ ऐसे लक्षण होते हैं जो सौन्दर्य के साथ सत्य के सामञ्जस्य का कठिन बनाते हैं। भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभिधा की सीमायें इन कठिनाइयों में प्रथम हैं। मूल रूप में सत्य एक अनुसंधान और अनुभूति है। किन्तु सत्य पूर्णतः इन्हीं में सीमित नहीं रहता। वह बड़ी प्रबलता से अभिव्यक्ति की आकांक्षा करता है। भाषा के रूप में प्राप्त ज्ञान का विपुल भांडार सत्य की इसी आकांक्षा का फल है। मूल रूप में यह अभिव्यक्ति सौन्दर्य का स्वरूप है। अतः हम इसे सत्य और सौन्दर्य के बन्धुत्व का सूत्र मान सकते हैं। किन्तु ज्ञान के लिये अभीष्ट अभिव्यक्ति में अभिधा की यथार्थता का इतना दृढ़ अनुरोध रहता है कि उसमें सौन्दर्य के अंकुर नहीं खिल पाते। सामान्य रूप से सौन्दर्य 'रूप का अतिशय' है। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। अतः उसमें रूप के अतिशय के लिये अवकाश नहीं है। वस्तुतः अभिधा के लिये रूप का अतिशय एक प्रकार का दोष है। अभिधा रूप की अपेक्षा तत्व की ओर अधिक अभिमुख रहती है। उसके लिए रूप का अधिक महत्व नहीं होता। इसी कारण वह न्यूनतम रूप से सन्तुष्ट रहती है और सौन्दर्य की सज्जा से विमुख रहती है। अभिधा को हम प्रोषित पतिका नायिका के समान मान सकते हैं जिसे प्रिय के वियोग के कारण शृंगार की कामना नहीं होती। एक प्रकार से वह उस विधवा के समान है जो अपने स्वरूप गत धर्म के अनुरोध से रूप की सज्जा और सौन्दर्य के प्रसव से वंचित हो जाती है। रूप के समान ही तत्व की ओर भी अभिधा का दृष्टिकोण यथार्थवादी होता है। रूप की अपेक्षा अभिधान में तत्व का अधिक महत्व होता है। अतएव रूप की न्यूनता के समान तत्व की न्यूनता का आग्रह तो अभिधा में नहीं होता। फिर भी तत्व ■ अतिशय की ओर से अभिधा आशंकित रहती है। अभिधान में तत्व की जो ऋजु और स्पष्ट अभिव्यक्ति अभीष्ट होती है वह तत्व की विपुलता को सीमित करती है। अभिधान में तत्व और रूप की समस्पेक्षतः अभीष्ट होती है, अतः रूप की न्यूनता के साथ तत्व भी परिसीमित हो जाता है। अभिधा की स्पष्ट अभिव्यक्ति के कारण उसमें तत्व की अनुक्त आकृति का अवशेष नहीं रहता जैसा कि लक्षणा और व्यंजना में रहता है। यह अनुक्त आकृति 'तत्व का अतिशय' है। इसी के संयोग

से लक्षणा और व्यजना में रूप का अतिशय प्रगत होता है तथा अभिव्यक्ति में सौन्दर्य उदित होता है। अभिधा की अभिव्यक्ति भी नीरूप नही होती, यद्यपि उसका रूप सरल होता है। सरल रूप भी पूर्णत सौन्दर्य से रहित नही होता। मूलत 'रूप' मात्र सौन्दर्य का प्रकाशक है। इसीलिए भाषा के व्यवहार में 'रूप' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना। सभ्यता के आरम्भ तथा भाषा के उदय काल मे अभिधा के सरल रूप मे भी सौन्दर्य दिखाई दिया होगा। अभिधा के इस सौन्दर्य का आभास हमे बालको की आरम्भिक वाणी मे मिलता है। किन्तु सभ्यता, भाषा और आयु के विकास के साथ अधिक परिचय के कारण अभिधा के सरल रूप मे आकर्षण नही रहता। सुग्राह्य बन कर अभिधा की सरल अभिव्यक्ति सौन्दर्य विहीन हो जाती है। इसीलिए लक्षणा और व्यजना की अभिव्यक्ति मे रूप और तत्व के अतिशय के मार्ग से अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का विकास हुआ है। सौन्दर्य की प्रखरता का रहस्य 'रूप के अतिशय' में ही है। 'तत्व के अतिशय' के द्वारा 'रूप का अतिशय' सम्पन्न होता है और सौन्दर्य समृद्ध होता है। फिर भी साहित्य और कला में रूप की ही विशेषता रहती है। इसके विपरीत ज्ञान के अभिधान में तत्व प्रमुख होता है। 'तत्व' की प्रमुखता के कारण ज्ञान में 'रूप' का सौन्दर्य गौण हो जाता है। ज्ञानरूप होने के कारण सत्य मे भी तत्व की प्रधानता और सौन्दर्य की गौणता रहती है। सत्य अथवा ज्ञान के अभिधान की तत्वमुखी दृष्टि उसे रूप के अतिशय से विमुख तथा सौन्दर्य से वचित करती है।

तत्व प्रधान अभिधान के रूप अत्यन्त सीमित है। तर्क शास्त्रो मे इन रूपो की सख्या बहुत कम बताई जाती है। अरस्तु के काव्य शास्त्र में यह सख्या केवल चार है। अभिधान के रूप चार से अधिक नही हो सकते। सामान्य, विशेष, समर्थन और निषेध के अनुसार अभिधान के ये चार रूप बनते हैं। तर्क-शास्त्र और व्याकरण की दृष्टि से ये चार रूप ही अभिधान का सर्वस्व हैं। रूप की दृष्टि से अभिधा की यह सीमा है। सज्ञाओ और क्रियाओ के रूप मे प्राप्त तत्व के अवलब से ये रूप बहुरूप बनते दिखाई देते हैं। किन्तु रूप की दृष्टि से वे अपनी चतुष्कोटि सीमा मे ही रहते है। स्वरूप की दृष्टि से ऋजुता के कारण अभिधा का रूप परिमाण मे अल्प होता है किन्तु भेदो की दृष्टि से भी इस रूप की सख्या अत्यन्त सीमित रहती है। सौन्दर्य का रहस्य रूप की विपुलता और विविधता में निहित है। इसीलिए सत्य के अभिधान में सौन्दर्य का प्रकर्ष नहीं होता।

सीमित होने के साथ-साथ ज्ञानमय बौद्धिक सत्य के रूप 'निश्चित' होते हैं। उनमें नवीनता के लिये कोई अवकाश नहीं होता। इसके विपरीत सौन्दर्य नित्य नवीन रूपों की रचना है। इन्हीं रूपों की रचना में कला साकार होती है। सौन्दर्य के ये रूप बौद्धिक विचार की अभिव्यक्ति के समान 'सामान्य' नहीं होते। प्रत्येक 'रूप' की अपनी विशेषता होती है। यह कहना उचित होगा कि ज्ञान और विचार 'सामान्य' का क्षेत्र है। रूप और सिद्धान्त दोनों ही प्रकारों में हम ज्ञान के क्षेत्र में सामान्यों की खोज और स्थापना करते हैं। **सौन्दर्य नये-नये और विशेष रूपों की सृष्टि है। इन रूपों में साकार होकर परिचित और समान तत्व भी नवीन एवं विशेष सौन्दर्य से खिल उठते हैं।** इसका एक कारण कला और साहित्य में रूप और तत्व का अधिकतम सामंजस्य है। इसी सामंजस्य के कारण कला के तत्व और रूप का विश्लेषण नहीं हो सकता। जिस प्रकार शक्ति से विरहित होकर शिव 'शव' के समान रह जाते हैं, उसी प्रकार रूप से विच्छिन्न होकर कला का तत्व निर्जीव हो जाता है। कला का विश्लेषण कला की हत्या है। कला और साहित्य की आधुनिक आलोचना बहुत कुछ इस हत्या की अपराधी है। अत्यन्त विशिष्ट होने के कारण कला के रूप का विश्लेषण प्रायः असंभव ही है। अतः कला और साहित्य की आलोचना मुख्यतः तत्व का विवेचन-भर रह जाती है। आधुनिक आलोचना यह भूल रही है कि तत्व का विवेचन कला की आलोचना नहीं है। कला और साहित्य का तत्व जीवन, दर्शन, धर्म, नीति, विज्ञान, आदि के तत्व से भिन्न नहीं हैं। कला का स्वरूप उसके रूपगत सौन्दर्य में ही निहित है। यद्यपि कला में रूप का तत्व से साम्य अभीष्ट है, फिर भी कला में रूप ही प्रधान रहता है। यदि संभव हो सके तो रूप के विशेष सौन्दर्य का विवेचन ही कला की सच्ची आलोचना है। अन्य कलाओं में रूप की प्रधानता स्पष्ट होने के कारण कला मर्मज्ञों का ध्यान रूप की ओर अधिक रहता है। किन्तु साहित्य में शब्द का सार्थक माध्यम तत्व से निर्भर रहता है। अतः साहित्य की आलोचना में अर्थ तत्व का विवेचन ही अधिक रहता है। यह साहित्य के अनुशीलन की अत्यन्त भ्रान्त दिशा है। इसी दशा में साहित्य के आधुनिक अध्ययन और आलोचना का विकास होने के कारण साहित्य का रचनात्मक रूप क्षीण हो रहा है (यद्यपि आलोचना बढ़ रही है) तथा साहित्य के सौन्दर्य का आस्वादन मन्द हो रहा है। किसी सीमा तक यह वर्तमान युग की बौद्धिकता का भी परिणाम है। कुछ भी हो

यह कला के भविष्य के लिये अघातक है। कला और साहित्य का सजीवन तत्व प्रधान आलोचना के द्वारा नहीं वरन् उनके विशेष रूप के आस्वादन पर निर्भर है। अपने पूर्ण रूप में यह आस्वादन अनिर्वचनीय है, क्योंकि सौन्दर्य के विशेष रूप का विश्लेषण नहीं हो सकता और निर्वचन विश्लेषण के द्वारा ही होता है। रूप के विश्लेषण की विधि से आलोचना में जो कुछ मिलता है, वह केवल ऐसे सामान्य रूपों का अनुसंधान है जो एक से अधिक कलाकृतियों में मिल सकता है। यह अनुसंधान इसीलिए कला-कृति के विशेष रूप के विवरण में असमर्थ रहता है। एक प्रकार से विशेष रूप में सामान्य के अनुसंधान का अनुरोध किसी भी कलाकृति के विशेष सौन्दर्य के आस्वादन में बाधक होता है। तत्व की सामान्य व्याख्या की सहायता से साहित्य के विशिष्ट रूप-सौन्दर्य के आस्वादन की प्राचीन भारतीय प्रणाली आधुनिक आलोचना की प्रणाली की अपेक्षा साहित्य के जीवन्त सौन्दर्य को सुरक्षित रखने में अधिक समर्थ और हितकारी है।

'रचनात्मकता' कला और साहित्य के सौन्दर्य एक और विलक्षण विशेषता है। ज्ञान को भी आध्यात्मिक सीमाओं पर पहुँचने पर हम रचनात्मक मान सकते हैं। किन्तु विज्ञान, दर्शन, आदि की बौद्धिक सीमाओं में उसका स्वरूप प्रधानतः अनुसंधान और ग्रहण ही रहता है। ज्ञान के सामान्य और व्यापक तत्व हमारी चेतना में हमारी रचना के रूप में नहीं वरन् एक स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष सत्य की वस्तुगत व्यवस्था के रूप में अनावृत होते हैं। भौतिक और बौद्धिक दोनों ही प्रकार के तत्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनकी रचना में हमारा अधिकार बहुत कम है। प्रधानतः ये हमारी अवगति के ही विषय जान पड़ते हैं। हमारे रचनात्मक अधिकार का क्षेत्र 'रूप' ही है। रूप के विशेष वैभव के कारण कला और साहित्य सत्य के साधक विज्ञान, दर्शन आदि की अपेक्षा अधिक रचनात्मक है। विज्ञानों में भौतिक सत्य का विवरण और दर्शनों में बौद्धिक सत्य का चिन्तन अधिक होता है। रूप की रचना का प्रसंग दोनों में ही नहीं रहता। रचनात्मकता के आधार पर सत्य और सौन्दर्य में एक और भी भेद किया जा सकता है। भौतिक और बौद्धिक सत्य का स्वरूप विश्लेषणात्मक होता है। इस विश्लेषण की दृष्टि से ही विज्ञान और दर्शनों में सत्य का अनुसंधान किया जाता है। यह अनुसंधान प्रधानतः बौद्धिक होता है। विश्लेषण बुद्धि का धर्म और लक्षण है। इसके विपरीत सौन्दर्य का स्वरूप संश्लेषणात्मक है। जटिल होते हुए भी उसके विधायक अंगों का विश्लेषण नहीं

किया जा सकता। विश्लेषण का प्रयत्न करने पर सौन्दर्य की विशेष आभा विशीर्ण हो जाती है, जिस प्रकार जीव-विज्ञान में जीवों के अगों का विच्छेदन करने पर उनका प्राणमय जीवन समाप्त हो जाता है। सौन्दर्य की यह विश्लेषणात्मकता रूप के विधायक अगों के परस्पर समवाय तक ही सीमित नहीं है। रूप और तत्व का समवाय तथा सश्लेष भी इसके अन्तर्गत है। इस जटिल समवाय और संश्लेष से युक्त कला और साहित्य की प्रत्येक कृति अपनी सम्पूर्ण रचना में विशिष्ट बन जाती है। यह अनिर्वचनीय विशिष्टता ही कला और साहित्य का चरम लक्ष्य और उनके सौन्दर्य का परम रहस्य है।

विचार के बौद्धिक तत्व का एक अन्य लक्षण उसकी 'तार्किक संगति' है। यह सगति विचार की इकाइयों की एक अनुगत परम्परा है। इस परम्परा के अनुगम म अविरोध का सिद्धान्त विचार-क्रम को सगत बनाता है। आधार और निष्कर्ष के सम्बन्ध मे यह सगति अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। यह सगति बौद्धिक होने के कारण विचार का ऐसा क्रम है जिसका विश्लेषण एव व्याख्यान किया जा सकता है। जीवन का महत्त्वपूर्ण अग होने के कारण विचार की इस सगति का तिरस्कार कला मे भी नही किया जा सकता। किन्तु कला और साहित्य की कृतियो मे यह सगति एक अन्तर्भाव के रूप मे ही वर्तमान रहती है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से पुष्पो की रचना म उनके विधायक भौतिक तत्व अन्तर्निहित रहते हैं। बौद्धिक तत्व के इस अन्तर्निधान के अतिरिक्त कला का विशेष स्वरूप उस के रूपगत सौन्दर्य में ही प्रकाशित होता है। कला के इस रूप मे सगति का प्रसग नही रहता। सगति आधार और निष्कर्ष के रूप मे विचार का एक अनिवार्य क्रम है। भौतिक सत्य के क्षेत्र मे यह सगति कार्य कारण का सम्बन्ध बन जाती है। कला के सौन्दर्य की रचना मे कार्य-कारण-सम्बन्ध अथवा आधार-निष्कर्ष के सम्बन्ध के रूप मे बौद्धिक सगति का महत्त्व नही होता यद्यपि कला के अन्तर्गत तत्व के लक्षण के रूप मे वह अवश्य अपेक्षित होती है। कला की समग्र रचना में इस संगति से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व और रूप का तथा रूप के विधायक अगो का परस्पर साम्य अथवा सामंजस्य होता है। यह सामजस्य केवल बौद्धिक सगति नही है जो कार्य और निष्कर्ष की अनिवार्य अनुगति के रूप मे प्रकट होती है। कलाओ की आलोचनाओ मे प्राय विवेच्य अगो के सम्बन्ध की उनकी परस्पर सगति का सकेत किया जाता है। किन्तु यह सगति बौद्धिक सगति की भाँति केवल अविरोध अथवा अनुगति के रूप मे

ही नहीं होती। इनकी अपेक्षा कला की इस सगति मे साम्य और सामजस्य अधिक होता है। यह सामजस्य केवल अविरोध नही है। इस साम्य का प्रमुख लक्षण कला के सौन्दर्य के विधायक अगो का परस्पर सम्भावन और उत्कर्षण है। साम्य के इसी रूप में रूप और तत्व दोनो के अतिशय समृद्ध होकर एक अविवेच्य और अनिर्वचनीय किन्तु आस्वाद्य सौन्दर्य की रचना करते है। कलात्मक सौन्दर्य के इसी समग्र और सश्लिष्ट रूप मे समाहित होकर जीवन और जगत का बहुरूप सत्य भी सुन्दर बन जाता है। यह कला मे अभीष्ट तत्व और रूप के साम्य के रूप मे सम्पन्न होता है। इस साम्य मे सगति, सामान्यता, विश्लेषण आदि बौद्धिक लक्षणो का पूर्णत तिरोधान नही होता, किन्तु इतना अवश्य है कि इनकी प्रकट रूप मे प्रधानता नहीं रहती। काव्य में शब्द के सार्थक माध्यम के कारण सत्य के बौद्धिक लक्षण पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान रहते हैं। मनुष्य के विकास मे बुद्धि और वाणी का उत्कर्ष साथ-साथ हुआ है। अत बुद्धि और भाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस कारण बौद्धिक तत्व का समाहार साहित्य और काव्य में अनिवार्य है। किन्तु तत्व और रूप के साम्य के द्वारा ही यह समाहार काव्य के कलात्मक सौन्दर्य का विधायक बनता है। बौद्धिक सत्य और कलात्मक सौन्दर्य के स्वरूप मे उपर्युक्त भिन्नताये होते हुए यह साम्य किस प्रकार सम्पन्न होता है, इसकी व्याख्या करना कठिन है। यह साम्य ही कलाकार की रचनात्मक वृत्ति का चमत्कार और कला के सौन्दर्य का परम रहस्य है। यही चमत्कार और रहस्य कलाकृतियो के सौन्दर्य की श्रेष्ठता का अनिर्वचनीय मानदण्ड भी है। बौद्धिक विश्लेषण के द्वारा इसकी व्याख्या नही की जा सकती, किन्तु कलाकारो के समान आत्मिक अध्यवसाय के द्वारा सौन्दर्य की श्रेष्ठता का अनिर्वचनीय आस्वादन अवश्य किया जा सकता है। यही आस्वादन कला और साहित्य की अभिरासा का सही रूप है। इसी मे कलाकार और लोक का वह साम्य एव समात्मभाव सम्पन्न होता है, जो सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे साक्षात् रूप मे मिलता है। इसी साम्य और समात्मभाव मे कलाकार की साधना कृतार्थ होती है तथा कला का आस्वादन धन्य होता है।

अध्याय १०

सत्य और श्रेय

काव्य अथवा साहित्य के प्रसग मे सत्य-शिव-सुन्दरम् के विवेचन के लिए इन तीनो मूल्यो के स्वरूप एव पारस्परिक सबन्ध का निरूपण आवश्यक है। साथ ही काव्य मे इन मूल्यो के स्थान का विवरण भी अपेक्षित है। काव्य एक कला है। कला सौन्दर्य की साधना है। सौन्दर्य 'रूप का अतिशय' है। इस दृष्टि से कला रूप की रचना है। वाद्य सगीत के समान कुछ कलाय पूर्णत रूपात्मक हो सकती है। इनका सौन्दर्य शुद्ध रूप से निर्मित होता है। जीवन अथवा जगत् के उपादान के रूप मे इस शुद्ध रूप मे किसी तत्व का आवश्यक आधार नही रहता। यद्यपि प्राय शुद्ध रूपात्मक कलाओ का सौन्दर्य भी तत्व का आधार लेकर साकार होता है, फिर भी इनका शुद्ध रूप भी सभव और प्रचलित है। ऐसी शुद्ध रूपात्मक कलाओ का सौन्दर्य भी उनके 'रूप' मे ही अन्वेषणीय है। सगीत की कला मे प्राय भाव-तत्व का आधार अल्प ही रहता है और उसका सौन्दर्य मुख्यत उसकी रूप-योजना मे ही प्रकाशित होता है। फिर भी अधिकाश कलाओ मे प्राय तत्व का अवलब रहता है। यह तत्व जीवन और जगत का सत्य है। सामान्यत इस सत्य को सृष्टि और जीवन का 'यथार्थ' कह सकते हैं, यद्यपि ज्ञान-विज्ञानो और दर्शनो के विश्व-सिद्धान्त तथा जीवन के आदर्शमूलक अभीष्टो को भी हम सत्य के अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सकता है। विशेषत सत्य का स्वरूप उदासीन अवगति ही है। सामान्यत विश्लेषण आदि इसके लक्षण हैं। सत्य के ये लक्षण सौन्दर्य के साथ कहाँ तक सगत हैं तथा कला और काव्य के तत्व के रूप मे गृहीत सत्य का इन भिन्न लक्षणो के रहते हुए किस प्रकार सामजस्य सभव है, यह कला की विवेचना का एक महत्वपूर्ण विषय है। पिछले अध्याय मे हमने सत्य एव सौन्दर्य के स्वरूप मे विवेक करने का प्रयत्न किया है और साथ ही उनके सामजस्य की दिशा का सकेत भी किया है।

व्यापक अर्थ मे श्रेय का भी सत्य के अन्तर्गत समावेश हो सकता है। सत्य को जीवन के सार अथवा साध्य के रूप मे मानने पर श्रेय और सौन्दर्य के मूल्य भी उसमे समाहित हो जाते हैं। किन्तु अवगति के यथार्थ के रूप मे 'सत्य' का सीमित

प्रयोग करने पर श्रेय और सौन्दर्य से उसका विवेक किया जा सकता है। पिछले अध्याय में हमने सत्य और सौन्दर्य का ऐसा ही विवेचन करने का प्रयत्न किया है। सत्य से श्रेय का विवेक करना अधिक कठिन है। इसका कारण यह है कि सत्य और श्रेय दोनों कला के उपादान तत्व हैं। उपादान के रूप में उनका साम्य उनके विवेचन की कठिनाई है। अंग्रेजी-कवि कीट्स की भाँति कोई सौन्दर्य को ही जीवन का परम सत्य मान सकता है और सौन्दर्य को सत्य का पर्याय बना सकता है। किन्तु इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वे दोनों जीवन के सार एवं मौलिक साध्य हैं। सौन्दर्य को तो इस अर्थ में सत्य कहा जा सकता है किन्तु सत्य में क्या सौन्दर्य है यह बताना कठिन है। जीवन के मौलिक लक्ष्य होते हुए भी सत्य और सौन्दर्य में अन्तर है। सत्य जीवन और कला का तत्व एवं उपादान है। सौन्दर्य का मर्म 'रूप' में निहित है। तत्व और रूप के आधार पर सत्य और सौन्दर्य का विवेक किया जा सकता है। हमने इसी आधार पर पिछले अध्याय में इसका विवेचन किया है। वर्तमान यथार्थ अथवा सनातन और सार्वभौम व्यवस्था एवं सिद्धान्त के रूप में सत्य का स्थिर रूप सौन्दर्य के 'कार्य' एवं 'भव्य' (होने वाले) रूप से स्पष्टतः भिन्न है। सौन्दर्य के 'कार्य' होने के कारण ही 'भव्य' शब्द सौन्दर्य का पर्याय बना। मूल व्युत्पत्ति के अनुसार 'सत्' के प्रत्यय के आधार पर सत्य को भी 'कार्य' मानकर सत्य और सौन्दर्य का समीकरण किया जा सकता है। किन्तु इस समीकरण में सम्पूर्ण सत्य का समाधान नहीं होता। सत्य का सम्पूर्ण रूप कार्य नहीं है। सामान्य और वैज्ञानिक दोनों प्रकार के प्रयोगों में 'कार्य' की अपेक्षा सत्य को एक सनातन तथ्य तथा शाश्वत व्यवस्था समझा जाता है। काल और कार्यता के भावों से सत्य का सम्बन्ध न होने के कारण ही दर्शनों में कालातीत और शाश्वत सत्य की स्थापनायें हुई हैं। यद्यपि काल स्वयं जीवन और जगत का एक यथार्थ है तथा इस रूप में वह भी सत्य के अन्तर्गत है किन्तु सामान्यतः सत्य सत्ता का काल निरपेक्ष रूप है। वह अपनी सत्ता में स्वतंत्र भी है। मनुष्य की रचनात्मक शक्ति का उसमें अधिकार नहीं है। वह केवल अवगति का विषय बन सकता है। मनुष्य सत्य का निर्माण नहीं कर सकता वह केवल सत्य की खोज अथवा स्थापना कर सकता है। इसके विपरीत सौन्दर्य मनुष्य की रचना का क्षेत्र है। प्रकृति का सौन्दर्य सृष्टि का एक सहज सत्य है किन्तु उसमें भी मनुष्य ने अपनी रचना का प्रसार किया है। कलाओं का सौन्दर्य तो पूर्णतः मनुष्य की रचना है। इस रचना

का रूप से विशेष सबन्ध है। संगीत के शब्द और कलाओं के भाव-तत्व के रूप में मनुष्य तत्व की भी रचना करता है। फिर भी 'रूप' में ही कलाकारों की रचना विशेषत कृतार्थ होती है। इसीलिये भाषा के प्रयोग में 'रूप' शब्द और सौन्दर्य का पर्याय बना है। रचनात्मक और रूपात्मकता सौन्दर्य के ऐसे विशेष लक्षण हैं जो जीवन और जगत के यथार्थ तथा विश्व व्यवस्था और सार्वभौम सिद्धान्तो के अर्थ मे प्रयुक्त सत्य म सौन्दर्य का अन्तर स्पष्ट करते हैं।

सत्य के समान श्रेय भी जीवन का तत्व है। सत्य के समान ही श्रेय के लिए भी रूप का अधिक महत्व नही है। रूप की महिमा सौन्दर्य का ही विशेष अधिकार है। रूप की गौणता और तत्व की प्रधानता होने के कारण सत्य और श्रेय मे इतनी समानता है कि उनमे विवेक करना कठिन है। **दोनों में एक आरम्भिक भेद यह किया जा सकता है कि सत्य जगत और जीवन दोनो का सनातन तत्व है। जगत के यथार्थ और जीवन के साध्य दोनो ही इसमें सम्मिलित है। इस व्यापक सत्य की तुलना में श्रेय को जीवन का सत्य कहा जा सकता है। इस प्रकार यह व्यापक सत्य का एक अग बन जाता है।** किन्तु सामान्यत सत्य का प्रयोग जगत और जीवन के यथार्थ तथा दोनो के सार्वभौम सिद्धान्तो के अर्थ मे ही होता है। इस अर्थ मे प्रयुक्त होने पर सत्य का श्रेय से विवेक किया जा सकता है। **इस सीमित सत्य की तुलना में श्रेय जीवन का साध्य है।** जीवन का एक मौलिक मूल्य होने के नाते उक्त सत्य को भी जीवन का साध्य कहा जा सकता है किन्तु वस्तुत वह सत्य साध्य नही, वरन् उसकी खोज और उसकी अवगति ही जीवन का साध्य है। **स्वरूप से वह सत्य सनातन और सर्वदा सिद्ध है।** सत्य के स्वतन्त्र और सिद्ध होने के कारण उसकी वाछनीयता का प्रश्न असगत है। जो अनिवार्य है वह मनुष्य का अभीप्सित है या नही यह विचार नितान्त निरर्थक है। अपने स्वरूप मे स्वतन्त्र और सिद्ध होने के कारण सत्य का निर्णय अधिक निश्चित रूप से किया जा सकता है। यद्यपि विज्ञानो मे भी सत्य के सम्बन्ध मे मतभेद रहता है, फिर भी सत्य के वस्तुगत होने के कारण उसका उत्तरोत्तर अधिक और अविवाद्य निर्णय हो जाता है तथा सत्य का स्वरूप स्थिर होता जाता है। **सत्य की यह स्थिरता विज्ञानों के विकास का क्रम है।** श्रेय के सम्बन्ध मे ऐसा निर्णय अधिक कठिन है। श्रेय जीवन का अभीष्ट साध्य है। मनुष्य के द्वारा साध्य होने के साथ साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी मनुष्य के स्वतन्त्र निर्णय के द्वारा होता है। मनोविज्ञान के अनुसार

अथवा चेतना के प्रसग म श्रेय मनुष्य की इच्छा का विषय है, जब कि सत्य केवल उसके ज्ञान अथवा अवगति का विषय है। अवगति विषय का उदासीन ग्रहण है। अत सत्य का स्वरूप भी उदासीन होता है। किन्तु मनुष्य की इच्छा का विषय होने के कारण श्रेय मनुष्य का वाञ्छित साध्य है। मनुष्य की इच्छा मे भाव अथवा भावना का प्रसग रहता है जो श्रेय के साध्य को स्पृहणीय बना देता है। सनातन सत्य की तुलना में जीवन के साध्य के रूप में यह श्रेय मनुष्य का 'कार्य' है। मनुष्य अपनी इच्छा से उसका वरण एव साधन करता है। मनुष्य समाज का सार्वभौम साध्य होने के नाते उसे सत्य के समकक्ष रखा जा सकता है। किन्तु सत्य के समान किसी एक रूप मे उसे स्थिर करना कठिन है। इसीलिए श्रेय के साध्य के सबन्ध मे अधिक और अनिर्णित मतभेद रहते हैं। जीवन का श्रेय जगत के सत्य की भाति वस्तुगत नही है। अत किसी असदिग्ध यथार्थता के आधार पर विज्ञानो के मतभेद की भाँति श्रेय-सम्बन्धी मतभेद का निर्णय सरलता से नही हो सकता। इसी कारण जहा विज्ञानो के क्षेत्र मे कुछ अन्तिम निर्णय सभव होते हैं तथा सत्य का स्वरूप अधिकाधिक स्थिर और निश्चित होता जाता है वहाँ श्रेय-सबन्धी विवाद उत्तरोत्तर बढते जाते हैं और श्रेय का स्वरूप अधिक अनिश्चित बनता जाता है। केवल प्राकृतिक श्रेय का वैज्ञानिक यथार्थ ऐसा है जो वैज्ञानिक सत्य के समकक्ष होने के कारण उसी की भाँति अधिकाधिक निश्चित होता जाता है। मनुष्य के जीवन का प्राकृतिक श्रेय एक प्रकार से विश्व की वस्तुगत व्यवस्था का ही अग है। इस प्रकार वह वैज्ञानिक सत्य के समकक्ष भी है। विज्ञानो मे ही इसका अनुसधान होता है। प्राकृतिक श्रेय का स्वरूप निर्धारण मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नही है क्योंकि वह एक वस्तुगत व्यवस्था का अग है। प्राकृतिक श्रेय के सम्बन्ध मे उसका ग्रहण अथवा त्याग ही मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है। उसका ग्रहण अथवा त्याग करके ही मनुष्य अपना हित या अहित कर सकता है। किन्तु यह हित और अहित दोनो सृष्टि की उस वस्तुगत व्यवस्था के सिद्धान्तो के आधार पर सभव होते हैं, जो वस्तुगत वैज्ञानिक सत्य के समकक्ष है। प्राकृतिक सत्य और प्राकृतिक श्रेय में केवल इतना ही अन्तर किया जा सकता है कि जो अपने निरपेक्ष रूप में 'सत्य' कहलाता है वही मनुष्य के जीवन से सापेक्ष बनकर श्रेय की सज्ञा से विभूषित होता है।

श्रेय का जो रूप मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है उसे प्राकृतिक श्रेय से

विवेक करने के लिये आध्यात्मिक श्रेय कहा जा सकता है। **इसकी स्थापना और साधना दोनों में मनुष्य का अधिकार है।** मनुष्य अपनी इस इच्छा के अधिकार मे स्वतन्त्र है। 'इच्छा को सकल्प भी कहते हैं। सकल्प की व्युत्पत्ति मे रचनात्मकता का सूत्र है। कल्प का अर्थ रचना है। इसीलिए विधाता की सृष्टि को कल्प कहते हैं। इच्छा के द्वारा श्रेय का निर्धारण सकल्प अर्थात् सम्यक् रचना है। मनुष्य पूर्ण स्वतत्रता पूर्वक इसकी स्थापना और साधना करता है। यही मनुष्य की अन्य कम स्वतन्त्र रचनाओ की तुलना मे श्रेय की इस रचना का सम्यक् भाव है। आध्यात्मिक तत्व-दर्शनो म इस श्रेय को भी एक निरपेक्ष सत्य का रूप देने का प्रयत्न किया जाता है। अध्यात्म की इस भूमि पर जाकर प्राकृतिक भूमि के समान सत्य और श्रेय समानार्थक बन जाते हैं अथवा श्रेय एक व्यापक अर्थ मे समाहित हो जाता है। किन्तु अध्यात्म दर्शनो का यह दृष्टिकोण स्वय सर्वमान्य नही है।

सत्य और श्रेय में एक अन्तर यह है कि श्रेय सत्य की अपेक्षा अधिक क्रियात्मक और सृजनात्मक है। यदि सत्य ज्ञान स्वरूप है तो श्रेय कर्म स्वरूप है। ज्ञान को भी हम मानसिक क्रिया मान सकते हैं। फिर भी ज्ञान मे अवगति के अनुभव की ही प्रधानता है। श्रेय और सौन्दर्य मे भी अनुभूति का एक गहन मर्म होता है। किन्तु ज्ञान की भाति अनुभूति ही श्रेय और सौन्दर्य का सर्वस्व नही है। सत्य, श्रेय और सौन्दर्य तीनो के मर्म मे रहने वाली अनुभूति को मानसिक क्रिया मान सकते हैं। किन्तु सत्य के अवगम की अनुभूति चेतना की एक सहज विवृति के रूप मे होती है। विषयो के ज्ञान मे चेतना की प्रतिक्रिया फलित होती है। किन्तु क्रिया के रूप मे इस प्रतिक्रिया का आभास हमें नही होता। कदाचित् चेतना की क्रिया स्वभाव से ही ऐसी अलक्षित होती है। वस्तुत ज्ञान की क्रिया ही नही ज्ञान की अवगति भी बहुत कुछ अलक्ष्य होती है। हमे ज्ञान का ज्ञान, जिसे दर्शनो मे 'अनुव्यवसाय' कहा जाता है, बहुत कम होता है। बौद्धिक ज्ञान की भाँति जिस ज्ञान का विषय प्रधानत आन्तरिक होता है उसमे अनुभूति का मर्म बाह्य विषयो के ज्ञान की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। इसका कारण यह हो सकता है कि बौद्धिक ज्ञान मे चेतना की स्वतत्रता और सृजनात्मकता अधिक अवकाश पाती है। बौद्धिक प्रत्ययो का आधार वस्तुगत होते हुए भी वे अपने स्वरूप मे बुद्धि की रचना ही होते हैं। इस रचना मे चेतना

की क्रिया अधिक सजग जान पड़ती है।

श्रेय और सौन्दर्य में चेतना की रचनात्मक क्रिया बौद्धिक ज्ञान के सत्य से भी अधिक प्रकट होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य ऐन्द्रिक ज्ञान की भांति ग्रहणात्मक प्रतीत होता है। किन्तु उसकी ग्रहणात्मक अनुभूति ऐन्द्रिक ज्ञान की अवगति की अपेक्षा अधिक सजग और उत्फुल्ल होती है। इसकी तुलना में सत्य का ज्ञान प्राय उदासीन होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त कलाओं का सौन्दर्य पूर्णत सृजनात्मक होता है। यह सृजन चेतना की क्रिया है। चेतना अपने स्वतन्त्र अध्यवसाय के द्वारा सौन्दर्य के रूपों का निर्माण करती है। चेतना का यह अध्यवसाय उसकी सक्रियता का प्रकाश है। श्रेय भी सौन्दर्य के ही समान रचनात्मक और क्रियात्मक है। सौन्दर्य के समान रूपात्मक न होने के कारण श्रेय की रचनात्मकता इतनी प्रकट दिखाई नहीं देती। किन्तु श्रेय की क्रियात्मकता सत्य और सौन्दर्य दोनों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। इच्छा अथवा सकल्प से प्रसूत होने के कारण श्रेय स्पष्टत क्रियात्मक है। इच्छा चेतना का क्रियात्मक रूप ही है। तन्त्रों में सृष्टि की ही क्रियात्मक शक्ति को 'इच्छा' के रूप में ही माना जाता है। सकल्प अपनी व्युत्पत्ति से ही रचनात्मक है। 'कल्प' का अर्थ रचना है। सामान्य व्यवहार में श्रेय एक लक्ष्य की साधना के रूप में ही प्रकट होता है। साधना उस लक्ष्य की प्राप्ति की क्रिया है। प्राकृतिक अथवा सास्कृतिक किसी प्रकार का भी श्रेय हो, वह जीवन के स्फुट कर्म के रूप में ही साकार होता है। वस्तुत श्रेय कर्मरूप ही है। श्रेय का भाव उस कर्म की सार्थकता और स्पृहणीयता का गुण है। सत्य की सजग खोज और साधना की भी हम चर्चा कर सकते हैं। किन्तु यह साधना विरले ही लोगों को प्रेरित करती है। अधिकाश लोगों के लिए सत्य एक उदासीन अवगति का ही विषय है। श्रेय और सौन्दर्य की सक्रिय साधना इससे अधिक व्यापक है। श्रेय में मनुष्य की सौन्दर्य से भी अधिक सजग रुचि है। इसका कारण यह हो सकता है कि जीवन क्रियाशील है। अत क्रिया में मनुष्य का अधिक अनुराग होता है। रचनात्मकता जीवन की इस क्रिया का धर्म है। श्रेय की रचनात्मकता का रूप आकर्षक न होते हुए भी उत्कृष्ट है। सौन्दर्य मुख्यत रूप की रचना है। किन्तु श्रेय जीवन और मनुष्य की रचना में सफल होता है। प्राकृतिक और स्वार्थमय श्रेय भी आत्म-रचना का साधन है। वह मनुष्य के अपने निर्माण में सहायक होता है। अन्य

श्रेष्ठतर रूपो में श्रेय दूसरो के जीवन का निर्माण है। श्रेय के इस रूप मे जीवन की साधना सबसे अधिक सफल और कृतार्थ होती है। मनुष्य से बढकर सृष्टि में कोई नहीं है और मनुष्य के निर्माण से बढकर जीवन की कोई सफलता नहीं है। इस दृष्टि से श्रेय को सत्य और सौन्दर्य से भी अधिक श्रेष्ठ मान सकते हैं। श्रेय की सृजनात्मक और मानवीय साधना में सत्य और सौन्दर्य एक प्रकार से उपकरण बन जाते हैं। सत्य का तत्व और सौन्दर्य का रूप दोनो मिलकर श्रेय को परिपूर्ण बनाते हैं। भारतीय धर्म परम्परा मे 'शिव' की महिमा श्रेय की इसी श्रेष्ठता की द्योतक है। इस महिमा के कारण शिव को 'महादेव' का पद मिला। 'शिव का अर्थ ही 'मगल अथवा 'श्रेय है। जीवन का सत्य उनमे समाहित है और सौन्दर्य उनका रूप है। शिव की अभिन्न शक्ति सृष्टि के सुन्दर और मगलमय रूपो की रचना करती है।

यद्यपि प्राकृतिक और स्वार्थमय हितो को भी श्रेय के अन्तर्गत गिना जा सकता है। किन्तु स्वार्थ ही श्रेय का सर्वस्व नही है। श्रेय के श्रेष्ठतर रूप परार्थ मे प्रकट होते हैं। दूसरो के जीवन का निर्माण परार्थ का सर्वोत्तम रूप है। दूसरो के जीवन के निर्माण में ही मनुष्य की रचनात्मक वृत्ति पूर्णत कृतार्थ होती है। इसके बिना आत्मविकास और आत्मनिर्माण भी सफल नही होता। केवल स्वार्थ मे सीमित विकास निष्फल प्रतीत होता है। 'पर' में आत्मभाव का विस्तार विकास का श्रेष्ठतर रूप है। इस निर्माण की परम्परा ही जीवन के अमृतत्व का सूत्र है। इस परम्परा में ही जीवन अमर है। यही सृजनात्मक परम्परा सृष्टि और जीवन का परम सत्य बन गई है। यह सत्य सुन्दर भी है। सृजनात्मक परम्परा का यही श्रेय जीवन का सबसे मूल्यवान रहस्य है। इसके बिना सृष्टि जड तथा जीवन निष्प्राण और नष्ट जान पडता है। यह सृजनात्मक परम्परा मनुष्य के जीवन का ही नही प्रकृति के जीवन का भी परम सत्य है। इसी परम्परा मे फलित होकर प्रकृति अमर रहती है। इस परम्परा के मगलमय सत्य म सौन्दर्य का भी समाहार है। प्रकृति के पत्र, पुष्प फल, आदि अपने सहज रूप मे सुन्दर जान पडते हैं। जीवो के अपत्य भी सुन्दर लगते हैं। गधा, ऊँट, आदि कुरूप जन्तुओ के शावक भी शैशव मे सुन्दर लगते हैं। माता को अपने कुरूप बालक मे भी सौन्दर्य दिखाई देता है। सृजनात्मक परम्परा के श्रेय मे सौन्दर्य का ऐसा सहज और अनिवार्य अन्वय है। प्रकृति जीवो और

मनुष्यो मे सन्तति की सहज परम्परा बनकर दूसरो के निर्माण मे आत्म विस्तार की कृतार्थता सृष्टि का गहनतम रहस्य है। यह रहस्य ही मनुष्य जीवन को सफलता, कृतार्थता और प्रसन्नता का अवलव है। मनुष्य-जीवन मे चेतना के विकास के द्वारा इस सृजनात्मक परम्परा मे अध्यात्म का अनुष्ठान होता है। अध्यात्म में प्रकृति के समान स्थिर इकाइयाँ नहीं है। 'स्व' और 'पर' का भेद अध्यात्म में कठोर नहीं रहता। दोनो में एक प्रकार का साम्य प्रकट होता है। इसी साम्य के द्वारा 'पर' में आत्मभाव का अनुष्ठान होने पर हमें दूसरो के जीवन के निर्माण में अपने जीवन की कृतार्थता का अनुभव होता है। यह आत्मीयता ही जीवन की सृजनात्मक परम्परा में एक-सूत्रता का विधान करती है। इस परम्परा मे अपत्य, शिष्य अथवा समाज को प्राकृतिक दृष्टिकोण के अनुरोध के कारण इस सापेक्ष अर्थ मे 'पर' कहा जाता है। इस सापेक्ष व्यवहार मे हम व्यक्ति मे केन्द्रित होने के कारण 'सत्य' को 'स्वार्थ' कह सकते हैं। 'पर' मे अनुष्ठित होने के कारण श्रेय के श्रेष्ठ रूपो को 'परार्थ' कह सकते हैं। कलाकार की व्यक्तिगत साधना के रूप मे सौन्दर्य भी स्वार्थ है। सस्कृति को जीवन्त परम्परा मे ही श्रेय और सौन्दर्य का सगम होता है और साम्य मे 'समार्थ' उत्पन्न होता है। अपने सहज रूप में श्रेय के परार्थ मे यह साम्य सबसे अधिक रहता है। श्रेय की सृजनात्मक परम्परा जीवन का इतना व्यापक सत्य है कि उसमें सत्य और सौन्दर्य भी समाहित हो जाते हैं। इस सृजनात्मक परम्परा में ही सत्य और सौन्दर्य भी कृतार्थ होते हैं। दूसरो के जीवन का निर्माण उनके जीवन में सत्य और सौन्दर्य का अनुष्ठान करना ही है। इस परम्परा के विना सत्य और सौन्दर्य निष्फल और असभव हो जाते हैं। अतः सत्य और सौन्दर्य के उपकरणो से अन्वित सृजनात्मक परम्परा ही जीवन का परम रहस्य है। अन्तत स्रष्टाओ के सृजन में यह परम्परा कृतार्थ और अमर होती है। मनुष्य का निर्माण केवल व्यक्ति का निर्माण नहीं है, वरन् उसे निर्माण के योग्य बनाना है। स्रष्टा के सृजन में ही सृजन परिपूर्ण होता है। इसके विना वह परम्परा का घातक और आत्मघाती होता है। इस दृष्टिकोण से श्रेय को सृजनात्मक परम्परा ही जीवन का सर्वोपरि रहस्य है। श्रेय की पवित्र गगा में समाहित होकर ही सत्य की सरस्वती और सौन्दर्य की यमुना मानवीय सस्कृति के पवित्र तीर्थराज रचती हैं। इसी तीर्थराज के सगम मे जीवन और सस्कृति का अक्षयवट अमर रहता है।

हमने ऊपर संकेत किया है कि **सत्य की भाँति श्रेय में भी तत्व की प्रधानता है।** अवगति और अनुभव के रूप मे सत्य और श्रेय भी अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होते हैं। **किन्तु सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के समान सत्य और श्रेय की अभिव्यक्ति में रूप की प्रधानता नहीं होती।** श्रेय का तत्व जीवन का हित है, जिसे हम अर्थ, तात्पर्य, प्रयोजन आदि कह सकते हैं। वह जीवन का उपादान है, जिसे आत्मसात् कर जीवन कृतार्थ होता है। रूप की अभिव्यक्ति की अपेक्षा यह जीवन का आन्तरिक सार है। इस दृष्टि से वह तन्त्रो के आन्तरिक तत्व के समान है, जिसे 'शिव' कहा जाता है। शिव को तन्त्रो मे 'महार्थ' भी मानते हैं। शिव-तत्व जीवन का परम अर्थ है। जीवन के सार तत्व के प्रयोजन के रूप मे श्रेय भाषा के 'अर्थ' से भी समानता रखता है। भाषा का 'अर्थ' भी शब्दो अथवा वाक्यो का सार-तत्व है। शब्दो अथवा वाक्यो का रूप उस अर्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भाषा और जीवन मे अर्थ और श्रेय ही मुख्य प्रयोजन हैं। इस **दृष्टि से अर्थ और श्रेय दोनो में उपयोगिता का लक्षण दिखाई देता है। उपयोगिता भी एक तत्व-प्रधान दृष्टिकोण है।** उपयोगितावादी दृष्टिकोण मे रूप की अपेक्षा हम तत्व का अधिक आदर करते हैं। कला की दृष्टि से रूप निरुपयोगी है। वह स्वय अपना साध्य है किसी दूसरे साध्य का साधक नही। चरम-मूल्य होने के नाते श्रेय को भी हम साध्य कह सकते हैं। किसी सीमा तक श्रेय के सभी रूप अपने आप मे मूल्यवान् हैं। फिर भी सौन्दर्य की अपेक्षा श्रेय मे उपयोगिता का भाव अधिक रहता है। जीवन के अनेक उपकरणो को हम विविध रूप श्रेयो के साधन के रूप में देखते हैं। साधन और साध्य का सबन्ध उपयोगिता का प्रमुख लक्षण है। श्रेय के प्रसग मे हम इस प्रकार का सबन्ध स्पष्ट देखते हैं किन्तु सौन्दर्य के प्रसग मे साधनो के होते हुए भी हम उन्हे ध्यान और महत्व नही देते। सौन्दर्य की साध्यता मानो एक निर्विकल्प स्थिति है। श्रेय मे ऐसी निर्विकल्पता अध्यात्म के अतिरिक्त लौकिक जीवन मे प्राय कठिन है। सामान्यत श्रेय उद्योग और साधनो के लक्ष्य के रूप मे प्रकट होता है। श्रेय की साधना का सचेतन अध्यवसाय श्रेय मे उपयोगिता के इस आभास का कारण है। उद्योग और उपयोगिता का यह भाव श्रेय की सकल्प-मूलकता पर निर्भर है। श्रेय की साधना सकल्प अथवा इच्छा से प्रेरित होती है। सकल्प अथवा इच्छा चेतना का अध्यवसाय अथवा उद्योग है। **इस अध्यवसाय के कारण ही श्रेय में उपयोगिता का भाव**

अधिक आ जाता है। रूप की सहज साधना होने के कारण सौन्दर्य मे उपयोगिता का आभास नही आता। उपयोगिता का लक्षण तत्व की प्रधानता है। श्रेय जीवन का तत्व अथवा सार है। तत्व प्रधान होने के कारण श्रेय की धारणा मे उपयोगिता अधिक स्पष्ट दिखाई देती है।

श्रेय के साथ उपयोगिता के जिस भाव का सबन्ध है, वह जीवन तथा साहित्य मे उसकी अभिव्यक्ति को भी प्रभावित करता है। तत्व की प्रधानता होने के कारण इस अभिव्यक्ति मे रूप का महत्व नही होता। रूप का महत्व होने पर 'श्रेय' सुन्दर बन जाता है और जीवन सस्कृति के क्षितिजो का स्पर्श करने लगता है। तत्व की प्रधानता होने पर 'रूप' गौण हो जाता है। रूप का महत्व होने पर सौन्दर्य की साधना मे रूप की समृद्धि होती है। इसी समृद्धि को हमने 'रूप का अतिशय' कहा है जो हमारे मत मे सौन्दर्य का लक्षण है। तत्व की प्रधानता और रूप की गौणता होने पर 'रूप का यह अतिशय' अपेक्षित अथवा सभव नही होता। रूप की न्यूनता और अर्थ तत्व की प्रधानता अभिव्यक्ति की दृष्टि से अभिधा की लक्षण हैं। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। अभिधा का रूप सरल और अल्प होता है। अभिधान में तत्व ही प्रधान होता है और रूप गौण होता है। अभिधा की इस सरल अभिव्यक्ति मे 'रूप' की कोई विशेषता नही होती। किसी भी 'रूप' मे तत्व की अभिव्यक्ति ही अभिधान मे अभीष्ट है। तत्व की प्रधानता और रूप की गौणता के कारण श्रेय की अभिव्यक्ति मे तत्व और रूप का समवाय भी नही होता। इसी कारण तत्व को रूप से इतना तो अलग किया जा सकता है कि एक ही तत्व को यथावत् रखते हुए उसके रूप का परिवर्तन किया जा सकता है और उसे भिन्न रूप मे व्यक्त किया जा सकता है। कला और काव्य मे ऐसा सभव नही है। इनमें रूप और तत्व का समवाय रहता है और उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इसी कारण काव्य के किसी छन्द का गद्य मे भावार्थ तत्वत तथावत् होते हुए भी काव्य नही रहता। श्रेय के कुछ सास्कृतिक और आध्यात्मिक प्रकारो मे रूप का तो नही किन्तु भाव का अतिशय अवश्य रहता है। इस भाव के अतिशय की अभिव्यक्ति मे कुछ रूप का अतिशय भी अनायास स्फुटित होता है। इस प्रकार भाव के अतिशय की यह अभिव्यक्ति अभिधा की परिधि को पारकर लक्षणा-व्यजना के क्षितिजो का स्पर्श करने लगती है। इस प्रकार भाव के अतिशय से युक्त श्रेयो मे सौन्दर्य का सहज स्फोट होता है। इसीलिये श्रेय के ये

रूप कला और काव्य में प्रचुरता से मिलते हैं। किन्तु प्राकृतिक और नैतिक श्रेयों में भाव का यह अतिशय नहीं होता। उनमें यथार्थता का अनुरोध रहता है, जो अभिधा के अनुरूप है। उपयोगिता इनके दृष्टिकोण में स्पष्ट लक्षित होती है। इसीलिए कला और काव्य में इनका समवाय कठिन होता है। कला और काव्य में गृहीत श्रेयों के रूपात्मक सौन्दर्य को कम ध्यान दिया जाता है। उनके तत्व को ही प्रधान माना जाता है और तत्व के आधार पर ही उनका मूल्यांकन किया जाता है। तत्व की प्रधानता के कारण प्राकृतिक और नैतिक श्रेय का सौन्दर्य से समन्वय कठिन हो जाता है। **इसीलिए नीति-काव्य में काव्य का सौन्दर्य बहुत कम होता है और नैतिक तत्व ही प्रधान होता है। प्रकृति के काव्य में नैतिक काव्य की अपेक्षा कुछ अधिक सौन्दर्य दिखाई देता है।** इसका एक कारण यह है कि निसर्ग प्रकृति में स्वरूपत उपयोगिता होने पर भी निरुपयोगी दृष्टिकोण रखने पर रूप ही प्रधान प्रतीत होता है और उसमें सौन्दर्य विभासित होता है। काव्य में प्रकृति के सौन्दर्य की सहज अनुगति होती है। इसीलिए प्रकृति के यथार्थ वर्णन भी सुन्दर लगते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकृति में सहज रमणीयता भी होती है। यह रमणीयता कलात्मक होने की अपेक्षा ऐन्द्रिक अधिक होती है। इन्द्रियों को रमणीय लगने के कारण भी प्रकृति के कुछ रूप सुन्दर जान पड़ते हैं। शृंगार आदि में मनुष्य के स्वभाव और व्यापारों के वर्णन भी प्राय इस रमणीयता के कारण सुन्दर लगते हैं। रूप की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य उनमें सदा इतना नहीं होता जितना कि हमें प्रतीत होता है। नीति काव्य में इसके विपरीत प्रकृति की प्रतिकूलता का भाव रहता है। **नीति के तत्व प्रकृति का प्रतिरोध करते हैं।** अत प्राकृतिक रमणीयता के सहज सौन्दर्य का नीति-काव्य में अवकाश नहीं रहता। इसके विपरीत रमणीयता का प्रतिरोध नीति काव्य के रूपात्मक सौन्दर्य को और भी मन्द बना देता है। यह नीति काव्य की एक निराली कठिनता है।

सामान्य रूप से काव्य में सत्य का समन्वय सभी प्रकार दुष्कर है। काव्य एक कला है। कला में 'रूप' प्रधान होता है। इस 'रूप के अतिशय' में ही कला का सौन्दर्य विभासित होता है। काव्य की कलात्मकता भी रूप पर ही निर्भर है यद्यपि शब्द के सार्थक माध्यम के कारण प्राय काव्य में अर्थ तत्व प्रधान हो जाता है। काव्य की अधिकांश आलोचनाओं में अर्थ का विवेचन ही अधिक मिलता है। यह ठीक है कि सौन्दर्य का रूप अनिर्वचनीय है और उसका विवेचन कठिन है। किन्तु यदि सौन्दर्य

विवेच्य नहीं है तो वह आस्वाद्य अवश्य है। चाहे हम उसका विवेचन न कर सके फिर भी काव्य के स्वरूप और सौन्दर्य की दृष्टि से उसके रूप के महत्व को किसी प्रकार कम नहीं किया जा सकता। इतना अवश्य है कि काव्य का सौन्दर्य अन्य रूपात्मक कलाओं की भांति केवल रूप का सौन्दर्य नहीं है। संगीत की भांति काव्य में तत्त्व की अल्पता और रूप की विपुलता भी नहीं होती। संगीत में तत्त्व एक अल्प अवलंब मात्र है। किन्तु काव्य का केवल अवलंब न होकर वह उसका विधायक उपादान है। यह कहा जा सकता है कि काव्य में रूप और तत्त्व का समान महत्त्व है। इस समानता के कारण रूप और तत्त्व का साम्य काव्य का आदर्श है। शब्द के सार्थक माध्यम में व्यक्त होने के कारण काव्य में यह साम्य आवश्यक हो जाता है। इस साम्य के द्वारा ही काव्य का स्वरूप सम्पन्न होता है, अन्यथा इनमें विषमता रह जाने पर सौन्दर्य खंडित हो जाता है।

किन्तु तत्त्व में रूप का समवाय अथवा रूप के साथ तत्त्व का साम्य कठिन है। इसीलिए सफल और उत्तम काव्य बहुत नहीं मिलता। निसर्ग प्रकृति में तत्त्व के साथ रूप के सौन्दर्य का जैसा सहज प्रकाश हुआ है उसे काव्य में चरितार्थ करने के लिए कवि में विधाता की जैसी दिव्य शक्ति अपेक्षित है। इसीलिए प्राचीन परम्परा में ईश्वर के पर्याय के रूप में 'कवि' शब्द का प्रयोग तथा काव्य शास्त्रों में कवि को 'प्रजापति' मानना नितान्त समीचीन है। दिव्य प्रतिभा के द्वारा ही श्रेष्ठ कवि प्रचुर सत्व में विपुल रूप का सन्निधान करते हैं। किन्तु तत्व का स्वरूप उपयोगितावादी होने के कारण यह सन्निधान अत्यन्त कठिन होता है। सत्य और श्रेय दोनों ही तत्त्व-प्रधान हैं अतः दोनों का ही समन्वय काव्य में कठिन है। अथवा यों कहना चाहिये कि इनका उपादान कर काव्य को सुन्दर रूप देना कठिन है। तथ्य, सिद्धान्त, कथा, श्रेय आदि सभी रूपों में तत्त्व का सौन्दर्य से समवाय दुष्कर है, किन्तु नैतिक श्रेय के सम्बन्ध में यह सबसे अधिक कठिन है। प्राकृतिक श्रेय में एक रमणीयता रहती है जो अपने स्वभाव से सौन्दर्य में योग देती है। तथ्य, कथा, सिद्धान्त, आदि में अभिधा की सीमा सौन्दर्य की हानि करती है, फिर भी नैतिक श्रेय की भांति ये तत्त्व सौन्दर्य के अपकर्षक नहीं हैं। इसलिए जीवन के नैतिक सौन्दर्य से युक्त सुन्दर काव्य कम मिलता है। रामचरितमानस और कामायनी के समान तत्त्वपूर्ण एवं सुन्दर काव्य दुर्लभ है। इसमें भी आदर्श और प्रतीक के द्वारा व्यंजना का अवलंब लेकर सौन्दर्य का सन्निधान किया गया है। 'भाव का

अतिशय' श्रेय का एक ऐसा रूप है, जो सौन्दर्य के साथ श्रेय के साम्य का सूत्र बन सकता है। यह भाव का अतिशय केवल व्यजना की अनुक्त आवृति नही वरन् मानवीय सबन्धो म भाव की विपुलता है। यह भाव की विपुलता श्रेय के तत्वो को सस्कृति के क्षितिजो की ओर ले जाती है जहा कलात्मक सौन्दर्य के द्वार खुलते हैं। सूर, तुलसी और प्रसाद के काव्य म यही भाव का अतिशय सौन्दर्य और श्रेष्ठता का कारण बन गया है। **श्रेय का सृजनात्मक रूप भी सौन्दर्य में योग देता है।** इच्छा का अध्यवसाय होने के कारण श्रेय एक सृजन है। किन्तु सृजन का प्रेरक होने के नाते श्रेय एक दूसरे अर्थ मे भी सृजनात्मक है वह श्रय की प्रेरणा देता है। **श्रेय का प्रभाव हमें श्रेय की साधना में प्रेरित करता है। इस प्रकार श्रेय से श्रेय प्रसूत होता है। सत्य और सौन्दर्य में ऐसी सृजनात्मकता नही है।** सौन्दर्य हमे सुन्दर नही बनाता और न सौन्दर्य का आस्वादन हम कलाकार बनने की प्रेरणा देता है। किन्तु सौन्दर्य अपने स्वरूप मे सृजनात्मक है। वह सृजन की प्रेरणा न हो किन्तु वह स्वय एक सृजन है। सत्य के सबन्ध मे यह कहना कठिन है। सत्य का तत्त्व यथार्थ है और चेतना मे उसकी प्रतीति एक उदासीन अवगति के रूप मे फलित होती है। यथार्थ के तत्व और उसकी अवगति मे भाव तथा रूप के अतिशय का सन्निधान करके उसे सुन्दर बनना कठिन है। सत्य के अधिकाश रूपो की यथार्थता और उनके लिए अभीष्ट अभिधान की अपेक्षा सत्य को सुन्दर बनाने मे बाधक होती है। अभिधा कि तत्त्व प्रधान वृत्ति रूप को गौण बनाती है। प्राय काव्यो मे सत्य के उपादान को ग्रहण कर रूप के अनावश्यक अतिशय के द्वारा उसे सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया जाता है। आलकारिक काव्य म यह प्रयत्न प्रकट रूप मे दिखाई देता है। अलकार अथवा व्यजना के चमत्कार मे दीप्त होकर रूप की विशेषता काव्य के तत्त्व को गौण बना देती है तथा रूप एव तत्त्व के साम्य को भग कर देती है। काव्य शास्त्रो की अभीप्ट अनुक्त आवृति के अर्थ मे मान्य व्यजना भी केवल अर्थ की अपह्नुति के द्वारा सौन्दर्य का विधान करती है। किन्तु इस अपह्नव मे 'अर्थ' रूप से विच्छिन्न हो जाता है और व्यजना का रूप अपने चमत्कार मे दीप्त होकर प्रधान बन जाता है। व्यजना का अधिक सम्पन्न प्रकार रूप की भगिमा के द्वारा अर्थ का अपह्नव नही, वरन् रूप के अतिशय मे अन्वित आवृति अथवा भाव की विपुलता है। इस भाव की विपुलता के साथ मिलकर ही रूप का अतिशय रूप और तत्त्व के साम्य को सभव बनाता है। तभी उत्तम काव्य की सृष्टि होती है।

व्यजना का यह सौन्दर्य अभिव्यक्ति की महिमा के द्वारा अर्थ के अपह्नव पर नहीं, वरन् अर्थ की विपुलता पर निर्भर होता है। अर्थ के साथ अनेक अनुषगो का योग अर्थ को सम्पन्न एव जटिल बनाता है। इसी सम्पन्नता से प्राप्त अर्थ की विपुलता भाव मे रूप के सगम का सूत्र बनाती हैं। रूप और अर्थ दोनो की विपुलता मे काव्य का कलात्मक साम्य सभव होता है। इसी साम्य मे काव्य सुन्दर बनता है किन्तु सत्य के तत्त्व की यथार्थता, उपयोगिता, तत्त्व-प्रधानता, अभिधान वृत्ति आदि लक्षण इस साम्यके विपरीत काम करते हैं। अर्थ और भाव की सहज विपुलता ही इस साम्य को सहज बनाने का सर्वोत्तम साधन है। इस विपुलता के ज्वार मे तरगित होकर सत्य का सागर काव्य के कलाधर का अभिनन्दन करता है।

अध्याय ११

काव्य और सत्य

जिस प्रकार ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप मे सत् की प्राथमिकता है, उसी प्रकार काव्य के उपादान के रूप मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' की त्रिपुटी मे सत्य प्रथम है। यह ठीक है कि जिस प्रकार ब्रह्म का ग्रानन्द स्वरूप आध्यात्मिक साधना का पर्यवसान है, उसी प्रकार 'सुन्दरम्' में काव्य के स्वरूप की परिणति होती है। किन्तु जिस प्रकार आध्यात्मिक अनुभव के ग्रानन्द में सत् और चित् का समवाय है उसी प्रकार काव्य के 'सुन्दरम्' मे भी 'सत्यम्' और 'शिवम्' का अन्तर्भाव है। ग्रत बौद्धिक विश्लेषण की दृष्टि से सत्य उसी प्रकार काव्य का आधार है जिस प्रकार सत्ता स्वरूप का आधार है, चाहे वह स्वरूप सास्कृतिक विधान हो अथवा आध्यात्मिक अनुभव। सास्कृतिक विधानो और कला कृतियों की रचना सत्य के उपादान से ही होती है, अथवा हम यों कह सकते हैं कि सत्य इनका उपादान है। सत्य का अपना स्वरूप भी है और इस स्वरूप की कल्पना अनेक प्रकार से की गई है, किन्तु सास्कृतिक विधानो और कला-कृतियो के स्वरूप मे सत्य के इस स्वरूप का अन्तर्भाव हो जाता है। इनका उपादान बनने पर सत्य का स्वरूप भी इनके स्वरूप मे समवेत हो जाता है। काव्य और कला के विशेष स्वरूप की विवृति 'सुन्दरम्' में ही होती है। सत्य इनका आधार है। सत्य की भूमि पर ही काव्य का प्रासाद निर्मित होता है।

किन्तु उपादान के अतिरिक्त एक अन्य रूप में भी सत्य का समवाय काव्य में होता है। वस्तुत इस रूप मे काव्य मे समवेत होने पर ही काव्य के स्वरूप के साथ सत्य का पूर्ण समन्वय होता है। इस समन्वय में सत्य के उपादान-तत्व के साथ-साथ उसके लक्षण का समवाय भी काव्य के स्वरूप के साथ होता है। ऐसी स्थिति में 'सत्य' का व्यापक विशेषण बन जाता है। गौण होते हुए भी वह काव्य का उपादान होने के साथ-साथ उसके स्वरूप का विधायक भी बनता है। सत्य द्वारा काव्य के इस स्वरूप-विधान में 'सत्य' सुन्दर बनकर काव्य को सत्य बनाता है। काव्य के स्वरूप में सत्य का समन्वय होने पर 'सत्य-काव्य' की सृष्टि होती है।

यह स्पष्ट है कि काव्य के स्वरूप का विशेषण बनकर सत्य काव्य के अन्य रूपो से 'सत्य-काव्य' का विभाजक बन जाता है। काव्य का सामान्य स्वरूप 'सुन्दरम्' है। सत्य का इस स्वरूप मे समवाय संभव है, किन्तु आवश्यक नही। काव्य के स्वरूप मे अन्वित होकर भी सत्य काव्य का विशेषण ही है। इस प्रकार 'काव्य में सत्य का स्थान' और 'सत्य काव्य का स्वरूप' दो भिन्न विषय बन जाते हैं, जिनका विवेचन करने पर ही काव्य के साथ सत्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो सकता है।

अस्तु, 'सत्य' का काव्य से दोहरा सबन्ध है। वह काव्य का उपादान तत्व भी होता है तथा काव्य का स्वरूप भी बन सकता है। उपादान काव्य का विधायक तत्व है। किन्तु काव्य का अपना एक स्वरूप है जिसमे अन्वित होकर यह तत्व काव्य का रूप ग्रहण करता है। केवल उपादान-तत्व काव्य नहीं बन सकता। साहित्य के अन्य रूपो में भी सत्य का समवाय रहता है, किन्तु वे सब काव्य नहीं होते। काव्य में भी सत्य के उपादान रूप से ग्रहण मात्र से काव्य सत्य नहीं बन जाता। तात्पर्य यह है कि सत्य का अपना स्वरूप है। दोनो स्वरूपो के तादात्म्य द्वारा ही 'सत्य काव्य' का स्वरूप निर्मित होता है। काव्य मे जब सत्य का ग्रहण होता है तो उनका अग और अगी सम्बन्ध होता है। सत्य अग है और काव्य अगी। काव्य का अग बनकर सत्य का उसके स्वरूप से तादात्म्य आवश्यक नही है। इतना अवश्य है कि श्रेष्ठ काव्य के लिए यह तादात्म्य अपेक्षित है। किन्तु इस तादात्म्य के अभाव मे भी सत्य को केवल अग और उपादान के रूप मे ग्रहण करके भी काव्य के कुछ अवर रूप बनते हैं। श्रेष्ठ काव्य दुर्लभ है, अत इन अवर रूपो को भी काव्य के इतिहास म स्थान मिलता है। इसलिए यह विवेक करना आवश्यक है कि सत्य काव्य का अग और उपादान है अथवा उसका स्वरूप। जब सत्य काव्य के स्वरूप से एकात्म होता है तब काव्य 'सत्य-काव्य' कहलाता है। 'सत्य काव्य' में सत्य काव्य का अग न बनकर उसका गुण बनता है। इस सबन्ध मे सत्य गुण और काव्य गुणी है। गुण होने से सत्य को गौणता का भाव अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु इस सबन्ध मे सत्य को काव्य के स्वरूप के साथ तादात्म्य का अवसर भी मिलता है। यह तादात्म्य एक प्रकार का समवाय सबन्ध है। अग और अगी के समवाय सबन्ध मे अनेक तार्किक आपत्तियाँ हैं। सत्य के समान जिसका अपने स्वरूप मे अस्तित्व है उसका अग-भाव एक उपचार मात्र है। काव्य का गुण बनने पर सत्य उसके स्वरूप से एकाकार हो जाता है।

अधिकाश काव्य में सत्य अंग ही रहता है। सत्य स्वय एक तत्व है और उसका एक अपना रूप है। सत्य के अनेक रूपो मे यह स्वरूप-लक्षण व्याप्त रहता है। काव्य मे ग्रहण होने पर सत्य के अग और तत्व तो उपादान ही बने रहते हैं और इस दृष्टि से वे काव्य के वस्तु तत्व के अग बनते हैं। वस्तुतत्व की व्यवस्था मे सामजस्य होने पर उसके तत्वो मे एक ऐसी सगति पैदा होती है जो तादात्म्य के समान नही तो अनुरूप अवश्य कही जा सकती है।

वस्तुत भौतिक और मानसिक दोनो ही क्षेत्रो मे तत्व का तादात्म्य नही होता। तादात्म्य केवल स्वरूप का सबन्ध है। वेदान्त मे आत्मा का अर्थ ही स्वरूप है। तादात्म्य का अभिप्राय स्वरूप की एकता है। काव्य मे भी सत्य और काव्य के सामान्य स्वरूप की एकता ही होती है। यह स्वरूप सूक्ष्म और सामान्य है। सूक्ष्म और व्यापक होने के कारण सत्य का स्वरूप काव्य के स्वरूप मे अन्तर्भूत होकर उसके साथ एकाकार हो जाता है। काव्य के स्वरूप को ही यदि हम प्रधान माने तो यही कहना होगा कि इस तादात्म्य मे 'सत्य' काव्य का विशेषण बन जाता है। 'काव्य' काव्य होने के साथ-साथ 'सत्य' बन जाता है। 'सत्य काव्य' मे 'सत्य' काव्य का विशेषण है जो काव्य के स्वरूप की विशेषता लक्षित करने के साथ-साथ काव्य के अन्य रूपो से सत्य काव्य का विवेक भी करता है। यह ध्यान देने योग्य है कि यह केवल तार्किक विश्लेषण है। वस्तुत सत्य काव्य के स्वरूप और विशेषण को पृथक नही किया जा सकता। उनके सश्लेष का रूप समवाय है। समवाय मे गुण और गुणी का अपृथक-भाव होता है। वह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध है। सत्य के बिना 'सत्य-काव्य' का अस्तित्व नही रह सकता। गुण होते हुए भी सत्य के महत्व का यह पर्याप्त प्रमाण है।

सत्य के अनेक रूप हैं। सत्ता, तथ्य, नियम, सिद्धान्त और सृजन सत्य के रूप के मुख्य प्रकार हैं। भाव और क्रिया के दो सामान्य वर्गों मे इनका अन्तर्भाव है। प्रकृति और जीवन दोनो के ही क्रियाशील होने के कारण हम सृजनात्मक सत्ता को कुछ दार्शनिकों की भाति सत्य का परम और सामान्य रूप मान सकते हैं। सत्य के इस रूप मे उसके चार पूर्व रूपो का भी अन्तर्भाव है। सत्ता और तथ्य, नियम तथा सिद्धान्तों के अनुसार सृजन की प्रक्रिया मे अन्वित होते हैं। यह सृजन सत्य का इतना पूर्ण रूप है कि उसमें शिवम् और सुन्दरम का भी समवाय हो जाता है। सत्य के रूपो की भांति शिवम् और सुन्दरम् के रूपो की भी परिणति सृजन मे ही होती है।

अस्तु यदि सृजन सत्य के उस व्यापक और पूर्ण स्वरूप का धर्म है जिसमें शिवम और सुन्दरम् भी समवेत है, तो फिर शिवम् और सुन्दरम् से सत्य का विवेक करने के लिए अन्य लक्षण अपेक्षित हैं। 'अवगति' सत्य का ऐसा ही सामान्य और विविक्त लक्षण है। सत्य के अनेक रूपों में व्यापक होने के कारण वह सामान्य लक्षण है। शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप में भी अवगति का आधार होता है किन्तु अवगति मात्र शिवम् और सुन्दरम् का स्वरूप नहीं है। केवल अवगति में सत्य का ही उद्घाटन होता है। अवगति में अभिव्यक्ति का उदय होने पर सुन्दरम् तथा आत्मदान की प्रेरणा होने पर शिवम् की विवृति होती है।

अवगति चेतना का ग्रहण-धर्म है। इस अवगति में चेतना की आत्माभिव्यक्ति भी होती है। वस्तुओं के ग्रहण के साथ-साथ अवगति में चेतना की अभिव्यक्ति भी होती है। इस अभिव्यक्ति में चेतना की आत्मावगति भी होती है। दर्शनों में इसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। तन्त्रों में इसकी 'विमर्श' संज्ञा है। अतः सत्य के अनेक रूपों के साथ-साथ अपने अस्तित्व के ग्रहण-सम्बन्ध से हम अवगति को सत्य का सामान्य स्वरूप कह सकते हैं। इस अवगति में आत्मा का आलोक प्रकाशित होता है। इस आलोक में सत्य के रूप उद्घाटित होते हैं। सत्य की अवगति इस आलोक का ही स्वच्छ रूप है। अनाविल आलोक में ही सत्य के रूप खिलते हैं। इसमें कहीं भी तम या मल का लेश रहने पर भ्रांति उत्पन्न होती है। भ्रांति से सत्य मिथ्या बन जाता है। अतः स्फीत आलोक का मुक्त प्रसार ही सत्य का आकार है। अवगति चेतना का धर्म है। वह आत्म-आलोक है। आलोक सूर्य के प्रकाश के समान है। उसका बहिः प्रसार स्वाभाविक है। आलोक सत्य का व्यापक और सामान्य रूप है जो सत्य की अवगति को सामान्यतः सम्भव बनाता है। अतः स्वरूपतः 'सत्ता' को तथा चेतना के प्रसंग में 'आलोक' को सत्य का निरपेक्ष स्वरूप कह सकते हैं। अवगति इस आलोक में आत्म-सत्ता और बाह्य सत्ता का युगपत् उद्घाटन है।

आलोक के समान ही सत्य का स्वरूप स्वच्छ, सरल और ऋजु होता है। जिस प्रकार सत्य के विविध रूप आलोक में समवेत होते हैं, उसी प्रकार अभिव्यक्ति में भी इस अवगति के आलोक का समवाय होता है। जिस प्रकार अवगति चेतना का अन्तर्गत धर्म है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति उसका बहिर्मुख व्यापार है। आलोक के प्रसार में अभिव्यक्ति का नैसर्गिक रूप मिलता है। आलोक के साथ-साथ

अभिव्यक्ति में आह्लाद भी है। जिस प्रकार आलोक अवगति का प्रकाश है उसी प्रकार आह्लाद अभिव्यक्ति का फल है। अभिव्यक्ति भी प्रकाशन है। इसीलिए आलोक का प्रकाश सदा आह्लाद का प्रतीक रहा है। सूर्य का उदय और दीपक सदा हमारे आह्लाद का कारण रहे हैं। हमारे पूजा और पर्व मे इनके सयोग का यही रहस्य है। मन के आह्लाद का प्रकाश भी मुख और नयनों के आलोक के रूप मे होता है। अवगति का आलोक अभिव्यक्ति के आह्लाद मे समवेत होकर सत्यम् और सुन्दरम् के तदात्म्य का विधान करता है। **इस अभिव्यक्ति के दो रूप हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य।** आन्तरिक अभिव्यक्ति आत्मगत चेतना मे चेतना और अवगति के उपादानो का प्रकाशन है। बाह्य अभिव्यक्ति सकेत, भाषा, चित्र आदि के माध्यम से दूसरो के प्रति अवगति के रूपो का उद्घाटन है। तन्त्रो मे शिव की अवगति और अभिव्यक्ति का रूप एक ही है। वह आत्मावगति और आत्माभिव्यक्ति है। उसमे किसी अन्य का अस्तित्व नही है। इसीलिए शक्ति के विमर्श को अहकार-रूप तथा सौन्दर्य मानते हैं। यह अवगति सृजनात्मक होने के कारण विश्व की अभिव्यक्ति का बीज और सौन्दर्य का स्रोत है। **लौकिक मनुष्य की अवगति सामान्यत ग्रहणात्मक है, सृजनात्मक नही। अत. अवगति ही अभिव्यक्ति नहीं है तथा समस्त अवगति सुन्दरम् का आधार नहीं बनती।** मनुष्य उपादान का सृजन नही कर सकता। अत उपादान के आश्रय मे रूप और भाव का विधान ही उसका सृजन है। जब मनुष्य की अवगति मे रूपात्मक अथवा भावात्मक अभिव्यक्ति का स्फुटन होता है तो हम उसे आन्तरिक अभिव्यक्ति कह सकते हैं। सामाजिक होने के नाते मनुष्य इस आन्तरिक अभिव्यक्ति को दूसरो के प्रति प्रकाशन के लिए उत्सुक होता है। क्रोचे, कौलिंगवुड आदि के अनुसार यही कला का आन्तरिक तथा मूल स्वरूप है। माध्यमो के द्वारा बाह्य अभिव्यक्ति सामाजिक उपयोग के लिए इस मूल कला और काव्य का अनुवाद है।

आन्तरिक अभिव्यक्ति सत्य का आत्मगत अनुभव है। बाह्य अभिव्यक्ति उस अनुभव का सामाजिक विभाजन या वितरण है। जब हम अपने अनुभव मे भाग लेने के लिए दूसरो को आमन्त्रित करते हैं, तो हमारी अवगति अभिव्यक्ति का रूप लेने लगती है, सत्य सुन्दरम् के रूप मे प्रस्फुटित होने लगता है। सत्य का आलोक आह्लाद बन कर जीवन के सुमन पर खिल उठता है। सुन्दरम् के साथ सत्य के इसी समन्वय मे साहित्य, कला, काव्य आदि का जन्म होता है। **यह अभिव्यक्ति अनुभव**

के आलोक का दूसरो के अन्तर्लोको में विस्तार है। इस प्रकार एक रूप मे तो सभी अभिव्यक्ति सुन्दर, रसमय और आनन्ददायक हैं। अद्भुत होते हुए भी यह जीवन का एक सरल और व्यापक सत्य है। बालको और बडो के सरलतम व्यवहार मे हम इस सत्य का साक्षात् अनुभव कर सकते हैं। इस सत्य को स्वीकार करने मे यही आपत्ति हो सकती है कि हमे समस्त साहित्य को तथा समस्त सृजन को सुन्दरम् की परिधि के अन्तर्गत मानना होगा। इस प्रकार कदाचित् ससार मे असुन्दर कुछ भी नही रहेगा। इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। वस्तुत जिस अभिव्यक्ति मे आमत्रण का भाव है वही सच्ची अभिव्यक्ति है। जिस अभिव्यक्ति मे आमत्रण है वह सभी सुन्दर है। यदि सुन्दरम् वस्तु का गुण है तो प्रत्येक वस्तु जिसका सृजन किया जाता है सुन्दर है। इसीलिए भोडी से भोडी वस्तुएँ बनाकर बच्चे और बडे दोनो प्रसन्न होते हैं और दूसरो को अपनी रचना देखने का आमत्रण करते हैं। साधारण सी झोपडी को भी लीप पोत कर उसका निर्माता और स्वामी राजप्रसाद के सुख और गर्व का अनुभव करता है। कुरूप कहलाने वाला बच्चा भी माता पिता को सुन्दर लगता है। इसका अर्थ यही है कि समस्त सृजन सुन्दर है। क्रोचे का यह सिद्धान्त नितान्त सत्य है कि सृजन चेतना का मौलिक धर्म है और इस सृजन मे ही सौन्दर्य का मूल है। अभिव्यक्ति रूप और भाव का सृजन है। वस्तुत वस्तु का सृजन भी पदार्थ के उपादान मे एक रूप और भाव का ही सृजन है। अन्तर का भाव बाह्य वस्तु मे मूर्त होता है। अत वस्तु और भाव दोनो के सृजन को हम आत्मा की अभिव्यक्ति का सामान्य रूप और सुन्दरम् को उसका सामान्य लक्षण मान सकते हैं।

प्रश्न यह होगा कि तब क्या सभी सृजन और सभी साहित्य और सभी काव्य सुन्दर हैं ? इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर तो यही होगा कि 'हाँ सभी सृजन, सभी साहित्य और सभी काव्य सुन्दर हैं।' किन्तु इस सरल उत्तर को अवगम्य और ग्राह्य बनाने के लिए इसमे अन्तर्निहित भाव की व्याख्या अपेक्षित है। साहित्य मे आलोचक और पाठक गद्य के सौन्दर्य की भी चर्चा करते हैं। साहित्यिक गद्य के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक और सामाजिक ग्रन्थो मे भी प्राय सौन्दर्य मिलता है। कला के क्षेत्र मे भी श्रेष्ठ कृतियो के साथ साथ आदिवासियो और ग्रामीणो की साधारण कृतियो मे भी सौन्दर्य होता है। काव्य मे भी महान् कृतियो के साथ-साथ अल्प शिक्षितो की सहज रचनाओ मे भी सौन्दर्य मिलता है। लोक सस्कृति, लोक कला और लोक-

काव्य का सौन्दर्य सभी को मान्य है। इससे सौन्दर्य की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है।

सौन्दर्य के सम्बन्ध म दो भ्रम पैदा हो गये हैं। जिनका निवारण आवश्यक है। एक तो यह कि सौन्दय वस्तु का गुण है और दूसरा यह कि वह केवल एक आत्मगत अनुभूति है। पहली धारणा सौन्दर्य को सामान्य और विषयगत तथा अनुभव से निरपेक्ष मानती है। दूसरी धारणा सौन्दर्य को केवल एक आत्मगत कल्पना मानती है, जिसका विषयगत आधार अधिक महत्त्व नही रखता। इन धारणाओं का आधार यह है कि ऊषा, चन्द्रमा, इन्द्रधनुष, पुष्प आदि की भाँति कुछ वस्तुओं का सौन्दर्य सर्वमान्य है। सर्वमान्य होने के कारण इसे वस्तुगत गुण मानना सगत प्रतीत होता है। दूसरी धारणा का आधार यह है, कुछ व्यक्तियो को उन वस्तुओं मे भी सौन्दर्य दिखाई देता है। दूसरो को उसका अनुभव नही होता। ये दोनो ही बाते सत्य होते हुए भी इन पर आश्रित धारणायें और उन पर अवलम्बित सिद्धान्त असत्य हैं। जिन वस्तुओं का सौन्दर्य सर्वमान्य है उनमे भी बहुत से लोगो को सौन्दर्य का अनुभव नही होता। इससे स्पष्ट है कि विषय की व्यवस्था मे सौन्दर्य का विधान ही सुन्दरम का पूर्ण रूप नही है। आधुनिक युग मे यद्यपि प्रकृति का सौन्दर्य किसी प्रकार भी कम नही हो गया है, फिर भी आधुनिक मानव को उसका इतना आकर्षण और अनुभव नही होता जितना कि पहले होता था। आज प्रभात, वर्षा और बसन्त के वर्णन रचनाओं मे होते हैं। पत्र पत्रिकाओं के विशेषाक निकलते हैं किन्तु इस वैज्ञानिक और व्यापारिक युग का मानव आज प्रकृति के सौन्दर्य के अनुभव के लिए अधिक उत्सुक नही है। सभ्य युग के कितने लोगो ने सूर्योदय को आह्लाद पूर्वक देखा है। इन्द्र धनुष को देखकर कितनो का हृदय वर्डसवर्थ की भाति उछलता है? जिस मलयानिल का कवियो ने वर्णन किया है उसके नर्मद स्पर्शन की पुलक का अनुभव इस यन्त्र-युग की सभ्यता मे कितना को होता है? पुष्पो के रूप और गन्ध का परिज्ञान कितना को है। कितनो ने पुष्पो और वृक्षो के सौन्दर्य को घर स बाहर निकलकर दखने का कष्ट किया है? प्राचीन भारत के वसन्तोत्सव और कौमुदी महोत्सव कहा हैं? अग्रेजी कवि कीट्स तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन की भाति कितने चाँदनी की रूप माधुरी को देखते दखते रात विता देते हैं, यदि सौन्दर्य वस्तु का गुण है तो आज के व्यस्त और खिन्न मानव के लिए प्रकृति के इन सभी उपकरणो का सौन्दर्य कहाँ विलुप्त हो गया? प्रकृति वही है।

अनन्त यौवना इन्द्राणी के समान उसका सौन्दर्य अक्षुण्ण है। अक्षुण्ण ही नही प्रकृति का सौन्दर्य ऋतुओ की गति के साथ सदा नवीन रूपो मे खिलता रहता है। नित्यता के साथ साथ प्रकृति के सौन्दर्य की निरन्तर नवीनता उसे और भी अधिक आकर्षक बनाती रहती है। निरन्तर नवीनता और अनेक रूपता के कारण प्रकृति का सौन्दर्य स्वर्ग के नित्य और एकरस सौन्दर्य से भी अधिक समृद्ध है। ऐसे शाश्वत, नित्य, नवीन और समृद्ध सौन्दर्य को देखने का उत्साह भी आज कितना क्षीण हो गया है। प्रकृति का सौन्दर्य आज किसी प्रकार भी कम नही हुआ है, फिर भी अनुभव मे यह उदासीनता क्यो है ? कला और काव्य मे भी सौन्दर्य का अनुभव आज उसी प्रकार कम हो रहा है। कला की प्रशसा सभ्यता का शिष्टाचार बन रही है। कला के सौन्दर्य की वास्तविक अनुभूति बहुत कम है। हृदय के आह्लाद की अपेक्षा वह श्रीमानो के भवनो का अलकार अधिक बन रही है।

इस उदासीनता का कारण यह है कि आज सौन्दर्य की वस्तुगत व्यवस्था का मानव मन के साथ सम्वाद क्षीण हो गया है। सौन्दर्य केवल एक वस्तुगत गुण अथवा व्यवस्था नहीं है, वह एक हृदयगत भाव भी है। वस्तु और भाव सम्वाद में ही सौन्दर्य पूर्ण होता है। इसी प्रकार सत्य भी सत्ता होने के साथ-साथ एक मनोगत भाव भी है। भारतीय भाषा मे सत्ता और अनुभव दोनो को एक 'भाव' शब्द के अन्तर्गत समाहृत कर लेने का यही रहस्य है। सत्य का भाव अवगति है, सौन्दर्य का भाव अभिव्यक्ति है। प्रकृति के सौन्दर्य मे रूप और वर्ण का जो विधान होता है वह भी आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन के अनुसार पूर्णत वस्तुगत नही है। वस्तु और इन्द्रियो के सक्रिय सवाद से उसका उद्भव होता है। यह सवाद ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का मार्ग है। सवाद की इस प्रक्रियात्मक व्याख्या मे उक्त दोनो धारणाओ का समन्वय है। यह समन्वय ही सौन्दर्य का पूर्ण सत्य है। अभिव्यक्ति इस समन्वय का धर्म है। अभिव्यक्ति मे वस्तु और भाव का सवाद प्रस्फुटित होता है। क्रोचे के अनुसार यह अभिव्यक्ति चेतना मे भाव का आत्मगत सृजन है। यह सौन्दर्य का पूर्णत आत्मगत रूप है। जिसमे दूसरो के प्रति सौन्दर्य को प्रकट करने का प्रसग नही है। इस प्रसग मे इस सौन्दर्य का मूल रूप तथावत् नही रहता। जिसे हम साधारणतया अभिव्यक्ति कहते हैं वह इस मूल और आत्मगत अभिव्यक्ति का अनुवाद है। रूप, रग, रेखा, शब्द, स्वर, आदि इस अनुवाद के माध्यम हैं। अभिव्यक्ति के इस सामाजिक रूप मे एक आमत्रण है। इस आमत्रण मे एक अपूर्व

आह्लाद है। इस अभिव्यक्ति, आमन्त्रण और आह्लाद में ही लोक-सम्मत सौन्दर्य की त्रिवेणी जीवन के तीर्थराजों में संस्कृति के संगम रचती हैं।

सुन्दरम् का मूल स्वरूप तो सृजनात्मक अभिव्यक्ति है और इस दृष्टि से सृष्टा के लिए सभी रचना सुन्दर हैं। तुलसीदास के 'निज कवित केहि लाग न नीका' का यही आशय है। इसका तात्पर्य यही है कि सौन्दर्य कोई वस्तुगत गुण नहीं है, वरन् सृजन का भाव है। सृजन शून्य में नहीं होता। किन्तु सौन्दर्य की भावना में उपादान का नहीं अभिव्यक्ति का अधिक महत्व है, इसीलिए अभिव्यक्ति ही सुन्दरम् का सामान्य लक्षण है। 'अभिव्यक्ति' सृजनात्मक क्रिया के द्वारा उपादान का रूप ग्रहण है। इस 'रूप' में सृष्टा का मनोगत भाव भी साकार होता है। अतः अभिव्यक्ति में उपादान अथवा तत्व की अपेक्षा रूप अथवा आकार का अधिक महत्व है। कला और काव्य में इसी आकार को शैली की संज्ञा दी जाती है। सत्यम् और सुन्दरम् तथा अवगति और अभिव्यक्ति में यही भेद है कि एक में वस्तु उपादान अथवा तत्व प्रमुख है और दूसरे में रूप, आकार अथवा शैली मुख्य है। एक में विषय की प्रधानता है, दूसरे में व्यंजना की। विषय की सत्ता किसी सीमा तक निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। अवगति में उसका ग्रहण होता है। अभिव्यक्ति चेतना का अधिक सक्रिय धर्म है। रूप के सृजन में चेतना का सौन्दर्य अधिक स्फुट रूप में प्रकट होता है।

यहाँ तक अवगति और अभिव्यक्ति की एक कोटि का ही प्रसंग है। इस प्रथम कोटि में द्रष्टा जगत के तथ्य और जीवन के तत्व चेतना के आलोक में ग्रहण करता है तथा सौन्दर्य के रूपों की अपने मानस में उद्भावना करता है। यह उद्भावना क्रोचे की आन्तरिक अभिव्यक्ति है। इसी में चेतना का सृजन धर्म सफल होता है और सौन्दर्य की विवृत्ति होती है। स्रष्टा और द्रष्टा दोनों का ही अपनी अवगति और सृष्टि को अभिव्यक्त करने की इच्छा होती है। यह मनुष्य की सामाजिक वृत्ति है। क्रोचे तो इन दोनों में कोई अन्तर भी नहीं मानते। उनके अनुसार चेतना अपने विषय और रूप दोनों का सृजन करती है। जिस विज्ञानवाद की परम्परा में क्रोचे का दर्शन पोषित हुआ है उसमें इस भेद के लिए स्थान भी नहीं है। विज्ञानवाद में 'वस्तु' विज्ञान-रूप ही है, अतः अवगति और मानसी सृष्टि का भेद नहीं हो सकता। यदि सभी 'भाव' चेतना की सृष्टि हैं तो सभी भाव सुन्दर हैं। जिस प्रकार हीगल के दर्शन में 'तत्व' 'चिन्तन' में एक रूप बन गया और तत्व शास्त्र तर्क शास्त्र

का समानार्थक हो गया, उसी प्रकार क्रोचे के दर्शन मे 'तत्व चेतना की 'भाव-सृष्टि' से एक रूप बन गया और तत्व-शास्त्र सौन्दर्य-शास्त्र का समानार्थक हो गया।

एक अर्थ मे विज्ञानवाद का अभिप्राय मान्य भी हो सकता है। यह वही अर्थ है जिसमे कान्ट ने चेतना की विधायक शक्ति का निर्देश किया था। कान्ट के विचार मे तार्किक कठिनाइया हो सकती हैं, किन्तु उनके दर्शन का एक सत्य असदिग्ध है। वह यह है कि हमारा ज्ञान अथवा अवगति किसी स्वतन्त्र और वाह्य विषय गत सत्ता से नियन्त्रित है। तर्क द्वारा इस सत्ता को सिद्ध करना कठिन है किन्तु हमारी चेतना की स्वतन्त्रता इससे मर्यादित होती है। सामान्य अनुभव मे यह उतना ही स्पष्ट और सरल है जितना कि तर्क इसे दुरुह और जटिल बना देता है। सदा की भाँति मध्यम मार्ग ही यहाँ सत्य प्रतीत होता है। मनुष्य की चेतना न इतनी निष्क्रय है, जितना लौक मानते थे और न उसकी सक्रियता इतनी स्वच्छन्द है जितना क्रोचे मानना चाहते थे। अवगति का तत्व इस स्वतन्त्रता की असदिग्ध मर्यादा है। अवगति के रूपो मे भी इतनी एकरूपता, सामान्यता तथा सार्वभौमता दिखाई देती है कि कम से कम व्यक्ति की चेतना की स्वतन्त्रता इस सम्बन्ध मे अकल्पनीय जान पड़ती है। अवगति के क्षेत्र मे तो व्यक्तिगत अवगति ही एक मात्र विशेषता प्रतीत होती है। इस अवगति मे अज्ञात का उद्‌घाटन ही एक मात्र चमत्कार है। यही चमत्कार अवगति का आनन्द है। यही चमत्कार अवगति के आलोक मे अभिव्यक्ति के आह्लाद की प्रेरणा बनता है। यहा अवगति की ग्रहणात्मकता अभिव्यक्ति की सृजनात्मकता मे परिणत होने लगती है और सत्य सुन्दर बनने लगता है। इस अभिव्यक्ति मे मानव चेतना अधिक स्वतन्त्रता और सक्रियता के साथ गृहीत तत्व की व्यजना के लिए रूप अथवा आकार की रचना करती है। चेतना का यही रचनात्मक धर्म सुन्दरम् है। अभिव्यक्ति मे अधिक स्वतन्त्रता और सक्रियता के साथ स्फुटित होने के कारण अभिव्यक्ति को सुन्दरम् का विशेष लक्षण मानना उचित है।

भाषा मे यह अवगति का तत्व 'अर्थ' बन जाता है। तत्व और रूप अभिन्न हैं इसीलिए कालिदास ने शब्द और अर्थ को पार्वती और परमेश्वर के समान अभिन्न माना है। जहाँ अवगति की भी अभिव्यक्ति होती है वहाँ भी दूसरे को अपने अनुभव मे भाग लेने के लिए आमन्त्रण होता है। इस आमन्त्रण मे चेतना का सौन्दर्य व्यक्त होना चाहता है। द्रष्टा अभिव्यक्ति का कर्त्ता बनकर रूप का स्रष्टा बन जाता है।

अपने अतिथि के लिए वह अपने अवगत तत्वों को ग्राह्य आकार देना चाहता था। आकार की यही सृष्टि सुन्दरम का बीज है। इस प्रकार यदि हम विज्ञानवाद से पूर्णतया सहमत न होकर वस्तु और तत्व को चेतना की भाव-सृष्टि न भी मानें तो भी अभिव्यक्ति की रूप सृष्टि में सत्यम और सुन्दरम् एक रूप बन जाते हैं, क्योंकि अवगति अभिव्यक्ति बन जाती है। इस प्रकार द्रष्टा और स्रष्टा एक हो जाते हैं।

अस्तु अवगति और अभिव्यक्ति का भेद तभी तक संभव है जब तक कि अवगति तत्व के ग्रहण तक ही सीमित रहती है। अवगति में अभिव्यक्ति का स्पन्दन पैदा होते ही सत्य सुन्दरम् का रूप ग्रहण करने लगता है। इस प्रकार अवगति और अभिव्यक्ति की समानता तथा चेतना की रूप सृजन की शक्ति में क्रोचे का मत अंशत सत्य प्रमाणित होता है। किन्तु अवगति और अभिव्यक्ति की यह समानता कर्त्ता की दृष्टि से है। इस समानता का कारण यह है कि अवगति का ग्राहक अभिव्यक्ति की आकांक्षा से रूप का स्रष्टा बन जाता है। किन्तु अवगति और अभिव्यक्ति के भेद की दो और कोटियां हैं। कर्त्ता के अतिरिक्त माध्यम और ग्राहक दो और कोटियां इस प्रसंग में उपस्थित होती हैं। अवगति और ग्रहण तक ही सत्य अपनी परिधि में रहता है। सत्य के मूल ग्राहक में अभिव्यक्ति की आकांक्षा उत्पन्न होते ही वह सुन्दरम की परिधि में प्रवेश करने लगता है। यहां अवगति का ग्राहक रूप का स्रष्टा बन जाता है। सत्य सुन्दरम् से एक रूप हो जाता है।

किन्तु माध्यम और अभिव्यक्ति के ग्राहक की दृष्टि से सत्यम् और सुन्दरम् की यह एकरूपता इतनी पूर्ण नहीं है। भाषा में तत्व 'अर्थ' बन जाता है। एक दृष्टि से सभी तत्व, अत सभी अर्थ, एक दूसरे के सापेक्ष हैं। किन्तु यह केवल अपरोक्ष विचार का दूरगत सश्लेष है वास्तविक अनुभव की आकृति नहीं। भाषा और विचार के व्यवहार में शब्द और अर्थ की निश्चित मर्यादाएं हैं। विचार में यह निश्चित मर्यादा एक गुण मानी जाती है। सत्य की अवगति और अभिव्यक्ति दोनों में इसे यथार्थता कहते हैं। विचार में अर्थ का यथार्थ निश्चय अपेक्षित होते हुए भी मूल सश्लेष की व्यापकता के कारण कुछ अनिश्चय रह ही जाता है। यह अनिश्चय अर्थ का अनिश्चित विस्तार है। शब्द के सामान्यत निश्चित अर्थ में यह विस्तार 'आकृति' के रूप में अन्तर्निहित रहता है। भाषा के माध्यम की दृष्टि से यदि हम इस आकृति को शब्द, वाक्य अथवा पद का सामान्य धर्म मान लें तो द्रष्टा और स्रष्टा, तत्व तथा रूप दोनों को अभिव्यक्ति को समान ही मानना होगा, किन्तु

विचार और दर्शन में अर्थ की निश्चित मर्यादा का आग्रह ही अधिक रहा है। अर्थ की यह मर्यादा तत्व के निश्चित आधार पर निर्भर है। तत्व की प्रधानता के कारण अवगति की अभिव्यक्ति में रूप का अधिक महत्व नहीं होता, उसमें तत्व की प्रधानता होती है। अभिव्यक्ति की आकांक्षा में भी द्रष्टा को अपने समान ही ग्राहक की चेतना में तत्व का ग्रहण कराने की ही कामना प्रमुख रहती है। उसका यही प्रयत्न होता है कि सत्य के आलोक में ग्राहक की चेतना में तत्व अनावृत हो। निश्चयात्मकता का आग्रह होने के कारण इस प्रयास में अर्थ और आकृति समान हो जाते हैं। अभिव्यक्ति का माध्यम होते हुए भी भाषा के रूप की गौणता रहती है। अवगति की अभिव्यक्ति का ग्राहक भी सत्य के मूल ग्राहक के समान ग्राहक बनता है। ग्रहण में आलोक और अनावरण अधिक है, सृजन और सक्रियता कम।

किन्तु इसके विपरीत भाव और रूप की सृजनात्मक अभिव्यक्ति में अर्थ और आकृति की समानता नहीं रहती। 'आकृति' अर्थ से कहीं अधिक रहती है। तत्व की निश्चयात्मक अभिव्यक्ति के विपरीत रूप की अभिव्यक्ति में आकृति का जितना अधिक विस्तार रहता है उतना ही इस अभिव्यक्ति को समर्थ और सम्पन्न माना जाता है। माध्यम के इस भेद के अतिरिक्त दोनों अभिव्यक्तियों के ग्राहक की भावना में भी भेद होता है। अवगति की अभिव्यक्ति का ग्राहक मूल ग्राहक के समान ही अपने को मूलतः ग्राहक मानता है। इसके विपरीत रूप की अभिव्यक्ति का ग्राहक मूल स्रष्टा के साथ एकात्मता का अनुभव करके सृजन का ही आनन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार सत्य और सुन्दरम् के विविक्त रूपों में कर्त्ता, माध्यम और ग्राहक तीनों ही दृष्टियों से भेद है।

अस्तु, सत्य अवगति का विषय-तत्व है तथा सुन्दरम् अभिव्यक्ति की क्रिया और उसका रूप है। कला और काव्य में भी किसी न किसी रूप में यह वस्तु तत्व अभिव्यक्ति का उपादान बनता है। अतः वैज्ञानिक गद्य, विचार, दर्शन आदि चेतना की क्रियाओं से कला और काव्य का भेद उपादान को लेकर नहीं वरन् रूप को लेकर है। दर्शन और काव्य दोनों में समान तत्व प्रायः पाये जाते हैं। फिर इन दोनों का भेद तत्व का भेद नहीं वरन् रूप का ही अन्तर है। यहाँ तत्व की वैज्ञानिक और कला पूर्ण अभिव्यक्ति में अन्तर खोजना होगा। वैज्ञानिक अभिव्यक्ति में रूप का इतना ही महत्व है कि वह तत्व की ग्राहकता में बाधा न

बने। ऋजुता और पारदर्शिता वैज्ञानिक और दार्शनिक भाषा के गुण हैं। किन्तु कला और काव्य में रूप का महत्व तत्व के ही समान है। इन दोनो में रूप की विशेषता अधिक है। कला और काव्य की अभिव्यक्ति मे अर्थ की अपेक्षा आकृति का प्रयोजन अधिक रहने के कारण उसमे ऋजुता कठिन है। कुन्तक का यह आग्रह किसी सीमा तक उचित ही है कि वक्रोक्ति काव्य का जीवन है। आकृति की अभिव्यक्ति मे जहा रूप की विशेषता होती है वहा उसके माध्यम में कुछ ऐसी भगिमा आ जाती है जो उसे अर्थ की अभिव्यक्ति का ऋजुता से भिन्न बना देती है। पारदर्शिता नि सन्देह अभिव्यक्ति का सामान्य गुण है। इसके बिना अर्थ और आकृति दोनो के ग्रहण मे बाधा होती है। अर्थ के लिए पारदर्शिता तस्वीर पर लगे हुए स्वच्छ शीशे के समान है। आकृति के लिए पारदर्शिता सुन्दरी युवती के झीने आवरण के समान है, जिसमे से झलकता हुआ रूप लावण्य द्रष्टा के मन मे उसकी अनन्त कल्पनाये प्रेरित करता है।

यह पारदर्शिता विचारात्मक गद्य मे स्पष्टता और काव्य मे प्रसादगुण कहलाती है। प्रसाद और स्पष्टता दोना ही ऋजुता के सामानार्थक नही है। ऋजुता भाषा के विन्यास और पदो की गति का लक्षण है। स्पष्टता भाषा का नहीं विचार का गुण है। यह भाषा और पदो की गति में व्यक्त होने वाले तत्वो की पारस्परिक सगति है। प्रसाद भी भाषा की अपेक्षा भाव का गुण अधिक है। वैज्ञानिक और विचारात्मक गद्य मे ऋजुता और पारदर्शिता दोनो ही अपेक्षित हैं। यह सत्य की अभिव्यक्ति के अनुरूप है। इसमे व्यजना अथवा भगिमा का पुट गद्य के प्रवाह मे कविता के कमल खिला देता है। एकरसता को भग करने की दृष्टि से यह स्पृहणीय भी हो सकता है। किन्तु वैज्ञानिक गद्य और काव्य का भेद स्पष्ट है। कविता के प्रसाद गुण का अर्थ आकृति की उज्ज्वलता है। इस उज्ज्वलता में तत्वो की पारस्परिक सगति और पारदर्शिता का समाहार हो सकता है।

किन्तु अभिव्यक्ति की व्यजना और भगिमा से इसका कोई विरोध नहीं है। प्रसाद की ऋजुता प्रकाश किरण की ऋजुता के समान है जिसकी दृष्ट गति सरल होते हुए भी पग पग में तत्व-परमाणुओ की बकिम गतियां अन्तर्निहित होती है। प्रसाद की उज्ज्वलता में भी व्यजना की ऐसी सूक्ष्म वकिमाएँ अन्तर्निहित रहती है। यदि ये प्रकाश किरणो की सूक्ष्म भगिमाओ के समान ही अलक्ष्य होती हैं तो लक्ष्य

भगिमाओ के अभाव के कारण ये ऋजुता का रूप और प्रसाद गुण प्रकट करती हैं। यह ऋजुता सत्य की अभिव्यक्ति का रूप है। अत अन्तर्निहित और अलक्ष्य व्यजनाओ से गर्भित उज्ज्वल और पारदर्शी काव्य 'सत्य काव्य' है। जब सत्य की ऋजुता और पारदर्शिता काव्य की अभिव्यक्ति का व्यापक गुण बन जाती है तो काव्य का सुन्दरम् सत्य बन जाता है। अथवा यो कह सकते हैं कि जब जीवन के सत्य (तत्व) अपनी ऋजुता और पारदर्शिता मे अभिव्यक्ति की भगिमाओ को प्रकाश किरणो के समान अन्तर्निहित कर लेते हैं तो 'सत्यकाव्य' की सृष्टि होती है। वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस मे काव्य का यह सत्य रूप मिलता है। दोनो ही कृतियो में जीवन के सत्य सुन्दरम् बन गए हैं। अभिव्यक्ति की भगिमा मे सत्य की ऋजुता और पारदर्शिता खडित नही हुई है। कालिदास मे भी काव्य का यह रूप रघुवश के आरम्भिक सर्गो मे मिलता है। अन्य काव्यो मे व्यजना की भगिमा कुछ अधिक स्फुट है। अभिज्ञान शाकुन्तल मे ऋजुता और व्यजना का अद्भुत समन्वय मिलता है। इसी कारण शाकुन्तल काव्य का अनुपम रत्न है।

मध्य युग के हिन्दी और सस्कृत काव्य में व्यजना की भगिमा इतनी प्रखर हो गई है कि वही काव्य का मुख्य ध्येय प्रतीत होती है। व्यजना रूप की रचना है, अत इस काव्य मे अभिव्यक्ति की विच्छित्तियाँ और रूप की विशेषताओ का ही अधिक महत्व है। यह रूप की रचना ही काव्य का कौशल है। अधिकाश कवि इस कौशल को ही कवि कर्म का सर्वस्व मानकर रूप की रचना मे इतने सलग्न होगए की उनकी दृष्टि मे तत्व का अधिक महत्व ही न रह गया। मध्य युग के इस काव्य का रूप-रचना की दृष्टि से ही अधिक महत्व है। सत्य को पर्याप्त महत्व न देने के कारण इस काव्य मे ऋजुता की अपेक्षा वक्रता अधिक है। रूप-रचना की विशेषता के कारण यह समस्त काव्य सुन्दर अवश्य है, किन्तु इस समग्र काव्य को सत्य नही कहा जा सकता। ऋजुता और पारदर्शिता की कमी के कारण सत्य इस काव्य का सामान्य विशेषण नही है।

तत्व के बिना रूप का अस्तित्व सभव नही है। अत मध्य युग के काव्य की इस रूप रचना मे भी सत्य का आधार है किन्तु जिस प्रकार 'सत्य काव्य' की ऋजुता मे प्रकाश-किरण की भाति व्यजना की वक्रिमाय अन्तर्हित हो जाती हैं। उसके विपरीत इस रूप-रचना की भगिमाओ मे उन आधारभूत सत्यो की ऋजुता

अन्तर्हित हो जाती है। इसीलिए इन रूप-प्रधान काव्यों में सत्य के तत्व खोजने से मिलते हैं। जब हम इन तत्वों को खोजकर निकालते हैं तो अभिव्यक्ति की भंगिमा का आकर्षण विलीन हो जाता है। रूप-वैभव की प्रचुरता में सत्य का यह तत्व इतना अल्प प्रतीत होता है कि उसकी तुलना में अभिव्यक्ति की रूप-रचना का वैभव एक आडम्बर-सा प्रतीत होने लगता है। इसीलिए तत्व की दृष्टि से ऐसी रचनाओं को देखना निराशाजनक होता है। यदि कहीं भारवि अथवा माघ के समान किन्हीं कृतियों में अर्थ-गौरव भी मिलता है तो भी रूप रचना की भंगिमा का कौशल और श्रम उसके लिए अनावश्यक जान पड़ता है। रूप-रचना के कौशल की विपुलता से न तो सत्य का महत्त्व ही बढ़ता है और न वह अधिक ग्राह्य ही बनता है। रूप-रचना का कौशल आवरण बनकर सत्य की ग्राहकता में बाधक होता है। आवरण की रंजित छटा अभिव्यक्ति की पारदर्शिता को आच्छादित कर देती है।

अस्तु काव्य में सत्य तो सदा वर्तमान रहता है। किसी न किसी रूप और परिमाण में जीवन के तत्व काव्य के उपादान बनते हैं। प्रत्येक काव्य में कुछ बिखरे हुए और कुछ संश्लिष्ट रूप में सत्य के तत्व खोजे जा सकते हैं। किन्तु जिन काव्यों में रूप रचना की प्रधानता रहती है उनमें व्यंजना की भंगिमाओं से सत्य की ऋजुता और पारदर्शिता की समुचित संगति नहीं होती। ऐसे काव्यों में सत्य का उपादान अवश्य है किन्तु सत्य उनका सामान्य विशेषण नहीं कहा जा सकता। जिस काव्य में व्यंजना की स्फुट भंगिमाओं में सत्य की ऋजुता विलीन हो जाती है, 'वह सुन्दर काव्य' अवश्य है किन्तु 'सत्य काव्य' नहीं। 'सत्य काव्य' वही है जिसमें व्यंजना की भंगिमा प्रकाश-किरण के परमाणुओं की बंकिमा की भाँति सत्य की ऋजुता में अन्तर्हित हो जाती है। काव्य के प्रसाद गुण में व्यंजना की इस भंगिमा का ऋजुता में समाहार होता है इसीलिए प्रसाद की उज्ज्वलता 'सत्य काव्य' की सनातन विशेषता है।

कविता एक सृष्टि है। सृजन एक क्रिया है। क्रिया गतिशील है। अत काव्य में ग्रहीत सत्य जड नहीं हो सकता। जीवन के तथ्य, तत्व और सिद्धान्त काव्य का उपादान बनकर प्रकाश के समान तरल बन जाते हैं। इस तरलता के कारण ही सत्य के तत्व-परमाणु प्रकाश किरण की ऋजु गति के समान काव्य की प्रसाद गुणी की अलक्ष्य भंगिमाओं में कुंचित होते हुए भी अकुंठित बने रहते हैं।

सत्य की यह तरलता ही सत्य की ऋजुता और सुन्दरम् की व्यजना के काव्य मे समन्वय का साधन बनती है। यह समन्वय ही काव्य को सत्य और सत्य को काव्य का विशेषण बनाता है। सत्य काव्य का उपादान अवश्य है, किन्तु 'सत्य काव्य' में वह केवल उपादान न रहकर काव्य का व्यापक विशेषण बन जाता है। सत्य की ऋजुता प्रसाद बनकर अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से एकाकार हो जाती है। किन्तु यह रूप की ही एकात्मता है। इस रूप के साथ सत्य के तत्व का समन्वय अधिक कठिन है। अर्थ के अधिक निकट होने के कारण सत्य प्राय अभिधान का विषय है। विज्ञानो और दर्शनो मे सत्य का अभिधान ही अधिक रहता है। अभिधेय सत्य का प्रसाद की ऋजुता के साथ अन्वय तो सहज है, किन्तु अभिव्यक्ति की भगिमा मे उसका समन्वय कठिन है। इस समन्वय के बिना सत्य सुन्दर नही बन सकता और 'सत्य काव्य' की सृष्टि नही हो पाती। जो सत्य अभिधान के धरातल पर रह जाते हैं वे पूर्णत काव्य के रूप मे एकाकार नही हो पाते। अधिकाश काव्यो मे सत्य के तत्व अभिधेय रूप मे ही अधिक मिलते हैं।

अनेक काव्यो मे सत्य का स्फुट आग्रह दिखाई देता है। दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' ऐसे काव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। समस्त नीति-काव्य इसी कोटि मे हैं। भारवि, तुलसीदास आदि के काव्यो मे भी सत्य का आग्रह बहुत मुखरित है। भारवि और तुलसीदास मे यह सत्य जीवन के कुछ सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे ग्रहीत हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' मे वह जीवन की कुछ समस्याओ के विवेचन के रूप में व्यक्त हुआ है। भारवि और तुलसीदास के ये विचार-तत्व बिखरे हुए हैं। अत उनमे सगति ढूँढना असगत है। उनकी स्पष्टता अपने रूप मे है और ऋजुता भाषा के विन्यास मे। सत्य स्वभाव से ऋजु होता है। उसकी सहज अभिव्यक्ति भी ऋजु होती है। भारवि के अन्यथा भगिमामय काव्य मे सत्य की यह ऋजुता दर्शनीय है। 'कुरुक्षेत्र' मे जीवन की समस्याओ का सश्लिष्ट विवेचन है अत उसमे सत्य की स्पष्टता विचार-सगति के रूप मे ही खोजनी चाहिए। 'कुरुक्षेत्र' मे भी सत्य का ऋजु और पारदर्शी रूप विद्यमान है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इन काव्यो में ग्रहीत यह सत्य सुन्दर बन सका है अथवा नहीं अर्थात् यह सत्य काव्य के स्वरूप से एकाकार हुआ है या नहीं। इसकी कसौटी यही है कि सत्य की ऋजुता का अन्वय व्यजना की रूप-रचना में हुआ है अथवा नहीं; अर्थ 'आकृति' से एकाकार हुआ है या नहीं। यह कहना होगा कि भारवि, तुलसीदास और दिनकर के द्वारा ग्रहीत सत्य में यह तरलता

उत्पन्न नही हो सकी है जो अर्थ को आकृति से एकात्म कर सके। भारवि और तुलसीदास के भी अश तथा कुरुक्षेत्र का अधिकाश सत्य ही बनकर रह गया, वह सुन्दर न बन सका। उसका दार्शनिक महत्व असदिग्ध है किन्तु वह कविता की आत्मा मे एकरूप न हो सका। सत्य को सुन्दर बनाना वस्तुत कठिन है। इसीलिए कालिदास जैसे सिद्ध कवि ने कुछ अपवाद रूप स्थलो को छोडकर इसका प्रयास बहुत कम किया है।

काव्य के पद या छन्दो मे तथ्यो अथवा जीवन के सामान्य सिद्धान्तों का अन्वय बडा कठिन होता है। प्राय तथ्य इतिवृत्त के वर्णन मात्र रह जाते हैं और सिद्धान्त दर्शन के अभिधान से आगे नही बढ पाते। वस्तु, वृत्त अथवा सिद्धान्त की अवगति मात्र कराने वाला काव्य इतिहास या दर्शन की कोटि मे आ सकता है। **अभिव्यक्ति की अलक्षित व्यजना में लक्षित होने वाली आकृति ही काव्य का आन्तरिक मर्म है। यह आकृति तत्व का अनिश्चित विस्तार हो नही है उसके साथ-साथ रूप के सौन्दर्य का विस्तार भी है।** वस्तुत विस्तार 'रूप' का सहज लक्षण है। काव्य की अभिव्यक्ति को रूप की व्यजना माना गया है। दूसरी ओर अभिव्यक्ति स्वय रूप का लक्षण है। इस प्रकार अभिव्यक्ति और रूप एकात्म ही हैं। आकृति की व्यजना का ग्रहण कल्पना के द्वारा होता है। वस्तुत उसका सृजन भी कल्पना के द्वारा ही होता है। सस्कृत भाषा मे तो कल्पना का मूल अर्थ सृजन ही है। कल्पना चेतना की सृजनात्मक वृत्ति है। ब्रह्मा की सृष्टि को 'कल्प' कहा जाता है। तत्व और उपादान की सृष्टि मे अनेक दार्शनिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं किन्तु सभी कल्पना मे रूपो का विधान होता है, यह सरलता से माना जा सकता है। **यदि कल्पना रूपो की रचना है तो कला और काव्य की अभिव्यक्ति रूप-प्रधान होने के कारण कल्पना-मूलक ही है।** कौलिंगवुड ने सत्य और असत्य के भेद को कल्पना के लिए अनावश्यक माना है तथा कल्पना की परिभाषा इस प्रकार की है कि कल्पना चेतना की वह वृत्ति है जिसमे वह किसी एक रूप मे केन्द्रित हो जाती हैं।[५] उनके अनुसार कल्पना मे उस केन्द्र की परिधि के बाहर की सत्ता का भान नही रहता। **सक्षेप में कल्पना चेतना की तन्मय वृत्ति है।** तादात्म्य को इस तन्मयता का आधार मानना होगा किन्तु इस तादात्म्य का कल्पना की केन्द्रीयता से विरोध-सा प्रतीत होता है। केन्द्रीयता सकोच-वृत्ति है और तादात्म्य विस्तार-वृत्ति है। तादात्म्य के मूल मे ही विस्तार की वृत्ति है। तादात्म्य मे चेतना अपने

बहिर्गत रूप से एकात्म होती है। इस प्रकार विस्तार तादात्म्य का स्वरूप ही है।

कल्पना की इस परिच्छेद-वृत्ति के प्रतीत होने का कारण यह है कि उसकी परिधि मे सजीवता रहती है। कल्पना की परिधि के बाहर के जगत के साथ सबन्ध मे इतनी सजीवता नही रहती। तादात्म्य इस सजीवता का प्राण है। पश्चिमी सौन्दर्य-शास्त्र मे कल्पना को रूपो का उपस्थापन मानकर प्रत्यक्ष से उसकी समता की गई है। प्रत्यक्ष इन्द्रिय-जन्यज्ञान है। कल्पना भी मानो ऐन्द्रिक रूपो की रचना करती है, किन्तु चेतना के समस्त कल्पनीय रूप ऐन्द्रिक है यह मानना उचित नही। ऐन्द्रिक ज्ञान मे देश और काल का अनुषग सदा रहता है। कल्पना मे देश काल का बन्धन और ज्ञान इतना प्रमुख नही रहता। एक प्रकार से जिस प्रकार कल्पना मे हम सत्य और असत्य के भेद से ऊपर उठ जाते हैं उसी प्रकार देश और काल के निबन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं। इसीलिए स्वच्छन्दतावादी कवि कल्पना को अनन्त का आभी मानते रहे हैं। देश-काल की सीमा के अतीत हो जाने के कारण कल्पना अनन्त बन जाती है। पुराण, अलिफ-लैला, उपन्यास आदि के विस्तार मे कल्पना की इस अनन्तता का आभास मिलता है। यह अनन्तता अनुभूति की अपेक्षा आकृति अधिक है। आकृति भी अर्थ की व्यजना का विस्तार है। अनन्त का साक्षात् ग्रहण असभव है। ऐन्द्रिक अवगति सदा परिच्छिन्न होती है। कल्पना की गति असीम होते हुए भी तथा आकृति की व्यजना का विस्तार अनिश्चित होते हुए भी उसे वस्तुत अनन्त नही कहा जा सकता। अनन्त अकल्पनीय है। वह कल्पना की परिधि में नहीं बांधा जा सकता। अवगति में आ जाने पर वह अनन्त नहीं रहेगा। अतः अनन्त कल्पना का 'विषय' नहीं, उसका धर्म, स्वरूप और उसकी गति है। कल्पना अनन्त है। वह अनन्त 'की' कल्पना नहीं है।

किन्तु साथ ही परिच्छिन्नता न कल्पना का विषय है और न स्वरूप। कल्पना के स्वरूप और विषय दोनो की वृत्ति विस्तारमुखी होती है। इस दृष्टि से कल्पना ऐन्द्रिक ज्ञान की सकोच-वृत्ति के विपरीत है। पश्चिमी विचारको के मत मे ऐन्द्रिक सवेदना का प्रभाव अधिक रहा है। दूसरे कला के क्षेत्र मे चित्र और मूर्ति के बाह्य और ऐन्द्रिक रूप की प्रधानता होने के कारण तथा इन रूपो के ऐन्द्रिक होने के कारण कला के रूपो के विवेचन मे भी सम्वेदना का आग्रह प्रभाव-

शाली बन गया। बाह्य रूपों के सम्वेदनात्मक तत्व काव्य के भी उपादान होते हैं। किन्तु भाषा के सयोग से काव्य मे ऐसे भावो की सृष्टि भी प्रचुरता से होती है। ऐसे भावों की सृष्टि भी की जाती है जिनमे सम्वेदना का संश्लेष अधिक नही रहता। उसके स्थान पर कुछ अतीन्द्रिय सम्बन्धो का उद्भावन रहता है। यदि सम्वेदना जीवन और चेतना का सर्वस्व नही है तो यह मानना होगा कि काव्य मे संवेदनातीत भावो का महत्व अधिक है। जो काव्य ऐन्द्रिक रूपो की रचना करता है वह भाषा के माध्यम के अतिरिक्त चित्र-कला, मूर्ति-कला, संगीत कला और नृत्य कला के ही समान है। अर्थ और आकृति के ग्रहण के कारण काव्य में संवेदनातीत भावो का ही अधिक महत्त्व है। अन्य कलाओ की तुलना में यही भाव काव्य की विशेषता का विधान करते हैं। इन्ही भावो की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य मे इन्द्रियो की अपेक्षा मस्तिष्क का अधिक विकास हुआ है। जहाँ अभिव्यक्ति और आकृति सभी कलाओ का सामान्य लक्षण है किन्तु अतीन्द्रिय अथवा संवेदनातीत भाव-रूपो की व्यजना की सामर्थ्य भाषा के संयोग के कारण काव्य की अपनी विशेषता है। भाव की यह आकृति इतनी विस्तृत है कि वैयाकरण शब्द को ब्रह्म मानते हैं। ब्रह्म अनन्त है। जैन दर्शन मे एक भाव के पूर्ण बोध मे अखिल भावो का समाहार माना जाता है। विशिष्टाद्वैत मत मे भाव परम्परा से सभी शब्द परमेश्वर के वाचक हैं। भाषा और भाव के माध्यम मे कल्पना का विस्तार इस प्रकार स्पष्ट है। पश्चिमी विचारको के संवेदनात्मक आग्रह और कल्पना की सकोच-वृत्ति का कारण यही है कि उन्होने काव्य का अन्य कलाओ से भेद स्पष्ट नही किया। इस भेद को समझ लेने पर कल्पना की विस्तार-मुखी वृत्ति की कल्पना सहज ही की जा सकती है। कवि दिनकर ने कल्पना को 'व्योम-कुंजो की परी' कहा है। 'रेणुका' वस्तुत कल्पना के सम्वेदनातीत भावो के असीम आकाश मे अनन्त उडान भरने वाली कपोती है।

कल्पना की इस विस्तार-वृत्ति के कारण ही परिच्छिन्न तथ्यो, इतिवृत्तो और निश्चित सिद्धान्तो का काव्य में समन्वय कठिन होता है। इसीलिए उत्तम काव्य में तथ्यो और वृत्तों का अल्पतम आधार हो रह पाता है। इसीलिए विस्तृत कथाओ और व्यापक सिद्धान्तो की अन्तर्भावना का समन्वय काव्य में सुकर होता है तथा काव्य के स्वरूप से सर्वाधिक समन्वय के योग्य होने के कारण अल्पतम विरोध उत्पन्न करता है। इसीलिए काव्य मे कथा आदि रूपो का उपयोग प्रतीक के रूप

मे अधिक कलापूर्ण माना जाता है। 'प्रतीक' आकृति की व्यजना का माध्यम है। वह आकृति के विस्तार का एक निमित्त मात्र है। भाषा के सभी शब्द वस्तुओ, भावो और सबन्धो के प्रतीक है। जिन शब्दो मे आकृति की अपेक्षा अर्थ अधिक है वे विज्ञान और दर्शन की अवगतिपरक अभिव्यक्ति के अधिक अनुरूप हैं। जिन शब्दो मे अर्थ की अपेक्षा आकृति की क्षमता अधिक है वे काव्यात्मक अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल हैं। इसीलिए काव्य मे ऐसे शब्दो का प्रयोग अधिक रहता है। किन्तु यह आकृति शब्दो तक ही सीमित नही, वाक्य, पद और प्रबन्ध मे यह और भी विस्तृत तथा सम्पन्न बनती जाती है।

अतीन्द्रिय भावो की आकृति के ग्रहण को भी हम अनुभूति कह सकते हैं। किन्तु यह अनुभूति ऐन्द्रिक सवेदना से भिन्न है। ऐन्द्रिक सम्वेदना समस्त अनुभूति का आधार और अग मात्र है। पश्चिमी विचार मे सवेदनात्मक रूप और अतीन्द्रिय भाव तथा सवेदना कल्पना की वृत्ति को केन्द्रीय माना है। कल्पना के इसी रूप के आग्रह के कारण कौलिंगवुड ने कला को सस्कृति का आदिम रूप माना है। यह सत्य है कि जिस रूप मे उन्होने कला और कल्पना की है, उस रूप मे वह नि सन्देह एक आदिम वृत्ति है। किन्तु जिस सम्वेदनातीत भाव-विस्तार के रूप मे कल्पना की ऊपर व्याख्या की गई है उस रूप मे वह मनुष्य के मानसिक और सास्कृतिक विकास की पराकाष्ठा है। सवेदनात्मक सौन्दर्य जहाँ मनुष्य की आदिम वृत्ति है वहाँ सम्वेदनातीत सौन्दर्य चेतना की चरम आकाक्षा है। जहाँ उच्चतम शुद्ध गणित और शुद्ध तर्क शास्त्र मे चेतना के अवगति के धर्म की उच्चतम परिणति होती है वहा उसके अभिव्यक्त धर्म की चरम परिणति कल्पना के सम्वेदनातीत सौन्दर्य के उद्भावन मे है। इसीलिए एक ओर 'सुन्दरम्' सस्कृति का आरम्भ बिन्दु है वहाँ दूसरी ओर वह सस्कृति का चरम लक्ष्य भी है। इसीलिए भारतीय वदान्त मे ब्रह्म भाव की भूमिका मे त्रिपुर सुन्दरी श्री की प्रतिष्ठा हुई है।

काव्य का आन्तरिक रूप अनुभूति है। इस अनुभूति मे चेतना के सृजनात्मक धर्म की आन्तरिक विवृत्ति होती है। काव्य का यह आन्तरिक रूप शब्दो मे मूर्त और मुखर होता है। यही काव्य का फलित रूप है। यह रूप स्वभाव से सुन्दर होता है। इसका कारण यह है कि अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य की आत्मा है। वस्तुत. सुन्दरम् ही काव्य का सत्य है। इसीलिए कविता के इतिहास मे प्राय इसी पक्ष

की प्रधानता मिलती है। काव्य-शास्त्रो में रूप-रचना की शैलियाँ और सौन्दर्य के साधनो का ही विवेचन होता रहा है। आलोचना की रूढ भाषा में इसे काव्य का 'कला-पक्ष' कहा जाता है। यह सत्य है कि काव्य का रूप-विधान शून्य मे नही होता. वह किसी आधार पर ही होता है। इस आधार को उपादान कह सकते हैं। यह उपादान जीवन और जगत का तत्व है। वस्तु और भाव दो रूपो में उपादान के स्थूल और सूक्ष्म भेद मिलते हैं। जहाँ तक काव्य के स्वरूप और सुन्दरम् का प्रयोजन है, वहाँ तक तो उपादान का कोई महत्व नही है। प्रत्येक अभिव्यक्ति सुन्दर है। काव्य के विषय और गुण के सबन्ध मे जो भेद किये जाते हैं वे प्राय सत्य, शिव और सुन्दरम् के आधार पर किये जाते हैं। सत्य के सभी रूप काव्य के उपादान बन सकते हैं और बनते रहे हैं। उनके औचित्य और अनौचित्य का विचार सत्य की सीमा के बाहर है जिस प्रकार अभिव्यक्ति के सभी रूप सुन्दर हैं, उसी प्रकार अवगति के सभी रूप सत्य हैं। उनके औचित्य के विषय मे जो विचार किया जाता है उसका आधार शिव अथवा लोक-मगल है। शिव एक बडी व्यापक कल्पना है। उसके अनेक रूपो के अनुसार काव्य की अभिव्यक्ति के सुन्दरम् और उसमें ग्रहीत सत्य के उपादान के औचित्य का विचार किया जाता है। **शिव का मूल स्वरूप मानवीय स्वतन्त्रता, समानता और आत्मदान है। इसी की परम्परा का सृजन सत्य का पूर्ण रूप है जिसकी अभिव्यक्ति में सुन्दरम् का भी समवाय है। इसीलिए 'काव्य' चेतना के सास्कृतिक विकास का सबसे अधिक पूर्ण और स्थायी रूप है।**

काव्य का स्वरूप सुन्दरम् होने के कारण प्राय काव्य में अभिव्यक्ति की ओर ही ध्यान दिया गया है। प्राचीन काव्यो में भी अभिव्यक्ति के सुन्दरम् का पर्याप्त महत्व है। किन्तु इतिहास के उन युगो मे जिनमे सास्कृतिक जीवन के उपादान-तत्व के सम्बन्ध मे मानव-चेतना अधिक अनिश्चित, सदिग्ध और भ्रान्त रही है उनमे विशेषत काव्य का यह अभिव्यक्ति-पक्ष ही प्रधान हो गया है। वाल्मीकि के बाद कालिदास और कालिदास के बाद श्री हर्ष, माघ, बाण, आदि मे इसका प्राधान्य क्रमश बढता गया है। हिन्दी काव्य के इतिहास मे भी यही हुआ है। सूर और तुलसी के बाद रीति काल मे अभिव्यक्ति का ही अधिक महत्व रहा। आधुनिक युग मे पराधीनता के कारण भारतीय चेतना अधिक श्रान्त, भ्रान्त और कुण्ठित रही है। इसलिए आधुनिक काव्य मे वाल्मीकि और कालिदास तथा सूर

और तुलसी के समान उपादान और अभिव्यक्ति का संतुलित सामजस्य कम दिखाई दिया है। छायावाद के पूर्वगामी कवियो मे अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से रहित उपादान ही अधिक मिलता है। उसे काव्य कहना भी कठिन है, क्योंकि उसके सत्य मे सुन्दरम् का समुचित समन्वय नही हुआ है। उसे पद्य बद्ध इतिहास, वृत्त और विचार कह सकते हैं। श्रीधर पाठक, हरिऔध, मैथलीशरण गुप्त आदि का काव्य इसी कोटि का है। छायावादी कवियो मे अभिव्यक्ति की ही प्रधानता रही। वे वस्तु, भाव, शैली आदि सभी दृष्टियो से सौन्दर्य के उपासक थे। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' छायावादी युग का एक मात्र ऐसा महान् काव्य है जिसमे सत्य के साथ सुन्दरम् का समुचित समन्वय हुआ है। किन्तु 'कामायनी' में भी सौन्दर्य की प्रधानता होने के कारण सत्य के व्यापक रूपो का ग्रहण नहीं हो सका। सत्य के मानसिक और सूक्ष्म रूप ही सुन्दरम् में अन्वित हो सके हैं। प्रगतिवाद मे एक वार फिर सुन्दरम् से विरहित सत्य का ग्रहण हुआ। वह सत्य जीवन का यथार्थ बनाकर आया। आज प्रगतिवाद की प्रक्रिया के रूप मे ठीक रीति काल और छायावाद की भांति प्रयोगवाद मे सत्य से उदासीन अभिव्यक्ति के सुन्दरम् का आग्रह दिखाई दे रहा है। छायावाद के पूर्वकाल से लेकर प्रयोगवाद तक की सभी परम्पराओ के सस्कारो मे पोषित होने के कारण 'दिनकर' के काव्य मे ये सभी रूप पृथक्-पृथक् और समन्वित रूप मे भी मिलते हैं। 'कुरुक्षेत्र' मे सत्य का गभीर और विशद रूप व्यक्त हुआ है, जिसमे सुन्दरम् का समुचित समन्वय नही है। 'नील कुसुम' मे सुन्दरम् की प्रधानता है तथा प्रयोगवाद का प्रभाव है। 'रश्मि रथी' मे सत्य अधिक है, फिर भी उसके साथ सुन्दरम् का वहुत कुछ समन्वय है। बाल्मीकि के समान सतुलित रूप में सत्य और सुन्दरम् का समन्वय सूर, तुलसी और प्रसाद के अतिरिक्त हिन्दी काव्य में दुर्लभ ही है।

वस्तुतः वाल्मीकि का आदि-काव्य ही काव्य का पूर्ण रूप है। उसमें सत्य और सुन्दरम् का शिव के साथ भी समुचित समन्वय है। काव्य शास्त्रो मे 'शिवेतर-क्षतये' तथा नि श्रेयस को काव्य का प्रयोजन अवश्य माना गया है, किन्तु काव्य ग्रन्थो मे इन लक्ष्यो का वहुत कम ध्यान रखा गया है। जिन्होने सत्य को ग्रहण किया वे उसे सुन्दर नही बना सके। जिन्होंने सुन्दरम् को प्रधानता दी वे उसके साथ सत्य के समन्वय से उदासीन रहे। शिव के पूर्ण और व्यापक स्वरूप की ओर से तो भारतीय चेतना उत्तर वैदिक काल से ही उदासीन अथवा भ्रांत रही है। कालिदास

मे सत्य और सुन्दरम् का जितना अच्छा समन्वय मिलता है उतना उनके साथ शिव का नही। रामचरितमानस मे सत्य और सुन्दरम् के साथ साथ शिव का भी समुचित योग है, चाहे वह शिव दास्य भक्ति के ही रूप मे है। कालिदास मे भारतीय संस्कृति की मंगल-भावना के तत्व बिखरे हुए अवश्य मिलते हैं। **इसीलिए उत्तर भारत के साहित्य में वाल्मीकि, कालिदास और तुलसीदास की कृतियां ही सर्वोत्तम हैं। आधुनिक युग में इनकी तुलना का एक मात्र काव्य 'कामायनी' है।**

सत्य और शिव का समन्वय आलोक और आनन्द का समन्वय है। इस समन्वय में ही उत्तम काव्य का सूर्य उदय होता है। इस सूर्योदय में जीवन और जगत के अखिल सत्य अनावृत होते हैं। मानव के जागरण और सृजन का सत्य भी इसमे सजीव हो उठता है। जीवन का आलोक आह्लाद की लालिमा बनकर प्रकृति के आनन पर छलकने लगाता है। प्रकृति का यह सूर्योदय संस्कृति के काव्य का सर्वोत्तम उपमान है। काव्य की अभिव्यक्ति मे आलोक रश्मि की ऋजुता और पारदर्शिता अभीप्सित है। व्यंजना की भंगिमायें तथा रूप रचना के वर्ण अलक्षित रूप म इन्ही ऋजु रश्मियो की पदगति मे निलीन रहते हैं। जीवन मानस मे सत्य के ये सुन्दर रूप विविध वर्ण कमलो मे प्रस्फुटित हो उठते हैं। कृषको की प्रभाती, ग्वालो की वंशी, पक्षियो के कलरव और बालको के क्रन्दन मे जीवन का सत्य मुखरित हो उठता है। श्रमिको के उद्योग, गृहिणी के कर्म आदि मे सत्य की शय्या पर शिव जाग उठता है। जीवन के सत्य का सुन्दर उद्घाटन करके तथा कर्म की प्रेरणा बनकर सूर्योदय जीवन के काव्य का उत्तम उपमान बनता है। इसीलिए कदाचित् विधाता के काव्य का प्रारम्भ किसी अनादि सूर्योदय से ही हुआ होगा। इसीलिए वैदिक संस्कृति मे ऊषा की वन्दना के गीत इतने महत्त्वपूर्ण हैं। इसीलिए सूर्य की वन्दना का गायत्री मत्र वेद की दिव्य विभूति है। समस्त श्रेयो के जनक सूर्योदय की भाँति गायत्री वेद के अखिल सास्कृतिक भावो की माता है। इसीलिए काव्यो मे प्रभात वर्णन का इतना महत्त्व है। इसीलिए साधारण जीवन मे प्रत्येक प्रभात जीवन के महाकाव्य के नये सर्ग के समान नवीन छन्द की गति मे उदित होता है।

सूर्योदय का यह आलोकमय आह्लाद सत्य मे सुन्दरम् के समन्वय का प्रतीक है। सुन्दरम् मे अन्वित होकर सत्य हृद्य बनता है। सुन्दरम् का यह हृद्य रूप ही सत्य काव्य का रूप है जिसे हम सामान्यत काव्य कहते हैं। उसमे उपादान के रूप

मे सुन्दरम् मे असमन्वित सत्य तो बहुत मिलता है। सत्यम् और सुन्दरम् के ये समन्वित अश काव्य के अतिरिक्त विज्ञान, दर्शन आदि के ग्रन्थो मे भी यत्र-तत्र मिल सकते हैं। कही भी हो काव्य वस्तुत सत्य और सुन्दरम् का समन्वय ही है। उपादान अभिव्यक्ति का आवश्यक आधार है। अत जहाँ हम काव्य में सत्य का ऐसा रूप पाते हैं जिसमे सुन्दरम् का पूर्ण समन्वय नही है वहाँ काव्य की सज्ञा का प्रयोग उपचार मात्र है। काव्य का स्वरूप तो सुन्दरम् है। सत्य के किसी भी रूप मे उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है। रीति काव्य, छायावाद और प्रयोगवाद की भाँति सुन्दरम् की प्रधानता और सत्य की ओर से उदासीनता के कारण हम चाहे तो उसे सुन्दर काव्य कह सकते हैं किन्तु सुन्दर काव्य एक पुनरुक्ति मात्र है। सभी काव्य सुन्दर हैं। जो भी काव्य-सज्ञा का उचित अधिकारी है वह सुन्दर है। एक अर्थ मे उपादान के अनावश्यक ग्रहण के कारण सभी काव्य मे सत्य रहता है किन्तु सभी काव्य सत्य नही होता। सत्य काव्य का सामान्य गुण तभी बनता है जबकि सत्य के उपादान सुन्दरम् मे अन्वित होकर हृद्य बनते हैं, जब कि आलोक-रश्मि की भाँति सत्य की ऋजुता और पारदर्शिता मे सुन्दरम् की अभिव्यक्ति की भगिमा का समन्वय होता है और इस समन्वय से लोक-मानस मे जीवन के अनेक वर्ण कमल विकसित होते हैं।

अध्याय १२

सत्य और कल्पना

सत्य के अनेक रूपो के परस्पर भेद और काव्य मे उनके साथ का निरूपण करने के पूर्व कल्पना के साथ सत्य और काव्य दोनो के सम्बन्ध का समझना भी आवश्यक है। 'कल्पना' चेतना की विधायक शक्ति है। **अवगति और रचना चेतना के मुख्य दो धर्म है।** इनमे ही चेतना की सत्ता और उसके स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। मूलत चेतना स्वतत्र और सक्रिय है। अत अवगति में भी उसका रूप पूर्णत अक्रिय नही होता। किन्तु रचना मे अवगति की अपेक्षा अधिक सक्रियता होती है। अवगति की क्रिया इतनी सहज और स्वाभाविक होती है कि हम उसका बोध भी नही होता। रचना की क्रिया प्राय अध्यवसाय-युक्त होती है। और उसमे सहज भाव का आधान बडी साधना के बाद होता है। अत उसकी सक्रियता का बोध अधिक स्फुट रूप मे होता है। **'काव्य' चेतना की इस रचनात्मक क्रिया का एक उत्तम रूप है।** मनोविज्ञान और कला शास्त्र दोनो मे ही इस रचनात्मक क्रिया को 'कल्पना' कहते हैं। साधारण प्रयोग मे 'कल्पना' के अर्थ मे एक ऐसी छाया आ गई है, जिससे वह सत्य से भिन्न प्रतीत होती है। 'सत्य' वास्तविक और सामान्य माना जाता है। कल्पना मानो व्यक्तिगत और मनोविजृम्भण मात्र है। किन्तु विचार करने पर यह भेद इतना कठोर नही रह जाता। 'कल्पना' मानसिक विधान होते हुए भी मनोरथ मात्र नही है। कल्पना के मानसिक विधान का उपादान और आधार वही रहता है जिसे हम वस्तुगत सत्य कहते हैं। कल्पना कोई निराधार क्रिया नहीं है। उसकी गति शून्य में नहीं होती। वस्तुगत सत्य की अवगति के आधार पर ही कल्पना नवीन रूपो की रचना करती है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ सत्य को एक निरपेक्ष सत्ता कहना अधिक उचित होगा, वहाँ कल्पना एक मन-सापेक्ष क्रिया है।

यह ठीक है कि सत्य की वास्तविकता कल्पना की रचनात्मक क्रिया का आधार और उपादान है। किन्तु साथ ही वस्तुगत सत्य की अवगति दर्पण के प्रतिबिम्ब के समान पूर्णत निष्क्रिय ग्रहण नहीं है। अगरेज विचारक लौकने का यह

मत आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन दोनो को ही मान्य नही है कि मनुष्य का मन एक कोरी पट्टी के समान है और वह दर्पण के समान निष्क्रिय भाव से वस्तुओ को मानसिक प्रत्ययो के रूप मे प्रतिबिम्बित करता है। आधुनिक मनोविज्ञान और दर्शन दोनो ही यह मानते है कि हमारी वस्तुओ की अवगति में भी कल्पना की रचनात्मक क्रिया का योग है। जिसे हम 'प्रत्यक्ष' मानते है उसमे भी रचनात्मक कल्पना का सम्पुट है। अर्वाचीन योरोपीय दर्शन मे काट के विज्ञान-वाद से मन की इस रचनात्मक शक्ति का महत्त्व हमारे सामने आया। बर्ट्रेण्ड रसेल ने विज्ञान और यथार्थवाद की भूमिका मे यह प्रमाणित किया है कि हमारे सभी प्रत्यक्ष कल्पना के विधान हैं। भारतीय दर्शन मे तो बौद्ध मत के सौत्रान्तिक सम्प्रदाय में यह सिद्धान्त हजारो वर्ष पूर्व मिलता है। 'कल्पनापोढम् प्रत्यक्षम्' धर्म-कीर्ति के 'न्यायबिन्दु' का स्पष्ट सिद्धान्त है।

वस्तुत यथार्थ का प्रत्यक्ष एक सश्लिष्ट और सहज क्रिया है। सहज भाव के कारण हम इसके अन्तर्गत और इसके विधायक तत्वो तथा क्रियाओ का विश्लेषण नही कर पाते। प्रत्यक्ष की पूर्व-क्रिया इतनी अनायास होती है कि हमे उसका बोध भी नही होता। एक सश्लिष्ट रूप मे प्रत्यक्ष के जिस फल की अवगति होती है, उसे हम एक पूर्व-क्रिया के परिणाम के स्थान पर ज्ञान का आरम्भ मान लेते हैं। इस प्रकार यथार्थ के जिस प्रत्यक्ष को हम कल्पना के विधानो का आधार मानते हैं वह स्वय कल्पना की क्रिया से प्रसूत है। अस्तु जहां एक ओर सत्य कल्पना की रचनाओ का उपादान है वहां दूसरी ओर वस्तुगत सत्यो की अवगति में भी कल्पना की रचनात्मक क्रिया का अन्तर्भाव है। स्पष्टता और विशदता की दृष्टि से भी सत्य और कल्पना मे उतना अन्तर नही है, जितना कि हम साधारणतया मानते हैं। कल्पना के अप्रस्तुत विधान भी कल्पना-प्रवण कवियो, कलाकारो और युग निर्माताओ की दृष्टि मे सत्य के समान ही विशद होते हैं। विशदता का भेद वस्तुतः कल्पना और सत्य का भेद नहीं, दृष्टि की क्षमता का भेद है। कवि अप्रस्तुत का द्रष्टा ही है। शकराचार्य ने 'कवि पुराण अनुशासितारम्' तथा 'कविर्मनिर्षीपरिभू स्वयम्भू' के प्रसग मे द्रष्टा के रूप में ही कवि की व्याख्या की है। अस्तु रचनात्मकता कल्पना का मुख्य रूप है। सृष्टि के समस्त विधान इसी के फल हैं। इसीलिए संस्कृत भाषा मे 'कल्पना' का अर्थ ही 'रचना' है। सृष्टि विधाता का 'कल्प' है, इसीलिए 'कल्प' सृष्टि की स्थिति का काल है। कवि द्रष्टा होने के साथ-साथ स्रष्टा भी

है। काव्य उसकी सृष्टि है। उपनिषदो मे इसीलिए ब्रह्म की 'कवि' सज्ञा है और वेदो मे सृष्टि को विधाता का काव्य भी कहा है।

किन्तु सत्य और कल्पना दोनो के स्वरूप में कुछ समानता होते हुए भी तथा एक दूसरे की प्रकृति का अन्तर्भाव होते हुए भी दोनो में अन्तर है। सत्य अवगति का विषय है। यह अवगति ज्ञाता के मन से सम्बद्ध होते हुए भी विषयाकार और विषय पर आश्रित होती है। **अतएव सत्य स्वरूपत निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। उसकी अवगति विषय-तन्त्र है। अत वह परतन्त्र है।** इस विषय तन्त्रता के कारण ही सत्य का स्वरूप सामान्य है तथा विभिन्न व्यक्तियो की अवगतियो मे साम्य और सम्वाद होता है। प्रत्यक्ष मे जो यथार्थ की अवगति होती है उसमे कल्पना की रचनात्मक क्रिया का योग होते हुए भी अवगति के विषय तन्त्र और परतन्त्र होने के कारण विभिन्न व्यक्तियो के प्रत्यक्ष मे साम्य और सम्वाद रहता है। इन्द्रियाँ और मन की विधायक क्रिया भी शरीर की प्राकृतिक व्यवस्था पर निर्भर होती हैं। इसीलिए वह बहुत कुछ अनायास और अचेतन होती है। **किसी अर्थ में क्रियात्मक और रचनात्मक होते हुए भी प्रत्यक्ष की अवगति में स्वतन्त्रता की अपेक्षा परतन्त्रता और निर्माण की अपेक्षा ग्रहण अधिक है। सामान्य प्रयोग में 'कल्पना' के साथ स्वच्छदता का भाव रहता है। उसका कारण यही है कि स्वतन्त्रता कल्पना का मर्म है।**

रचना भी चेतना की स्वतन्त्र क्रिया है। इसीलिए कल्पना रचनात्मक वृत्ति है। मन की गति निर्बाध है। अत कल्पना स्वच्छन्द भी हो सकती है। किन्तु वस्तुत कल्पना की स्वच्छन्दता का अर्थ उसकी रूप विधान की क्रिया की स्वतन्त्रता ही है। साधारणत कल्पना की निर्माणमुखी क्रिया उपादान का आश्रय लेकर होती है। **इस प्रकार उपादान के सम्बन्ध में हम कल्पना को परतन्त्र मान सकते है। किन्तु क्रिया की दृष्टि से कल्पना स्वतन्त्र है।** अनुभव से ग्रहीत उपादानो से वह जिन रूपो का विधान करती है उनके सबन्ध मे भी वह परतन्त्र है। यहा पर कल्पना का प्रत्यक्ष से अन्तर है। **प्रत्यक्ष उपादान के सम्बन्ध में ही नहीं, क्रिया और रूप के सम्बन्ध में भी परतन्त्र है।** परतन्त्र होने के कारण ही उसके गति और फल नियत तथा सामान्य हैं। इसके विपरीत कल्पना की गति और उसके फल दोनो स्वतन्त्र हैं। इसीलिए उनमे समानता आवश्यक नही। एक ही उपादानो मे स्वतन्त्र क्रियाओ के द्वारा भिन्न भिन्न रूपो की रचना होती है। यह प्रत्यक्ष म

सभव नहीं है। वस्तुत कल्पना चेतना का प्रत्यक्ष की अपेक्षा अधिक विकसित रूप है। कल्पना में चेतना प्रवर्गति से बढकर स्वतन्त्र रचना की ओर अग्रसर होती है।

साधारणत क्रिया और फल मे स्वतन्त्र होते हुए भी उपादान के सम्बन्ध मे यह कल्पना परतत्र मानी जाती है। किन्तु यह परतत्रता भी इतनी पूर्ण और प्रबल नही है जितनी कि प्रत्यक्ष मे होती है। साथ ही यह इतनी व्यापक भी नहीं है कि कल्पना के समस्त रूपो पर इसका समान शासन हो। कल्पना मन की सूक्ष्म और आन्तरिक क्रिया है। कल्पना के रूपो को वाह्य जगत मे मूर्त आकार प्रदान करना न सदा सम्भव है और न सर्वदा आवश्यक। आन्तरिक क्रिया मे ही कल्पना की कृतार्थता है। 'कल्पना' चेतना की स्वतन्त्र क्रिया है। जिन रूपो के विधान मे वह फलित होते हैं वे ही स्वतन्त्र क्रिया के स्वतन्त्र परिणाम हैं। उपादान के सबन्ध मे कल्पना की रचनात्मक क्रिया की जो परतन्त्रता प्रतीत होती है वह भी इतनी प्रभावशाली और वास्तविक नही, जितनी कि दिखाई देती है। कल्पना की क्रिया सूक्ष्म और आन्तरिक होने के कारण उसके उपादान भी मानसिक होते हैं। परतत्र प्रत्यक्ष मे ग्रहीत वाह्य विषय अनुभव मे आत्मसात् होकर मानसिक प्रत्यय बन जाते हैं। मनोलोक मे ये मानसिक प्रत्यय वाह्य विषय जगत के प्रतिरूप हैं। ये प्रत्यय ही मनोलोक की सम्पत्ति और सामग्री हैं। मनोलोक की यही विभूति कल्पनाओं की रचना का उपादान बनती है। विषयो के प्रतिरूप होते हुए भी ये प्रत्यय स्वरूप से मानसिक होने के कारण स्थूल और कठोर नही होते, वरन् इसके विपरीत सूक्ष्म और मृदुल होते हैं। इनके आकार की अनियत मृदुलता का सकेत करने के लिए हम इन्हे वायवीय कह सकते हैं। इन प्रत्ययो के सूक्ष्म, मानसिक और मृदुल होने के कारण उपादान के सबन्ध मे कल्पना की परतन्त्रता नही के बराबर रह जाती है। वस्तुत जिस चेतना की स्वतन्त्र और रचनात्मक क्रिया की अभिव्यक्ति कल्पना मे होती है उस चेतना के साथ प्रत्ययो के उपादान तत्व एकात्म होते हैं। अनुभव मे आत्मसात् होकर ये प्रत्यय मानो चेतना के रूप से एकाकार हो जाते हैं। दर्शन की भाषा मे हम यह कह सकते हैं कि चेतना का स्वरूप ही कल्पना की रचना का उपादान और निमित्त कारण है। सृष्टि-रचना की इसी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म को एक साथ जगत का उपादान और निमित्तकारण माना गया है।

'कल्पना' मन की रचनात्मक क्रिया है। वह स्वतत्रता-पूर्वक वस्तु रूपो और

व्यवस्थाओं का यथाकाम प्रस्ताव करती है। क्रोचे के अनुसार कलात्मक कल्पना एक स्वतन्त्र और आत्मगत अनुभूति है, जिसके रूप और विषय उसकी क्रिया से भिन्न नहीं होते। कल्पना के इस रूप में यथार्थ के अनुबंध तथा मिथ्या और भ्रम के प्रसंग नहीं होते। कलात्मक कल्पना एक आत्मनिलीन क्रिया है। स्वतन्त्र और आत्मगत होने के कारण उसमें संगतिमूलक सत्य और मिथ्या का भेद नहीं होता। कलात्मक कल्पना का यह रूप कल्पना के सामान्य रूप से भिन्न है। सामान्यतः हम कल्पना और यथार्थ में भेद करते हैं। यथार्थ वस्तुगत रूपों और व्यवस्थाओं का तथाविध अनुभव है। जिस रूप में वे विद्यमान होती हैं और सबको दिखाई देती हैं, वह प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहीत होता है। लोक के अनुभव की सामान्यता यथार्थ का एक लक्षण है। कल्पना में ऐसी सामान्यता आवश्यक नहीं क्योंकि वह वस्तु-रूपों और व्यवस्थाओं का मानसिक प्रस्ताव है। इस प्रस्ताव के विषय में मन स्वतन्त्र है। निर्बन्ध होने के कारण यथार्थ की संगति कल्पना में आवश्यक नहीं होती। वस्तु-रूपों और व्यवस्थाओं के इस मानसिक उपस्थापन में यथार्थता का आग्रह न होने के कारण उसका अभाव ही माना जाता है। इसीलिए साधारण व्यवहार में कल्पना को मिथ्या मानते हैं। कल्पित का अर्थ असत्य और अयथार्थ है।

किन्तु कल्पना की यह अयथार्थता यथार्थ का अनुभव होने पर ही प्रकट होती है। कल्पना की अवस्था में संगति, तुलना तथा इनके द्वारा कल्पना की अयथार्थता के उद्घाटन का अवकाश नहीं होता। व्यवहार के यथार्थ-मूलक और क्रिया-परक होने के कारण उसमें यह उद्घाटन प्रायः होता रहता है। इसीलिए सामान्य व्यवहार में कल्पना के रूप मानसिक संतोष के साधन हो सकते हैं, उनसे वास्तविक तृप्ति नहीं हो सकती जैसे कि शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में एक स्थान पर कहा है कि स्वप्न का जल स्वप्न की ही पिपासा को शान्त करने में समर्थ है। सचमुच कल्पना की अवस्था में कल्पना सत्य ही प्रतीत होती है जैसे कि स्वप्न की अवस्था में स्वप्न सत्य जान पड़ता है। वस्तु-रूपों और व्यवस्थाओं का उपस्थापन करने वाली विधानात्मक कल्पना भी यथार्थ अनुभव के तुल्य प्रतीत होती है। उसके वस्तु-रूप बाह्य होते हुए भी अयथार्थ नहीं जान पड़ते। यह प्रस्तावक कल्पना क्रोचे की रचनात्मक कल्पना की तुलना में प्रत्यक्ष के अधिक निकट है।

फिर भी कल्पना के इन दोनों रूपों में एक समानता है। दोनों मन की

स्वतन्त्र क्रियाएँ है। इस स्वतन्त्रता के कारण दोनो में आनन्द की अनुभूति होती है। स्वतन्त्र क्रिया ही आनन्द का रहस्य है। कल्पना के दोनो रूप ही मन को एक ऐसे सूक्ष्म और स्वच्छन्द वायवीय लोक मे ले जाते हैं जिसमे मन यथार्थ जगत की कठोरताओ की यत्रणा से मुक्त हो जाता है। इसी मुक्ति मे आनन्द का उदय होता है। स्वतन्त्रता और मुक्ति के इसी आनन्द के आकर्षण के कारण कला, काव्य, कहानी आदि मे मनुष्य की सदा से रुचि रही है। स्वतन्त्र होने के साथ-साथ कल्पना की क्रिया आन्तरिक है। **व्यवस्था की विधायक कल्पना की अपेक्षा कला की रचनात्मक कल्पना अधिक आन्तरिक होती है।** इसीलिए उसमे यथार्थ के अनुबध से पूर्ण मुक्ति का अनुभव होता है और पूर्ण आनन्द की अनुभूति होती है। रचनात्मक कल्पना के रूप आन्तरिक क्रिया से अभिन्न होते हैं। इसीलिए इस कल्पना को अनुभूति और आनन्द के समानार्थक मानते हैं। **कल्पना का रचनात्मक रूप कला की मूल प्रेरणा तथा उसका स्वरूप है।** दूसरा रूप भी हमारे साधारण अनुभव मे आता है। वस्तुत कला-कृतियो मे कल्पना का पहला रूप दूसरे रूप मे मूर्त्त और साकार होता है। कल्पना का दूसरा रूप विधानात्मक होने के कारण अन्तत यथार्थ के साथ उसकी सगति का प्रश्न उठता ही है। यही कल्पना पर मिथ्या के आरोप, उसके खण्डन और काव्य कृतियो की आलोचना का प्रश्न उठता है।

'सत्य' का प्रयोग प्राय 'यथार्थ' के लिए भी होता है। **यथार्थ में सगति और वास्तविकता दो भावो की ध्वनि है।** 'सत्य' शब्द इतना व्यापक है कि यथार्थ का अतर्भाव भी उसके अन्तर्गत हो सकता है। 'सत्य' यथार्थ की अपेक्षा अधिक व्यापक है। अत यह स्पष्ट है कि यथार्थ के रूप मे दोनो का प्रयोग आशिक रूप मे ही सत्य है। **सत्य एक निरपेक्ष और स्वतन्त्र तत्व है; चाहे उसका स्वरूप सरल हो अथवा जटिल उसकी सत्ता और सम्पूर्णता अपने आप में है।** 'यथार्थ' सत्य का सगति-वाचक रूप है। सामान्यत यह सगति भाव अथवा प्रत्यय की बाह्य वस्तु अथवा वास्तविक व्यवस्था के साथ सगति है। इसके अतिरिक्त इस सगति के और भी रूप हो सकते हैं। वचन की कर्म के साथ, नियम की व्यवहार के साथ, आशा की घटना के साथ सगति आदि सगति के अनेक रूप हैं, जो यथार्थ के अन्तर्गत हो सकते हैं। **यथार्थ का 'यथा' पद ही सापेक्षता का सूचक है। अनुभव और सत्ता की सगति ही यथार्थता का प्रमाण है।**

संगति की सापेक्षता के साथ-साथ यथार्थता में वास्तविकता की भी ध्वनि है। यह संगति प्रायः अनुभव की सत्ता के साथ संगति हैं। सत्ता के साथ सापेक्षता वास्तविकता का संकेत है किन्तु दूसरी ओर संगति का भाव पक्ष तथा संगमन के अनुभव तथा अनुमान की क्रिया भी मानसिक है। यद्यपि यथार्थता में हमारा बल सत्य की वस्तु निष्ठता पर ही होता है फिर भी उसकी वास्तविकता में मानसिकता का कुछ क्रियात्मक अंश अवश्य है। तथ्य में यथार्थ की अपेक्षा वास्तविकता अधिक होती है, यद्यपि तथ्य में भी प्रत्यक्ष और प्रतिपादन में कुछ मानसिक क्रिया होनी ही है (इस दृष्टि से बर्कले का विज्ञानवाद अपरिहार्य है), फिर भी तथ्य में अनुभव और सत्ता की संगति का प्रसंग नहीं होता। अतः 'तथ्य' सत्ता अथवा वस्तु प्रधान पद है। यथार्थ की सापेक्षता न होने के कारण तथ्य अधिक स्वतन्त्र है। इस स्वतन्त्रता के कारण तथ्य का वस्तुगत रूप ही प्रधान है। इसीलिए तथ्य के सम्बन्ध में विवाद होने पर कई लोगों का मत लेने पर उसका निर्णय सरल हो जाता है। तथ्य का रूप वस्तु निष्ठ होने के कारण उसका मानसिक अनुपंग, जो सब में समान होता है, तथ्य के वास्तविक रूप के निर्णय में बाधक नहीं होता। इसके विपरीत यथार्थ में अर्थ (विषय अथवा वस्तु) की वास्तविकता भाव के रूप (यथात्व) से सापेक्ष होती है। अतः यथार्थता का निर्णय अधिक विवादमत ग्रस्त और कठिन बन जाता है।

यथार्थ और तथ्य का यह भेद तर्क-दृष्टि से स्पष्ट और सरल होते हुए भी व्यवहार और साहित्य में सदा इसका निर्वाह नहीं किया जाता। इसका कारण यही है कि यथार्थ और तथ्य दोनों के वस्तु-निष्ठ होने के कारण उनकी वास्तविकता पर ही हमारा अधिक बल रहता है। यथार्थ के भाव-पक्ष की प्रायः हम अवहेलना करते हैं। तब यथार्थ और तथ्य दोनों में वास्तविकता समान रूप से प्रधान हो जाती है। दोनों में इस वास्तविकता की प्रतिष्ठा स्वतन्त्र रूप में की जाती है। तब यथार्थ और तथ्य दोनों का वास्तविक तत्व सत्य के समान ही स्वतन्त्र और निरपेक्ष बन जाता है। वेदान्त के ब्रह्म के अर्थ में तो यह निरपेक्ष नहीं है। ब्रह्म की निरपेक्षता कैवल्य की निरपेक्षता है। ब्रह्म में दूसरे की अपेक्षा नहीं है, साथ ही दूसरे की सत्ता भी नहीं है। यथार्थवाद और व्यवहार में यथार्थ, तथ्य अथवा सत्य की निरपेक्षता अन्य सत्ताओं की सत्ता से बाधित नहीं होती। इस निरपेक्षता का अर्थ इतना ही है कि यथार्थ, तथ्य अथवा सत्य की सत्ता स्वतन्त्र है और वह,

अपने स्वरूप के लिए अन्य सत्ताओं पर निर्भर नही है और न अन्य सत्ताओं से नियत है। अन्तत तर्क के द्वारा इस अनेकता की निरपेक्षता और स्वतन्त्रता को प्रमाणित नही किया जा सकता। इसीलिए दर्शनो का परिणाम जैन सापेक्षवाद अथवा आध्यात्मिक दर्शन के एकान्तिक सत्य मे तथा विज्ञान का परिणाम आइन्स्टाइन के सापेक्षता के सिद्धान्त मे हुआ।

किन्तु व्यवहार और साहित्य मे प्राय यथार्थ और तथ्य का प्रयोग अनेकता की स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ता के रूप मे ही किया जाता है। चाहे यह दर्शन का अतिम सत्य न हो, किन्तु इसके बिना व्यवहार सभव नही है। साहित्य भी व्यवहार का शब्दमय रूप ही है। व्यवहार और साहित्य के ये यथार्थ और तथ्य सदा एक ही (समान) नही होते। व्यवहार मे परस्पर (एक दूसरे के) भावो की अर्थो अथवा वस्तुओ के साथ सगति आवश्यक होती है। इसलिए व्यवहार मे प्राकृतिक तथ्यो की वास्तविकता का अनुबध अधिक रहता है। व्यवहार मे असगति, सघर्ष, विरोध, व्याघात, विवाद आदि होने पर तथ्य की वास्तविकता का अकुश अपना तीव्र प्रभाव दिखाता है। साहित्य मे भी आलोचना इसी अकुश का काम करती है। किन्तु साहित्यकार विशेषत कवि, इस अकुश की अधिक आशका अथवा चिन्ता नही करते। 'निरकुशा कवय' की उक्ति प्रसिद्ध है। कवि अपनी कल्पना को स्वतन्त्र मानता है। इस कल्पना के द्वारा वह जीवन और इतिहास के वास्तविक तथ्यो को ऐसा रूप दे देता है जो वास्तविक तथ्यों के अनुरूप नही होता। इसके अतिरिक्त वह अपनी सृजनात्मक कल्पना के द्वारा ऐसे रूपो की रचना कर लेता है जो यावत्-अनुभूत यथार्थ के अनुरूप नही होते।

'वैशाली की नगर वधू' मे आसावरी राग का प्रसग है। किसी आलोचक के इस आक्षेप से कि तीसरी शताब्दी ईसा से पूर्व यह आसावरी अलापने वाला कौन है, उपन्यासकार की भावना को बहुत आघात पहुँचा। अम्रपाली के समय मे आसावरी राग का अस्तित्व नही था। ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से उस युग मे आसावरी की कल्पना अयथार्थ और असगत हैं। 'प्रिय-प्रवास' और 'हल्दी घाटी' काव्यो के प्रकृति वर्णन के समान साहित्य मे ऐसी असगतिया बहुत मिलती हैं, यद्यपि श्रेष्ठ कृतियो मे वे अपवाद के रूप मे मिलती हैं। पाठक और आलोचक सभी इन असगतियो की आलोचना करते हैं। इससे स्पष्ट है कि ये असगतियाँ व्यवहार के समान ही साहित्य में भी आपत्तिजनक हे। दूसरी ओर जीवन और इतिहास के

तथ्यो को यथार्थ रूप मे चित्रित करने वाले लेखको के अनुभव और निरीक्षण की प्रशसा की जाती है। इससे स्पष्ट है कि लोक की साहित्यिक चेतना जीवन और इतिहास के यथार्थ के विरुद्ध चलने वाली कवि-कल्पना की सराहना नही करती। कल्पना की रचनात्मक शक्ति का क्षेत्र जीवन और इतिहास के तथ्यो के अन्यथा-करण मे नही है। कल्पना का कृतित्व इनमे से अनुकूल तथ्यो का चयन करके जीवन का ऐसा विधान प्रस्तुत करने मे है जो कि जीवन की किसी व्यवस्था अथवा इतिहास के किसी विदित तथ्य का खण्डन न करते हुए भी सम्भव और स्पृहणीय हो।

अस्तु, रचनात्मक कल्पना का यथार्थ और तथ्य से कोई मौलिक विरोध नही है। यदि कोई विरोध उत्पन्न होता है तो वह कल्पना की अनर्गल और उच्छृखल गति के कारण ही होता है। मानसिक क्रिया के रूप मे कल्पना स्वतत्र अवश्य है। उसके परा और पश्यन्ती रूपो में वह या तो पूर्णतया निर्विषय होती है या उसके विषय आत्म-प्रसूत होते हैं। क्रोचे के अनुसार यही निरपेक्ष और स्वतत्र कल्पना कला का मूल रूप है। **किन्तु जिस विदित और वैखरी रूप में हम कला को जानते है और कलाकार अपनी आन्तरिक अनुभूति को बाह्य अभिव्यक्ति करता है उस रूप का विधान जीवन और इतिहास के तथ्यो के उपकरणों से ही होता है।**

क्रोचे ने कल्पना को कला का स्वरूप माना है। उनके मत मे कल्पना ही कला है। उन्होने इसे 'अनुभूति' का नाम दिया है। इस कल्पना का रूप सृजनात्मक है। किन्तु यह कलात्मक कल्पना पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। यह चेतना की वह स्वच्छन्द क्रिया है जो अपने रूप और उपादान दोनो का सृजन करती है। वेदान्त के ब्रह्म की भाँति वह कलात्मक सृष्टि का उपादान और निमित्त कारण दोनो ही है। वस्तुत क्रोचे की कल्पना अनुभूति मूलक है। अनुभूति ही कला का स्वरूप है। **किन्तु क्रोचे अनुभूति और अभिव्यक्ति को एकाकार मानते है।** अभिव्यक्ति रूपात्मक है। कल्पना रूपो के उद्भावन की शक्ति है। अनुभूति और अभिव्यक्ति के एकाकार होने के कारण क्रोचे के दर्शन मे अनुभूति और कल्पना समानार्थक हो गये हैं। **क्रोचे की यह कलात्मक कल्पना पूर्णत आन्तरिक और आत्मगत क्रिया है।** अत वह यथार्थ के अनुभव और कल्पना के सामान्य रूप दोनो से भिन्न है। वास्तविक आधार की दृष्टि से सामान्यत यथार्थ और कल्पना मे भेद किया जाता

है। यथार्थ वस्तु का प्रत्यक्ष और तद्रूप अनुभव है। यथार्थ अनुभव मे वस्तु के रूप का निबंधन रहता है। यही निबन्धन प्रत्यक्ष को तद्रूपता प्रदान करता है। इसके विपरीत कल्पना वस्तु-निबंधन से स्वतन्त्र क्रिया है। रूप-रचना मे चाहे कल्पना को पूर्व अनुभव के उपादान का उपयोग करना आवश्यक है, किन्तु वे उपादान उसके स्वरूपगत तत्व हैं। तत्काल मे कल्पना किसी बाह्य उपादान (उपकरण) की अपेक्षा नही रखती। वह मानो अपने स्वरूपगत उपादान से ही नवीन रूपो की रचना करती है।

यहाँ तक सामान्य कल्पना का रूप क्रोचे की कल्पना के बहुत कुछ समान है। किन्तु कलात्मक कल्पना के साथ सत्य के सबन्ध की जो व्याख्या क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने की है वह सामान्य कल्पना के साथ कलात्मक कल्पना के भेद को स्पष्ट कर देती है। कौलिंगवुड का कथन है कि कलात्मक कल्पना सत्य और मिथ्या दोनो से निरपेक्ष है।[९] वह चेतना की एक निरपेक्ष क्रिया है जिसमें सत्य और असत्य का कोई प्रसंग नहीं है। कलात्मक कल्पना एक आन्तरिक और आत्मगत क्रिया है। सत्य और असत्य का प्रसंग बाह्य यथार्थ के सबन्ध से ही होता है। इस दृष्टि से कलात्मक कल्पना का रूप साधारण व्यवहार और मनोविज्ञान दोनो की कल्पना से भिन्न है। साधारण व्यवहार यथार्थ की तुलना मे कल्पना को मिथ्या मानता है। व्यवहार मे 'सत्य' का अर्थ 'यथार्थ' है, जिसकी बाह्य और वस्तुगत सत्ता है। कल्पना के रूप आन्तरिक रचनाये हैं। उनका बाह्य और वस्तुगत अस्तित्व नही होता। जब कल्पना के ये आन्तरिक रूप यथार्थ मे साकार हो जाते हैं तो वे वास्तविक सत्य बन जाते हैं, कल्पना नही रहते। कल्पना तभी तक कल्पना है जब तक वह सत्य नहीं होती और इस रूप मे कल्पना मनोरथ ही है। यदि हम मिथ्या कहकर उसका अपमान न करना चाहें तो हम उसे 'अयथार्थ' कह सकते हैं। कला की दृष्टि से जो सत्य और असत्य से निरपेक्ष है, व्यवहार की दृष्टि से वही अयथार्थ है।

किन्तु क्रोचे की कल्पना से भिन्न कलात्मक कल्पना का भी एक ऐसा रूप प्राय माना जाता है जो कल्पना को सत्य के समकक्ष आसीन कर देता है। काव्य की आलोचना मे प्राय मूर्त और सजीव कल्पना की चर्चा रहती है। यह वह कल्पना है जो कलाकृति मे वस्तु रूपो का ऐसा चित्रण करती है कि वे यथार्थ कल्प जान पडते हैं। सत्य और यथार्थ के निकटतम होना कल्पना का एक श्रेष्ठ गुण

माना जाता है। **यहां कल्पना की श्रेष्ठता सत्य की निकटता है।** कवि और कलाकारों की कल्पना ऐसी ही समर्थ और सजीव होती है। बालकों और किशोरों की कल्पना भी ऐसी ही होती है। बालक प्राय कल्पना और सत्य मे भेद नही करते। वे कल्पना के क्षेत्र मे सत्यवत् व्यवहार करते हैं। किसी भी वस्तु को वे कोई भी रूप प्रदान कर सकते हैं। यह कल्पना से आरोपित रूप ही उनके क्रीडा-काल मे वास्तविक रूप है। वे कल्पना ही नही उसके अनुसार व्यवहार भी करते हैं। घर के आगन मे वे मन की गगा मे नहाते हैं। खाली हाथों मे चुटकियों की मिठाइयां खाते हैं। क्रोचे ने भी बालकों की कल्पना और क्रीडा को कला का आदर्श माना है किन्तु कौलिंगवुड का यह मत कदाचित् सर्वमान्य न हो कि यह कल्पना सत्य और मिथ्या की धारणा से निरपेक्ष होती है। **सभवतः सत्य हमारे अनुभव की मौलिक कोटि है।** हमारे समस्त अनुभव सत्य रूप ही होते हैं जब तक उनमे सन्देह अथवा बाधा का प्रसग उत्पन्न नही होता। इसलिए कदाचित् कलात्मक कल्पना को सत्य-रूप मानना अधिक सत्य है।

'कल्पना' रूपों की रचना और अभिव्यक्ति है। 'रूप' वस्तुगत और बाह्य है, यद्यपि वे मानसिक प्रत्ययों के रूप मे अनुमोदित होते हैं। किन्तु क्रोचे और कौलिंगवुड चेतना की कलात्मक क्रिया को पूर्णत आन्तरिक और आत्मगत मानते हैं। इसलिए सत्य का प्रसग उठाना उनके लिए कठिन है। रूपों के सत्य का सबन्ध बाह्य और वास्तविक सत्ता से ही होगा। इसलिए कलात्मक कल्पना को सत्य और असत्य के भेद से निरपेक्ष मानकर ही उनके सिद्धान्त की सगति का समर्थन किया जा सकता है। किन्तु यह निर्वाह कला की अनुभूति तक ही सगत और आवश्यक है। **अभिव्यक्ति के रूपों में यथार्थ का प्रसग अनिवार्य रूप से उपस्थित होता है।** अभिव्यक्ति की अवस्था मे कलात्मक कल्पना को सत्य मान लेने से ही कला और जीवन की सगति सम्भव हो सकती है। कलाकृतियों मे तो सत्य और यथार्थ का प्रसग और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। जहाँ तक कलाकृति मे रूप विधान का प्रश्न है वहाँ तक तो कलाकार कल्पना को सत्य के रूपोद्भावन और अकन की शक्ति मानते हैं। सत्य का जितना यथार्थ रूप अकित करने मे कल्पना समर्थ होती है वह उतनी ही अधिक कुशल मानी जाती है। कालिदास और कीट्स की कल्पना इसी यथार्थता और सजीवता के लिए विख्यात है। वस्तुत सत्य हमारे अनुभव की मौलिक कोटि है। आधुनिक परिभाषा मे हम

उसे एक आधारभूत मूल्य कह सकते हैं। इसका निर्वचन सभव नही है। किन्तु यह एक ऐसा मूल्य है जो हमारे समस्त अनुभव और व्यवहार मे अन्तर्निहित है। हम उसका कभी अतिक्रमण नही कर सकते। फलत कला और कल्पना के क्षेत्र मे भी उसका अतिक्रमण सम्भव नही है। अत कदाचित् क्रोचे और कौलिंगवुड की सत्यासत्य से निरपेक्ष कल्पना सगत नही है। इतना अवश्य है कि बाह्य यथार्थ की तुलना और समता का प्रश्न उसी अवस्था मे उठता है जब कि हम कल्पना को अयथार्थ मान लेते हैं। अनुभूतिवादी दर्शनो मे तर्क का प्रसग ही असगत है। इस प्रसग के उठाते ही अनुभूति का मूल स्वरूप खण्डित हो जाता है। क्रोचे की कला का आधार ऐसी ही मौलिक अनुभूति है जो मनुष्य की आदिम और व्यापक वृत्ति है तथा बच्चो, ग्रामीणो मे भी पाई जाती है। क्रोचे कला के उस रूप को कृत्रिम और उपचार मात्र मानते हैं, जिसमे बुद्धि-सगत, यथार्थ-कल्प और सामाजिक दृष्टि से प्रेषणीय रूपो का विधान किया जाता है। हमारे मत में यही रूप-विधान कला का प्रौढ स्वरूप है। यदि क्रोचे की निरपेक्ष कल्पना मे कला का आरम्भ होता है तो कल्पना का यह प्रौढ रूप कला का पर्यवसान है। बुद्धि, व्यवहार और सामाजिकता का समुचित समन्वय सम्भव है। व्यक्तिगत कल्पना के स्थान पर व्यापक आत्मगत-भाव के आधार पर कला और कल्पना के इस रूप की प्रतिष्ठा की जा सकती है। कला के इस रूप मे बुद्धि के प्रसाद, कल्पना के माधुर्य और सृजन के ओज तीनो का सगम होगा।

कल्पना का एक और भी रूप है जिसे यथार्थताओ की सम्भावनाओ की दृष्टि से आका जाता है। यह स्पष्ट है कि यह कल्पना यथार्थ का मानसिक रूप विधान है जो वास्तविक होने का आकाक्षी है। साधारण भाषा मे इसे आदर्श लोक अथवा आदर्श-समाज की कल्पना कह सकते हैं। यह कल्पना का बहिर्मुखी रूप है, जो क्रोचे की कल्पना के अन्तर्मुखी रूप से भिन्न है। यह ध्यान रखना चाहिये कि क्रोचे और उनके अनुयायी कलाकृतियो तथा आन्तरिक अनुभूति की अन्य बाह्य अभिव्यक्तियो को एक उपचार मात्र मानते हैं, जिसका कलाकार और उसकी कल्पना से कोई आवश्यक सबन्ध नही है। किन्तु कला कृतियो मे लोक और समाज के जो आदर्श अकित किये जाते हैं उन्हे सगति और सभावना की दृष्टि मे ही आका जाता है। ऐसी स्थिति मे अतिरंजित, अनर्गल और असम्भावी कल्पनायें अधिक मान्य नही होती। उनका चमत्कारिक मूल्य

कितना ही हो किन्तु सम्भावना से दूर होने के कारण वे न कला-प्रेमी समाज का रजन कर सकती हैं और न उसकी प्रेरणा बन सकती हैं। सम्भाव्य यथार्थ की तुलना मे इसे भ्रम अथवा मिथ्या भी कहा जा सकता है। तत्काल मे अयथार्थ होने की दृष्टि से तो सभी कल्पना मिथ्या हैं किन्तु समाव्य कल्पना भावी अयथार्थ की आशा से अनुप्राणित होकर इस दोष से वच जाती है। कल्पना के रूपो का उपस्थापन भी सत्य के समान ही किया जाता है, अत असभाव्य कल्पना भ्रम कहलाती है। भ्रम वही है जो सत्य की तुलना मे खण्डित हो जाता है। ऐसी कुछ कल्पनाएँ तो कविता का दोष और कवि का अपराध कहलाती हैं जो सत्यता के आग्रह मे विहीन और कविता के औपचारिक उपकरण के रूप मे होती हैं वे अतिरजित कल्पनायें अतिशयोक्ति-अलकार वन जाती हैं।

वस्तुत. अतिशयोक्ति किसी असभव वस्तु की कल्पना नहीं है वरन् वह अनुभव के एक यथार्थ तत्त्व की अतिरजना मात्र है। आँसुओ के सागर, विरह की ज्वाला, कटि की सूक्ष्मता, हाथियो की विशालता, सम्पत्ति की विपुलता, वीरता के पराक्रम आदि वास्तविक तथ्य हैं जो कविता मे प्राय अतिरजित रूप मे प्रस्तुत किये जाते हैं। इस अतिरजना मे आँसुओ के विन्दु सागर वन जाते हैं, विरह की ज्वाला इतनी तीव्र हो जाती है कि सखियाँ 'आडे दे आले वसन जाडे हु की रात' विरहिणी के पास जाती हैं, कृश कटि परब्रह्म के समान सूक्ष्म एव अलक्ष्य वन जाती है, हाथियो का आकार पर्वत के समान विशाल हो जाता है, सम्पत्ति इतनी विपुल हो जाती है कि सरस्वती भी उसकी गणना नही कर सकती, उसे प्राप्तकर याचक भी दानी वन जाते हैं, एक-एक वीर हजारो से अकेला लडता है। काव्य में इस अतिरंजना का उद्देश्य यथार्थ का अतिक्रमण नहीं वरन् यथार्थ को अधिक प्रभावशाली बनाना है। प्राय असभव की सीमा का स्पर्श करने पर भी इस अतिरजना को हम अनुचित नही मानते क्यो कि हम जानते हैं कि कवि का उद्देश्य न असभव का प्रस्ताव है और न यथार्थ का अतिक्रमण। कवि के उद्देश्य के अनुकूल हमारा ध्यान भी मुख्य विषय पर ही रहता है। अतिरजना उसे अधिक प्रभावशाली वनाती है। 'पँखुरी लगत गुलाव की परिहै गात खरौट' की अतिरजना का उद्देश्य नायिका के अग की कोमलता का आधिक्य दिखाता है। अतिरजना अपने आप मे अभीष्ट न होने के कारण यथार्थ के साथ उसका सवन्ध महत्त्वपूर्ण नही है। काव्य के तत्त्व की अपेक्षा इस अतिरजना का सम्बन्ध काव्य के रूप से अधिक है। रूप से सम्वन्ध होने के कारण ही

अतिशयोक्ति अलंकार बनकर काव्य के सौन्दर्य को बढाती है। अतिशयोक्ति की अतिरंजना का आधार यथार्थ ही होता है। इस यथार्थ को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया जाता है। **यह अतिरंजना कल्पना का ही व्यापार है।** सत्य का अतिक्रमण इसका उद्देश्य नहीं वरन् उक्ति की विचित्रता के द्वारा मुख्य विषय के प्रभाव को बढाना ही कवि का अभीष्ट होता है।

काव्य मे सत्य का एक अन्य रूप भी मिलता है जिसके सबन्ध मे वास्तविकता की दृष्टि से सदेह किया जा सकता है। देश-देश के काव्य मे कुछ परम्परायें रूढ हो जाती हैं। इन परम्पराओं का कुछ ऐतिहासिक और वास्तविक आधार अवश्य रहता है। किन्तु आगे चलकर यह आधार अधिक अस्पष्ट और सदिग्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए नायिकाओं के स्पर्श, स्मिति, दर्शन, पदाघात आदि से विशेष वृक्षों का खिलना भारतीय काव्य-परम्परा की एक प्रसिद्ध रूढि है। उत्तरकालीन कवि उसे मानकर उसका पालन करते रहे हैं। किन्तु इन तथ्यों की यथार्थता के विषय मे सन्देह हो सकता है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के समर्थक आधुनिक पाठक इसे कोरी कवि कल्पना कह सकते हैं। काव्य-परम्परा मे इन रूढियों को 'कवि-समय' कहा जाता है। यदि ये मान्यतायें यथार्थ सत्य न भी हो तो भी ये काव्य मे वर्जित नहीं हैं क्योंकि ये ऐसी कल्पनायें नहीं हैं जो सत्ता अथवा व्यवहार के किसी सिद्ध रूप का खण्डन अथवा विरोध करती हो। कल्पना के साथ काव्य के सबन्ध को समझने की यही ठीक दिशा है। **काव्य अथवा साहित्य में वही कल्पना वर्जनीय है, जो सिद्ध यथार्थ का खण्डन अथवा विरोध करती हो।** यथार्थ सत्य से विरोध न होने पर कल्पना एक अतिशय बन जाती है जो सत्य के साथ इस रूप मे सगत हो सकता है कि वह उसके विरुद्ध नहीं है। तथ्य के साथ-साथ रूप मे भी निहित होने के कारण यह अतिशय सौन्दर्य का विधायक बन जाता है। सगति और सम्भावना ही कल्पना की सीमा हो सकती है। सम्भावना की कसौटी निश्चित करना कठिन है। यथार्थ की दृष्टि से भविष्य मे चरितार्थ होने की आशा को 'सम्भावना' कह सकते हैं। यह तत्व की दृष्टि से सम्भावना की मर्यादा है। **किन्तु सौन्दर्य की दृष्टि से केवल सत्य के अविरोध को ही कल्पना की सीमा मानना होगा। यही अविरोध सत्य के साथ कल्पना की सगति का भी सूत्र होगा। इस अविरोध के दृष्टिकोण से कल्पना सत्य की उपाश्रित मात्र नहीं रह जाती, वरन् वह अपने स्वरूप में महिमामयी बन जाती है।** कला और काव्य के सौन्दर्य की दृष्टि से कल्पना की

यह स्वरूपगत महिमा अत्यन्त स्पृहणीय है। यथार्थ का सत्य कला और काव्य का आधार अवश्य है किन्तु कला सत्य का प्रतिनिधित्व मात्र नही है। कला का मुख्य सौन्दर्य रचना मे निहित होता है। **इस दृष्टि से रचनात्मक होने के कारण कला एव काव्य में कल्पना का विशेष महत्त्व है।**

कल्पना की यह रचनात्मकता मुख्यत रूप की रचना में ही चरितार्थ होती है। कल्पना भौतिक तथ्य अथवा तत्त्व की सृष्टि नही कर सकती। भौतिक क्षेत्र मे यथार्थ का निबन्धन अनिवार्य है। अत भौतिक उपकरणो के आधार पर रूप की रचना ही कल्पना का मुख्य धर्म है। **किन्तु रूप के साथ कल्पना भाव की भी रचना करती है।** भाव को हम मानसिक तत्त्व कह सकते हैं। भाव की रचना मे रूप और तत्त्व दोनो रचना मे समर्थ होने के कारण कल्पना का अधिक समृद्ध रूप प्रकाशित होता है। भौतिक विषयो के आधार पर योजना अथवा व्यवस्था के रूप मे जो कल्पना प्रस्तुत की जाती है उसमें विषयो के ऐन्द्रिक होने के कारण बाह्य सत्ता का निबन्धन अधिक रहता है। भावो की कल्पना मे बाह्य जगत और जीवन का योग केवल एक प्रेरणा तथा निमित्त के रूप मे रहता है। अपने स्वरूप मे 'भाव' आन्तरिक है तथा वह मन की सृष्टि है, जिसे हम मानसिक रचना के अर्थ मे 'कल्पना' कह सकते हैं। बाह्य परिवेश का तत्व इन भावो का एक अवलब मात्र होता है जिसकी तत्वत रचना कल्पना के द्वारा नही की जा सकती। भाव के आन्तरिक तथा आत्मिक अथवा मानसिक तत्त्व और रूप दोनो की रचना कल्पना करती है। इस मानसिक कल्पना के अतिरिक्त भाव की कोई वस्तुगत सत्ता नही है। अत भाव के प्रसग मे कल्पना के यथार्थ अथवा अयथार्थ होने का प्रश्न नही उठता। भाव की सत्यता और असत्यता जीवन म उसके मूल्य और उसकी स्पृहणीयता पर निर्भर करती है। **जो भाव जीवन को अधिक सफल, अधिक समृद्ध तथा अधिक आनन्दमय बनाते है, वे अधिक सत्य है। यहाँ सत्य का अर्थ यथार्थ नहीं वरन् जीवन में मूल्यवान होना है।** उदाहरण के लिए जब हम प्रेम को ही जीवन का परम सत्य मानत हैं तो हमारा अभिप्राय सत्य के इसी रूप से होता है। यह सत्य जीवन का सार है। आत्मिकभाव इसका स्वरूप है। भौतिक विषय और परिवेश इसके उपकरण मात्र हैं। इनको हम भाव-रूप सत्य की देह कह सकते हैं। **'भाव' जीवन की आत्मा है।** भाव रूप आत्मा के रहते ही देह की स्थिति और देह का मूल्य है। **इस भाव-रूप सत्य की विधात्री होने के नाते कल्पना यथार्थ सत्य से**

भी अधिक श्रेष्ठ है। वह यथार्थ की भूमि पर भाव के मूल्यों का विधान करती है। यथार्थ सत्य से उसका विरोध नहीं है। साथ ही कल्पना का यह रूप यथार्थ की विरोधी भ्रमपूर्ण अथवा अनर्गल कल्पना से भिन्न है। भाव की विधात्री कल्पना चेतना की रचनात्मक स्फूर्ति है जो यथार्थ की भूमि पर यथार्थ से संगत भाव-रूप मूल्यों की रचना करती है।

कल्पना का यह रचनात्मक रूप बहुत कुछ क्रोचे की अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के समान है। रचनात्मकता और आन्तरिक तो दोनों का समान लक्षण है। किन्तु इसके अतिरिक्त रचना के इन दोनों रूपों में कुछ भिन्नता भी है। क्रोचे अपनी अनुभूति को पूर्णतः व्यक्तिगत और आन्तरिक मानते हैं। उनकी अभिव्यक्ति भी इस अनुभूति का केवल आन्तरिक स्फुरण है, बाह्य और सम्प्रेष्य माध्यमों में इसका साकार होना नहीं। व्यक्ति के अधिष्ठान में यह अनुभूति अपने विषयों की रचना करके व्यक्ति के अन्तर में ही अभिव्यक्त होती है। क्रोचे के अनुयायी कौलिंगवुड ने इसे 'कल्पना' का नाम दिया है। दोनों में केवल शाब्दिक अन्तर होते हुए भी 'कल्पना' शब्द के द्वारा कलात्मक अनुभूति की रचनात्मकता अधिक स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। कौलिंगवुड की कल्पना भी क्रोचे की अनुभूति की भाँति व्यक्तिगत और आन्तरिक है। कलात्मक कल्पना की व्यक्तिमत्ता का कौलिंगवुड ने अधिक दृढ़ता और स्पष्टता से समर्थन किया है। इस प्रसंग में वे दो व्यक्तियों की कल्पना के परस्पर संवाद अथवा दूसरे के प्रति कल्पना के सम्प्रेषण का स्पष्ट निषेध करते हैं। उनके मत में कलात्मक कल्पना एक कठोर इकाई है। विभिन्न व्यक्तियों की कल्पना की इकाइयों के क्षितिज भी एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। कला का यह जगत लाइब्नीज़ के जगत की भाँति परस्पर असंबद्ध तथा अपने में सीमित असंख्य इकाइयों का जगत है। कौलिंगवुड ने इस कल्पना की आन्तरिकता पर इतना ज़ोर नहीं दिया है। वे काव्य के विषयों और पात्रों को अपने कलात्मक रूप में कल्पना की सृष्टि अवश्य मानते हैं, किन्तु उन्होंने इनके बाह्य अनुरूप का स्पष्ट खण्डन नहीं किया है। क्रोचे की कलात्मक अनुभूति के विषय भी बाह्य विषयों के अनुरूप जान पड़ते हैं। किन्तु क्रोचे उनको आन्तरिक अनुभूति की सृष्टि ही मानते हैं। कौलिंगवुड की धारणा भी बहुत कुछ क्रोचे के समान ही है। उन्होंने कला के विषयों की आन्तरिकता का प्रतिपादन एक दूसरे प्रकार से किया है। उनका मत है कि कला के ये विषय यथार्थ अथवा अयथार्थ के अर्थ में सत्य और असत्य की कोटि

से परे होते हैं। यह यथार्थ सत्य भौतिक और वस्तुगत ही होता है। अत कलात्मक कल्पना के विषयो को आन्तरिक सृष्टि ही मानना होगा। **यथार्थ और अयथार्थ की कोटि से ऊपर उठकर कलात्मक कल्पना के विषय आन्तरिक ही बन जाते हैं।** किन्तु कला की इस स्थिति मे भी उनके तद्रूप (कलात्मक) अस्तित्व को तो मानना होगा। इस रूप मे वे यथार्थ सत्ता अथवा सत्य के ही समान हैं। **सत्य यह है कि यथार्थ के सत्य का अतिक्रमण हम किसी भी अवस्था में नहीं कर सकते।** कला के भाव रूप सत्य की रचना भी इसी सत्य के आधार पर तथा इसके साथ सगति पूर्वक होती है। **अपनी कलात्मक कल्पना की स्पृहणीयता और मूल्यवत्ता का निषेध कौलिगवुड भी नही कर सकते।** ऐसा निषेध करने पर कला की साधना एक व्यर्थ लक्ष्य का वरण बन जाती है। निषेध न करने पर कलात्मक कल्पना स्पृहणीयता और मूल्यवत्ता उसे श्रेय के मौलिक स्वरूप के निकट ले आती है और वह केवल सुन्दर नही रह जाती जैसा कि कौलिगवुड का अभीष्ट है। **जीवन के परम स्पृहणीय साध्य के अर्थ में यह श्रेय और सत्य भी है** तथा यथार्थ रूप सत्य और रचनात्मक सौन्दर्य के साथ इसकी सगति भी है। सत्य के इन दोनो रूपो के तथा श्रेय के साथ सौन्दर्य का सामजस्य ही हमारा अभिमत है। **हमारा यह अभिमत क्रोचे और कौलिगवुड के मत से दो मुख्य बातो में भिन्न है**——पहली बात यह है कि **रचनात्मक होते हुए भी कलात्मक कल्पना यथार्थ सत्य का अपवाद नहीं है।** बाह्य उपकरणो और माध्यमो के अवलब से ही यह कल्पना प्रेरित होती है तथा इन्ही मे यह साकार होती है। कलात्मक कल्पना के यह उपकरण और उसकी अभिव्यक्ति के ये माध्यम पूर्णत आन्तरिक अथवा पूर्णत व्यक्तिगत नही होते। **जीवन के यथार्थ के आधार पर तथा उससे प्रेरित होकर कलात्मक कल्पना नये-नये रूपों और भावो की रचना करती है। किन्तु जीवन और जगत के यथार्थ में प्राप्त उसके आधार तथा उसकी रचना के रूप और भाव पूर्णत व्यक्तिगत नही होते।** कला के क्षेत्र में व्यक्तिगत चेतनाओ का विस्तार और सम्वाद होता है। यही सम्वाद कला का मूल स्रोत है। इसी मे कला का सौन्दर्य और उसकी सार्थकता है। हमने इसे ममात्मभाव कहा है। यह ममात्मभाव जीवन और कला की व्यक्तिनिष्ठता तथा आन्तरिकता दोनो की एकागिता का खण्डन करता है। हमारे मत मे आन्तरिक ऐकान्त मे कला की प्रतिष्ठा और कलात्मक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। ममात्मभाव के सम्वाद से रहित एकान्त मे उदासीनता का ही साम्राज्य रह सकता है। इस उदासीनता मे कलात्मक सौन्दर्य का स्फुरण सभव नही है।

सत्य और कल्पना मे काल के प्रसग मे एक अन्य भेद किया जा सकता है। यथार्थ सत्य का प्रत्यक्ष के साथ सम्बन्ध होने के कारण यथार्थ सत्य वर्तमान से आबद्ध रहता है। 'प्रत्यक्ष' वर्तमान अनुभव ही है। वर्तमान का यह सत्य एक क्षणिक सत्ता नही है वरन् उसमे कुछ स्थायित्व रहता है। यह स्थायित्व का भाव उसका भूत और भविष्यत् मे प्रसार करता है। किन्तु भूत और भविष्य मे उसका यह प्रसार भी वर्तमान के अनुरोध के अनुकूल ही रहता है। इस प्रसार का उद्दिष्ट यह नही होता कि भूत अथवा भविष्य मे इस सत्य की सृष्टि अथवा उत्पत्ति होती है। यह प्रसार दोनो कालो मे केवल यथार्थ की स्थिति का समर्थन करता है। अतीत और अनागत के भावो के प्रसग मे भूत और भविष्यत् की कल्पना की जाती है। अन्यथा काल एक निरन्तर वर्तमान (प्रवर्तमान) क्रम है। काल का यह रूप 'वर्त्तमान' शब्द की व्युत्पत्ति से ही स्पष्ट है। तत्काल के अर्थ मे वर्तमान की सापेक्षता के द्वारा ही भूत और भविष्यत् का निर्धारण किया जाता है। अतीत भी तात्कालिक अनुभव मे कभी वर्तमान ही होता है। काल के प्रवर्तन के क्रम मे वह व्यतीत होकर स्मृति की सम्पत्ति बन जाता है। भविष्यत् इसी प्रकार अनागत है जो कल्पना की विभूति के रूप मे भविष्यत् कहलाता है और जो काल के प्रवर्तन-क्रम मे वर्तमान बनता है। त्रिकाल-क्रम मे काल का यह प्रवर्तन जीवन और जगत का एक अद्भुत रहस्य है। इस रहस्य का आधार केवल काल का वस्तुगत रूप नही है। **काल के वस्तुगत रूप में भूत और भविष्यत् की निर्धारणा नहीं की जा सकती। अपने आप में काल एक रूप प्रवाह है, जिसके क्षण-बिन्दुओ की स्थिति समान है।** वस्तुगत रूप मे इनके पूर्वापर क्रम की भी चर्चा नही की जा सकती। पूर्वापर क्रम और त्रिकाल-क्रम दोनो ही चेतना की सपेक्षता के द्वारा निर्धारित होते हैं। स्मृति, कल्पना और अनुभव के रूप मे चेतना भूत, भविष्यत् और वर्तमान का निर्धारण करती है। किन्तु भूत और भविष्यत् की स्मृति एव कल्पना भी वर्तमान अनुभव का सत्य है। **यह वर्तमान का भाव ही सत्य का सार है। सत्तावाचक 'सत्' से सत्य की व्युत्पत्ति इसी वर्तमान भाव का सकेत करती है।** तत्काल मे सत्तावान् यथार्थ के अर्थ मे 'सत्य' का प्रयोग सामान्य व्यवहार मे होता है। इस सत्ता की स्थिरता भूत और भविष्यत् मे उसका प्रसार करती है और उसे शाश्वत भाव के क्षितिजो की ओर ले जाती है। सत्ता की प्रवर्तमानता

उसका स्थायित्व है और स्थायित्व की अनन्तता शाश्वत भाव को लक्षित करती है।

अस्तु, सत्य का मौलिक सम्बन्ध वर्तमान से ही है। मनोवैज्ञानिक और कलात्मक दोनो ही अर्थों में कल्पना का सम्बन्ध भविष्यत् से है। 'स्मृति' अतीत की वर्तमान धारणा है। मनोविज्ञान की 'कल्पना' अप्रस्तुत का उपस्थापन करती है जो भविष्य मे सत्य हो सकता है। कलात्मक कल्पना का स्वरूप रचनात्मक है। रचना का अर्थ ही नवीनता का निर्माण है। यह रचना एक प्रकार का असत्कार्यवाद है। नवीन रूपो और भावो की रचना में ही कलात्मक कल्पना का सौन्दर्य और उसकी सार्थकता है। रचनात्मकता के साथ नवीनता सौन्दर्य का मूल रहस्य है। इसीलिए आवृत्ति और अनुवाद का सौन्दर्य मन्द हो जाता है तथा मौलिकता को कला में अधिक महत्त्व दिया जाता है। मौलिकता का मानदण्ड नवीनता ही है। इस दृष्टि से कलात्मक कल्पना की सौन्दर्य-सृष्टि यथार्थ के पूर्व-सत्तावान् सत्य से भिन्न है। सत्य का अनुभव एक पूर्व वर्तमान तथ्य का उद्घाटन मात्र है। कलात्मक कल्पना नवीन रूपो और भावो की रचना है। कलात्मक कल्पना की यह सृष्टि एक प्रकार से विधाता की सृष्टि से भी अद्भुत और सुन्दर है। विधाता की सृष्टि तो कल्प कल्प मे चिरन्तन सत्ताओ और रूपो का पुन-पुन उद्घाटन है (धाता यथापूर्व अकल्पयत्)। विधाता की इस यथापूर्व सृष्टि मे कोई नवीनता नही होती। किन्तु कवि और कलाकार की सृष्टि अ-पूर्व अर्थात् नवीन होती है। वे नये-नये रूपो और भावो की रचना करते हैं। यथापूर्व होने के कारण विधाता की सृष्टि एक प्रकार से अतीत की आवृत्ति है। वह एक सनातन सत्ता की पुन-पुन आवृत्ति है। केवल नये जीवो के लिए वह अनुभव मे नवीन बन जाती है किन्तु परिचित हो जाने के बाद उसका सौन्दर्य मन्द होने लगता है। यह सभ्यता और संस्कृति की एक मौलिक समस्या है। मनुष्य की कला इस समस्या का सबसे उत्तम हल प्रस्तुत करती है। वह नित्य नये-नये रूपो और भावो की रचना करती है। कला के रचित 'रूप' तो निरन्तर नये होते हैं। इनकी नवीनता मे ही जीवन का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है। कला के रचित 'भावो' मे नवीनता होते हुए भी शाश्वतता का संकेत रहता है। किन्तु यह शाश्वतता विधाता की सृष्टि की यथापूर्व चिरन्तनता नही है। आत्मिक होने के कारण ये भाव शाश्वत होते हुए भी नवीन जान पडते हैं। इस नवीनता का

रहस्य कला की रचनात्मकता में है। कला के 'भाव' किसी चिरन्तन सत्ता का यथापूर्व उद्‌घाटन नहीं है, वरन् वे नवीन रचना हैं। वे केवल इसी अर्थ में शाश्वत हैं कि जीवन में उनका स्थायी मूल्य प्रतीत होता है। जीवन के ये कलात्मक भाव अनन्त हैं। इनकी इस अनन्तता में इनकी नवीनता अक्षुण्ण रहती है और अनन्त कलाकारों को अनन्त रचना का अनन्त अवकाश रहता है। आत्मा के पूर्व भाव भी एक रहस्यपूर्ण ढंग से नित्य नवीनता प्रकाशित करते रहते हैं। चिरन्तन प्रेम न जाने किस चमत्कार से नित्य नया होता रहता है। इसी रहस्य में नवीनता के कारण भारतीय दर्शन में आत्मा को 'प्रणव' (प्र+नव) की संज्ञा प्रदान की है। 'प्रणव' का अर्थ नित्य नवीनता का प्रकर्ष है। भावों की यह नवीनता रूपों से मिलकर अभिनव बन जाती है। कला अभिनव रूपों की रचना है। इन रूपों में साकार होकर जीवन के शाश्वत भाव अभिनव सौन्दर्य से मण्डित होते हैं। जीवन के स्थायी मूल्य होने के अर्थ में शाश्वत होते हुए भी अभिनव उद्‌भावन के अर्थ में ये भाव नवीन होते हैं। नये नये रूपों में साकार होकर ये भाव नवीनतर बनते हैं। इस नवीनता में उनका सौन्दर्य नित्य नयी कान्ति से निखरता है।

सत्य और कल्पना का विशेष संबन्ध क्रमश: कला और काव्य के तत्त्व एवं रूप-सौन्दर्य से है। यथार्थ सत्ता और भाव दोनों रूपों में सत्य जीवन, कला और काव्य का 'तत्त्व' है। तत्त्व को रूप से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु तत्त्व को प्रधानता देने पर सौन्दर्य की महिमा कम हो जाती है। सौन्दर्य विशेषत: रूप में ही प्रकाशित होता है। इस रूप की रचना कल्पना की सृजनात्मक वृत्ति करती है। सत्य अथवा तत्त्व में ही प्रयोजन होने पर उसका अभिधान मात्र पर्याप्त होता है। अभिधा अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। लक्षणा और व्यंजना में रूप का कुछ अतिशय रहता है। रूप के इस अतिशय में ही अभिव्यक्ति का सौन्दर्य समृद्ध होता है। रूप के इस अतिशय का विधान कल्पना ही करती है। इस प्रकार सौन्दर्य का रहस्य रूप के अतिशय में मानने पर सौन्दर्य के साथ कल्पना का विशेष सम्बन्ध विदित होता है। यथार्थ सत्य की अपेक्षा भाव का सत्य सौन्दर्य के अधिक अनुरूप होता है। इसीलिए कवियों और कलाकारों ने प्रकृति के यथार्थ को भी भाव से अनुप्राणित करने का प्रयत्न किया है। भाव की इस विशेषता का कारण यह है कि वह प्रकृति के यथार्थ की भाँति एक उदासीन सत्ता नहीं वरन् एक आत्मिक और

मानवीय रचना है। कल्पना को चेतना की सृजनात्मक शक्ति मानने पर भाव को कल्पना की कृति मानना होगा। भाव का तत्त्व और रूप दोनों ही मनुष्य की रचना हैं। भाव के तत्त्व मे भी रचनात्मकता होने के कारण तत्त्व-दृष्टि से भी 'भाव' सौन्दर्य से समन्वित होता है। आत्मिक होने के कारण भाव की अभिव्यक्ति और उसका सम्प्रेषण एक प्रकार से सहज है, किन्तु दूसरी ओर सफल अभिव्यक्ति और उसका समुचित सम्प्रेषण कठिन है। इसी कठिनाई मे व्यंजना के रूप विकसित होते हैं तथा वे भाव के तत्त्वगत सौन्दर्य को समृद्ध बनाते हैं। **व्यंजना के समृद्ध रूपों की रचना कल्पना का ही चमत्कार है।** कल्पना का यह विशेष अधिकार और ऐश्वर्य कला और काव्य के क्षेत्र मे उसकी विशेष महिमा को प्रतिष्ठित करता है। जिस समात्मभाव की स्थिति मे कलात्मक सौन्दर्य के रूप उदित होते हैं वह समात्मभाव जीवन का एक मौलिक सत्य अवश्य है, किन्तु वास्तविक अनुभव मे वह कल्पना के व्यापार के द्वारा ही चरितार्थ होता है। कलात्मक सौन्दर्य की रचना का स्रोत होने के साथ-साथ यह समात्मभाव अपने स्वरूप मे भी रचनात्मक है। अप्रस्तुत के उपस्थापन के अर्थ मे नही वरन् चेतना की रचनात्मक वृत्ति के अर्थ मे 'कल्पना' ही इस समात्मभाव का उद्भावन करती है। इस कल्पना के द्वारा ही अहकार की इकाइयो मे परिच्छिन्न चेतनाओ का विस्तार, सगम और साम्य सम्भव होता है जो समात्मभाव का लक्षण है। अपने अद्भुत चमत्कार मे इन लक्षणो से युक्त समात्मभाव किसी आत्मगत सत्य के उद्घाटन की अपेक्षा एक नवीन रचना के रूप मे प्रकाशित होता है। अप्रस्तुत के उपस्थापन अथवा अयथार्थ की आशा के अर्थ मे नही वरन् रचनात्मक प्रतिभा के अर्थ मे हम कल्पना को इस समात्मभाव की विधात्री मान सकते हैं। इस दृष्टि से कल्पना सौन्दर्य के रूपो की विधात्री ही नही वरन् उन रूपो की रचना के प्रेरक समात्मभाव की भी जननी है।

•

अध्याय १३

सत्य के दो मुख्य रूप

सत्य के अनेक रूप हैं। विभिन्न विज्ञानो और शास्त्रो मे सत्य का प्रयोग अनेक अर्थों म होता है। आरम्भ में ही हम सत्य के दो रूपो में भेद कर सकते हैं—एक तथ्य तथा दूसरा सिद्धान्त। 'तथ्य' किसी वस्तु अथवा घटना का नाम है। जो वस्तु अथवा घटना जिस रूप मे है या थी उसका उसी रूप मे (तथा)स्वीकरण उसे तथ्य' की सज्ञा देता है। इस प्रकार तथ्य के अन्तर्गत अनन्त वस्तुएँ और घटनाये है। ये सभी तथ्य बाह्य नहीं होते। भौतिक विज्ञानो के तथ्य प्राय बाह्य ही होते हैं किन्तु मनोविज्ञान मे तथ्य का एक और भी रूप मिलता है जिसे हम मानसिक एव आन्तरिक तथ्य कहते हैं। पहले मनोविज्ञान चेतना के अध्ययन को ही अपना मुख्य विषय मानता था और मनुष्य के अनुभवगत तथ्यो के विश्लेषण को ही मनोविज्ञान समझा जाता था। एक अमरीकन मनोवैज्ञानिक टिचनर ने इसी दृष्टिकोण को लेकर मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय स्थापित किया था जो यथार्थवादी सम्प्रदाय कहलाता था। मनोविज्ञान की व्यवहारवादी प्रवृत्तियो के कारण यह सम्प्रदाय चल न सका। सामान्यत आधुनिक मनोविज्ञान अनुभव और व्यवहार दोनों के तथ्यो का वैज्ञानिक अध्ययन है। मनोविज्ञान पर आश्रित मानवीय और सामाजिक विज्ञानो में भी इसी के समान आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार के तथ्य होते हैं। वस्तुत यह एक ही सम्पूर्ण तथ्य के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे से अभिन्न हैं। अनुभव की प्रेरणा कभी व्यवहार मे सफल होती है, कभी अनुभव व्यवहार का फल होता है। मन मे किसी कार्य की याद आने पर हम उसमें प्रवृत्त होते हैं, कभी किसी व्यावहारिक या शारीरिक आघात से हमारे मन मे पीड़ा होती है। इतिहास, समाज-विज्ञान आदि मानवीय विज्ञानो मे तथ्यो के इन दोनो रूपो का ही अध्ययन होता है।

सिद्धान्त इन वस्तुओ और घटनाओं की प्रक्रिया के अन्तर्गत एक सामान्य विधि अथवा नियम है। तथ्यों मे सम्बन्ध रखने वाले नियम भी तथावत् स्वीकृत होने के कारण एक प्रकार से तथ्य की कोटि मे हैं। किन्तु सभी सिद्धान्त तथ्यो से सबद्ध

नहीं होते। जीवन मे कुछ ऐसे भी सिद्धान्त हैं जो तथ्य की अपेक्षा मूल्य के अधिक निकट हैं। **मूल्य भी वस्तुत. एक प्रकार के सिद्धान्त ही हैं जो जीवन की आकाक्षाओ को सार्थकता प्रदान करते हैं।** सभी तथ्य बाह्य न होते हुए भी इस दृष्टि से वस्तुगत सत्ताय हैं कि उनका स्वरूप मनुष्य की चेतना और इच्छा से निरपेक्ष है। एक प्रकार से मनुष्य इनके सम्बन्ध मे विवश है। उनके अवगम और स्वीकरण के अतिरिक्त उसके लिए कोई मार्ग नहीं है। इन तथ्यों और तथ्यगत *सिद्धान्तो का उपयोग भी मनुष्य इन वस्तुगत नियमों के अनुसार ही कर सकता है।*

तथ्य और सिद्धान्त मे साधारण भेद यह है कि तथ्य व्यक्तिगत इकाइया हैं और अपने आप मे अर्थवान् नहीं हैं। सिद्धान्त इन तथ्यो की विशृखल इकाइयो का एक सूत्र में पिरोकर उन्हे सार्थक बनाता है। तथ्यो के लक्षणो की समानता से नि सृत नियम ही सिद्धान्त बन जाता है। **तथ्य बिखरे हुए पुष्प हैं। सिद्धान्त उन्हें गुम्फित करने वाली माला है।** सिद्धान्त की सामान्यता उसे एक व्यापक सत्य का रूप प्रदान करती है। तथ्य की इकाइया अपने स्थान और काल म सीमित हैं उनका परिच्छेद उनकी मर्यादा है। उनकी सत्ता एक निश्चित स्थान मे सीमित रहती है तथा एक सीमित काल की परिधि मे आबद्ध रहती है। इस अर्थ मे तथ्य नश्वर और परिवर्तनशील है। एक स्थान मे अल्पकाल तक मे वर्तमान रहते हैं। **सक्षेप में तथ्य, स्थूल और नश्वर इकाइयां हैं।** इसके विपरीत तथ्यो की व्यवस्था के अन्तर्गत नियम सूक्ष्म हैं तथा वे स्थान और के प्रभाव से रहित हैं। उनके शाश्वत मानने मे तो जगत की नित्यता और अनित्यता का दार्शनिक प्रश्न उठ खडा होता है, अन्यथा विश्व की जिन भौतिक परिस्थितियो मे उनका उद्घाटन होता है उन परिस्थितियो के तथावत् रहने वाले ये सिद्धान्त शाश्वत ही हैं। जब तक किसी विपरीत प्रमाण या परिस्थिति से वे खण्डित नही होत तब तक व सर्वव्यापक और शाश्वत हैं। परिवर्तनशील घटनाओ की इकाइयों के अन्तर्गत सामान्य सिद्धान्त साधारणत सार्वभौम और शाश्वत हैं।

सत्य के इन दोनो रूपो के अनेक उपभेद हैं। जीवन और जगत की विशालता का अध्ययन करने वाले विभिन्न विज्ञानो और शास्त्रो के अन्तर्गत तथ्य तथा सिद्धान्त दोनों ही अनेक प्रकार के होते हैं। **विज्ञानो के दो मुख्य भेद हैं— एक प्राकृतिक विज्ञान तथा दूसरे मानव-विज्ञान।** प्राकृतिक विज्ञान प्राकृतिक जगत के विभिन्न क्षेत्रो का अध्ययन करते हैं। मानव विज्ञान मानव जीवन की

गतिविधियो का अनुसधान करते हैं। सम्पूर्ण जगत और समस्त जीवन काव्य का विषय है। काव्य मे दोनो का चित्रण और दोनो के अन्तर्गत श्रेय और सौन्दर्य का उद्‌भावन होता है। विज्ञानो के तथ्य यथार्थ के रूप मे होते हैं। अत काव्य के साथ उनके सबन्ध का प्रश्न काव्य और यथार्थ के सम्बन्ध का ही एक दूसरा रूप है। यह निर्विवाद है कि कला और काव्य केवल यथार्थ के अकन नही हैं। यदि ऐसा होता तो कला और विज्ञान मे, काव्य और इतिवृत्ति में कोई अन्तर न होता। **कला और काव्य यथार्थ के प्रतिबिम्ब नहीं वरन् रचनात्मक क्रियायें हैं। कल्पना इस रचना की शक्ति है।** क्रोचे और उसके अनुयायी कल्पना को ही कला का सर्वस्व मानते हैं। काव्य के साथ तथ्य और सिद्धान्त के सम्बन्ध का प्रश्न वस्तुत कल्पना और यथार्थ के सबन्ध का प्रश्न है। **यथार्थ एक चेतना-निरपेक्ष स्वरूपाश्रित सत्ता है।** उसकी स्वतन्त्रता कल्पना की स्वतन्त्रता मे बाधक है। इसीलिए क्रोचे के समान कलात्मक कल्पना को पूर्ण स्वतन्त्र मानने वाले कल्पना के विषयो को भी कल्पना से प्रसूत मानते हैं। ऐसा मानने से कल्पना की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहती है। चेतना की यह स्वतन्त्र सृजनात्मक वृत्ति स्वय अपने रूपो का विधान करती है। कला और काव्य के इस आन्तरिक रूप मे बाह्य और वस्तुगत यथार्थ के तथ्यो और नियमो का कोई स्थान नही है।

किन्तु यह कला और काव्य का आन्तरिक तथा अनिर्वचनीय रूप है। वेदान्तियो के ब्रह्म के समान इसके मानने वाले इसका प्रतिपादन अनधिकार रूप से करते हैं। उनका यह प्रयास मनुष्य की बुद्धि और वाचालता की विवशता है। वस्तुत यह उनकी मान्यता के साथ सगत नही है। क्रोचे के मत मे सामान्यत जिसे कला और काव्य कहा जाता है वह कला का मौलिक रूप नही। **कला-कृति वस्तुत मौलिक कलात्मक अनुभूति की अनुकृति है।** काव्य-कृति आन्तरिक कविता का अनुवाद है। क्रोचे और उसके अनुयायियो के अनुसार, कलाकार के लिये यह एक नितान्त गौण अध्यवसाय है। उसकी कल्पना की कृतार्थता तो उसकी आन्तरिक अनुभूति मे ही हो जाती है। कला-कृति मे उस अनुभूति की अनुकृति और काव्य-कृति मे उसका अनुवाद कलाकार का एक व्यावहारिक उपचार मात्र है। उसके लिए ये कृतियाँ बच्चो के घरौदो के समान हैं जिन्हे वह जिस तरह उत्साह के साथ बनाते हैं उसी प्रकार नि शक भाव से तोड फोड कर आनन्दित होते हैं। किन्तु किसी भी **कलाकार की रचना इस धारणा**

को प्रमाणित नहीं करती। प्रत्येक कलाकार अपनी कृति को महत्त्व देता है और उसे अपनी अन्तर्भावना का मूर्त रूप मानता है। उसकी सफल रचना और प्रसिद्धि से प्रसन्न होता है। उसकी असफलता और अप्रसिद्धि से खिन्न होता है तथा उसके नष्ट होने पर शोक करता है। क्रोचे के सिद्धान्त के अनुसार इसे कलाकार का मोह मानना होगा। सम्भवत यह उसका मोह ही हो किन्तु इस सब व्यापार मे जहा तक कलाकार के अहकार का प्रवेश है वही तक हम उसे मोह मान सकते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ केवल सत्य और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए उसका अध्यवसाय है वहाँ उसे कलाकार के मौलिक धर्म का ही अग मानना होगा।

वस्तुत कलाकृति की मूल प्रेरणा सौन्दर्यानुभूति के वितरण की भावना है। दूसरे हमारे अनुभव के साथ आत्मीयता प्राप्त कर हमारे और अपने आह्लाद की वृद्धि करे, यही कला की बाह्य अभिव्यक्ति का मूल मन्तव्य है। इसी अभिव्यक्ति मे सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है। कलाकार अपने समस्त कौशल का उपयोग इस अभिव्यक्ति की सफलता के लिए करता है तथा सहृदय पाठक अपनी समस्त कल्पना और सहानुभूति के साथ उसके साथ एकात्मभाव प्राप्त करके उसकी सौन्दर्यानुभूति के आनन्द का भागी बन जाता है। ऐसे आनन्दमय सबन्ध के एकमात्र सूत्र और साधन को उपचार-मात्र मानना उसके महत्त्व को कम करना है। क्रोचे और उसके अनुयायी भी यह तो मानते हैं कि कलाकृति के मूर्त प्रतीक मौलिक कलानुभूति के सकेत बन सकते हैं। इन सकेतो के आधार पर कल्पनाशील कला-प्रेमी अपनी चेतना मे मौलिक अनुभूति का उद्भावन कर सकते हैं। किन्तु कलाकृतिया उसका एक गौण निमित्त मात्र हैं।

यह धारणा कलाकृति और कलाकार दोनो के महत्त्व को कम करती है। साथ ही यह कला के क्षेत्र के अध्यवसाय के गौरव को भी मन्द बनाती है। यह मानने मे किसी को आपत्ति न होगी कि कलात्मक अनुभूति का मूल रूप आन्तरिक और आत्मगत है। कला-प्रेमी की अनुभूति भी इसी प्रकार आन्तरिक और आत्मगत होती है। किन्तु यह मानना कठिन है कि मनुष्यों की अनुभूतियो के मर्म में कोई समानता नहीं है और कला के कौशल में उसको किसी भी अश में अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य नहीं है। क्रोचे कलात्मक चेतना को व्यक्तिगत मानते हैं। चेतना के इस व्यक्तिगत रूप से ही क्रोचे के सिद्धान्त की समस्त कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

वस्तुत कला का मूल रूप ही इसका खण्डन करता है। कला का उद्भव ही अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ समात्मभाव से होता है। समात्मभाव चेतना का विस्तार है। इस विस्तार में सहानुभूति और समानुभूति की सभावनायें उदित होती हैं। इनसे पृथक करने के लिए समात्मभाव के विस्तार को हम समानुभूति की सम्भूति कह सकते हैं। इसी विस्तार को अभिव्यक्त कर कला-कृति मौलिक अनुभूति के पुन पुन उद्भावन का आधार बनती है। इसी विस्तार में 'यथार्थ' कल्पना की स्वतन्त्रा में आत्मसात् होकर कला का उपादान बनता है।

तथ्य के यथार्थ के साथ-साथ सिद्धान्त भी कला और काव्य के उपादान बनते हैं। 'सिद्धान्त' तथ्यों के सामान्य विधान हैं। यह सामान्यता बुद्धि का लक्षण है। भारतीय दर्शन में बुद्धि को अहकार के ऊपर माना गया है। इसका अभिप्राय यही है कि सत्य का अनुभवन करने वाली चेतना की जो शक्ति व्यक्तित्व की सीमाओं से ऊपर होती है, वह सामान्य है। अत वह व्यक्ति में व्याप्त होते हुए भी अहकार की सीमा में आबद्ध नहीं है। अहकार इस सामान्य चेतना का केन्द्र मात्र है। उसकी परिधि अत्यन्त व्यापक हैं। अखिल सत्ता का उपगूहन करने का प्रयत्न बुद्धि की परिधि करती है। 'विचार' बुद्धि के व्यवहार की प्रणाली है। अस्तु, तथ्य प्रत्यक्ष के विषय हैं तथा सिद्धान्त बुद्धि और विचार के स्वरूप अथवा फल हैं। तथ्य और सिद्धान्त दोनों ही कला और काव्य के उपादान है। अत, कलात्मक कल्पना में प्रत्यक्ष और बुद्धि दोनों का समन्वय अपेक्षित है।

तथ्यों को लोग अनेकों के रूपों में देखते हैं। बुद्धि का लक्षण भी विश्लेषण माना जाता है। कलात्मक कल्पना अथवा प्रतिभा का स्वरूप सश्लेषात्मक मानते हैं। सश्लेष का रूप अभेदात्मक होता है। उसमें यदि अनेकता होती भी है तो उसमें एकता का सश्लेष ही प्रधान होता है। वस्तुत विषय और विषयी का भेद भी इसमें मानना कठिन है। इसीलिए क्रोचे ने कलात्मक कल्पना के विषयों को कल्पना से अभिन्न माना है। कल्पना अपने स्वरूपगत तत्व से ही अपने विषयों का निर्माण करती हैं। बर्गसों की कलात्मक प्रतिभा का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है। यद्यपि अध्यात्मवादी न होने के कारण बर्गसों ने विषयों की विज्ञानात्मकता पर बहुत बल दिया है, फिर भी विषय के सश्लेषात्मक रूप और उसकी रचना में एकात्मता पर उन्होंने बहुत बल दिया है। कलात्मक कल्पना के सश्लेषात्मक रूप के कारण तथा कला में विषय के साथ कल्पना की एकात्मता के कारण प्रत्यक्ष, और

उससे भी बढकर, बुद्धि के साथ उसकी सगति मे कठिनाई होती है। प्रत्यक्ष मे साक्षात् अनुभव का रूप तो कुछ कल्पना के समान है, किन्तु विषयों की बाह्यता, अनेकता तथा प्रत्यक्ष ज्ञान की पराधीनता कल्पना के अनुरूप नही है। 'कल्पना' स्वतन्त्र और सश्लेषात्मक क्रिया है। बुद्धि और विचार में विश्लेषण की प्रधानता होने के कारण कल्पना के साथ उसकी सगति और भी कठिन है। प्राय लोग कलात्मक कल्पना को भावना के अनुरूप मानते हैं और बुद्धि से उसका विरोध मानते हैं।

यह सत्य है कि तथ्यो के प्रत्यक्ष का रूप अनेकात्मक होता है और बुद्धि मे विश्लेषण की प्रधानता होती है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि हमारे मन की ये दोनो वृत्तिया सश्लेषात्मक क्रिया से पूर्णत विहीन नही है। आधुनिक मनोविज्ञान का यह एक सरल सत्य है कि प्रत्यक्ष अनेक सम्वेदनाओ का सहज एकीकरण है। प्रत्यक्ष अनेक सम्वेदनाओ का सहज एकीकरण है। एकात्मता के साथ साथ उसमे कुछ कल्पना की रचनात्मक वृत्ति भी काम करती हैं। इनके साथ साक्षात अनुभव की वृत्ति को लेकर प्रत्यक्ष कलात्मक कल्पना के बहुत निकट आ जाता है। विषय की बाह्यता और उसके कारण क्रिया की परार्थता ही मुख्य भेदक रह जाते हैं और ये ही यथार्थ से कल्पना को पृथक बनाते हैं। प्रत्यक्ष के अधिक विकसित रूपो म अनेक तथ्यो का ग्रहण एक ही क्रिया द्वारा लगभग एक साथ होता है। इसे 'निरीक्षण' कहते हैं। इसमे एकात्मता की वृत्ति और भी अधिक काम करती है और चुने हुए तथ्या मे मन किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था ढूँढता हैं। यह व्यवस्था प्रत्यक्ष और निरीक्षण को एकात्मकता प्रदान करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान का एक सम्प्रदाय इस व्यवस्थात्मक एकात्मता को मन की मूल और सहज वृत्ति मानता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मन की सहज वृत्ति 'समग्र' के ग्रहण की ओर होती है। विश्लेषण एक बाद की क्रिया है। समग्र' को प्रधान मानने के कारण यह सम्प्रदाय समग्रतावादी कहलाता है। जर्मन भाषा मे समग्र के आकार को गैस्टाल्ट कहते है और यह सम्प्रदाय गैस्टाल्ट स्कूल कहलाता है। वर्दाइमर इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक था और उसके अनुयायी कोइलर तथा कोफका ने इसका विकास किया है। इस सम्प्रदाय का मत इतना क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ कि शिक्षा के क्षेत्र मे नवीन सश्लेषात्मक प्रणाली ने प्राचीन विश्लेषणात्मक

प्रणाली को पूर्णतः असिद्ध और उन्मूलित कर दिया। इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हमारे मन और प्रत्यक्ष की संश्लेषात्मक प्रवृत्ति को और भी महत्वपूर्ण बनाती है।

वस्तुतः अनेकता में एकता की स्थापना हमारे मन की सहज और मौलिक वृत्ति है। गेस्टाल्ट सम्प्रदाय का यह मत सत्य और माननीय है। प्रत्यक्ष ही नहीं, विचार में भी जिसे मुख्यतः विश्लेषणात्मक मानते हैं यह एकात्मता की वृत्ति दिखाई देती है। विचार का मुख्य धर्म अनेक तथ्यों के संश्लेष का सूत्र खोजना है। यही सूत्र नियम अथवा सिद्धान्त कहलाता है। वस्तुतः विचार की दृष्टि अनेकता की अपेक्षा एकता की ओर अधिक रहती है। अनेकता स्थूल है और एकता सूक्ष्म है। एकता में अधिक संलग्न होने के कारण ही विचार सूक्ष्म होता है। 'विचार' व्यक्तियों और वस्तुओं की इकाइयों को समूहों के सदस्यों के रूप में देखता है। वर्गीकरण विचार की मुख्य प्रणाली है। विचार की अनेकता प्रत्यक्ष की अनेकता की भांति विशेष इकाइयों की अनेकता नहीं है। वह वर्गों की अनेकता है। व्यक्तियों का वर्गों से सम्बन्ध तथा वर्गों का वर्गों से सम्बन्ध विचार की प्रणाली है। इस प्रकार से विश्लेषण और संश्लेष दोनों विचार में वर्तमान हैं।

फिर भी विचार की मुख्यतः विश्लेषणात्मक वृत्ति के कारण कलात्मक प्रतिभा से उसकी संगति कठिन है। सभी अनुभवप्रधान दर्शन इस कठिनाई का अनुभव करते रहे हैं। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म अनुभव द्वारा ही प्राप्य है, तर्क द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार संभव नहीं है (नैषातर्केण मतिरापनेया) अंग्रेज अध्यात्मवादियों में प्रमुख ब्रैडले का भी यही मत है कि समग्र सत्य के अनुभव के पूर्व विचार को आत्मघात करना होगा। बर्गसों भी साक्षात् अनुभव को ही कला का मूल रूप मानता है। उसकी दृष्टि में बुद्धि अनुभूति की एकात्मता को खण्डित कर देती है। क्रोचे भी कला के क्षेत्र में अनुभूतिवादी ही हैं। अन्य अध्यात्मवादियों से क्रोचे में इतना अन्तर है कि वे एकात्मक अनुभूति को कला का स्वरूप मानने के साथ साथ कला को मानवीय चेतना का सबसे आदिम और एक दृष्टि से निम्नतम रूप मानते हैं। उनके अनुसार दर्शन और विज्ञान चेतना के अधिक प्रौढ़ और विकसित रूप हैं। अन्य अध्यात्मवादियों का मत इसके विपरीत है। वेदान्त और ब्रैडले के मत में आध्यात्मिक सत्य की अनुभूति चेतना के उत्कर्ष की चरम अवस्था है। यह अनुभूति का वह रूप है जो विचार से अतीत और उच्चतर है। वेदान्त में ब्रह्म की प्राप्ति मनन के बाद निदिध्यासन द्वारा अखण्डानुभव में होती

है। ब्रैडले के एकान्तिक अनुभव में भी विचार का अन्त हो जाता है। ब्रैडले अनुभव का एक ऐसा रूप भी मानते हैं जो विचार से पूर्वतर और निम्नतर है तथा विचार से जिसकी एकात्मता खण्डित हो जाती है। यह 'अनुभूति साधारण सम्वेदना और सहज भावना के समकक्ष है। अध्यात्म की अखण्डानुभूति में विषय और विषयी का तथा भाषा की दृष्टि से उद्देश्य और विधेय का भेद नहीं रहता। इसी दृष्टि से इस अनुभूति में विचार का पूर्णतः विलय हो जाता है। यह अनुभव की परा अवस्था है जिसे वेदान्त में परब्रह्म और व्याकरण दर्शन में परा वाक् कहते हैं।

सभवत क्रोचे की कलानुभूति वेदान्त की इस परानुभूति से एक रूप नहीं है। क्रोचे इस कलानुभूति के सबन्ध में रूपों की अभिव्यक्ति तथा कलात्मक चेतना द्वारा रूपों और विषयों के सृजन की चर्चा करते हैं, यद्यपि ये रूप और विषय बाह्य सत्तायें नहीं है। वे विज्ञानमय हैं। चेतना अपने प्रस्तर के उपादान से इनका सृजन करती है। वेदान्त के अनुसार यह अपर ब्रह्म की अवस्था है जो सृष्टि का उपादान बनकर ऊर्णनाभि के समान रूपों का सृजन करता है। शब्द दर्शन के अनुसार यह पश्यन्ती अथवा मध्यमा वाक् के अनुरूप अवस्था होगी।

इस प्रकार अनुभूतिवादी मत भी एक दूसरे से भिन्न हैं। जो क्रोचे और बर्गसों के समान अनुभूति को एक ऐसी आदिम और अखण्ड सम्वेदना मानते हैं, जो विकास के क्रम में विचार के उदय होने पर खण्डित हो जाती है, उनके अनुसार अनुभूति एक सहज और सामान्य भाव है जो विचार का स्पर्श न होने तक ही जीवित रहता है। कलात्मक अनुभूति पारिजात का वह कोमल कुसुम है जो विचार की प्रथम किरण के स्पर्श से ही खण्डित होकर यथार्थ की भूमि पर गिर जाता है। वह सम्वेदना की वह बाल्य अवस्था है जो अबोध की तन्मयता में ही सुरक्षित रहती है। बोध और विचार का जागरण होते ही वह खण्डित हो जाती है। व्यक्ति के बाल्य की भाँति समाज के बाल्य की आदिम अवस्था में ही वह अपने सरल और शुद्ध रूप में मिलती है। व्यक्ति और समाज के विकास के साथ साथ कला की मौलिक प्रतिभा मन्द हो जाती है। विज्ञान और विचार की उन्नति के कारण ही आधुनिक सभ्यता में कला का वास्तविक मूल्य कम हो रहा है। क्रोचे के अनुसार कला एक ऐसा सुन्दर और सुकुमार स्वप्न है जो जागरण के यथार्थ के स्पर्श से भंग हो जाता है। बर्गसों अनुभव की

एकात्मता के साथ साथ कला कृति के रूप की एकात्मता का भी सकेत करते हैं। किन्तु क्रोचे के सिद्धान्त में कला कृति एक अत्यन्त गौण उपचार है। कला का वास्तविक रूप आन्तरिक अनुभूति है। वस्तुत कृति के रूप मे अनुभूति का अनुवाद सम्भव नही है, क्योकि अनुभूति अखण्ड होती है और कृति का रूप भेद से युक्त होता है। रूप, भाषा, स्वर आदि अभिव्यक्ति के सभी माध्यम अनेकता से युक्त है यद्यपि यह सम्भव है कि उस अनेकता मे एकता की रचना की जा सके। चित्रकला की आकृति, सगीत के राग और कविता के बध इसी अनेकात्मक एकता के उदाहरण हैं।

अस्तु, कलात्मक अनुभूति के जिस रूप मे भेद के लिए तनिक भी स्थान नही है, उसकी न किसी रूप मे अभिव्यक्ति हो सकती है और न विचार से उसकी सगति हो सकती है। किन्तु जो सिद्धान्त जीवन्मुक्ति की भाति आत्मा की अखण्डता के अनुभव को व्यवहार की अनेकता के साथ सगत मानते हैं तथा उस एकात्मता के अनुभव को दूसरे के साथ तादात्म्य के रूप मे मानते हैं, उनके अनुसार अनुभूति के साथ विचार की सगति सभव हैं। यह स्पष्ट है कि इसके साथ-साथ कलात्मक अनुभूति की भाषा आदि रूपो मे अभिव्यक्ति भी सभव हो सकती है। यद्यपि शकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य' की भूमिका मे ही यह स्पष्ट कर दिया है कि तर्क और विचार का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सत्य और अनृत (मिथ्या) के सम्मिश्रण से चलता है, फिर भी जीवन्मुक्ति मे व्यवहार की सम्भावना के आधार पर एकात्मक अनुभूति और विचार की सगति असम्भव न होगी। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि चेतना की जिस क्रिया के रूप मे प्रमाण प्रमेय-पूर्वक विश्लेषण की प्रणाली प्रधान होती है वह प्रधानत 'विचार' कहलाती है। उसकी प्रधानता में भेद और विश्लेषण की ही प्रमुखता होगी और अनुभूति गौण रहेगी। अत अनुभूति की एकात्मकता के साथ विचार की सगति सभव न होगी। ऊपर कहा जा चुका है कि विचार की क्रिया मे भेद और विश्लेषण के साथ-साथ एकता और सश्लेष भी होता है। जिस विचार मे यह एकता प्रधान होगी उसके साथ अनुभूति की सगति सुगम होगी। भेद के गौण होने पर अनेकता मे एकता के रूप मे अनुभूति और विचार का समन्वय सम्भव हो सकेगा। वस्तुतः कला का स्वरूप फलो के रस के समान है जिसमें अनेक तत्वो का ऐसा समन्वय होता

है कि वे पूर्णतः एकरस बन जाते हैं। अनुभूति रस है। प्रत्यक्ष के यथार्थ और विचार के सिद्धान्त उसमें घुल मिल तत्वों के समान हैं।

यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि प्रत्यक्ष और विचार के तत्व भी रसग्रहण की ओर अभिमुख हों तथा अपनी कलात्मकता का उत्कर्ष करके भेद को गौण बनाकर विचार अनुभूति में द्रवित होने के लिए उद्यत हों। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह विचार और अनुभूति का समन्वय है। यह स्थिति अनुभूति में विचार के अतिक्रमण से भिन्न है जिसे ब्रडले और राधाकृष्णन मानते हैं। राधाकृष्णन ने आध्यात्मिक अनुभूति का एक ऐसा रूप स्वीकार किया है जो विचार से अतीत होते हुए भी उसके विपरीत नहीं है। प्रायः दार्शनिक विचार और अनुभूति को स्वरूप से विरुद्ध मानते हैं। अतः विचार में मगन और साथ ही विचार से अतीत अनुभूति का स्वरूप समझना कठिन है। वस्तुतः अनुभूति का स्वरूप समझने के सभी प्रयास विचार के अध्यवसाय हैं अतः उसके निरूपण के प्रयत्न एक प्रकार से असंगत और अनधिकार हैं। इन प्रयत्नों में अनुभूति को विचार से अतीत मानकर भी विचार की सीमा में ही उसके अधिगम की आत्मविरोधात्मक चेष्टा है। राधाकृष्णन के समान अन्य भी आध्यात्मिक अनुभूति को साक्षात् और एकात्मक मानते हैं किन्तु साथ ही वे चरम सत्य को एक विचार सगत व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अनुभूति में विचार के आत्मघात का प्रस्ताव करने पर भी ब्रडले का आग्रह है कि प्रत्यक्ष के अनेक रूप भेद और विचार दोनों का किसी न किसी प्रकार उसमें समाहार अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार ब्रडले का एकान्तिक सत्य अनुभूतिमय होने के साथ साथ समस्त प्रपंच का समाधान है। ब्रडले और राधाकृष्णन ने इस समाधान का रूप स्पष्ट नहीं किया। एक दृष्टि से यह विचार की सामर्थ्य के बाहर की बात है फिर भी इस समाधान की दिशा का कुछ संकेत आवश्यक है।

इस समाधान के सबन्ध में सबसे पहली बात यही है कि अनुभूति के साथ विचार की संगति अनुभूति को विचार से पूर्णतः अतीत मानकर नहीं हो सकती। वस्तुतः यह संगति एक प्रकार का समन्वय है। यह सम्भव हो सकता कि इस समन्वय में दोनों अपने स्वरूप के उन तत्वों का त्याग कर दें जो इस समन्वय में बाधक हैं। इस समन्वय का स्वरूप कुछ जहत् अजहत् लक्षणा के समान होगा। भाग त्याग इसकी प्रणाली होगी। दूसरी बात यह है कि समन्वय में दोनों की समानता नहीं हो सकती। किसी एक तत्व को मुख्य मानकर उसमें दोनों के शेष

तत्वों का समान भाव से अन्वय होगा। इस प्रकार विचार का अनुभूति से और अनुभूति का विचार से समन्वय होने पर अध्यात्म-दर्शन का निर्माण होता है। अनुभूति में अन्वित होकर विचार के तत्व फलों के रस में घुले मिले तत्वों के समान अनुभूति के रस को पुष्ट, रुचिमय और तत्व-पूर्ण बनाते हैं। विचार में अन्वित होकर अनुभूति अध्यात्म को उसी प्रकार हृद्य बनाती है जिस प्रकार अग्नि का तप सुवर्ण आदि धातुओं को द्रवित कर आयुर्वेद के रसों में परिणत करता है। यह स्पष्ट है कि यह समन्वय अतिक्रमण नहीं है वरन् एक में दूसरे के तत्वों की संगति और अन्विति है। **कला और काव्य के क्षेत्र में इस समन्वय अथवा संगति का साधन भाषा तथा अन्य माध्यमों की व्यंजना-शक्ति है।** वस्तुत यह व्यंजना ही उक्त भाषा के माध्यम से अनुक्त भावों के ग्रहण का सूत्र है। व्यंजना आत्माओं के तादात्म्य का सूत्र और अनिर्वचनीय आकृति के ग्रहण का साधन है। **शब्दों की व्यंजना-शक्ति वाङ्मय के जगत् की अद्भुत विभूति है।** इसी के द्वारा अनिर्वचनीय रस और भाव कला तथा काव्य के उपादान बनते हैं। यह व्यंजना ही भाषा और विचार की अनेकता में अनुभूति की एकात्मकता की प्रतिष्ठा करती है। व्यंजना की यह संगति एक उपचार मात्र नहीं है वरन् मानवीय जीवन और चेतना की एक समृद्ध और सफल अभिव्यक्ति है। शब्द-दर्शन में परा से लेकर वैखरी वाणी तक की संगति का रहस्य इसी व्यंजना में है। शब्द दर्शन में इस व्यंजना का नाम 'स्फोट' है।

प्रत्यक्ष और विचार के साथ कला का यह सामंजस्य काव्य में सबसे अधिक मात्रा में संभव है। इसका कारण यह है कि भाषा और वाणी सामंजस्य और तादात्म्य के सम्प्रेषण का बहुत समर्थ और समृद्ध माध्यम है। भारतीय शब्द दर्शन में वाणी के रूप की इस समृद्धि को सबसे अधिक गहराइयों तक समझा है। रूप, **ध्वनि और अर्थ तीनों के द्वारा वाणी अनिर्वचनीय भावों की व्यंजना करती है। उनके सम्प्रेषण और उसके द्वारा तादात्म्य की रसानुभूति का एक अखण्ड स्रोत वाणी में प्रवाहित होता है।** आत्मा के अनहद संगीत में अनिर्वचनीय भावों के जो स्रोत उमड़ते हैं, उन्हीं का मुक्त मुखर निर्झर नाद कविता में साकार होता है। काव्य की इस स्रोतस्विनी में प्रत्यक्ष के रूप, यथार्थ के सिद्धान्त और संगीत के स्वर एकरस होकर एक अपूर्व अभिव्यक्ति की सृष्टि करते हैं। कविता के इसी सम्पन्न रूप और उसकी इसी व्यापक एवं अद्भुत शक्ति के कारण वह सभ्यता के आरम्भ काल से

ही कला के रूपो मे सर्वाधिक लोक-प्रिय रही है। धर्म और सस्कृति के प्राचीनतम रूप कविता मे ही मिलते हैं। साहित्य का प्राचीन रूप प्रमुखत काव्य ही है। आधुनिक युग मे विज्ञान के प्रभाव से व्यजना की अपेक्षा अभिधा का महत्व अधिक बढ जाने के कारण गद्य की प्रमुखता बढ रही है। गद्य मे, विशेषत वैज्ञानिक गद्य मे, भाव की अपेक्षा अर्थ अधिक होता है। **शैली संस्कृति का लक्षण है। गद्य की प्रधानता आधुनिक युग की नीरसता का प्रतिबिम्ब है।** 'रस' जीवन की सहज वृत्ति है। जीवन के कोलाहल की व्यस्तता और नीरसता मे भी मनुष्य की आत्मा सामजस्य और तादात्म्य की अभिलाषा से तृषित उत्कण्ठा के भाव से व्यग्र रहती है।

सगीत और चित्रकला भी कला के श्रेष्ठ और प्रसिद्ध रूप हैं। इनमे भी रस और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति स्वर और रूप के माध्यम से होती है। काव्य मे जिन कई तत्वो का सामजस्य होता है, वे अन्य कलाओ मे विभाजित हो जाते हैं। सगीत मे अर्थ और रूप की अपेक्षा स्वर, रस और भाव की प्रधानता है। अर्थ शब्दो से वेद्य 'तात्पर्य' है। सगीत मे शब्दो की अपेक्षा स्वर का महत्व अधिक है। वाद्य सगीत मे तो शब्द का कोई अर्थ नही है, वह केवल एक स्वर-योजना है। यह स्वर योजना भाषा के अर्थ मे सार्थक न होते हुए भी भाव की अभिव्यक्ति मे समर्थ है। कौलिगवुड आदि कुछ लोचे के अनुयायी सगीत से भाव का कुछ सम्बन्ध नही मानना चाहते। यह सम्भव हो सकता है कि सगीत की स्वर-योजना का अभिप्राय केवल स्वरो की पारस्परिक सगति और उनका अन्तर्गत सामजस्य ही हो। सगीत का स्वरूप इसी मे पूर्ण है। बच्चो के जिस सगीत का उदाहरण प्राय. लोचे और उनके अनुयायी देते हैं, उसका स्वरूप बहुत कुछ यही होता है। बच्चो के सगीत के अधिकाश शब्द हमारे भाषा-कोष से अलग कुछ अनर्थक ध्वनियाँ हैं। अत यह बाल-सगीत वाद्य-सगीत की भाँति ही केवल स्वर-सयोजना है। फिर भी चाहे भाव की अभिव्यक्ति सगीत का सायास अभिप्राय न हो, इन स्वर-योजनाओ मे अनायास अन्तर्भावो की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति मे भाव का सम्प्रेषण होता है। सगीत से होने वाला प्रभाव इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सगीत का प्रभाव केवल श्रवण-सम्वेदना के सुख तक ही सीमित नही होता, उसमे एक भाव का गर्भ भी होता है। श्रवण-सवेदना का सुख भी पूर्णत ऐन्द्रिक नही होता। उसका एक मानसिक मर्म भी है। किन्तु इस मानसिक प्रभाव मे ऐन्द्रिक सवेदना

के मानसिक फल के अतिरिक्त एक मौलिक मानसिक भाव भी होता है। बच्चो और ग्रामीणो के सगीत मे अनायास हर्ष, उल्लास, दुःख, शोक, करुणा आदि की अभिव्यक्ति होती है। वाद्य सगीत मे भी स्वर योजना का सबन्ध भाव से होता है। ख्याल और ध्रुपद मे मन्द्र और शुद्ध स्वरो की प्रधानता उनकी गम्भीरता के अनुकूल है। ठुमरी मे कोमल और मध्यम स्वरो की प्रधानता उसके माधुर्य भाव के अनुरूप है। मन्द्र से तार की अकस्मात् छलांग विरह के चीत्कार की भांति अनायास एक तीव्र वेदना का भाव व्यक्त कर देती है। वायोलिन (वेला) के तीव्र और तार स्वर के आरोह के बाद एकदम मन्द्र और कोमल स्वर मे सगीत का अवरोह अनायास श्रोताओ के हृदयो को करुणा से विगलित कर देता है।

सगीत का भाव से कुछ सहज सबन्ध होते हुए भी अर्थ और रूप का उसमे कोई स्थान नही है, स्वर अथवा स्वर योजना को ही हम 'रूप' मान ले तो दूसरी बात है। सगीत का यह रूप 'राग' कहलाता है। किन्तु दृश्य रूप का सगीत के स्वरो की अभिव्यक्ति से कोई आवश्यक सबन्ध नही है। सगीत के स्वर केवल ध्वनियो के क्रम हैं। भाषा के शब्दो की भाँति वे अर्थ और रूपो के प्रतीक नही। हम कह सकते हैं कि सगीत स्वर की एक तरगित धारा है जिसका स्वरूप मूलत स्वर की एक विमा में ही निहित है। स्वर की सयोजना के क्रम मे अनायास भाव का स्फोट हो जाने के कारण स्वर की मूल विमा मे भाव की द्वितीय विमा प्रकट हो जाती है। सार्थक शब्दो के गीतो मे भी अर्थ की अपेक्षा भाव की ही प्रधानता रहती है, इसीलिए ख्याल, ध्रुपद, ठुमरी आदि शास्त्रीय सगीत के श्रेष्ठ रूपो में शब्द कम और उनकी तुलना मे स्वर अधिक होते हैं। स्वरो की प्रचुरता और विविधता मे भाव के अनेक धरातलो और उनकी अनेक भगिमाओ की व्यजना होती है। यह स्पष्ट है कि सगीत में शब्द का अल्प स्थान है। सगीत मे जो शब्द का आधार मिलता है उसका कारण यह है कि शब्दो की भाषा मनुष्य की अभिव्यक्ति और भाव *व्यवहार का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन गई है। सगीत मे शब्दो को अन्यथा सिद्ध* कहना तो उनका अपमान करना है, किन्तु सत्य यह है कि स्वर और भाव की दो विमाओ मे ही सगीत का स्वरूप पूर्ण हो जाता है। शब्द और अर्थ के अस्तित्व का एक प्रकार से इन दो विमाओ मे ही (शब्द का स्वर मे और अर्थ का भाव मे) अन्तर्भाव हो जाता है। स्वर और भाव की दो विमाओ में ही सगीत का स्वरूप पूर्ण है।

चित्रकला का माध्यम वर्ण और रूप है। वस्तुत वर्ण का रूप मे अन्तर्भाव है। प्रत्येक वर्ण-सस्थान से इसी रूप की सृष्टि होती हैं, यद्यपि अधिकाश चित्रकला मे जीवन के यथार्थ रूपो की अभिव्यक्ति मिलती है। यह चित्रकला कृति के साथ साथ अनुकृति भी है किन्तु यथार्थ के रूपो का चित्रण अथवा अनुकरण चित्रकला का आवश्यक आधार नही है। शृगार और अलकार की अनेक आकृतियों (डिजाइनो) मे यथार्थ के रूपो का आग्रह न होने पर भी कला के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। रवीन्द्रनाथ तथा कुछ आधुनिक कलाकारो के प्रतीकात्मक चित्रो में कुछ सामान्य तत्वो की अभिव्यक्ति भी मिलती है। किन्तु वस्तुत. यथार्थ के रूपो की भाति इन सामान्य तत्वो का भी चित्रकला के मूल स्वरूप से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। **चित्रकला एक रूप-योजना मात्र है, अर्थ से ही नहीं, भाव से भी इस योजना का आवश्यक संबन्ध नहीं है,** यद्यपि यह सत्य है कि अधिकाश चित्रो मे सगीत की भाति भाव की अभिव्यक्ति वर्तमान रहती है। **वस्तुत चित्रकला का स्वरूप रूप की एक ही विमा में पूर्ण है। इसीलिए लोक-सस्कृति में संगीत की अपेक्षा उसका कम महत्त्व है।**

किन्तु मस्तिष्क और बुद्धि का उत्कर्ष मनुष्य के विकास का सबसे महत्वपूर्ण अग है। मनुष्य के इन्द्रिय-धर्म मे प्रत्यक्ष का परिष्कार हुआ है। विशेषत दर्शन और श्रवण की इन्द्रियो के निर्माण की सूक्ष्मता के द्वारा ध्वनि और रूप के क्षेत्र मे उसकी क्षमता की बहुत समृद्धि हुई है। इसी के द्वारा सगीत और चित्रकला की उन्नति हुई है। किन्तु इस ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष की समृद्धि के साथ-साथ मनुष्य का मानसिक विकास भी हुआ है। इस विकास के द्वारा अर्थ और भाव (रस) का महत्त्व उसके जीवन मे अधिक हो गया है। अर्थ एक सूक्ष्म और सामान्य बौद्धिक तत्व है। शब्द उसके प्रतीक और उसकी व्यजना के माध्यम हैं। भाव मानसिक तत्व है। उसके भी वाहन शब्द हैं। मन का बुद्धि से सवन्ध है, अत भाव पूर्णत अर्थहीन नही है। विज्ञान मे अर्थ की प्रधानता रहती है। कला और साहित्य में अर्थ और भाव का समन्वय होता है। **इस समन्वय में भाव को अनुभूति अर्थ को तीव्रता देती है और अर्थ की सामान्यता भाव को व्यापक बनाती है। यही व्यापक भाव रस है।** समात्मभाव मे यह समन्वय चरितार्थ होता है। उसी मे रस के आनन्द की स्फूर्ति होती है।

भाषा के शब्दो से अर्थ और भाव दोनो का अन्वय हुआ है। विज्ञान की

भाषा मे अर्थ प्रधान होता है और साहित्य की भाषा मे भाव, यद्यपि भाव मे अर्थ का निधान होने पर साहित्य गम्भीर और समृद्ध होता है। प्रत्यक्ष के यथार्थ हमारे व्यवहार के उपादान है। भाषा व्यवहार का माध्यम है। अत यथार्थ के रूपो का सन्निधान भाषा मे स्वाभाविक है। स्वर शब्द का मूल तत्व है। अत भाषा मे स्वर, रूप, भाव और अर्थ चारो विभाओ का समन्वय सम्भव है। इसीलिए भाषा सस्कृति का सबसे अधिक समर्थ और समृद्ध रूप है। **कविता में भाषा की इन चारो विभाओ का सबसे अधिक सामंजस्य सम्भव है। इसीलिए कविता कलाओ में सर्वश्रेष्ठ है। वह प्रत्यक्ष के रूपो का स्वर और अर्थ में तथा अर्थ और रूप का भाव में अन्वय करती है। कविता के इस समन्वय में ही तादात्म्य के रस का स्फोट होता है। इसी समन्वय में आत्मा की अन्तर्निहित, अलक्ष्य और रसमय सरस्वती साकार होकर जीवन के रस-निर्भरो में मुखरित हो उठती है।** चेतना के समात्मभाव और उसके रसोद्रेक की सम्प्रेषणशीलता का सबसे अधिक समर्थ और समृद्ध माध्यम होने के कारण कविता सस्कृति और कला का सबसे अधिक लोक-प्रिय और प्रभावशाली रूप है। वेदो की ऋचाये, ग्रामीणो के लोक-गीत आदि तथा महाभारत, रामायण, पुराण, आल्हखण्ड आदि लोक-काव्य इन चारो विभाओ के संतुलित सामंजस्य से से युक्त कविता के उदाहरण हैं। इन चारो विभाओ का पूर्ण सामजस्य ही कविता का पूर्ण रूप है।

जो कला और काव्य को केवल अभिव्यक्ति की शैली अथवा 'स्वान्त सुखाय' मानते हैं वे क्रमश माध्यम के विधान और कर्त्ता की अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं। माध्यम और अनुभूति दोनो ही कला के महत्त्वपूर्ण अग हैं, किन्तु इन्ही मे कला की पूर्णता नही है। **अनुभूति नि सन्देह कला का मर्म है, किन्तु वह कला का उद्गम है, अन्त नहीं।** माध्यम की रूप-योजना का प्रयोजन इस अनुभूति की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कला का रूप अवश्य है और यही रूप इसे सस्कृति के अन्य रूपो से पृथक करता है, **किन्तु अभिव्यक्ति मार्ग और साधन है, लक्ष्य नहीं। कला एक सामाजिक और सप्रयोजन धर्म है। एकान्त साधना उसकी सफलता के लिए तपस्या है। किन्तु उसकी सफलता और साधना की सार्थकता कला की प्रेषणीयता में है।** प्रत्येक कलाकार मे यश और उपकार की आकाक्षा कला के इस सामाजिक सत्य को प्रमाणित करती है। प्रत्येक कलाकार चाहता है कि सब लोग उसकी कला का आनन्द ले। उसकी कृति मे जो तीव्र और व्यापक

अनुभव साकार होता है, उसमे वह दूसरो को भी भागी बनाना चाहता है। अनुभूति के वितरण और विभाजन की यही कामना अभिव्यक्ति की प्रेरणा और कला का मूल स्रोत है। कला की अभिव्यक्ति क्रोचे की अभिव्यक्ति की भाति केवल अन्तर्मुखी अभिव्यक्ति नही है। उसका एक बाह्य रूप भी है जो कृतियो मे साकार होता है और जो पूर्ण न होने हुए भी मौलिक कलानुभूति का पूर्णतम अवतार है। काव्य मे इस सामजस्य की पूर्णता की सबसे अधिक सभावना है।

कलात्मक अनुभूति साक्षात् अनुभव की सजीवता की दृष्टि से प्रत्यक्ष के अनुरूप अवश्य है किन्तु विचार के साथ उसका ऐसा विरोध नही है जैसा कि क्रोचे और उनके अनुयायी मानते हैं। प्रत्यक्ष मे भी सश्लेषण और विश्लेषण दोनो क्रियाये रहती हैं। सवेदना की अलक्ष्य एव आशिक इकाइयो का सगठन एक ओर प्रत्यक्ष के विषय की इकाई का निर्माण करता है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष की क्रिया इस इकाई को अन्य इकाइयो से पृथक करती है। इसी प्रकार विचार मे भी विश्लेषण और सश्लेषण का सामजस्य रहता है। प्रत्यक्ष और विचार का सश्लेषणात्मक पक्ष कलात्मक अनुभूति के साथ इनके सामजस्य की भूमिका रचता है। इसी भूमिका मे प्रत्यक्ष के तथ्य और विचार के सिद्धान्त कलात्मक अनुभूति मे अन्वित होकर सौन्दर्य को मूर्त्त रूप देते हैं। कलात्मक सौन्दर्य को केवल एक आन्तरिक अनुभूति मानने पर बाह्य तथ्य और बौद्धिक विचार के साथ उसके सामजस्य की समस्याएँ उठती हैं। सम्प्रेष्य माध्यमो मे कला की सामाजिक अभिव्यक्ति को उसके स्वरूप का अभिन्न अग मानने पर ये समस्याये नही उठती। सभी कलाओ के माध्यम भौतिक होने के कारण बाह्य और सम्प्रेष्य हैं। बाह्य और सम्प्रेष्य होने के कारण कला के इन माध्यमो का तथ्यो के साथ सहज सामजस्य हो सकता है। इतना अवश्य है कि ये तथ्य निश्चत तत्व के रूप मे निर्धार्य होने के कारण अपने स्वरूप मे सुन्दर नही होते। अत रूप के अतिशय के द्वारा ही इनमे सौन्दर्य का समवाय और कला के साथ इनका सामजस्य सभव हो सकता है। यही कठिनाई विचार के सबन्ध मे भी उपस्थित होती है। तथ्य की भाँति विचार भी तत्त्व प्रधान होता है। निश्चय और निर्धारण बौद्धिक विचार का लक्षण है। तथ्य की भाँति विचार के तत्त्व मे भी अतिशय की सभावना नही होती। भौतिक तथ्यो के 'रूप' मे प्राय अनेकता मिलती है। उनमे रूप के अतिशय का योग भी सरलता से हो सकता है। यथार्थ रूप मे भी उनका चित्रण एक अतिशय ही बन

जाता है। किन्तु विचार के रूप अत्यन्त सीमित हैं। विचार का वाणी से कुछ आवश्यक सम्बन्ध है। मनुष्य के इतिहास मे बुद्धि और वाणी का विकास साथ साथ हुआ है। भाषा में व्यक्त होने वाले विचार के 'रूप' अत्यन्त सीमित हैं। ग्रीक-तर्कशास्त्र में ये रूप चार माने गये है। इन्ही चार रूपो मे विचार के अनेक तत्त्वो की अभिव्यक्ति होती है। विचार के रूपो की यह सीमा उसे कलात्मक सौन्दर्य के प्रतिकूल बनाती है, जो रूपो के अतिशय और उनकी विविधता मे ही साकार होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष के तथ्य और विचार के सिद्धान्त दोनो मे एक उदासीनता रहती है। ये सत्ता और सत्य के निरपेक्ष रूप हैं। निरपेक्षता ही इनकी उदासीनता का कारण है। उदासीनता की स्थिति सौन्दर्य के अनुकूल नही। रुचि के प्रकाश और रस मे ही सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती हैं। रुचि और रस मे प्रत्यक्ष के तथ्यो और विचार के सिद्धान्तो का अन्वय होने पर ही वे कलात्मक सौन्दर्य के उपकरण बनते हैं।

यह अन्वय भाव के सूत्र द्वारा सभव होता है। इस भाव को हम तथ्य और सिद्धान्त के अतिरिक्त सत्य का एक तीसरा रूप मान सकते है। यह भाव ही कला का क्षितिज है, जहाँ तथ्य की पृथिवी और विचार का आकाश दोनों मिलते हैं तथा सौन्दर्य के रंजित रूप रचते हैं। यह भाव अन्तरिक्ष के समान सूक्ष्म और उदार है, जो तथ्य की पृथिवी और विचार के आकाश के बीच कलात्मक सबन्ध का सेतु रचता है। भाव के इसी अन्तरिक्ष में कलात्मक सौन्दर्य की रंजित मेघमालायें रूप ग्रहण करती हैं। यह भाव जीवन का मर्म है। तथ्य और सिद्धान्त की अपेक्षा यह सत्य का अधिक जीवन्त रूप है। तथ्य और सिद्धान्त के समान भाव निरपेक्ष और उदासीन भी नही है। मनुष्यो के आन्तरिक और आत्मिक सबन्ध की सापेक्षता एव सजीवता मे ही भाव उदित होता है। 'भाव' से हमारा यहाँ प्रयोजन 'सत्ता' के सामान्य रूप से नही है। यहाँ हमारा तात्पर्य मानवीय चेतना की उस वृत्ति से है जो आत्मीय सम्बन्धो की पारस्परिकता में उदित होती है। समात्मभाव इसका मौलिक रूप है। समात्मभाव की सरस भूमि मे अन्य विशेष भावो के अकुर खिलते हैं। आत्मिक होने के कारण 'भाव' तथ्यो और सिद्धान्तो के समान निश्चित रूप से निर्धार्य नही होते। साक्षात् होने के कारण उनमे प्रत्यक्ष की सजीवता तथा आन्तरिक होने के कारण विचार की गम्भीरता रहती है। किन्तु साक्षात् होते हुए भी भाव अनुभव और अभिव्यक्ति के किसी भी रूप

की सीमा म परिच्छिन्न नही हो सकते। क्षितिज की भाति उनकी सीमा निरन्तर अनन्त की ओर बढती जाती है। तत्त्व की दृष्टि से भी वे असीम और अपरिमेय होते हैं। कूप के जल की भाति भावो के सरस तत्त्व अपने अनन्त स्रोतो से मानो अनन्त बने रहते हैं। विचार की भाति जीवन का आन्तरिक तत्त्व होते हुए भी भाव तत्त्व के स्वरूप मे एक अतिशय रहता है। भाव के स्वरूप मे निहित यह तत्त्व का अतिशय उसकी अभिव्यक्ति के लिए रूप के अतिशय को आवश्यक बना देता है। सहज रूप मे भाव क अतिशय की अभिव्यक्ति रूप के अतिशय में होती है तथा 'भाव सौन्दर्य मे साकार होते हैं। प्रत्यक्ष के तथ्य और विचार के सिद्धान्त दोना से भावो मे कुछ विलक्षणता होती है। तथ्य अपनी सत्ता मे विशेष होते हुए भी ग्रहण मे सामान्य होते हैं। सम्वेद्य रूप म तथ्यों मे विशेषता भाव के सम्पुट से ही आती है। विचार क सिद्धान्त पूर्णत निरपेक्ष और सामान्य होते हैं। परस्पर भिन्न होने के अर्थ मे इन सामान्य सिद्धान्तो म जो विशेषता होती है उसकी ओर हमारा ध्यान बहुत कम जाता है। स्वरूप से तथ्यो में विशेषता और विचारो में सामान्यता रहती है। इस प्रकार ये दोनो एकागी बने रहते है, किन्तु भाव में एक विलक्षण रूप में विशेषता और सामान्यता दोनो का समवाय रहता है। प्रत्यक्ष के समान साक्षात् होने के कारण भाव म विशेषता रहती है। पारस्परिक और सम्प्रेष्य होने के कारण भाव इस विशेषता मे ही सीमित नही रहता, उसके क्षितिजो का विस्तार सामान्य की ओर होने लगता है। विशेषता और सामान्यता तथा सजीवता और आन्तरिकता के समन्वय के कारण भाव एक विलक्षण प्रकार से प्रत्यक्ष के तथ्य और विचार के सिद्धान्त दोनो को समजसित कर उन्हे कलात्मक सौन्दर्य का उपकरण बनाने की क्षमता रखता है। भाव के उदार और सरस अचल में समाहित होकर उदासीन तथ्य और सिद्धान्त भी सौन्दर्य के उपकरण बन जाते है।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रत्यक्ष के तथ्यों म रूप की विविधता और रूप के अतिशय के योग की सम्भावना होने के कारण व सौन्दर्य के अधिक अनुरूप होते हैं। इसीलिए चित्रकला और काव्य मे प्रकृति का तथावत् अकन भी सुन्दर बन जाता है। विचार की उदासीनता और रूप विषयक दीनता के कारण उसमे सौन्दर्य का सचार कठिन होता है। विचार के सम्बन्ध मे निश्चित निर्धारण का अनुरोध आवश्यक होने के कारण उसमे तत्त्व के अतिशय की सम्भावना नही होती।

रूप का अतिशय भी विचार के तत्त्व की इस निश्चयमुखी गति के अनुकूल नहीं है। रूप के अतिशय मे तत्त्व का आकार धूमिल होने की आशका रहती है। यह विचार के लिए अपेक्षित स्पष्टता के विपरीत है। इसीलिए विज्ञानो और दर्शनो मे कलात्मक शैली को न अपनाकर सरल और स्पष्ट अभिधान को उचित समझा जाता है। रूप का अतिशय विचार के अनुरूप नहीं है। इसीलिए विचार के तत्त्व से बोझिल काव्यो में सौन्दर्य कम होता है। तथ्यो के वर्णन भी प्राय नीरस रह जाते हैं। कथा काव्यो और दार्शनिक काव्यो मे यह कठिनाई प्राय असफलता का कारण बनती है। तथ्य और विचार के सामजस्य की यह कठिनाई काव्य मे सबसे अधिक होती है। तथ्य और विचार दोनो तत्त्व-प्रधान होते हैं। उनमें रूप के अतिशय का योग प्राय कठिन होता है। अत रूप की दीनता के कारण वे सुन्दर नहीं बन पाते। चित्रकला, मूर्तिकला आदि मे विचार का प्रसग कम रहता है। यदि होता भी है तो इन कलाओ के माध्यमो मे विचार की अभिव्यक्ति व्यजना के द्वारा होती है। इस व्यजना मे रूप का अतिशय उदित हो जाता है। दृश्य होने के कारण इन कलाओ मे तथ्यो के अकन मे रूप के अतिशय का समवाय सरल होता है। अत इनमे गृहीत तथ्य सहज सुन्दर बन जाते हैं। किन्तु काव्य का माध्यम भाषा है। भाषा मे अभिव्यक्त तथ्यो और विचारो मे सौन्दर्य का समवाय कठिन होता है। दोनो म तत्त्व की यथार्थता अभीष्ट होने के कारण अभिधा की सरलता अपेक्षित होती है। अपने सहज रूप मे भाषा का स्वरूप तथ्यो के विवरण और विचारो के अभिधान के अनुरूप है। बालको की भाषा का इसी सरल रूप मे विकास होता है। जीवन के सामान्य व्यवहार मे भाषा के इसी रूप का उपयोग होता है। शब्द और अर्थ का सरल निश्चित सम्बन्ध ही भाषा का मूल रूप है। काव्य की भाषा में लक्षणा और व्यजना का विकास होने पर भी अभिधान का यह मौलिक आधार बना रहता है। अभिधान के आधार के बिना भाषा सम्प्रेषण का माध्यम नहीं बन सकती। अर्थ-तत्त्व की निश्चितता तथा रूप की अल्पता अभिधान के मुख्य लक्षण है। भाव मे जो तत्त्व का अतिशय रहता है वही काव्य की भाषा मे रूप के अतिशय को प्रेरित करता है। तत्त्व के अतिशय से रहित कविता भावहीन रूपसी के समान है। ऐसा काव्य आलकारिक काव्य की कोटि मे आता है। भाव का अतिशय अपनी विपुलता मे अभिहित अर्थ को भी समाहित कर लेता है। दूसरी

ओर अभिधान का अल्प रूप भाव की व्यजना करने वाले रूप के अतिशय मे समवेत हो जाता है। अभिधान और व्यजना के तत्त्व एव रूप के इसी सामजस्य मे सफल और सुन्दर काव्य की सृष्टि होती है। **भाव का उदार क्षितिज ही इस सामजस्य का रगमच बनता है।** भाषा के विकास मे व्यवहार की अपेक्षाओ के कारण जहा एक ओर अभिधान का अनुरोध रहा है, वहाँ दूसरी ओर भाव के अतिशय भी भाषा मे अभिव्यक्ति खोजते रहे हैं। अभिधान की विशदता के साथ भावो की अभिव्यक्ति की दिशा मे भी भाषा की सामर्थ्य का विकास हुआ है। भाषा का यह विकास उसकी व्यजना शक्ति का विकास है। आत्मिक होने के कारण भावो मे तत्व का अतिशय अधिक है। भावो की सीमाये क्षितिज के समान आगे बढती रहती है, अत व्यजना की अभिव्यक्ति भी प्राय इन भावो को रूप देने मे अपने को असमर्थ पाती है। भावो की सम्पन्नता के साथ-साथ रूप की समृद्धि और सामर्थ्य कवि का कौशल है। **भाव और रूप दोनो के अतिशय में परस्पर सभावन की स्पर्धा का साम्य होने पर काव्य का सौन्दर्य अधिकाधिक कान्ति से निखरता है।** दोनो के अतिशय के इसी साम्य मे तथ्यो और सिद्धान्तो के अभिधेय तत्त्व भी समवेत होकर सौन्दर्य के उपकरण बन जाते हैं। भाषा के सार्थक माध्यम के कारण काव्य वाद्य सगीत के समान केवल रूपात्मक कला नही है। तथ्यो और सिद्धान्तो के रूप मे अर्थ-तत्त्व के अभिधान की अपेक्षा रूप के अतिशय का विरोध करती है। इस विरोध मे भी सामजस्य का सचार करके अर्थ-तत्त्व के यथार्थ और भाव-तत्त्व के अतिशय के साथ अभिधान के रूप की उपयुक्तता तथा व्यजना के रूप की अतिशयता का सामजस्य सफल काव्य की रचना करता है। इस सामजस्य की कठिनाई काव्य की विशेषता है। यही कठिनाई काव्य को कलाओ मे श्रेष्ठ और समृद्ध बनाती है। भाव के मधुर एव उदार तेज के प्रभाव मे ही तथ्य के वारि-सीकर तथा सिद्धान्तो के समीर काव्य के क्षितिज पर सौन्दर्य की रजित मेघमालाय रचते हैं। भाव के अतिशय की विद्युत-लेखाओ तथा रूप के अतिशय की इन्द्रधनुषी वर्ण-विभूति मे समवेत होकर जीवन के विविध सत्यो के वायवीय सीकर सौन्दर्य के स्वर्ग की रुचिर वन्दनवार सजाते हैं।

अध्याय १४

सत्य के उपभेद और काव्य

सत्य के दो मुख्य भेद हैं—तथ्य और सिद्धान्त । इन दोनो के अनेक उपभेद हैं । वस्तुत ये दोनो ही प्रत्यय बड़े व्यापक हैं । प्राकृतिक घटनाओ और नियमो के अतिरिक्त इनके अन्तर्गत सास्कृतिक तत्वो का भी समावेश है । जो वस्तुगत यथार्थ की परिधि मे सीमित है तथा जो काल, दिक्, गणित आदि के नियमो से शासित है वह प्राकृतिक सत्य है । व्यापक अर्थ मे प्राकृतिक सत्य को वैज्ञानिक सत्य कह सकते हैं । वैज्ञानिक सत्य मे तथ्य और सिद्धान्त दोनो ही सम्मिलित हैं । तथ्य घटनाओ की इकाइयां हैं । सिद्धान्त उनकी प्रक्रिया और उनके सबन्धो की व्याख्या करने वाले सामान्य नियम हैं । तथ्य प्राय ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के विषय हैं । सिद्धान्त बौद्धिक विधान हैं । तथ्यो के सम्बन्ध मे प्राय प्रत्यक्ष की साक्षी पर्याप्त है । सिद्धान्तो के निर्णय के लिए तर्क की सगति अपेक्षित है । प्रत्यय और तर्क के सहयोग से वैज्ञानिक सत्य के अनुसधान की प्रगति होती है । विज्ञान वस्तुत एक प्रणाली है, जो परीक्षण के आधार पर प्रकृति और जीवन के सिद्धान्तो का निर्णय करती है । इसमें कल्पना के लिए अवकाश नही है । मुख्यत अनुसधान ही विज्ञान का धर्म है । विज्ञान के द्वारा जो निर्माण भी होता है उसमे भी यथार्थ का अनुरोध और विज्ञान के नियमो का पालन होता है, जो दूर से कल्पना की स्वतन्त्र और रचनात्मक वृत्ति के विपरीत जान पडता है । विज्ञान का प्राकृतिक क्षेत्र जगत् और जीवन के यथार्थ के समविस्तार है । जीवन की चेतना मे स्वतन्त्रता का भी कुछ अश हो यह सभव है, किन्तु जगत् के समान जीवन का भी बहुत कुछ भाग प्राकृतिक है । उसका निर्माण प्रकृति के उपादानों से हुआ है । उसकी व्यवस्था और प्रक्रिया भी बहुत सीमा तक प्रकृति के नियमो के अनुसार है । वैज्ञानिक रीति से इसका अध्ययन सम्भव है और हुआ है । जीवन के इस वैज्ञानिक सत्य को सामान्यत हम सामाजिक सत्य कह सकते हैं । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । अत सामाजिक सबन्धो और व्यवहारो मे ही उसके जीवन का सत्य उद्घाटित होता है । सामाजिक सत्य का ही एक रूप ऐतिहासिक सत्य है । इतिहास भी मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो मे प्रकट होने वाली उन मुख्य और विशेष

घटनाओं का लेखा है जो समूचे समाज के जीवन की गतिविधियों को प्रभावित करती हैं। महत्वपूर्ण घटनाएं और कालानुक्रम इतिहास की दो विशेषताएं हैं। समाज का भी एक इतिहास हो सकता है और उसके विकास में कालानुक्रम का भी महत्व हो सकता है। किन्तु इतिहास का सामान्य रूप इससे भिन्न है। समाज के अध्ययन में नेताओं के प्रभुत्व की अपेक्षा लोक के साधारण और दैनिक जीवन का तथा कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं की अपेक्षा लोक जीवन की प्रथा प्रणालियों का महत्व अधिक होता है। विज्ञान की परिधि में विज्ञान के नियमों के अनुसार सामाजिक जीवन के तथ्यों और सिद्धान्तों का अध्ययन किया जाता है। इतिहास में सामाजिक जीवन के ही कुछ विशिष्ट अङ्गों को अधिक महत्व देकर विशेष रूप से उनका अध्ययन किया जाता है।

सामाजिक और ऐतिहासिक सत्य का आधार मनोवैज्ञानिक सत्य है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी तथ्य उसकी प्रवृत्तियों तथा उसकी चेतना से सम्बद्ध होकर ही जीवन और इतिहास के अंग बनते हैं। प्राकृतिक और शारीरिक प्रक्रियाएं स्वतन्त्र तथा मनुष्य के नियन्त्रण के बाहर हैं। **किन्तु चेतना की गति-विधियों को पूर्णत नियति मानना मनुष्य के लिए कभी सम्भव नहीं हो सका है। ऐसा मानने पर सांस्कृतिक जीवन की समस्त संभावनाएं समाप्त हो जाती हैं। स्वतन्त्रता और संयम का नाम ही 'संस्कृति' है।** इसके विपरीत 'प्रकृति मनुष्य से अ परतन्त्र नियति है। वह मनुष्य जीवन और संस्कृति का आधार तथा मर्यादा अवश्य है किन्तु उसका सर्वस्व नहीं। मनुष्य जीवन के मनोवैज्ञानिक सत्य में प्रकृति और संस्कृति की सन्धि है। इस सन्धि-पर्व में प्रकृति के नियमों से शासित मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता के अभिप्राय और उत्तरदायित्व के प्रति सचेतन हो उठा है। एक ओर मनोविज्ञान व्यक्ति समाज और इतिहास के क्षेत्र में प्रकृति की प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन उपस्थित करता है दूसरी ओर दर्शन और शास्त्र उसकी सांस्कृतिक आकांक्षाओं का अनुसंधान करते हैं। मनुष्य के जीवन में प्रकृति का प्रभाव और शासन बहुत है। अत मनोविज्ञान के अध्ययन बड़े उपयोगी हैं। चेतना का स्वतन्त्र अनुशासन संस्कृति में एक साधना ही रहा है। अधिकांश कला, काव्य और संस्कृति में मनोविज्ञान के प्राकृतिक तथ्यों का आधार है। उनका उद्घाटन इन कृतियों के स्वरूप की व्याख्या के लिए उपयोगी और आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक सत्य

की प्राकृतिक भूमिका के आधार पर अनुशासन और मर्यादा के द्वारा संस्कृति का दिव्य प्रसाद निर्मित हो सकता है।

जीवन और समाज का सम्पूर्ण सत्य विज्ञान और प्रकृति की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। प्रकृति का पुत्र होकर भी मनुष्य कुछ अतिप्राकृतिक (आध्यात्मिक) विभूतियों का उत्तराधिकारी है। प्राकृतिक आधार मे रूढ होते हुए भी मनुष्य के जीवन मे इस विभूति का प्रकाश होता रहा है। मानवीय संस्कृति इसी विभूति का वरदान है। जीवन के जिन तत्वो मे यह विभूति साकार होती है। उन्हे सास्कृतिक सिद्धान्त कहा जाता है। सिद्धान्तो की अपेक्षा इन्हे 'मूल्य' कहना अधिक उचित है। सिद्धान्तो के समान मूल्य भी सामान्य होते हैं इस दृष्टि से मूल्यो की कल्पना का आधार भी बौद्धिक है। किन्तु मूल्यो का पूर्ण स्वरूप बुद्धि मे सीमित नही होता, वह हमारी समग्र चेतना को व्याप्त करता है। इसलिए सिद्धान्तो की सामान्यता होते हुए भी मूल्यो में एक स्वतन्त्र और दिक्काल के गणित नियमो से अतिक्रान्त एक अनन्त समृद्धि का भाव रहता है। प्राकृतिक आधार मे रूढ रहते हुए भी इन सास्कृतिक मूल्यो की साधना मनुष्य जीवन का शाश्वत लक्ष्य रही है। समाज का वैज्ञानिक अध्ययन इन मूल्यो के प्राकृतिक आधारो को समझने मे सहायक हो सकता है। साथ ही इस सम्बन्ध मे पैदा होने वाली बहुत सी भ्रान्तियो को भी दूर कर सकता है। किन्तु वस्तुत इन मूल्यो का स्वरूप आध्यात्मिक होने के कारण इसका निरूपण विज्ञान से अतीत है।

चेतना की स्वतन्त्र मर्यादा के द्वारा प्रकृति का अनुशासन नैसर्गिक यथार्थ मे आदर्श की कल्पना उपस्थित करता है। 'है' के स्थान पर 'चाहिये' का उदय होता है। साधारणत इसे 'कर्तव्य' कहा जाता है। यह नीति शास्त्र या आचार-शास्त्र का विषय है। यदि यथार्थ ही सम्पूर्ण सत्य नही है तो इसे जीवन का नैतिक सत्य कहा जा सकता है। यह नैतिक सत्य ही प्रकृति और समाज की मर्यादा है। प्रकृति से प्रभावित और शासित होते हुए भी मनुष्य अपने धर्म, आचार और इतिहास में इस नैतिक सत्य की आराधना करता आया है। एक ओर जहां प्रकृति के प्रभाव के कारण मनुष्य के इतिहास मे अनेक अनर्थ हुए हैं, वहाँ दूसरी ओर आदर्श के लिए त्याग और बलिदान के उदाहरण भी कम नही हैं। यह नैतिक सत्य जीवन का 'श्रेय' कहा जाता है। नि श्रेयस इसका सर्वोत्तम रूप है। सुख (प्रेय) से लेकर

मोक्ष तक अनेक मानवीय लक्ष्य इसकी व्यापक परिधि के अन्तर्गत हैं। किन्तु श्रेय की आकांक्षा के अतिरिक्त मनुष्य की चेतना सत्य का अनुसंधान और सुन्दर की आराधना भी करती है। चेतना का सचेतन सत्य प्रकृति के तथ्यों और मानसिक धारणाओं की सगति का रूप ग्रहण करता है। बुद्धि इसे तर्क संगति का नाम देती है। जीवन में बुद्धि की व्यापकता के कारण ही तार्किक सत्य जीवन और संस्कृति के प्राय सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। कला और काव्य भी इससे पूर्णत अछूते नहीं है। **कला और काव्य में चेतना सौन्दर्य की आराधना करती है।** सौन्दर्य एक स्वतन्त्र और सांस्कृतिक मूल्य है। व्यापक अर्थ में श्रेय और सौन्दर्य को भी जीवन का सत्य कह सकते हैं। सत्य की पूर्ण कल्पना में प्राकृतिक से लेकर बौद्धिक सत्य तक का तथा श्रेय और सौन्दर्य का भी समाहार है।

मनुष्य की चेतना के तीन पक्षों को पृथक करके जिज्ञासा, भावना और क्रिया के अनुरूप प्राय तीन आधारगत मूल्य माने जाते हैं जो सत्य-शिव-सुन्दरम् की त्रिपुटी के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'जिज्ञासा' चेतना की बौद्धिक वृत्ति है। वह सत्य का अनुसंधान करती है। क्रिया चेतना की व्यावहारिक गति है। वह शिवम् की साधना करती है। 'भावना' चेतना की मार्मिक सम्वेदना है। वह सुन्दरम् की आराधना करती है। किसी सीमा तक चेतना के पक्षों का यह निरूपण तथा इसके अनुरूप मूल्यों का विभाजन उचित है। किन्तु चेतना का स्वरूप अखण्ड है, अत अन्तत यह विभाजन एक सम्पूर्ण सत्य का बौद्धिक विश्लेषण मात्र है। सत्य का एक अन्य रूप है जो मुख्यत बौद्धिक है। तर्क-संगति इसका लक्षण है। प्राकृतिक विज्ञानों में इसका प्रमुख होने के अतिरिक्त इसका एक स्वतन्त्र बौद्धिक रूप है, जो तर्कशास्त्र कहलाता है। अंग्रेजी में सत्य के इस बौद्धिक रूप को 'ट्रुथ' कहते हैं। इसके अतिरिक्त एक व्यापक तत्व की दृष्टि से सत्य का जो सम्पूर्ण स्वरूप है उसे अंग्रेजी में 'रीएलिटी' कहते हैं। अंग्रेजी भाषा और साहित्य में भी इन पदों के प्रयोग में सदा विवेक नहीं किया जाता। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हीगल ने दोनों का समीकरण कर दिया था। उसने सम्पूर्ण सत्य को बौद्धिक बना दिया था। हीगल के अंग्रेज अनुयायी ब्रैडले ने अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के साथ सत्य के दोनों रूपों का भेद स्पष्ट किया है। ब्रैडले के अनुसार 'रीएलिटी' सत्य का सम्पूर्ण रूप है। इसमें बौद्धिक सत्य का भी समाहार है। हीगल के दर्शन और मनुष्य बुद्धि के दम्भ के प्रभाव के कारण ब्रैडले ने सत्य के बौद्धिक रूप को सम्पूर्ण सत्य की कल्पना

मे बहुत अधिक महत्व दिया है। विचार की आत्महत्या और अनुभूति की विचारा-सीतता का सकेत करते हुए भी ब्रैडले के समस्त दर्शन मे बुद्धि का ही प्रभुत्व अधिक है।

हीगल के एक अन्य अग्रेज अनुयायी बोसान्क्वेट ने इस सम्पूर्ण सत्य के सामाजिक रूप को समझने का प्रयत्न किया। बोसान्क्वेट के अनुसार समाज सम्पूर्ण सत्य के स्वरूप के सबसे अधिक अनुरूप है। किन्तु हीगल के बुद्धिवाद के आग्रह के कारण बोसान्क्वेट भी मनुष्य के स्वरूप मे सामान्य चेतना अथवा सामान्य सकल्प को ही मुख्य मानते रहे। व्यक्ति के गौरव और व्यक्तियो के पारस्परिक स्नेह-सबन्ध मे उदित होने वाले एकात्मभाव के आनन्द का जो सन्देश वेदान्त मे मिलता है वहाँ तक वे नही पहुँच सके। तर्क और बुद्धि का आग्रह इसमे बाधक रहा। यद्यपि ब्रैडले ने नीतिशास्त्र का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा बोसान्क्वेट ने सौन्दर्य शास्त्र का प्रामाणिक इतिहास लिखा है, फिर भी दोनो के दार्शनिक सिद्धान्त हीगल के बुद्धिवाद के प्रभुत्व से आक्रान्त है। वस्तुत दोनो मे से कोई भी सत्य के सम्पूर्ण रूप मे शिवम् और सुन्दरम् का समुचित समन्वय न कर सका। यदि मनुष्य की चेतना अखण्ड है तो सत्य के स्वरूप की यह त्रिपुटी एक बौद्धिक और व्यावहारिक उपचार मात्र है। प्राकृतिक तथ्य और नियम तथा बौद्धिक सिद्धान्त इस सम्पूर्ण सत्य की भूमिका और उसके आकार मात्र हैं। सत्य का आन्तरिक तत्व अनुभूति का वह स्वरूप है जिसे शिवम् और सुन्दरम् कहते है। सत्य के प्राकृतिक और बौद्धिक आधार का अर्घ्य लेकर मनुष्य की चेतना शिवम् और सुन्दरम् की अर्चना करती है। सत्य के अनुसधान में जिस आनन्द का आभास मिलता है उसकी पूर्णता और परिणति शिवम् और सुन्दरम् के आनन्द में होती है। वस्तुतः यही आनन्द सम्पूर्ण सत्य का स्वरूप और तत्व है। सुन्दरम् की अभिव्यक्ति मे व्यक्ति की चेतना इस आनन्द का वितरण करती है और शिवम् के आत्मदान मे वह इसका सर्वथा विस्तार करती है। शिवम् और सुन्दरम् के स्वरूप का बौद्धिक विश्लेषण सभव होते हुए भी अन्तत इस आनन्द की अनन्तता से ही सत्य के अखण्ड रूप का साक्षात्कार और उसमे इस त्रिपुटी का समाहार होता है।

कविता जीवन और जगत का एक कलात्मक रूप है। कविता का क्षेत्र जीवन और जगत के समान ही विस्तृत और व्यापक है। दोनो के क्षेत्र का कोई भी तत्व ऐसा नही है जो किसी न किसी रूप मे कविता का उपादान न बन सके। चित्रकला

चाहे भाव-रहित वर्णो की व्यवस्था हो और सगीत चाहे भाव-रहित स्वरो की योजना हो, किन्तु *भाव रहित कविता एक अनर्थक कल्पना है।* **'भाव' कविता का मर्म और प्राण है।** चित्रकला और सगीत के माध्यमो का 'अर्थ' से कोई आवश्यक सम्बन्ध नही हैं किन्तु कविता के माध्यम शब्द का अर्थ से अभिन्न सबन्ध है। शब्द और अर्थ को कालिदास ने रघुवश के मगलाचरण मे उसी प्रकार अभिन्न बतलाया है जिस प्रकार पार्वती और परमेश्वर अभिन्न हैं। कविता के माध्यम भाषा का उदय ही सामाजिक व्यवहार की सप्रयोजन परिस्थितियो मे हुआ है। **अत वह स्वभाव से ही साकूत, सार्थक, साभिप्राय और सम्प्रेषण-शील है। अर्थ का सम्प्रेषण ही वाग्व्यवहार का उद्देश्य है।** चित्र कला की वर्ण-व्यवस्थाओ और सगीत के स्वर-सस्थानो मे यथार्थ जगत के रूपो और जीवन के तथ्यों तथा सिद्धान्तो का कोई आवश्यक स्थान नही है। ये कलायें केवल आत्मगत विधानो के रूप मे भी सभव हो सकती है। *इटली की चित्रकला-प्रधान सास्कृतिक परम्परा के प्रभाव के कारण* ही क्रोचे ने कला के उस अद्भुत और आत्मगत-रूप को उपस्थित किया जिसने कला के क्षेत्र मे क्रान्ति पैदा कर दी।

किन्तु कविता का माध्यम भाषा अनिवार्य रूप से सार्थक है। बच्चे के अनर्गल स्वर सधानो को सगीत की कोटि मे रखा जा सकता है किन्तु कविता की कोटि मे नही। **कविता सार्थक सगीत है। भाव उसकी आत्मा है। चेतना का एक सम्पन्न और सार्थक रूप ही कविता में साकार होकर मुखरित हो उठता है।** चित्र-कला और सगीत मे भी चाहे आत्मा के कुछ आन्तरिक भावो की अभिव्यक्ति होती हो, किन्तु यह असदिग्ध है कि इनमे जीवन के सास्कृतिक विकास की परम्पराओ का ऐसा क्रमिक उद्घाटन नही मिल सकेगा जैसा कविता मे सम्भव है। **कविता सभी कलाओ, विज्ञानो और दर्शनो का समन्वय है।** उसमे चित्रकला की रूपात्मकता और साकारता तथा सगीत की स्वर-सगति के साथ साथ नृत्य की सजीवता और गतिशीलता का समाधान रहता है। साथ ही उसमे विज्ञानो के यथार्थ का आधार तथा दार्शनिक सिद्धान्तो की प्रेरणा रहती है। **जिस प्रकार फलो के रस में अनेक रासायनिक तत्व मिलकर एकरस हो जाते है, उसी प्रकार कविता में भी जीवन के समस्त तत्वो का समाहार होता है।** जिस प्रकार फलो मे अलक्ष्य रूप मे अन्तर्भूत रस एक सुन्दर आकार मे मूर्त होता है, उसी प्रकार कविता मे भी रस और भाव की आवृत्ति अन्तर्निहित होकर एक सुन्दर रूप मे साकार होती है। सबसे अधिक

समृद्ध, सम्पन्न और सार्थक होने के कारण कविता कला का सबसे उत्तम और सबसे अधिक लोक-प्रिय रूप रही है। लोक-संस्कृति में सामूहिक संगीत और सामूहिक नृत्य के जो रूप अधिक प्रिय और प्रचलित रहे हैं उनमें संगीत और नृत्य के साथ कविता का भी समन्वय है।

चित्रकला, संगीत और नृत्यकला की तुलना में जीवन के सांस्कृतिक विकास की अभिव्यक्ति कविता में अधिक स्पष्ट दिखाई देती है। जहाँ अन्य कलाओं में अभिव्यक्ति की प्रधानता है, वहाँ कविता में संस्कृति के विकास की रचनात्मक प्रेरणा भी सन्निहित है। कल्पना की रचनात्मक क्रिया का फल होने के नाते सभी कलायें सृजनात्मक हैं। किन्तु इस सृजनात्मकता के दो रूप हैं—एक कला के रूप की सृजनात्मकता है जो सभी कलाओं में विद्यमान है। दूसरी कला के सांस्कृतिक प्रयोजन की सृजनात्मकता है जो मुख्य रूप से कविता में ही मिलती है। सृजनात्मकता का यह द्वितीय रूप कला के कृतित्व में ही कृतार्थ नहीं हो जाता। एक ओर जहाँ कविता का कृतित्व कल्पना की सृजनात्मक क्रिया का परिणाम है वहाँ दूसरी ओर वह जीवन की एक सांस्कृतिक परम्परा का आरम्भ और उसकी प्रेरणा है। सांस्कृतिक परम्परा एक विकासशील भाव-संगति है। पूर्वापर का अनुक्रम, विकास की प्रगति और जीवन का एक सम्पूर्ण लक्ष्य इस परम्परा के आधार हैं। काल क्रम से अनुबद्ध होते हुए भी इस परम्परा में एक स्थायित्व होता है। यह स्थायित्व ही सांस्कृतिक निर्माण और विकास की संभावना का आधार, गति की प्रेरणा और शक्ति का संबल है। चित्रकला, संगीत और नृत्य में अभिव्यक्ति की शैलियों का इतिहास है, किन्तु सांस्कृतिक निर्माण और विकास की कोई प्रेरणात्मक परम्परा इनमें प्रतिष्ठित नहीं हो सकी। इनकी सृजनात्मक वृत्ति इनके स्वरूप में ही चरितार्थ है, इसीलिये ये सांस्कृतिक जीवन में आनन्द के उत्स रहे हैं। किन्तु सांस्कृतिक निर्माण और विकास की परम्परा के स्रोत इनमें उपलब्ध नहीं हैं। यह इन कलाओं का दोष नहीं है वरन् इनके स्वरूप और माध्यम की सीमा है। रूप, वर्ण, स्वर, गति और भंगिमा के ऐन्द्रिक माध्यम स्वरूप से ही अस्थायी हैं। मनोग्राह्य अर्थ ही चेतना की स्थायी विभूति बन सकता है। अर्थ-संगति की व्यापक आकृति समाज की एक स्थायी परम्परा बन सकती है। जिस प्रकार फल में नवीन वनराजियों का बीज निहित रहता है उसी प्रकार काव्य की कृतियों में नवीन सांस्कृतिक परम्पराओं की प्रेरणायें सन्निहित रहती हैं। अर्थ का दीर्घ परम्परा सूत्र काव्य में

प्रतिष्ठित सांस्कृतिक परम्पराओं को भविष्य की स्थायी प्रेरणा बनाता है। काव्य का यह गुण विशेषतः उसके माध्यम का गुण है। भाषा के सार्थक और स्थायी माध्यम को प्राप्त करके कविता संस्कृति की रचनात्मक और विकासशील परम्पराओं का संवहन करती है। दर्शन के अन्तर्भाव का गर्भ धारण कर कविता नव-नव सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रसव करती रही है। इस प्रकार जहां अन्य कलाओं का सौन्दर्य वन्ध्याओं के यौवन का निष्फल विलास है, वहां कविता का सौन्दर्य जगज्जननी का प्रसवशील सौभाग्य है। इसीलिए भारतीय संस्कृति की परम्परा में 'वाणी' सरस्वती का पर्याय ही नहीं उसका प्रमुख रूप है। वीणा और मयूर में चित्र, संगीत, नृत्य आदि का संकेत होते हुए भी कविता ही सरस्वती का प्रधान रूप है। वेद उस कविता का पूर्णतम और श्रेष्ठतम रूप है। उसमें चित्रकला की रूपात्मकता, संगीत की लय, नृत्य की गति, विज्ञान के तत्त्व और दर्शन के रहस्यों का समाहार है। मानवीय चेतना और संस्कृति में 'वाणी' का इतना व्यापक महत्त्व होने के कारण ही शब्द दर्शन में शब्द और ब्रह्म की एकात्मकता प्रतिपादित की गई है। 'ब्रह्म' सत्य के सम्पूर्ण, व्यापक, शाश्वत और वर्धन-शील रूप की भाषा-गत संज्ञा है। 'ब्रह्म' चिन्मय और आनन्दमय है। शब्दरूप ब्रह्म कविता में साकार होकर लोक मानस की स्मृति और चेतना के संस्कारों में अवतीर्ण होता है। चेतना के इन्हीं संस्कारों की परम्परा मानवीय संस्कृति के विकास का इतिहास है।

अस्तु, काव्य का स्वरूप उभयथा रचनात्मक है। कविता की कलात्मक अभिव्यक्ति कल्पना की रचनात्मक क्रिया का फल है। इसके अतिरिक्त कविता के स्थायी माध्यम में जीवन के सांस्कृतिक विकास की प्रेरणा है। दूसरी कोटि का सृजनात्मक तत्त्व ही उत्तम कविता की विभूति है। वस्तुतः कविता कला और दर्शन की अपूर्व संगति है। कला के उत्तम रूप की रचना इसी संगति से होती है। संसार के श्रेष्ठ काव्य इस सत्य को प्रमाणित करते हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास तुलसीदास, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद आदि की कृतियां तथा विदेशों के होमर, वर्जिल, दान्ते, शेक्सपियर, मिल्टन, गेटे आदि की रचनायें इसी कोटि के अन्तर्गत हैं। इन महाकवियों की कृतियां केवल अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से ही लोक के मानस को आह्लादित नहीं करती रही हैं वरन् इसके साथ-साथ सांस्कृतिक विकास की मंगलमयी प्रेरणा से भी लोक जीवन को अनुप्राणित करती रही हैं। कविता में इसी सृजनात्मक परम्परा की प्रतिष्ठा होने के कारण वेदों में परमेश्वर को और उपनिषदों में ब्रह्म

को कवि की संज्ञा प्रदान की गई है। 'अर्थ' इस सांस्कृतिक परम्परा का बीज है। यह अर्थ ही शिव है। संस्कृति मुख्यतः श्रेय की ही परम्परा है। कविता की सार्थक कला में श्रेय का सन्निधान है। सौन्दर्य अभिव्यक्ति का रूप और कला का स्वरूप है। श्रेय उसका तत्व है। यह श्रेय ही शिवम् है। यह शिवम् कविता की अर्थ सम्पत्ति है। रघुवंश के मंगलाचरण में भी पदों की यथाक्रम संगति के अनुसार 'पार्वती' वाक् है और परमेश्वर शिव 'अर्थ' हैं। शिव और शक्ति के समान वाक् और अर्थ अभिन्न हैं। शक्ति वाणी का स्वरूप और कला की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है। इसीलिए तन्त्रों में शक्ति की 'सुन्दरी' संज्ञा है। शिव सांस्कृतिक परम्परा के मंगल का तत्व है। यही कविता का अर्थ और आकृति है। इसी अर्थ के गर्भ से अन्तर्वर्ती शक्ति श्रेयमयी संस्कृति के अभिनव सुन्दर रूपों का प्रसव करती है। कविता इसी सृजनात्मकता का ('शिव सुन्दरी' का) साकार रूप है। जिस प्रकार गंगा को ब्रह्मद्रव मानते हैं, उसी प्रकार कविता की परम्परा सांस्कृतिक परम्परा के श्रेयोमय सौन्दर्य की प्रवाहिनी है।

कविता का यह स्वरूप प्रबन्ध काव्य में पूर्णता को प्राप्त होता है। गीत और मुक्तक काव्यों में अर्थ के मुक्तक बिन्दु होने हुए भी संगति के सूत्र का सन्निधान कठिन है। सूरदास और रवीन्द्रनाथ की भाँति एक व्यवस्थित सांस्कृतिक पीठिका में निर्मित होने वाले गीतों में ही यह सूत्र मिल सकता है, अन्यथा प्रायः गीत और मुक्तक रचनाओं में संगीत और चित्रकला की कृतियों की सी विशृंखलता रहती है। इस विशृंखलता के कारण वे किसी स्थायी सांस्कृतिक परम्परा के वाहन नहीं बन सकते। इनकी सृजनात्मकता प्रायः चित्रकला और संगीत की भाँति अभिव्यक्ति के कृतित्व में ही समाप्त हो जाती है। इसीलिए गीत और मुक्तक रचनाओं में अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की ही प्रधानता रहती है। हिन्दी के रीतिकाल की मुक्तक रचनाओं के रूप से यह स्पष्ट है। रवीन्द्रनाथ के गीतों में भी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अधिक स्फुट है। आधुनिक हिन्दी के गीति काव्य में भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का ही विकास अधिक हुआ है। रीतिकाव्य और रवीन्द्रनाथ दोनों का ही प्रभाव इसका कारण था। आधुनिक प्रयोगवादी काव्य में भी मुक्तकों की प्रधानता है। अभिव्यक्ति के रूपों और उपकरणों में परम्परा का बहिष्कार करते हुए भी आधुनिक प्रयोगवादी काव्यों में अभिव्यक्ति की भंगिमायें ही एक सतर्क कौशल के साथ निखर रही हैं। अभि-

व्यक्ति के कौशल मे काव्य का यह आधुनिक रूप आधुनिक चित्रकला से स्पर्धा करता है।

उभयथा सृजनात्मक होने के कारण कविता कला का सर्वोत्तम रूप है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य मे सास्कृतिक निर्माण के तत्वो का समन्वय कला को सुन्दरम् के साथ शिवम् भी बनाता है। यह शिवम् काव्यकला का अर्थतत्व है। सत्य के एक व्यापक अर्थ मे 'शिवम्' सत्य की परिणति है। सत्य के अन्य अनेक रूप कविता के आधार और उपादान हैं। जीवन की मगल साधना मे विश्व का कोई तत्व उपेक्षणीय नही है, अत कविता मे सत्य के सभी रूपो का समाहार है। केवल सत्य को लेकर विज्ञानो और शास्त्रो का निर्माण होता है। सुन्दरम् में अन्वित होकर 'सत्य' कल्पना का रूप ग्रहण करता है। केवल रूप की अभिव्यक्ति तक सीमित रहने पर कला सुन्दरम् की ही आराधना है। **सांस्कृतिक निर्माण की प्रेरणा ग्रहण कर वह सत्य के पूर्ण और व्यापक रूप का आधान करती है।** शिवम् इस सत्य की परिणति है। उसमे अन्वित होकर सत्य के अन्य रूप मंगलमयी सस्कृति के उपादान बनते हैं। सत्य काव्य का उपादान है। शिवम् उसका अर्थ और उद्देश्य है। सुन्दरम् कला का सामान्य स्वरूप है।

काव्य सार्थक और सुन्दर कला का उत्तम रूप है। **'अर्थ' सस्कृत भाषा का एक अत्यन्त अर्थ-सम्पन्न पद है।** विषय, वस्तु, अभिप्राय, प्रयोजन आदि अनेक अर्थो मे इसका प्रयोग होता है। ये सभी प्रयोग 'अर्थ' पद की सम्पन्नता को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार अर्थ मे सत्य के सभी रूपो का समाहार हो जाता है। समस्त विषय-जात, समस्त घटनायें आदि जो तथ्य के अन्तर्गत हैं और समस्त प्राकृतिक नियम जो सिद्धान्त के अन्तर्गत हैं, वे सभी इसमे अन्तर्भूत हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सास्कृतिक सिद्धान्त जो 'मूल्य' के अन्तर्गत हैं वे भी जीवन के सास्कृतिक लक्ष्य की दृष्टि से 'अर्थ' की परिधि मे समाहित हैं। इस प्रकार प्राकृतिक सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य एव सिद्धान्त तथा नैतिक, बौद्धिक आदि सास्कृतिक मूल्य सभी काव्य के विधायक तत्व हैं। सास्कृतिक मूल्यो मे जाकर काव्य के उपादान और स्वरूप एक हो जाते हैं। **काव्य के पूर्ण और परिपक्व स्वरूप में इस एकात्मकता की उसी प्रकार पूर्ण परिणति होती है जिस प्रकार वृक्ष के विकास में फल के उदय में प्रकृति के रस और तत्व की सफल और सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।** काव्य के उत्तम रूप मे अर्थतत्व और रस एक हो जाते हैं। इसमे बुद्धि और अनुभव,

विवेक और आनन्द का भी समन्वय हो जाता है। इसी समन्वय मे रस के आनन्द स्वरूप का स्फोट होता है। सिद्धान्तत 'रस' आनन्द स्वरूप बन जाता है। तात्विक सत्य अनुभव के तथ्य मे साकार होता है। ये अर्थ और रस भारतीय संस्कृति के दो मूल सिद्धान्त है। भारतीय संस्कृति की अर्थ-प्राणता और रस-प्रवणता इसका प्रमाण है। संस्कृति के इस रूप मे बुद्धि की जिज्ञासा और हृदय की भावना दोनो का समाधान होता है। इस समाधान मे एकात्म होकर समन्वित अर्थ और रस आनन्द की सृष्टि करते हैं। सत्य के विविध रूपो का ग्रहण कर समात्मभाव के शिवम् मे उनका अन्वय इस सांस्कृतिक विधान का मार्ग है। इस समात्मभाव का स्वरूप शिवम् और रूप सुन्दरम् है। आत्मदान और अभिव्यक्ति के रूप में विविक्त होकर भी नदी के दो किनारो की भांति ये एक ही रस-प्रवाह के कूल है। जहां कला के अन्य रूप इस रस के उत्स है, वहां काव्य, और विशेषत प्रबन्ध काव्य, इसके प्रवाह की स्थायी परम्परा है।

काव्य मे गृहीत अर्थ अथवा तत्व को हम 'सत्य' कह सकते हैं। अपने विशेष और विविक्त रूप मे सत्य ज्ञान का विषय है। अर्थ के अभिधेय रूप तो स्पष्टत ज्ञान के विषय माने जा सकते हैं। व्यजना द्वारा लक्षित आकृति और भाव को अभिहित सत्य के समान निश्चयात्मक अर्थ मे ज्ञान का विषय नही कहा जा सकता। भाव ही काव्य और कला में रस का स्रोत है। आत्मिक होने के कारण अभिधेय सत्य के समान भाव का निश्चित परिच्छेद सभव नही है। व्यजना के अलक्ष्य और अनिश्चित विस्तार के द्वारा काव्य मे भाव का आधार और सम्प्रेषण होता है। यह भाव जीवन और काव्य में प्राप्त सत्य का सर्वोत्तम रूप है। यह मनुष्य की पारस्परिक चेतना का एक ऐसा अतिशय है जो अनायास ही काव्य और कला मे रूप के अतिशय को प्रेरित करता है और सौन्दर्य मे साकार होता है। कवियो और कलाकारो के अन्तर में उदित होने वाली भाव की विभूति ही उनके कठिन कर्म को सहज बनाती है। काव्य का तत्व होने की दृष्टि से इस 'भाव' को 'सत्य' कहा जा सकता है, किन्तु पारस्परिक सम्बन्ध मे उदित होने के कारण यही भाव शिव का बीज भी है। लोक के श्रेय और मगल के विविध रूप इसी बीज से विकसित होने वाले वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि हैं। जीवन और काव्य दोनो मे ही भाव का यह अतिशय सौन्दर्य में साकार होता है। संस्कृति की परम्परा इसी बीज से फलित होने वाला कल्पवृक्ष है। भाव के इस व्यापक प्रतिफलन को देखकर उसे अत्यन्त व्यापक रूप मे

'सत्य' कहा जा सकता है, अन्यथा इस भाव के अन्तर्गत शिव का भी अध्याहार और सुन्दरम् का भी समाहार हो जाता है।

अत काव्य का तत्व होते हुए भी भाव को सीमित एव विविक्त अर्थ मे केवल सत्य मानना उचित नहीं है, फिर भी तत्व होने की दृष्टि से भाव मे सत्य का मर्म अवश्य निहित रहता है। **'भाव' को प्राय 'अर्थ' कहा जा सकता है।** वहाँ अर्थ से अभिप्राय वाक्य के तात्पर्य से है। व्यापक अर्थ मे भाव को भी तात्पर्य कह सकते हैं। किन्तु सामान्यत तात्पर्य को निश्चित ज्ञान और अभिधान का विषय समझा जाता है। भाव पूर्णत अभिधेय नहीं है, अत अभिधेय अर्थ अथवा तात्पर्य से उसका भेद करना उचित है। अर्थ के अभिधेय रूप सीमित और विविक्त अर्थ मे 'सत्य' कहे जा सकते हैं। सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य तथा नैतिक, बौद्धिक, दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्त सत्य के इस रूप के प्रमुख उपभेद हैं। ऊपर इनका उल्लेख किया गया है। **काव्य के साथ सत्य के इन रूपो का अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस घनिष्ठता का कारण शब्द का सार्थक माध्यम है।** सगीत, नृत्य, चित्रकला आदि की भांति जो कलायें शुद्ध रूपात्मक हैं अथवा जिनमे रूप की प्रधानता है, उनमे सत्य के अर्थ तत्व का आधान आवश्यक नहीं है अथवा आवश्यक होने पर वह गौण रहता है। अधिक लोकप्रिय न होते हुए भी इन कलाओ के शुद्ध रूप, जिनमे तत्व का कोई अवलब आवश्यक नहीं है, प्रचलित रहते हैं। अन्य कलाओ के रूपो की अपेक्षा दृश्य-रूप अधिक सुग्राह्य होता है। अत चित्रकला की अल्पनाओ तथा स्थापत्य की निर्मितियो मे दृश्य रूप का महत्व सभ्यता मे प्रचलित रहा है। सगीत और नृत्य मे अर्थ का अवलब अधिक लिया जाता है। चित्रकला भी अधिकाश अर्थ पर अवलबित है। फिर भी इन कलाओ मे रूप की ही प्रधानता रहती है। भाषा के सार्थक माध्यम मे साकार होने के कारण काव्य मे रूप और तत्व दोनो की प्रधानता रहती है। **रूप और तत्व दोनो का साम्य उत्तम काव्य का निर्माण करता है। काव्य में तत्व की इतनी प्रमुखता होती है कि काव्य की आलोचनाओ में प्रायः तत्व का विवेचन अधिक मिलता है।** आलोचना का यह दृष्टिकोण एकागी है, फिर भी शब्द के सार्थक माध्यम के कारण अर्थ-तत्व का ग्रहण काव्य मे स्वाभाविक और आवश्यक है। अन्य भाषाओ मे तो 'अर्थ' का अभिप्राय भाषागत वाक्य के तात्पर्य से ही होता है। किन्तु सस्कृत भाषा मे ज्ञान के विषय और वाक्य के तात्पर्य दोनो को 'अर्थ' कहते हैं। पहले अर्थ मे 'अर्थ' का ग्रहण अन्य कलाओ मे भी होता है। शब्द के

माध्यम मे साकार होने वाली कलाओ म दूसरे अर्थ मे भी 'अर्थ' का ग्रहण किया जाता है। सगीत म इस अर्थ का अवलव अल्प हो रहता है। काव्य मे इस अर्थ की प्रमुखता रहती है। सत्य के जिन विविध रूपो का ऊपर उल्लेख किया गया है, उन सभी रूपो मे अर्थ का प्राधान काव्य मे होता है। अर्थ का दूसरा रूप बहुत कुछ उसके पहले रूप का ही विस्तार है। विषयो के सक्रिय सबन्ध ही भाषा की अभिव्यक्ति मे तात्पर्य के वाचक अर्थ बन जाते हैं। इन सबन्धो के अतिरिक्त जीवन और समाज के अन्य बौद्धिक सिद्धान्त भी भाषा मे अभिव्यक्ति पाते हैं। सत्य अथवा अर्थ तत्व के ये सभी प्रकार शास्त्र तथा काव्य दोनो के विषय बनते हैं। विज्ञानो और शास्त्रो का प्रयोजन मुख्यत तत्व से होता है, इनमे रूप का महत्व नहीं। अर्थ तत्व के साथ रूप की महिमा का सामजस्य होने पर उत्तम काव्य की सृष्टि होती है।

यह अर्थ-तत्व भाषा का सहज धर्म है और यह सत्य के उन विविध रूपो में काव्य का उपकरण बनता है जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। सत्य के इन रूपो मे प्राकृतिक सत्य सबसे अधिक व्यापक है। यह सत्य के अन्य सामाजिक, ऐतिहासिक, सास्कृतिक आदि रूपो मे भी अनुस्यूत रहता है। 'प्राकृतिक सत्य' जीवन का सामान्य आधार है। अत प्रकृति के विषय और उसकी वृत्तियाँ जीवन के सभी रूपो का सामान्य अवलव एव उपकरण रहती हैं। प्रकृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है। भौतिक सत्ता के सभी रूपो को 'प्रकृति' कह सकते हैं। मनुष्य के शरीर और मन की वृत्तियो मे वह व्याप्त है। यह व्यापक प्रकृति काव्य और कला का एक प्रकार से अनिवार्य उपकरण है। इसको छोडकर काव्य और कला की रचना करना अकल्पनीय है। धर्म और अध्यात्म के सास्कृतिक काव्यो म भी इसका अवलव रहता है। धर्म और अध्यात्म के तत्वो की अभिव्यक्ति भी प्राकृतिक उपकरणो एव सम्बन्धो के द्वारा की जाती हैं। किन्तु जीवन, सस्कृति और कला के सभी रूपो मे प्रकृति का 'केवल' प्राकृतिक रहना आवश्यक नही है। प्रकृति का अनुरोध अत्यन्त प्रबल होता है। किन्तु सस्कृति और अध्यात्म के साथ उसका कोई आवश्यक विरोध भी नही है। अनिवार्यता, इकाई, स्वार्थ आदि प्रकृति के ऐसे लक्षण हैं जो सस्कृति और अध्यात्म के उदार भावो के विपरीत हो सकते हैं। किन्तु इन भावो के साथ प्रकृति के इन लक्षणो का सामजस्य भी सभव हैं। काव्य मे प्राकृतिक सत्य का ग्रहण मौलिक और सस्कृत दोनो ही रूपो मे होता है। मानव-

प्रकृति के विकारों को छोड़कर अधिकांश विषय और वन्य प्रकृति एक प्रकार से उदासीन है। अत कला और संस्कृति में उसका आधान सरल है। वन और आकाश की प्रकृति तो कवियों और कलाकारों को सदा से आकर्षित करती रही है। वाल्मीकि और कालिदास के काव्यों में वन और पर्वत की यह प्रकृति भारतीय संस्कृति की सुन्दर पृष्ठभूमि बन गई है। दृश्य प्रकृति में दृश्य रूप का सहज सौन्दर्य होने के कारण कला के सौन्दर्य में उसका सामंजस्य सरलता से सम्भव है। चित्र-कला दृश्य रूप की कला है। अत उसमे प्रकृति के किसी रूप के यथार्थ चित्रण में भी प्रकृति का सहज रूप एक अतिशय बनकर स्फुटित होता है और उसका तद्रूप चित्रण मात्र रूप का अतिशय बनकर चित्रकला में सौन्दर्य की व्यंजना करता है। किन्तु काव्य का रूप दृश्य न होने के कारण प्रकृति के वर्णन प्राय अभिधान बन जाते है। प्रकृति के दृश्य रूप के सौन्दर्य को स्मृति में उद्भावित करके वे पाठक की चेतना में सौन्दर्य की विवृति करते हैं। वस्तुत पाठक की चेतना में सौन्दर्य की विवृति ही प्रकृति का सुन्दरतर काव्य है। यह प्रकृति के अभिधान की अपेक्षा स्पष्टत अधिक सुन्दर होता है क्योंकि इसमे अभिधान की अपेक्षा रूप का अतिशय अधिक होता है। **लक्षणा और व्यंजना के योग से अथवा भावों के संयोग से प्रकृति के ये रूप प्रकृति के काव्य को स्वरूपत सुन्दर बनाते हैं।** छायावादी कवि पंत के काव्य में प्रकृति का यह स्वरूपगत सौन्दर्य अवलोकनीय है। अधिकांश काव्य मे भावों के संयोग से ही प्रकृति वर्णन सुन्दर और आकर्षक बने हैं। प्रकृति के वर्णन मे भाव और व्यंजना का योग रूप के अतिशय की रचना कर प्रकृति के काव्य को स्वरूपत सुन्दर बना देता है। मनुष्य के स्वभाव के अर्थ में भी प्रकृति का काव्य के साथ ऐसा ही संबन्ध है जैसा कि दृश्य प्रकृति का है। स्वाभाविक वृत्तियों और क्रियाओं का अभिधान भी भाव और रूप के अतिशय के संयोग से ही सुन्दर बनता है। दृश्य प्रकृति के साधारण तथा उग्र रूपों को काव्य में कम स्थान मिला है, क्योंकि उनका सुन्दर बनाना कठिन है। चित्रकला में भी प्रकृति के भीषण दृश्य और भयंकर जीवों के अंकन कम मिलते हैं। कलाकारों की सुकुमार वृत्ति का माधुर्य की ओर अधिक झुकाव रहता है। भारतीय काव्य में मनुष्य की भीषण प्रकृति का चित्रण भी कम मिलता है। स्वभाव से शान्ति-प्रिय और मंगलकामी होने के कारण प्रकृति के भीषण रूपों की ओर भारतीयों का ध्यान कम रहा। जहा तक शान्ति और मंगल को सुरक्षित बनाने के लिए भी यह आवश्यक था, वहाँ तक

भी भारतीय कवियों और विचारकों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। एक ओर यह शान्ति-निष्ठा का सूचक है। किन्तु दूसरी ओर इसे इनका प्रमाद भी कहा जा सकता है। शेक्सपीयर के दु:खान्त नाटकों में मनुष्य की प्रकृति के ये भीषण रूप अपनी पूर्ण गंभीरता में प्रकट हुए हैं।

मनुष्य के स्वभाव के रूप में प्रकृति मनोविज्ञान का विषय बन जाती है। 'मन' मनुष्य के जीवन का सचालक है। भारतीय दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही मन को तथा उसकी प्रक्रियाओं को प्राकृतिक मानते हैं। प्राकृतिक होने का अर्थ यह है कि ये प्रक्रियायें कुछ अनिवार्य नियमों के अनुसार सचालित होती हैं। इनमें मनुष्य के सकल्प की स्वतन्त्रता नहीं रहती। सामान्य होने के कारण मन की वृत्तियों से सभी परिचित रहते हैं। कुछ प्रिय और रुचिकर वृत्तियों के वर्णन काव्य में सहज ही आकर्षक बन जाते हैं। इसका कारण प्रायः इन वृत्तियों की प्रियता ही है। कलात्मक रूप का सौन्दर्य इन वृत्तियों के काव्य में रहता भी है तो भी उस रूप-सौन्दर्य की ओर हमारा ध्यान कम जाता है। भारतीय काव्य में शृंगार की विपुलता का कारण उसका सौन्दर्य नहीं वरन् उसकी प्रियता ही है। वीर और करुण के वर्णन इतने विपुल नहीं हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में भी उनकी मनोवैज्ञानिक प्रियता का सूत्र खोजना होगा, क्योंकि उनका आकर्षण और प्रभाव भी मनोवृत्ति के रूप में अधिक ही है। सर्वथा अप्रिय होने के कारण काव्य-शास्त्र में स्वीकृत होते हुए भी वीभत्स, भयानक, रौद्र आदि को काव्य में बहुत कम स्थान मिला। ये केवल उदाहरण रूप में ही मिलते हैं। प्रकृति के भीषण रूपों की भाँति अप्रिय मनोवृत्तियाँ भी जीवन का एक कठोर सत्य हैं। काव्य में उनकी उपेक्षा जीवन के एक महत्वपूर्ण अंग की उपेक्षा है। ये वृत्तियाँ श्रेय और सौन्दर्य की घातक हैं। इस दृष्टि से इनकी उपेक्षा और भी उचित नहीं है। इनके सम्वर्धन के लिए नहीं किन्तु इनके शमन के लिए ही इनकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। जीवन के श्रेय और काव्य के सौन्दर्य के साथ इन वृत्तियों का सामंजस्य किस प्रकार सम्भव हो सकता है, यह संस्कृति और कला का एक कठिन प्रश्न है। किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में ही सस्कृति और कला की अन्तिम सफलता भी है। इस प्रश्न के उत्तर की एक दिशा यह है कि सत्य के सभी रूपों की भाँति इनमें भी रूप के अतिशय के योग से सौन्दर्य की अभिव्यक्ति हो सकती है। अनर्थों के उन्मूलन और मांगलिक भावों के सवर्धन के साथ इन अप्रिय वृत्तियों का अन्वय होने पर श्रेय के साथ भी इनका सामंजस्य सम्भव हो सकता है।

सत्य के ऐतिहासिक और सामाजिक रूप उसके प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप के आधार पर ही निर्मित होते हैं। इतना अवश्य है कि ये पूर्णत प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक नही होते। इतिहास मनुष्य जीवन के अतीत का लेखा है। प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक वृत्तियो से बहुत कुछ प्रेरित होते हुए भी मनुष्य जाति के अतीत मे स्वार्थ को अतिक्रान्त करने वाले नैतिक, धार्मिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक व्यवहारो के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। इतिवृत्त के रूप मे सभी प्रकार की अतीत घटनाये अभिधेय हैं। कला की दृष्टि से काव्य के साथ ऐतिहासिक तत्व के सम्बन्ध का विचार इसी दिशा मे करना होगा। इतिहास का अभिधेय तत्व किस प्रकार काव्य के कलात्मक सौन्दर्य मे अन्वित हो सकता है? स्मृति और समात्मभाव के अवलम्ब से इतिहास के वर्णन मात्र मे एक रूप का अतिशय उत्पन्न हो जाता है यद्यपि यह रूप का अतिशय उस वर्णन का स्वरूपगत गुण नही है। नैतिक आदर्शों के रूप मे सास्कृतिक भावो के समन्वय के द्वारा ही वृत्त प्राय काव्य मे उपकरण बने हैं। 'रामचरितमानस' 'कामायनी' आदि काव्यो मे इसका उदाहरण मिलता है। सामाजिक सत्य इतिहास और वर्तमान दोनो ही रूपो म मिल सकता है। साथ ही इनमे प्राकृतिक और सास्कृतिक दोनो ही प्रकार की वृत्तियो की प्ररणा मिल सकती है। मनुष्य का जीवन इतने मौलिक रूप मे सामाजिक है कि प्राकृतिक, ऐतिहासिक आदि सभी घटनाओ मे कुछ सामाजिक सश्लेष रहता है। किन्तु प्रकृति की व्यक्तिमत्ता का अनुरोध इतना प्रबल है कि अधिकाश ऐतिहासिक वर्णनो और काव्यो के केन्द्र व्यक्ति ही बने रहे हैं। इन व्यक्ति-केन्द्रित कथानको से सामाजिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। किसी सीमा तक ये निष्कर्ष व्यग्य होने के कारण काव्य के सौन्दर्य को बढाते हैं किन्तु कुछ प्रगतिवादी काव्य को छोडकर व्यापक और स्फुट रूप में समाज को काव्य का विषय कदाचित ही बनाया गया है। 'पार्वती' महाकाव्य इस प्रसग मे भारतीय काव्य मे एक अपवाद सा है। इसके पूर्वार्द्ध म शिव-पार्वती के प्रतीक सामाजिक जीवन के आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित हुए हैं, किन्तु उत्तरार्द्ध मे समाज को एक स्फुट रूप मे काव्य का विषय बनाया गया है, जिसका उदाहरण भारतीय काव्य मे दुर्लभ है। स्वर्गीय डा० रागेय राघव का 'मेधावी' महाकाव्य सामाजिक समस्याओ को एक व्यापक और सश्लिष्ट रूप मे समाहित करता है। किन्तु विश्व-इतिहास की एक सक्षिप्त रूपरेखा होने के कारण स्फुट और सजीव रूप मे समाज उसका विषय नही

बन सका है। बौद्धिक और नैतिक सत्य सामान्य सिद्धान्तो के रूप मे होते हैं। उनमे तत्व की प्रधानता होती है। अत कलात्मक सौन्दर्य के साथ उनकी सगति कठिन है। इसी कारण काव्य के तत्व के रूप मे ग्रहीत बौद्धिक सत्य अभिधान के दीन सौन्दर्य मे ही सीमित रह जाते हैं। नैतिक तत्व कुछ अपने मागलिक भाव तत्व के कारण प्रभावशाली बन जाते हैं। किन्तु उनमे भी सौन्दर्य की समृद्धि बहुत कम दिखाई देती है। नीति के दोहो की भाँति अधिकाश नैतिक काव्य सौन्दर्य मे दीन और उपदेश मे ही प्रचुर रहता है। सास्कृतिक सत्य नि सन्देह जीवन के सत्य का ऐसा परिपूर्ण रूप है कि उसमे एक ओर सत्य के विविध रूपो का समाहार होता है तथा दूसरी ओर तत्वरूप मे ही भाव के अतिशय के कारण उसमे सौन्दर्य का सहज स्फोट होता है। इसी दृष्टि से सस्कृति स्वरूपत कलात्मक है। उसमें भाव-तत्व और सौन्दर्य दोनो का समन्वय होता है। भाव रूप मे यह सस्कृति अधिकाश भारतीय काव्य का विषय बनी है। किन्तु जीवन की परम्परा मे सस्कृति का एक दूसरा रूप मिलता है, जो समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। आश्चर्य की बात है कि सस्कृति का यह दूसरा रूप कवियो को बहुत कम आकर्षित कर सका है। कुछ ऐतिहासिक काव्यो म सस्कृति की कुछ ऐतिहासिक परम्पराये अवश्य मिलती हैं। किन्तु भारतीय सस्कृति की सनातन और जीवन्त परम्पराओ को कदाचित् ही किसी कवि ने अपनी रचना का विषय बनाया हो। लोकगीतो मे यह लोक-सस्कृति अवश्य मुखरित हुई है किन्तु अभिजात काव्य मे इसके प्रसग अपवाद रूप मे भी दुर्लभ हैं।

अध्याय २५

काव्य में प्राकृतिक सत्य

सत्य के अनेक रूपो मे सबसे सरल और साधारण रूप प्राकृतिक है। प्रकृति और जीवन का भौतिक परिवेश इसके अन्तर्गत है। तथ्य और सिद्धान्त दोनो ही रूपो मे यह प्राकृतिक सत्य काव्य का उपादान बनता है। **प्रकृति विश्व और जीवन की एक नियमित व्यवस्था है।** अनिवार्यता उसकी विशेषता है। प्रक्रिया के रूप मे होने के कारण वह 'कृति' कहलाती है। प्रकृति की प्रक्रिया और व्यवस्था अत्यन्त परिपूर्ण एव प्रकर्षपूर्ण है। यह पूर्णता और प्रकर्ष प्रकृति (प्र+कृति) के नाम को सार्थक बनाता है। इस प्रक्रिया मे कोई हस्तक्षेप नही कर सकता। प्रकृति अपने अन्तर्गत नियमो से परिचालित है। इन नियमो की सामान्यता और अनिवार्यता पर ही समाज और सभ्यता की व्यवस्था आश्रित है। इन नियमो के अनिश्चित होने पर समस्त व्यवस्था ही विशृखल हो जायगी और जीवन का व्यवहार कठिन होगा। **एक ओर जहाँ प्रकृति की यह अनिवार्यता मनुष्य की स्वतन्त्रता की सीमा है वहाँ दूसरी ओर वह जीवन की व्यवस्था का मूल आधार होने के नाते एक अमूल्य वरदान है।** ह्यूम के समान कुछ सन्देहवादी दार्शनिको ने प्रकृति के सिद्धान्तो की सामान्यता को तर्क के द्वारा असिद्ध करने का प्रयत्न किया है। ह्यूम के तर्क सूक्ष्म और अखण्डनीय है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्यता हमारे जीवन की आत्मगत आकाक्षा मात्र नही है। प्रकृति की प्रनियाय भी उसका पूर्णत अनुशीलन करती हुई दिखाई पडती हैं। प्रकृति के नियमो की पूर्ण सामान्यता चाहे तर्क के द्वारा असाध्य हो, किन्तु हमारा समस्त व्यापार और विज्ञान उसी के आधार पर चल रहा है। सामान्यता बुद्धि का लक्षण है, और दूसरी ओर प्रकृति के तथ्य व्यक्तिगत इकाइयों के रूप मे ही प्रकट होते हैं। इसीलिए जहा एक ओर प्रकृति के नियमो की सार्वभौमता को तर्क के द्वारा सिद्ध करना कठिन है वहाँ दूसरी ओर इस सार्वभौमता के खण्डन मे भी बुद्धि के स्वरूप की सामान्यता प्रमाणित होती है। मनुष्य की बुद्धि सीमित है। उसका समस्त ज्ञान व्यक्तिगत तथ्यो का ज्ञान है। वह असीम सत्यो को नही जान सकता। सार्वभौम नियमो को सिद्ध नही किया जा सकता। ये सब

बुद्धि के सामान्य निर्वचन हैं। अत वेदान्त की आत्मा के समान बुद्धि के स्वरूप की सामान्यता तर्क के द्वारा सामान्यता के खण्डन में भी परिव्याप्त है। अत प्रकृति के विशेष तथ्यो के स्थान पर बुद्धि के व्यापारो मे ही सामान्यता को ढूंढना उचित है। जर्मन दार्शनिक काट ने इसी महत्वपूर्ण तत्व को अपनी दार्शनिक साधना का लक्ष्य बनाया। हीगल ने प्रकृति और बुद्धि के व्यापारो की एकात्मकता प्रतिपादित करके एक ऐसे अध्यात्म दर्शन की नीव डाली जो शताब्दियो तक योरोपीय दर्शन की प्रेरणा बना रहा है। सत्य यह है कि हीगल का आध्यात्मवाद ही ह्यूम के सन्देहवाद का एक मात्र उत्तर है।

यह स्पष्ट है कि बुद्धि के स्वरूप की सामान्यता के कारण प्रकृति के नियमो की सामान्यता का खण्डन भी उतना ही कठिन है जितना कि उसका प्रतिपादन है। चाहे प्रकृति के नियमो की पूर्ण सामान्यता दु साध्य अथवा असाध्य हो किन्तु बहुत कुछ सीमा तक व्यवहार और विज्ञान मे यह सामान्यता पूर्ण कल्प ही है। तथ्य रूप मे इन सिद्धान्तो की व्यापकता जहाँ तक अखडित है वहाँ तक तो उसे अस्वीकार नही किया जा सकता। सत्य यह है कि प्रकृति के तथ्यो और घटनाओ की समानता और आवृत्ति के मूल मे प्राकृतिक प्रक्रियाओ की सार्वभौमता का सिद्धान्त ही अन्तर्निहित प्रतीत होता है। जिस प्रकार प्रकृति का अस्तित्व सार्वभौम है उसी प्रकार उसकी प्रक्रियायें भी सामान्य हैं। सार्वभौमता सत्य का सामान्य स्वरूप है। सभवत हीगल के अध्यात्मवाद का यह बीज दर्शन का चिरन्तन तत्व है। ज्ञान और व्यवहार की सभावना तथा उच्च धरातलो के सास्कृतिक और आध्यात्मिक अनुभव इसकी सत्यता की ओर सकेत करते हैं। नियम से परिचालित होने के कारण प्रकृति को प्राय स्वतन्त्र नहीं मानते। स्वतन्त्रता का सम्बन्ध हमारे व्यवहार मे स्वच्छन्दता अथवा अनियमितता मे हो गया है। नीति-शास्त्र इसे मनुष्य का विशेषाधिकार मानता है, किन्तु वस्तुत ऐसी स्वतत्रता मनुष्य के जीवन मे भी कितनी कम है इसे आधुनिक मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान प्रमाणित कर रहे हैं। परिवेश और सरकारो के नियन्त्रण की तुलना मे यह स्वतन्त्रता बहुत सीमित है। वस्तुत- स्वतन्त्रता का अर्थ आत्मतत्रता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसकी प्रक्रिया का तत्र अपने अस्तित्व के स्वरूप में ही निहित है तथा अन्य किसी बाहरी सत्ता से जो जितना कम प्रभावित है वह उतना ही अधिक स्वतत्र है। इस दृष्टि से प्रकृति मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र है। मनुष्य के द्वारा प्रकृति का नियन्त्रण, उपयोग और

शासन भी प्रकृति के नियमो के ही अनुकूल है, किन्तु मनुष्य के ऊपर प्रकृति का प्रभाव और प्रतिबन्ध भी प्रकृति के ही अनुसार है। सत्य यह है कि भौतिक सत्ता की प्रक्रियाओ का विधान और तन्त्र उसके स्वरूप मे ही अन्तर्निहित हैं। अत वह सर्वत्र स्वाधीन है। प्रकृति एक होने के कारण सार्वभौम और सामान्य भी है। **स्वच्छन्दता और अ-नियमितता के अर्थ में जिसे स्वतन्त्रता कहा जाता है वह चेतना का लक्षण है।** भौतिक सत्ता अपनी प्रक्रिया मे जितनी नियमित है उतनी ही चेतना अनियमित है। चेतना के विधानो, स्वप्नो और आकांक्षाओ की कोई सीमा नही है। वस्तुत स्वतन्त्रता के ये दो क्षेत्र हैं जिनमे सकर होने पर ही विचार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। प्राकृतिक व्यापारो मे चेतना का नियन्त्रण चाहने पर ही मनुष्य जीवन की पराधीनता प्रकट होती है।

अस्तु, प्रकृति एक स्व-तन्त्र किन्तु नियमित सत्ता है। सांख्य दर्शन मे प्रकृति का यही रूप प्रतिपादित हुआ है। ***चेतना एक स्वतन्त्र किन्तु अनियमित सत्ता है।*** **नियंत्रण के अभाव के कारण ही चेतना को स्वतन्त्रता की अनुभूति में आनन्द मिलता है।** जब यह चेतना आत्मगत उपादानो से कोई सृष्टि करती है तब उसकी क्रिया ब्रह्म के विश्व-सृजन की भाँति अथवा बालक के लीलास्वर्ग की भांति पूर्णत स्वतन्त्र होती है। चेतना की यह स्वच्छन्द सृजनात्मक वृत्ति ही कला और काव्य मे कल्पना कहलाती है। किन्तु यह कला, काव्य और कल्पना का वह रूप है जिसे क्रोचे ने सौन्दर्य-शास्त्र मे प्रचलित और प्रतिष्ठित किया है। कला और कल्पना का यह रूप आत्मिक और आन्तरिक अनुभूति से एकाकार है। क्रोचे इस अनुभूति को अभिव्यक्ति से अभिन्न मानते हैं, किन्तु यह अभिव्यक्ति भी कल्पना के रूपो मे चेतना के रूप की अभिव्यक्ति ही है। यह कला और कल्पना की उस बाह्य अभिव्यक्ति से बिल्कुल भिन्न है, जिसे कला और काव्य के इतिहास में 'कृतियो' के नाम से पुकारा जाता है। सामान्यत हम यही मानते हैं कि कला की आन्तरिक अभिव्यक्ति ही कृतियो मे साकार होती है। किन्तु क्रोचे के अनुसार बाह्य कृतियाँ एक उपचार मात्र हैं। आन्तरिक कल्पना और अभिव्यक्ति मे ही कला का स्वरूप और उसकी प्रक्रिया पूर्ण हो जाती हैं।

ऐसी स्थिति में एक मुख्य विचारणीय प्रश्न यह है कि बाह्य और भौतिक सत्ता का, जिसे हम प्रकृति कहते है, कला और काव्य में क्या स्थान है? कला के सुन्दरम् से प्राकृतिक तथ्य और सिद्धान्तो के 'सत्य' का क्या सबन्ध है? प्रकृति

वाह्य और स्वतन्त्र है। यद्यपि इस सम्बन्ध मे अध्यात्मवादियो के कुछ तर्क अखण्डनीय है, फिर भी दर्शन और सामान्य व्यवहार दोनो मे ही वाह्य सत्ता की उपेक्षा सभव नही है। अध्यात्मवाद की उलझनो का एकमात्र समाधान हीगल का आत्मवाद है, जिसके अनुसार वाह्य प्रकृति चेतना की ही अभिव्यक्ति है। अन्तिम समन्वय की दृष्टि से अध्यात्मवाद का यह रूप महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि इसकी अपनी कठिनाइया है। **इसमें भी प्राकृतिक सत्ता का बाह्य 'रूप' तो मान्य है ही चाहे वह चेतना की ही अभिव्यक्ति हो।** बौद्ध विज्ञानवाद के सम्बन्ध मे शकराचार्य ने बाह्य सत्ता और उसके सामान्य रूप का तर्क उठाया है। बौद्ध दर्शन ने वासना और सस्कार के द्वारा इसके समाधान का जो प्रयत्न किया गया है, वह सन्तोपजनक नही है। बौद्ध समाधान समस्या के मूल का उत्तर नही है, यह केवल प्रश्न को कुछ कदम पीछे और हटा देता है। **वस्तुत विषयो की बाह्य स्थिति का अनुभव और उनके रूप की सामान्यता प्रकृति की बाह्य और स्वतन्त्र सत्ता का साक्षात् प्रमाण है।**

इस सम्बन्ध मे उन यथार्थवादियो का मत, जो बाह्य जगत के रूप को प्राकृतिक उपादानो के आधार पर मन की विधायक कल्पना का निर्माण मानते हैं, अधिक समीचीन प्रतीत होता है। साख्य के द्वैत मे समानान्तरवाद की कुछ कठिनाइया हो सकती है, किन्तु मनुष्य के जीवन और व्यक्तित्व के रूप मे प्रकृति और चेतना दोनो का सयोग स्पष्ट है। जैन दर्शन मे एक कैवल्य ज्ञान की स्थिति मानी जाती है, जिसमे 'आत्मा' इन्द्रियो आदि के माध्यम के बिना स्वतन्त्र रूप से अखिल विश्व का ज्ञान प्राप्त कर सकती है। किन्तु कैवल्य एक दुर्लभ और असाधारण स्थिति है। सामान्यत हमे चेतना के अधिष्ठान मे इन्द्रिय आदि के माध्यम के द्वारा ही ज्ञान होता है। न्याय दर्शन का आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय का चतुर्विध सन्निकर्ष व्यवहार मे प्राय सभी वैदिक दर्शनो को मान्य है। इस सिद्धान्त का मूल साख्य के सर्ग क्रम मे है। उपनिषदो मे भी इसका सकेत है। 'पराचि खानि' के प्रसिद्ध मन्त्र के अनुसार इन्द्रियो की गति स्वभाव से ही बहिर्मुखी है। प्रकृति के तत्वो से निर्मित होने के कारण इन्द्रिया प्रकृति के विषयो को ग्रहण करने मे समर्थ हैं। **मन के सूक्ष्म माध्यम से किस प्रकार यह बाह्य ज्ञान आत्मा की सचेतन विभूति बन जाता है, यह दर्शन और विज्ञान दोनो का एक गूढ प्रश्न है।** सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ चाहे कितनी ही गूढ और जटिल हो किन्तु हमारे अस्तित्व,

व्यक्तित्व और व्यवहार का यही एक सामान्य सत्य है कि जीवन मे प्राकृतिक शरीर मे ही आत्मा का अनुभव और प्रकृति का ज्ञान दोनो सभव होते हैं। **मनुष्य-जीवन चेतना और प्रकृति के अदभुत सयोग की रहस्यमय परिधि है।**

क्रोचे और उनके अनुयायी सृजनात्मक कल्पना के जिस आत्मगत रूप को कला का स्वरूप और स्रोत मानते हैं, वह दर्शन और व्यवहार की इस सामान्य भूमिका की उपेक्षा करता है। **क्रोचे की कला का रूप सविकल्प समाधि के समान है। उसमें जीवन, व्यवहार और सस्कृति का समुचित समाधान नहीं है।** बालको, ग्रामीणो और कलाकारो की कलात्मक कल्पना के जो उदाहरण क्रोचे से प्रभावित सौन्दर्य शास्त्र मे दिये जाते हैं वे मनुष्य की व्यावहारिक चेतना के मौलिक और प्रारम्भिक रूप नही हैं। बालक और ग्रामीण दोनों मे कला का अविर्भाव होने के पूर्व उनके अनुभव का रूप वाह्य सत्ता के ऐन्द्रिक ग्रहण से निर्मित होता है। इस ऐन्द्रिक ग्रहण मे विषयो के रूप-विधान मे जो कल्पना काम करती है वह सृजनात्मक नही विधानात्मक हैं, व्यक्तिगत नही सामान्य है तथा स्वतन्त्र नही प्राकृतिक मर्यादाओ से सीमित है। **बाह्य सत्ता की उपेक्षा के रूप में कल्पना मनुष्य और सस्कृति की आदिम वृत्ति नही जैसा कि क्रोचे के मत का अभिप्राय है। इससे भी पूर्वतर वृत्ति बाह्य विषय की ऐन्द्रिक सम्वेदना है।** इतना अवश्य है कि चेतना के अन्तर्मुखीकरण द्वारा कल्पना के शुद्ध और आत्मगत रूप में स्थित होना समाधि के समान ही सभव है। मानसिक प्रत्ययो के रूप मे विषयो के प्रतिविम्ब इस आन्तरिक कल्पना के उपादान बन सकते हैं। **इस स्थिति की दो विशेषतायें हैं**—एक तो समाधि की भाति यह स्थिति कल्पना काल मे ही सभव हो सकती है, दूसरी यह कि इस अन्तर्मुखी और तन्मय स्थिति की व्यवहार के साथ सगति नही है। तर्क और सिद्धान्त की दृष्टि से मानसिक प्रत्यय वाह्य अनुभव के प्रतिबिम्ब हैं फिर भी यह माना जा सकता है कि कल्पना काल मे वे पूर्णत आत्मगत और स्वतन्त्र हैं। इन मानसिक प्रत्ययों के यथाकाम सयोग से कल्पना स्वतन्त्रता पूर्वक नवीन रूपो की रचना भी कर सकती है। इस दृष्टि से कलात्मक कल्पना एक पूर्णत आत्मगत और स्वतन्त्र क्रिया है।

किन्तु कला के इस रूप को कादाचित्की समाधि की भांति जीवन और व्यवहार से सगति कठिन है। इसीलिए क्रोचे के कला मत म कृतियो को उपचार मानते हैं। कला के इस रूप मे सत्य का कुछ अश होते हुए भी जीवन और व्यवहार से असगति

का दोष है। वेदान्त के तादात्म्य मे इस सगति का एक सफल रूप मिलता है। उसमें मुक्ति जीवन की एक सहज और नित्य स्थिति बन जाती है तथा व्यवहार की सभी अवस्थाओ से उसकी सगति है। वेदान्त के अध्यात्म और व्यवहार की सगति शब्द-दर्शन की परा से लेकर वैखरी तक की सगति के ही समान हैं। वैखरी और व्यवहार मे अर्थरूप से विषयो का भी ग्रहण हैं। वस्तुत आन्तरिक चेतना और बाह्य सत्ता की सगति का बीज हमारे जीवन और व्यक्तित्व की रचना में ही निहित है। इस सगति और समन्वय म ही अध्यात्म और कला का समग्र रूप है। तादात्म्य के सामाजिक अध्यात्म मे व्यक्त होने वाली कलात्मक अनुभूति स्वभाव से ही व्यवहार और बाह्य सत्ता के साथ सगत है। अध्यात्म और कला का यह रूप क्रोचे के कलामत के विपरीत है। यह कला का वह अबोध शैशव नहीं है और न प्रामीणता का वह आदिम रूप है जिसे विज्ञान और दर्शन की प्रौढता खण्डित कर देती है। यह कला की वह अन्तिम परिणति है जो विज्ञान के प्राकृतिक तथ्यों और सिद्धान्तो तथा दार्शनिक तत्वो का समाहार करके एक प्रौढ और परिपक्व रूप में स्फुटित होती है। यह रूप कला का वह सागर है जो प्राकृतिक यथार्थ की वायु और तरगों के उच्छेद से विद्रूप होने के स्थान पर उन्हीं से अपना वास्तविक रूप प्राप्त करता है तथा व्यवहार के नौकावहन से विकृत होने के स्थान पर उसी से सफल होता है। कला का यह रूप क्रोचे की कला का सुकुमार पुष्प नहीं है, जो यथार्थ की रविरश्मियो और व्यवहार की वायु से अल्पकाल में ही विशीर्ण हो जाता है। यह कला का वह परिपक्व फल है जो सत्य, शिव और सुन्दरम् की एकत्र अभिव्यक्ति को साकार बनाकर सत्य का समाहार और व्यवहार का पोषण करता है तथा साथ ही सास्कृतिक परम्पराओ की प्रगति की सम्भावनाओ को भी रसमय बीजों के समान सुरक्षित रखता है। भारतीय जीवन और सस्कृति की पवमयी परम्पराओ मे कल्पना और व्यवहार, सत्य और सुन्दर तथा कला और जीवन का अपूर्व सामजस्य मिलता है। वस्तुत किसी अर्थ मे जीवन और कला के लोक भिन्न होते हुए भी सास्कृतिक सफलता का लक्षण उनकी अन्तिम एकता ही है। भारतीय भक्ति और सस्कृति की परम्परायें इस लक्ष्य के बहुत निकट पहुँच सकी हैं।

अस्तु, कला मानवीय चेतना का कोई अल्प और आगन्तुक उपचार मात्र नहीं है वरन् वह चेतना की अभिव्यक्ति और चिन्मय जीवन की एक श्रेष्ठ और सम्पूर्ण विधि है। इसमें जीवन के समस्त पार्थिव उपादान एक अपूर्व सौन्दर्य की प्रभा से

आलोकित होकर आनन्द के अक्षय स्वरूप की सृष्टि करते हैं। कला का वास्तविक उद्देश्य सौन्दर्य और आनन्द के इस स्वर्ग को जीवन में स्थायी बनाना है। कला न जीवन में अपवाद है और न वह केवल उसका अलंकार है। कलात्मक कल्पना केवल कुछ व्यक्तियों का विशेष गुण नहीं है। क्रोचे भी यह मानते हैं कि वह मनुष्य मात्र की सामान्य गति है। अन्तर केवल इतना ही है क्रोचे उसे एक आदिम वृत्ति मानते हैं और भारतीय परम्परा में वह आदिम होने के साथ-साथ अन्तिम भी है। एक ओर वह इतनी सुकुमार भी है कि विज्ञान और दर्शन से खण्डित हो जाती है, दूसरी ओर वह इतनी दृढ़ है कि विज्ञान और दर्शन के सत्य का अपने स्वरूप में समाहार करके जीवन की स्थायी विधि और संस्कृति की शाश्वत किन्तु प्रगतिशील परम्परा के रूप में फलित होती है। भारतीय जीवन, धर्म और संस्कृति में कला का यह दूसरा रूप बड़ी व्यापकता और सरलता के साथ प्रतिष्ठित हुआ है। राजनीतिक आक्रमणों के कारण जीवन में कला की यह प्रतिष्ठा दृढ़ होकर भी डाँवाडोल रही, यह भारतीय संस्कृति की पूर्णता का नहीं वरन् अन्य संस्कृतियों की अपूर्णता का दोष है।

कला के स्वरूप का जीवन में समन्वय भारतीय संस्कृति का सामान्य लक्षण है। सामाजिक जीवन में किसी भी आदर्श अथवा सिद्धान्त का पूर्णतः प्रतिष्ठित होना कठिन ही है, फिर भी भारतीय जीवन और संस्कृति में कला की उदारता, स्वतन्त्रता और एकात्मता का सामंजस्य बहुत कुछ सफल हुआ है। नागरिक सभ्यता के विकास और विदेशी आक्रमणों की कठिनाइयों के कारण यह सफलता अपूर्ण ही रही, इसमें सन्देह नहीं। कई कारणों से भारतीय संस्कृति के इस कलाधर में कलंक लग गये। इनमें दो मुख्य कलंक शूद्रों और स्त्रियों का स्थान है। स्मृतिकाल के बाद भारतीय परम्परा में स्त्री और शूद्र दोनों का स्थान बहुत हीन होगया। शास्त्रकारों ने दोनों के लिए अनेक कठोर बन्धन लगा दिये। दोनों को वेद विद्या के अधिकार से वंचित कर दिया। सेवा ही दोनों का मुख्य कर्म बन गया। समाज और स्वामी की सेवा दोनों का मुख्य धर्म बनी। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के बन्धन उनकी स्वतन्त्रता की सीमा बने। बढ़ते-बढ़ते इन बन्धनों का नियन्त्रण निर्यातन की सीमा तक पहुँच गया। बिना अपराध के किसी भी प्राणी का निर्यातन संस्कृति के समात्मभाव का खण्डन करता है। भारतीय समाज में इस निर्यातन के पीछे कुछ ऐतिहासिक, राजनीतिक और नागरिक कारण थे। स्त्रियों के बन्धन को कठोर बनाने

मे विदेशी आक्रमणो और विशेषकर मुसलमानी अत्याचारो का बहुत हाथ था। शूद्रो के निर्यातन के पीछे नागरिक सुविधाओ का आग्रह था। स्वतत्रता का दभ करने वाला आधुनिक समाज प्राचीनो की सकीर्णता की कठोर आलोचना करता है। इसमे सन्देह नही कि आधुनिक समाज मे कुछ अर्थो मे स्त्री और शूद्रो को अधिक स्वतत्रता मिली है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि स्वतत्रता का अभिमानी यह आधुनिक समाज उस प्राचीन दोष से पूर्णत मुक्त है। वस्तुत इन प्राचीन दोषो का मूल पुरुष का अतिचारी स्वभाव और नागरिकता की सुविधाओ का आग्रह है। वैधानिक दृष्टि से स्त्रियो को पूर्ण स्वतत्रता मिल चुकी है किन्तु पुरुष के अतिचार के सम्मुख उनके जीवन का सौन्दर्य, सौख्य और गौरव आज भी उतना ही सकटापन्न है जितना कि प्राचीन सकुचित समाज मे था। सभ्यता के चकाचौंध मे भ्रमित होकर नारी स्वय निर्यातन के अनेक रूपो का आखेट बन रही है। स्वतन्त्र समाज में वह स्वतत्रता पूर्वक निर्यातित हो रही है।

सभ्य और स्वतन्त्र कहलाने वाले समाज मे वर्ण-भेद भारतीय वर्ण-भेद से भी अधिक उग्र रूप मे फैला हुआ है। इस आधुनिक वर्ण-भेद का नाम श्वेत साम्राज्यवाद है। न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया की जगली जातियाँ इसी वर्ण-भेद की शिकार बनकर नष्ट हो गई। अमेरिका और अफ्रीका के हब्शी एक अत्यन्त भयकर रूप मे इस आधुनिक वर्ण भेद के मारकवाद के शिकार बन रहे हैं। प्राचीन भारतीय शूद्रो के जीवन मे एक सेवा का ही अभिशाप था किन्तु इन आधुनिक सभ्य समाज के शूद्रो के अभिशापो की सीमा नही है। इसके अतिरिक्त इस आधुनिक वर्ण-भेद मे मनुष्यता का लेश मात्र भी शेष नही रह गया है। अफ्रीका मे श्वेत शासको का क्रूर ताडव और नृशस नरमेध अमानुषिकता की समस्त भारतीय सीमाओ का अतिक्रमण कर गया है। उसकी तुलना केवल अटीला, चगेजखाँ, तैमूर, नादिरशाह आदि के अत्याचारी अभियानो से की जा सकती है। हब्शियो के अतिरिक्त पूर्व-एशिया की अन्य जातियो के प्रति भी पश्चिमी श्वेत सभ्यता की वैसी ही अमानुषिक भावना है। शात महासागर को बम-विस्फोट के परीक्षणो का क्षेत्र बनाना श्वेत सभ्य समाज की एशिया की जातियो के प्रति अनर्गल अमानुषिकता का उग्रतम प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त श्वेत समाज की अन्य राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियाँ इसी अमानुषिकता की अग हैं।

वैज्ञानिक और औद्योगिक सभ्यता के विकास क्रम मे आधुनिक वर्ण-भेद की यह अमानुपिकता और भी गभीर तथा व्यापक बन गई है। नगरो, कारखानो, खानो आदि मे श्रम के अनेक ऐसे रूप हैं, जो दलित तथा सकटपूर्ण हैं। कोई शिक्षित और स्वतत्र मनुष्य इन श्रमो को स्वेच्छापूर्वक अपनाना नही चाहेगा। आर्थिक व्यवस्था की विवशता ही ऐसे श्रमो मे मनुष्य का बन्धन है। इस प्रकार देखने से यही विदित होता है कि आधुनिक सभ्य समाज मे अनेक रूपो मे हीन कर्म करने वालो का तथा सवर्ण जातियो का निर्यातन अनेक व्यापक रूपो मे और अधिक गम्भीरता के साथ हो रहा है। वर्णभेद और निर्यातन का यह रूप भारतीय वर्ण भेद की अपेक्षा कही अधिक उग्र है। उसमे मनुष्यता का लेश भी नही है। राजनीति के क्षेत्र मे यह वर्ण-भेद स्पष्ट और उग्ररूप मे अमानुपिक है। उद्योग और व्यापार के क्षेत्र मे यह अमानुपिकता अधिक सूक्ष्म और दुर्ग्राह्य है। राजनीति के क्षेत्र मे जहां खुलेआम अफ्रीका वासियो का वध हो रहा है तथा एक के बाद एक विनाशक बम परीक्षण प्रशान्त महासागर मे हो रहे हैं, वहा दूसरी और वैज्ञानिक उद्योगो का श्रम अलक्ष्य रूप से मनुष्य के जीवन का रस सोख रहा है। भारतीय वर्ण-भेद जहा कई दृष्टियो से दोषपूर्ण था वहा उसके पक्ष मे यही कहना उचित है कि उसके निर्यातन की सीमा बहुत छोटी थी और उस छोटी सीमा के बाहर सामाजिक व्यवहारमे मनुष्यता की भावना बहुत कुछ अशो मे बनी हुई थी। शास्त्रकारो की सकीर्णता और नागरिक सुविधाओ की विवशता भी भारतीय सस्कृति की मौलिक मानुपिकता को नष्ट नही कर सकी। आधुनिक महायुद्धो और महर्घताओं की परिस्थितियो के पूर्व जिन्होने ग्रामीणो तथा नगर के मध्यवर्ग का शूद्रो के प्रति भावपूर्ण मानुपिक सम्बन्ध देखा होगा, वे समझ सकते हैं कि सेवा और अस्पृश्यता की कटोर सीमाये भी भारतीय मानुपिकता को नष्ट न कर सकी। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से उच्च वर्गो के सम्बन्ध मे भी ह्रास हुआ है। एक उक्त विसम्वादी स्वर को छोडकर भारतीय सस्कृति के सगीत में मौलिक मनुष्यता का कलात्मक सामजस्य पर्याप्त रूप में वर्तमान है। इसी मौलिक मानुपिकता के कारण समाज और राजनीति में अनेक आन्तरिक विषमतायें रहते हुए भी भारतीय सस्कृति इस्लामी और ईसाई सस्कृतियो की भाँति विदेशो में साम्राज्यवाद और आतकवाद की प्रेरणा न बन सकी।

अस्तु, भारतीय सस्कृति में कला के जिस रूप का अन्वय हुआ है वह व्यक्तिगत नहीं वरन् सामाजिक है। सामाजिक समात्मभाव इस कला के सौन्दर्य

और आनन्द का मूल स्रोत है। समात्मभाव व्यक्तिगत अनुभूति की अहंकारमयी सीमाओं का सामाजिक सहभाव के अनन्त क्षितिजों में विस्तार कर देता है। अनुभूति के इसी विस्तार को वेदान्त के तत्वशास्त्र में 'ब्रह्म' का नाम मिला। उपनिषदों में यह ब्रह्म रस-स्वरूप और आनन्दमय है। अनुभूति का तादात्म्यपूर्वक विस्तार ही रस और आनन्द का मूल मन्त्र है। वेदान्त के जीवन्मुक्तिवाद के अनुसार विश्व की सत्ता और जीवन के व्यवहार से कोई विरोध नहीं है वरन् इसके साथ सामंजस्य आध्यात्मिक साधना की पूर्णता का लक्षण है। यही सामंजस्य गीता का योग और समत्व है। इस योग और समत्व में रस और आनन्द की पूर्णता में जगत के सत्य और लोक के व्यवहार का सुन्दर और मंगलमय सामंजस्य होता है। भारतीय दृष्टिकोण से कला का यही स्वरूप है और इसी स्वरूप में मनुष्य की कलात्मक वृत्ति की कृतार्थता है। भारतीय जीवन और संस्कृति में कला के इसी स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है। अन्य देशों में भी कला के इस स्वरूप का अभाव नहीं है। अधिकांश प्राचीन साहित्य कला के इसी लक्षण के अनुरूप है, यद्यपि यह सत्य है कि अन्य देशों के जीवन और संस्कृति में इतने सम्यक् रूप में इसका समन्वय न हो सका, जितना कि भारतवर्ष में हुआ।

कला के इस स्वरूप में जगत के सत्य और जीवन के व्यवहार का समन्वय होने के कारण कला के चिन्मय स्वरूप तथा उस स्वरूप को स्थायी बनाने वाली कृतियों के बीच जो अन्तर क्रोचे के कला सिद्धान्त ने खड़ा कर दिया था वह मिट जाता है। सत्य और व्यवहार के भेद-मूलक उपादानों के उपकरणों में मूर्त होकर ही अभेदात्मक कलानुभूति साकार होती है। यद्यपि कलाकार और पाठक दोनों के मन में मानसिक प्रत्ययों के चिन्मय रूप में ही कला के विधायक रूप रहते हैं, फिर भी वे व्यक्तिगत अनुभूति में ही केन्द्रित नहीं हैं। सामाजिक समात्मभाव और बाह्य उपादानों से उसका घनिष्ठ संबन्ध है। अधिकांश प्राचीन कला-कृतियों का रूप इस सत्य को प्रमाणित करता है। चित्रों के अंकन और काव्यों के वर्णन कला की भावना से अनुप्राणित जीवन और जगत के प्रतिबिम्ब से जान पड़ते हैं। कला केवल अनुकृति नहीं हैं, वह कृति भी हैं। कला के रूप सत्य के प्रतिबिम्बों के उपादानों से निर्मित अभिनव सृष्टियाँ भी हैं। जीवन और जगत से ग्रहण कर कला नवीन स्वरों और वर्णों में इनको ढाल देती है। यही कला का सृजनात्मक रूप है। चेतना की आत्मतन्त्र क्रिया के रूप में कला का यह सृजन स्वतन्त्र अवश्य है, किन्तु निराधार होने के अर्थ में यह स्वच्छन्द नहीं है। इसीलिये कला में जहाँ

एक ओर चेतना के स्वतन्त्र व्यापार का गौरव है वहाँ दूसरी ओर यथार्थ और सत्य का महत्त्व भी कम नहीं है। यद्यपि काव्य और कला का उद्देश्य प्राकृतिक तथ्यों का यथावत् चित्रण नहीं है फिर भी ये तथ्य ही काव्य और कला के उपादान हैं। दर्शनों में प्राकृतिक व्यवस्था को इतना महत्त्व दिया गया है कि मुक्त मनुष्य को भी उसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं दिया गया है। मुक्त मनुष्य सब प्रकार से भगवान अथवा ब्रह्म के समान हो जाता हैं, किन्तु उसको जगत के व्यापारों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं मिलता। वेदान्त सूत्रों का 'जगद्व्यापारवर्ज्यम्' सूत्र इस तथ्य का प्रमाण है। सृष्टि की व्यवस्था का अधिकार केवल ईश्वर को है और उस ईश्वर को भी इस सम्बन्ध में कितनी स्वतन्त्रता है यह 'यथापूर्वमकल्पयत्' के समान सृष्टि के मर्यादावचनों से स्पष्ट है। मुक्त मनुष्य तो क्या ईश्वर भी पूर्व सृष्टियों के अनुरूप ही नवीन सृष्टि करता है। कलाकार की भाँति ईश्वर की विश्व कल्पना भी निराधार नहीं है। कल्पना शून्य में नहीं होती। अस्तित्व के अनुरूप उपकरण उसकी अभिव्यक्ति के आधार हैं। सत्य के इसी महत्त्व के कारण काव्य के वर्णन और कला के चित्रण में यथातथ्यता एक गुण मानी जाती है। कवि और कलाकार की स्वतन्त्रता यहीं तक सीमित है कि वह प्राकृतिक तथ्यों में से जिनको चाहे चुन सकता है और जो उसकी व्यवस्था में उपयोगी न हो उनको छोड़ सकता है। किन्तु प्राकृतिक तथ्यों में परिवर्त्तन अनधिकार चेष्टा है। प्रकृति एक वस्तुगत व्यवस्था है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। कवि भावों का विधाता है, किन्तु उसे प्राकृतिक व्यवस्था को अन्यथा करने का अधिकार नहीं। वह अपने भाव-लोक और व्यवहार-जगत दोनों में प्राकृतिक तथ्यों के आधार पर तथा उनके अनुकूल नवीन व्यवस्थाओं की सृष्टि कर सकता है। यही कला और संस्कृति की रचनात्मक क्रिया हैं।

प्राकृतिक व्यवस्था की अक्षुण्णता का महत्त्व इसीलिए है कि उसमें किसी भी प्रकार का विक्षेप होने पर लोक-व्यवहार तो कठिन हो ही जायेगा, साथ ही कला के सामाजिक भाव का भी कोई उचित आधार न रहेगा। अनुभूति के तादात्म्य के साथ साथ कल्पना के रूपों का साम्य भी कला का आधार है। अनुभूति और रूपों की समानता के आधार पर ही चेतना के तादात्म्य में कला के सौन्दर्य और रस का उदय होता है। अतः प्राकृतिक सत्य और यथार्थ का समन्वय और सम्वाद कलाकृतियों की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण है। कल्पना और आदर्श की प्रधानता

होते हुए भी यथार्थ का सवाद कला का गुण है। यथार्थ की अनुरूपता कल्पना की सृजनात्मकता की बाधक होने के विपरीत उसकी कलात्मक क्रिया को निर्बाध और सामजस्य-पूर्ण बनाती है। कल्पना मे यथार्थ की प्रतिष्ठा सत्य के मर्म को उद्घाटित करती है और उसका भाव-सृष्टि मे अन्वय मुकर बनाती है। जगत् के रूपो मे भी व्यवस्था के आकार के अतिरिक्त एक अलक्ष्य अन्तर्भाव रहता है। कला इस व्यवस्था के अन्तर मे प्रवेश करके इस अन्तर्भाव का उद्घाटन करती है। जीवन के रूपो मे जो चिन्मय भाव का मर्म है वह और भी स्पष्ट होता है। कवि और कलाकार की कल्पना इसी भाव का मर्ममय अनुभावन है। वस्तुत क्रोचे के अनुयायी जिसे व्यक्तिगत कल्पना मानते हैं उसका वास्तविक स्वरूप जीवन के रूपो का यही अनुभावन है। इस अनुभावन की सफलता कला और काव्य की सफलता का एक बड़ा रहस्य है।

यथार्थ के इसी महत्त्व के कारण कला और काव्य में निरीक्षण का महत्व है। वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर आदि के समान जिन कवियो और कलाकारो का निरीक्षण जितना व्यापक, सूक्ष्म और सही है उतना ही उनकी कृतियो को सत्य का बल मिला है। यह सत्य का बल इन रचनाओ की शक्ति और इनकी प्रभावशीलता का रहस्य है। जहाँ कहीं भी जिन कृतियो मे इस यथार्थ के अकन मे दोष अथवा असगति पाई जाती है, वहाँ कलाकार की यह भूल कला के सामजस्य का व्याघात करती है। प्राकृतिक सत्य को आत्मसात करके ही कल्पना नवीन भाव-लोको की सृष्टि करती है। कल्पना की सृष्टि और अतिरंजना दोनो ही सत्य के अनुकूल और इससे सगत होती हैं। अधिक असगत होने पर कला की सृष्टि सौन्दर्य और आनन्द के स्थान पर हास्य और विस्मय का कारण बन जाती है। इसी कारण महान कलाकारो की कृतियाँ प्राकृतिक सत्य की अत्यन्त यथार्थ स्थापनाओ से परिपूर्ण हैं। महाभारत इस सत्य का महासागर है और वाल्मीकि, कालिदास आदि की कृतियाँ इसके दिव्य प्रवाह हैं। 'प्रिय प्रवास', 'हल्दीघाटी' आदि के समान जिन रचनाओ मे यथार्थ का उल्लघन हुआ है वे सौन्दर्य की साधक होने के स्थान पर उपहास का आस्पद बन गई हैं। प्रिय-प्रवास' के व्रज वर्णन मे किसी बड़े बीज-विक्रेता के सूची पत्र के समान भारत मे उत्पन्न होने वाले सभी वृक्षो की सूची देखकर पाठक को प्रकृति वर्णन की एक हास्यमयी विडम्बना का अनुभव होता है। इसी प्रकार 'हल्दीघाटी' मे केसर की क्यारियो की कल्पना 'हल्दीघाटी' के शौर्य और ओज को ही हीन नहीं

बनाती वरन् एक असत्य की स्थापना करके कल्पना को मिथ्या और कृति को प्रवाह हीन बनाती है।

कवि नरेन्द्र के—

सिर पर रख मक्का की रोटी

कर म ले मट्ठे की मटकी।'

के समान काव्य मे बिखरी हुई यथार्थ के साथ असगति रचना के उद्देश्य को असफल बनाती है। यथार्थ को आत्मसात् करके ही कलात्मक कल्पना सौन्दर्य के प्रभावशाली भावलोक का सृजन कर सकती है।

सत्य के साथ कल्पना का सामजस्य स्थापित करके यथार्थ कला के सौन्दर्य को एक सगति प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यथार्थ का सम्बल कला को एक वास्तविकता का बल भी देता है। यथार्थ की उपेक्षा करके कला कल्पना जीवी बन जाती है और पलायन की ओर अभिमुख होती है। यह पलायन कलाकार की दुर्बलता, समाज की अवनति और कला के ह्रास का सूचक है। रीति काव्य के युग म अलकार और चमत्कार के रूप मे प्रकृति के यथार्थ मे कल्पना का आरोपण होता रहा। उपमाओ उत्प्रेक्षाओ आदि अलकारो के अम्बार मे प्रकृति की वास्तविकता लुप्त हो गई। छायावादी युग मे अलकारो क स्थान पर कल्पित भावना का आरोपण रहा और इस प्रकार छायावाद का प्रकृति काव्य रीति काव्य से भी अधिक पलायन का साधन बना। **प्रकृति रमणीय अवश्य है किन्तु उसकी रमणीयता में जीवन और समाज का विस्मरण पलायन ही है।** क्रोचे के मत म कदाचित् प्रकृति के सौन्दर्य मे तन्मय हो जाना कला का एक उत्तम रूप है, किन्तु भारतीय सस्कृति और कला दोनो मे ही प्रकृति जीवन की रगस्थली है। हमारे सभी उत्सव और पर्वो म प्रकृति के पीठ पर आनन्द की सजीव और सक्रिय प्रतिष्ठा है। प्रकृति के रमणीय वातावरण म सामाजिक सहभाव और सहकार ही मानवीय जीवन की आनन्दमय कृतार्थता का राजमार्ग है। प्रकृति के मृदुल और रमणीय पक्षो से ही मानवीय सस्कृति और कला का सबन्ध पर्याप्त नही है वरन् सम्बन्ध को यथार्थ और सबल बनाने के लिये प्रकृति के महान् और उदात्त पक्षो तक मानवीय रुचि का विस्तार भी अपेक्षित है। अधिकाश काव्य मे प्रकृति के सुकुमार और मृदुल पक्षो का ही ग्रहण मिलता है। जयशकर प्रसाद की कामायनी के आरम्भ मे प्रलय के चित्र तथा अत की ओर शिवताण्डव के दृश्य के समान प्रकृति के उदात्त रूपो का

अंकन हिन्दी काव्य में बहुत कम मिलता है। छायावादी और अधिकांश आधुनिक गीत कवियों की प्रकृति का रूप उनकी भावनाओं के समान ही कोमल है। संस्कृत कवियों में विशेषतः कालिदास में भारतवर्ष की महान् और उदात्त प्रकृति का विशेष वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि कालिदास के स्वाभाविक माधुर्य ने हिमालय और सागर की प्रकृति को भी मधुर बना दिया, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि भारतवर्ष की प्रकृति के दो उदात्त विषयों का उन्होंने ग्रहण किया है। क्रोचे से प्रभावित आधुनिक सौन्दर्य-शास्त्र उदात्त और सुन्दर में कोई मौलिक अन्तर नहीं मानता। भेद के कारण भयानक होने पर जिसे 'उदात्त' कहा जाता है, आत्मीयता का भाव उदित होने पर वही 'सुन्दर' बन जाता है। अधिकांश काव्य में प्रकृति के मानवीयकरण का यही मर्म है। भारतीय संस्कृति में उत्तराखंड की यात्राओं के द्वारा हिमालय की तथा पुरी, द्वारका और रामेश्वरम् की यात्राओं के द्वारा समुद्र की उदात्त प्रकृति को सुन्दर बनाने का कलात्मक रसायन ही धार्मिक परम्परा बन गया है।

प्रकृति दृश्य रूपों से सम्पन्न है। ऐन्द्रिक होने के कारण ये रूप व्यक्तिगत इकाइयों के रूप में ही दिखाई देते हैं। गतिशील प्रकृति के परिवर्तनों में अन्तर्निहित सामान्य नियम बुद्धि के विषय हैं। बुद्धि का कला और काव्य की भावना के साथ समन्वय कठिन है। दूसरे चित्रकला में, जो रूपांकन की कलाओं में प्रमुख है, प्रकृति के दृश्यों की इकाइयों का भी अंकन किया जा सकता है। इन सब कारणों से काव्य में भी प्रकृति के तथ्यों का वर्णन अधिक मिलता है। उनके अन्तर्गत सामान्य नियमों का संकेत कम है। नियमों के निर्देशन के लिये प्रकृति के साथ अधिक व्यापक, दीर्घ और घनिष्ठ परिचय अपेक्षित है। तथ्यों के चित्रण के लिए भी सूक्ष्म निरीक्षण आवश्यक है। सूक्ष्मता के बिना प्रकृति के चित्रण में यथार्थता सम्भव नहीं है। किन्तु नियमों की अवतारणा में इस सूक्ष्मता में व्यापकता, गम्भीरता और घनिष्ठता का सहयोग आवश्यक है। सुगम होने के कारण काव्य में दृश्यों का चित्रण ही अधिक मिलता है। किन्तु इन तथ्यों के गर्भ में नियमों का अन्तर्भाव होने पर प्रकृति के चित्रण से जीवन की एक गतिशील संगति बन जाती है। यह संगति काव्य को अधिक सजीव बना देती है। दृश्यों के चित्रण की सूक्ष्मता में कवि के निरीक्षण और कौशल का ही परिचय मिलता है। किन्तु प्रकृति के नियमों के जीवन के साथ समन्वय में प्रकृति और जीवन दोनों के साथ कवि का घनिष्ठ और

सजीव सम्बन्ध विदित होता है। कालिदास ने 'सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी' तथा 'दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला' मे दूर से वस्तुओ के कृश दिखाई देने का वर्णन किया है। इसी प्रकार अग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी 'टिन्टर्न ऐबी नामक कविता मे एक निर्झर का वर्णन किया है जो दूर से स्थिर दिखाई पड़ता है (फ्रोज़िन बाइ डिस्टेन्स)। कालिदास ने राम की विमान-यात्रा और दुष्यन्त के इन्द्र-लोक से प्रत्यागमन के प्रसग मे प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। प्रकृति के अयथार्थ चित्रण तो कुछ अकुशल कवियो मे अपवाद के रूप मे ही मिलते हैं। किन्तु प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के उदाहरण काव्य मे विपुलता से उपलब्ध हैं। इन चित्रणो का सौन्दर्य प्रकृति के अवलोकन के ही समान है। किन्तु जहा प्रकृति के गतिशील नियमो का चित्रण मनुष्य जीवन की भूमिका में है वहा प्रकृति और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रकृति और काव्य को अधिक सजीव तथा सुन्दर बना देता है। प्रकृति के दृश्य सुन्दर होते हैं, साथ ही वे मनुष्य के जीवन के निबन्धन नही बनते। इसीलिये वे अधिक रुचिकर हैं। किन्तु प्रकृति के नियम जीवन के निबन्धन हैं। इन नियमो के निबन्धन ने मनुष्य को पीडित भी किया है। साथ ही मनुष्य के जीवन की स्थिति, उसकी स्वस्थता और समृद्धि एक बडी सीमा तक इन नियमो पर ही निर्भर है। चाहे प्रकृति स्वरूप से उदासीन और निरपेक्ष है, किन्तु जीवन और सभ्यता में उसका सहयोग असदिग्ध है। एक पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का नियम जीवो की स्थिति के साथ साथ विश्व के सौन्दर्य मे सन्तुलन का सूत्र भी है। प्रकृति के अन्य नियम ऋतुओ के क्रम आदि जीवन की स्वस्थता और समृद्धि के सहयोगी हैं। प्रकृति के निबन्धन को निर्यातन मानने के कारण फ्रान्सीसी दार्शनिक कौम्ते के जैसे प्रकृति विरोधी विचार प्रेरित हुए हैं। इसी कारण सस्कृति और काव्य मे भी इन नियमो के महत्व की मान्यता कम हैं। किन्तु सत्य यह है कि इन नियमो पर ही जीवन की स्थिति है। इन नियमो का जीवन के साथ उचित समन्वय ही एक भावात्मक और समृद्ध सस्कृति की भूमिका है। इन नियमो की गतिशील प्रक्रियाओ की भूमिका मे जीवन का निरूपण काव्य को भी एक सजीव और समृद्ध रूप दे सकता है।

प्राचीन भारतीय सस्कृति मे जीवन के ऐसे ही स्वस्थ और समृद्ध रूप की प्रतिष्ठा की गई थी। वाल्मीकि रामायण मे हम काव्य मे भी प्रकृति और जीवन के इस घनिष्ठ सम्पर्क का यह समृद्ध रूप देख सकते हैं। कालिदास में भी

वाल्मीकि के इस वैभव की छाया है। कालिदास मे आत्मीयता से अनुप्राणित होकर प्रकृति के 'उदात्त' रूप सुन्दर बन गये हैं। बाण मे भी इस वैभव के विपुल अवशेष हैं, यद्यपि कला के अतिरेक ने उस वैभव को कृत्रिम बना दिया है। बाण के आश्रम-वर्णन आदि मे बहुत कुछ स्वाभाविकता है। कालिदास और बाण के बाद संस्कृत काव्य मे जीवन के साथ प्रकृति की घनिष्ठता शिथिल होने लगी। इसका मुख्य कारण यह था कि इस समय तक भारतीय जीवन मे प्रकृति के संबन्ध की घनिष्ठता शिथिल होने लगी थी। काव्य के क्षेत्र मे प्रकृति का वर्णन एक कला-पूर्ण परम्परा बन गया। जिसे 'कवि समय' कहा जाता है वह काव्य मे प्रकृति-वर्णन की रूढियो का ही दूसरा नाम है। काव्य-शास्त्र के रस-सिद्धान्त की भूमिका मे प्रकृति का उद्दीपन के रूप मे चित्रण अधिक प्रचलित हो चला। इसके साथ ही प्रकृति का आलंकारिक उपयोग भी बढ चला। कालिदास के काव्य मे हमे इस संक्रान्ति और सन्धि का विशद चित्र मिलता है। **कालिदास के काव्यो की व्यापक पीठिका भारतवर्ष की सुन्दर और समृद्ध प्रकृति है।** उद्दीपन के रूप मे भी प्रकृति के संकेत कालिदास में मिलते है, यद्यपि प्रकृति के सजीव सम्पर्क के विच्छिन्न न होने के कारण उनमे बडी मर्मस्पर्शिता है। लंका से लौटते समय राम की स्मृतियो के वर्णन मे हम उद्दीपनो मे भी मार्मिक मानवीय भावना का परिचय पाते हैं। उद्दीपन की अपेक्षा प्रकृति का आलंकारिक उपयोग कालिदास मे अधिक है। अलंकारो मे भी प्रकृति के घनिष्ठ सम्पर्क का सजीव प्राणस्पन्दन शेष है। वशिष्ठ के आश्रम मे जाते हुए सुदक्षिणा और दिलीप की उपमा कालिदास ने चित्रा और चन्द्रमा से दी है।[१०] 'कुमार सभव' मे 'मगलस्नानविशुद्धगात्री पार्वती' की उपमा 'निर्वृत्तपर्जन्यजलाभिषेका प्रफुल्लकाशा वसुधा' से दी है।[११] किन्तु आगे चलकर उद्दीपन और अलंकार दोनो रूपो मे ही प्रकृति का उपयोग काव्य की एक निर्जीव परम्परा बन गया। संस्कृत कवियो मे इस परम्परा मे भी प्रकृति का ज्ञान विपुल और विशद है, यद्यपि जीवन के साथ प्रकृति का सजीव सम्पर्क नही है। प्रकृति का रूप कागज के फूलो की भाँति नकली और निर्जीव प्रतीत होता है। रीतिकाल के कवियो मे एक सेनापति इसके अपवाद हैं। कालिदास के अलंकारो की भाँति उनके उद्दीपन मे भी प्रकृति का सजीव प्राणस्पन्दन मिलता है। अन्य अधिकांश रीतिकवियो की प्रकृति उधार की सम्पत्ति की भाँति आन्तरिक वैभव से विहीन है। उसमे केवल प्रदर्शन का चमत्कार है। सूर और तुलसी मे प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण

के परिचय मिलते हैं, किन्तु दोनो का प्रयोजन भाव और भक्ति से अधिक है। सूर का 'पिया बिन नागिनि काली रात' प्रकृति के सूक्ष्म परिचय का एक उत्तम उदाहरण हैं। किन्तु सूर के काव्य मे भी ब्रज की प्रकृति की अपेक्षा उनकी भक्ति ही अधिक सजीव रूप मे साकार हुई है। तुलसीदास मे भी भक्ति का प्रयोजन है। उनके वर्षा और शरद ऋतुओ के वर्णन मे प्रकृति के सौन्दर्य की अपेक्षा नीति का निदर्शन ही अधिक है।

छायावादी काव्य मे हमे प्रकृति का एक अत्यन्त सजीव रूप मिलता है, जिसमे प्रकृति आत्मीयता के सम्बन्ध मे कवि की सहचरी बन जाती है। ऐसे काव्य मे प्रकृति का मानवीयकरण स्वाभाविक है। इस आत्मीयता और मानवीय भावना का मूल स्रोत छायावाद के प्रवर्तको का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्पर्क है। सयोग की बात है कि हिन्दी और अग्रेजी छायावादी काव्य का इतिहास इस सम्बन्ध मे एक सा है। अग्रेजी रोमाटिक काव्य के प्रवर्तक वर्ड्सवर्थ का समस्त जीवन 'झील प्रान्त' के प्राकृतिक वातावरण मे ही बीता था। शैली और कीट्स भी प्रकृति के बडे प्रेमी थे। शैली का बहुत कुछ जीवन इटली के समुद्र तट की रमणीय प्रकृति मे बीता था। अन्त मे समुद्र विहार मे ही उनकी मृत्यु हुई। रोमान्टिक कवि कीट्स का जीवन बहुत अल्प था। वह भी प्रेम और रोग की पीडाओ मे बीता। किन्तु उसके प्रकृति प्रेम का यह पर्याप्त प्रमाण है कि उसे 'चन्द्र-मुग्ध' कहा जाता था। हिन्दी मे छाया-वाद के अग्रगामी कवि सुमित्रानन्दन पन्त का जीवन अल्मोडा की पर्वतीय प्रकृति के अचल मे पला था। जयशकरप्रसाद भी गगातट के निवासी थे। निराला जी का जन्म बगाल मे हुआ और अधिकाश जीवन लखनऊ तथा प्रयाग मे गोमती और गगा के किनारे बीता। काव्य की दृष्टि से अग्रेजी और हिन्दी दोनो के छायावाद मे प्रकृति की ही प्रधानता है। यह प्रकृति उद्दीपन अथवा अलकार के रूप मे नही है, वरन् मनुष्य की सहचरी के रूप मे है। वर्ड्सवर्थ के अधिकाश काव्य मे प्रकृति का प्राणस्पन्दन है। शैली के 'क्लाउड' 'वैस्टविंड' आदि तथा कीट्स के 'औटम' आदि के प्रति लिखे गये गीत प्रकृतिकाव्य के उत्तम उदाहरण हैं। इन कविताओ मे प्रकृति की आत्मा के साथ साथ उसके रूपो मे यथार्थता भी है। वर्ड्सवर्थ का काव्य तो प्रकृति का ही सगीत है। शैली की भावना मे प्रकृति के रूपो की अपेक्षा उसकी आत्मा का स्पन्दन अधिक है। ग्रीक काव्य के अनुरूप मूर्तिमत्ता कीट्स के काव्य की विशेषता मानी जाती है। हिन्दी के छायावादी कवियो मे सुमित्रानन्दन के काव्य मे

शैली का प्रभाव अधिक है। प्रेम और कल्पना दोनों छायावादी काव्य के विशेष गुण हैं। पंत का 'बादल' शेली के क्लाउड से प्रेरित एक मौलिक गीत है। तुलसीदास के वर्षा वर्णन से इसका विपरीत लक्षण अवलोकनीय है। जहाँ तुलसीदास के वर्षा वर्णन में प्रकृति के चित्र नीति के उपदेश के निमित्त मात्र हैं, वहाँ पन्त के बादल में मानवीय उपमाएं बादल को मानवीय रूप और आत्मा प्रदान करती हैं। प्रसाद और निराला में प्रकृति का उदात्त रूप विशेषतया अवलोकनीय है।

प्रकृति के इस छायावादी रूप के अतिरिक्त काव्य में उसका वस्तुगत और स्वतन्त्र चित्रण भी मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और श्रीधर पाठक की रचनाओं में इसका आरम्भिक रूप उपलब्ध है। किन्तु उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के द्वारा इसमें भी मानवीय भावना का सम्पुट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलम्बन के रूप में प्रकृति के चित्रण का काव्य में महत्त्व प्रकाशित किया था। अपनी एक आरम्भिक रचना 'मनोहर छटा' तथा 'बुद्ध चरित' के अनुवाद में उन्होंने इसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। वस्तुतः यह रीतिकालीन काव्य में उद्दीपन के रूप में प्रकृति के चित्रण के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण कविता की अपेक्षा चित्रकला अधिक है। शब्दों में वर्णों और रेखाओं के समान रूप चित्रण की क्षमता नहीं है। अतः चित्रण में कविता चित्रकला की तुलना नहीं कर सकती। कविता की शक्ति और सम्पत्ति 'भाव' है। इसीलिए कविता के प्रकृति चित्रण में भाव का सम्पुट अधिक मिलता है। गोपालसिंह नैपाली की 'हरी घास', गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह की 'माधवी' में प्रकृति का अधिक स्वतन्त्र रूप में चित्रण मिलता है। किन्तु एक तो आधुनिक जीवन के प्रकृति से दूर हो जाने के कारण, दूसरे काव्य में भाव प्रकाशन की विशेष क्षमता होने के कारण प्रकृति वर्णन की यह परम्परा अधिक आगे न बढ़ सकी। वस्तुतः काव्य में प्रकृति का वही स्थान है, जो जीवन में है। न वह केवल जीवन का उद्दीपन है और न उसकी स्वतन्त्र सत्ता जीवन में अर्थवती है। मनुष्य के सहयोग और सम्पर्क में ही प्रकृति का महत्व है। इस दृष्टि से छायावादी काव्य की दिशा सही है। किन्तु जीवन की यथार्थता से पलायन की वृत्ति इस काव्य में प्रमुख होने के कारण इसका लक्ष्य सही नहीं रहा। प्रकृति की सजीव और समवेत भूमिका में जीवन की यथार्थता और सम्भावनाओं का निरूपण प्रकृति और जीवन दोनों के काव्य का उत्तम रूप है। स्वतन्त्रता के बाद की अनेक मुक्तक रचनाओं में इस रूप का परिचय मिलता है।

यद्यपि इनमे अनेक कविताओं मे छायावाद की मधुर भावना की छाप है, फिर भी अधिकाश रचनाओं मे इस भावना मे जीवन की यथार्थताओं का भी समन्वय है। एक आलोचक के मत मे प्रकृति की समवेत भूमिका मे जीवन के अकन का एक आधुनिक उदाहरण 'पार्वती' महाकाव्य मे भी मिलता है।[१२]

किन्तु काव्य में जिस प्रकृति का वर्णन प्रसिद्ध है वही प्रकृति का सर्वस्व नहीं है। प्रकृति, आकाश, चाद सितारे, उषा, बादल, वृक्ष, कुसुम, पक्षी आदि से अधिक है। ये प्रकृति के कुछ रमणीय अङ्ग मात्र हैं जो कवियों को अधिक आकर्षित करते रहे हैं। **वस्तुत प्रकृति जीवन और जगत के व्यापक यथार्थ की सज्ञा है।** अनेक विज्ञानों मे इसके विभिन्न अङ्गों का अध्ययन किया जाता है। काव्य की पूर्णता और सम्पन्नता का गठन इन अङ्गों की व्यापक भूमिका मे ही हो सकता है। **जिसे हमने मनोवैज्ञानिक अथवा प्राकृतिक तथ्य कहा है वह जीवन और जगत की एक विशाल वास्तविकता है। यही वास्तविकता मनुष्य जीवन का आधार है तथा यही समर्थ और सम्पन्न काव्य का उपादान भी है।** कुछ स्वप्नो और कल्पनाओं की शरण लेकर प्रकृति के कुछ मनोहर स्थलो मे निवास पलायन का लक्षण है। विशाल वास्तविकता के आधार पर जीवन की सम्पन्न सभावनाओं का उद्घाटन श्रेष्ठ काव्य का धर्म है। काव्य का सौन्दर्य तो एक स्वरूपगत लक्षण है, जिसकी दृष्टि से विभिन्न रचनाओं की तुलना करना कठिन है। अपने आप मे सभी रचनायें सुन्दर हैं। उनका अपना-अपना विशेष सौन्दर्य है। तुलसीदास जी का 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' कवि के आत्मसतोष का ही सूचक नही है, उसमे इस रूपगत सामान्य सौन्दर्य का भी सकेत है। कविता की श्रेष्ठता की चर्चा उसकी तत्वगत सम्पन्नता की दृष्टि से ही हो सकती है। **श्रेष्ठ काव्य केवल सौन्दर्य का सृजन ही नहीं है, वह सत्य का निरूपण भी है।** यह सत्य जीवन और जगत की यथार्थता तथा एक व्यापक अर्थ मे जीवन की श्रेयमयी सभावनाओं मे है। ये सभावनाये बडी व्यापक और समृद्धि-शील हैं। किन्तु इनका प्रभावशाली निरूपण जीवन और जगत के व्यापक यथार्थ की भूमिका मे ही हो सकता है। जगत का यथार्थ प्राकृतिक और वैज्ञानिक तथ्यो तथा सिद्धान्तो मे समाहित है। किन्तु जीवन का सत्य हमे सामाजिक तथ्यो और सिद्धान्तो की ओर ले आता है।

अध्याय ३६

काव्य में सामाजिक सत्य

केवल प्राकृतिक यथार्थ का चित्रण किसी परिभाषा के अनुसार कला का श्रेष्ठ रूप हो सकता है, किन्तु वस्तुतः वह अनुकृति की कला है। कृतित्व की कला प्रकृति में जीवन अथवा जीवन में प्रकृति को अन्वित करके ही सफल हो सकती है। इसीलिए प्राकृतिक यथार्थ के साथ-साथ सामाजिक यथार्थ का ग्रहण भी कला की पूर्णता के लिए अपेक्षित है। आधुनिक प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ के कुछ उग्र रूपों को, जो अब तक उपेक्षित रहे थे, अधिक महत्व दिया है। प्रगतिवाद प्राचीन रुढ़िवाद की प्रतिक्रिया है। पूँजीवाद के प्रति साम्यवाद का विद्रोह इस प्रतिक्रिया का राजनीतिक और अर्थनैतिक आधार है। इसीलिये प्रगतिवाद मे सर्वहारा, श्रमिक और दलित वर्ग की दुर्दशाओं का वर्णन अधिक रहता है। किसी युग की परिस्थिति मे इसका विशेष महत्व हो सकता है। किन्तु सामाजिक यथार्थ का वास्तविक रूप कहीं अधिक व्यापक है। इसके अन्तर्गत अतीत अथवा वर्तमान समाज की सभी व्यवस्थाये, घटनायें, संस्थायें, प्रथाये आदि सम्मिलित हैं। सामाजिक सत्य हमारे व्यवहार-जगत की यथार्थता है। अतः उसका अन्यथा चित्रण लोक-व्यवहार मे विक्षेप का कारण है। हमारे अनुभव को सम्मिलित करके ही काव्य हमारी आत्मा का उन्नयन करता है। कला हमारे ज्ञान और अनुभव की वास्तविकता की उपेक्षा करके हमे कल्पना के आनन्द लोक मे नहीं ले जा सकती और यदि ले भी जा सकती है तो वह अल्पकाल के लिए। किन्तु भारतीय परिभाषा में कला जीवन का क्षणिक चमत्कार नहीं है। वह चेतना का एक स्थायी संस्कार और जीवन की एक सुन्दर किन्तु स्थायी व्यवस्था है। इसीलिये एक व्यापक अर्थ में जीवन के यथार्थ का ग्रहण कला और काव्य की पूर्णता का एक आवश्यक अंग है।

प्राकृतिक यथार्थ की भांति सामाजिक यथार्थ के साथ सामंजस्य भी कलात्मक कल्पना को एक संगति प्रदान करता है। व्यवहार के विक्षेप के अतिरिक्त अनुभूति की विषमता भी इस संगति से बाधित होती हैं। इसी कारण अधिकांश भारतीय काव्य मे जहाँ एक ओर प्राकृतिक यथार्थ की सुन्दर और विशाल भूमिका है,

वहा दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ का भी सजीव सामजस्य है। **प्राकृतिक और सामाजिक यथार्थ की पर्याप्त सगति होने के कारण ही वाल्मीकि और कालिदास हमारे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।** आदि कवि की रामायण मे प्राकृतिक यथार्थ की विपुलता के साथ साथ सामाजिक यथार्थ का आदर भी इतना अधिक है कि भक्त कवियो के द्वारा राम कथा मे जो विकृतिया पैदा हो गई हैं उनका वाल्मीकि 'रामायण' मे बीज मात्र भी नही है। कालिदास प्रधानत सौन्दर्य के कवि थे। अत उनकी रचनाओ मे प्रकृति और समाज के उन तथ्यो को स्थान नही मिल सका है जिन्हे सामान्यत असुन्दर माना जाता है। फिर भी इनके काव्य मे उस युग की सामाजिक स्थितियो का विशद वर्णन मिलता हैं। **आश्रम जीवन का चित्रण कालिदास की भारतीय साहित्य को एक अमूल्य और अमर देन है।** किन्तु कालिदास के प्रकृति वर्णन मे अलकार के आरोपण का प्रभाव भी बहुत दिखाई देता है। छन्द के प्रथम दो चरणो मे प्रकृति का निरूपण और अन्तिम दो चरणो मे अलकार, यह कालिदास की छन्द-रचना की एक सामान्य विशेषता है। फिर भी 'रघुवश' के आरम्भ मे वशिष्ठ मुनि के आश्रम का वर्णन, शाकुन्तल' मे कण्व और मरीचि के आश्रमो का वर्णन आदि स्थलो मे कालिदास का प्रकृति वर्णन वाल्मीकि के समान ही सजीव और प्राजल है। कालिदास के बाद सस्कृत और हिन्दी के कवियो मे यथार्थ का आदर पर्याप्त मात्रा मे नही दिखाई दिता। कालिदास के बाद सस्कृत और हिन्दी के काव्य मे अलकार और कल्पना का प्रभाव अधिक बढता जाता है, यद्यपि 'उत्तर रामचरित' के मधुपर्क, शम्बूकवध आदि प्रसगो की भाति तत्कालीन समाज के कुछ कठोर तथ्यो के उदाहरण अवश्य मिल जाते ह।

किन्तु 'कवि' प्रकृति और समाज का केवल चित्रकार नहीं। केवल यथार्थ का अकन कला की कृतार्थता नही है। केवल यथार्थ चित्रण अनुकृति की कला है। चित्रकला मे इसका प्रभुत्व और महत्व अधिक हैं, किन्तु काव्य मे अनुकृति से भी अधिक कृतित्व का महत्व है। सामाजिक यथार्थ के सम्बन्ध मे कविता के कृतित्व का गौरव अधिक है। **कवि समाज का चित्रकार ही नहीं उसका निर्माण-कर्ता भी है। 'निर्माण' यथार्थ को भावी विकास की कल्पना से अनुप्राणित करना है।** एक आदर्श की कल्पना इस निर्माण और विकास की दिशा का सूत्र है। इसीलिये प्राय काव्य मे सामाजिक यथार्थ के चित्रण के साथ साथ आदर्श का पुट भी मिलता है। अनेक बार ये यथार्थ और आदर्श इतिहास के यथार्थ और कल्पना की भाति विरुद्ध

भी हो गये है । जिस प्रकार ऐतिहासिक कल्पना ऐतिहासिक तथ्य से संगत होने पर कला का उचित उपादान बन सकती है, उसी प्रकार सामाजिक आदर्श जीवन के यथार्थ की सम्भावनाओ के अनुकूल होने पर कला और काव्य की समुचित प्रेरणा बन सकता है । आदर्श भी कवि की कल्पना की विधायक भावना की सृष्टि है । समाज की निर्माणमुखी प्रेरणाओं को आकार देने के लिये वह अतीत और वर्तमान के यथार्थ की भूमिका में समाज के सुन्दर भविष्य का अनुष्ठान करता है । वस्तुत यथार्थ कोई जड़ और स्थिर प्रत्यय नहीं है, वह जीवन का एक सजीव और गत्यात्मक प्रत्यय है । आदर्श उसकी गति की प्रेरणा और उसका लक्ष्य है । आदर्श के अनेक रूप यथार्थ भी होते हैं । राम, सीता, दयमन्ती और शकुन्तला के आदर्शों की स्थापना यथार्थ का चित्रण भी है । यथार्थ की सम्भावनाओ मे अनुस्यूत होकर आदर्श समाज के विकास और निर्माण की शक्ति बनते हैं ।

सभी सामाजिक तथ्य यथार्थ की दृष्टि से समान हैं । समाज का वैज्ञानिक अध्ययन सबको समान महत्व देता है और उनमें से किसी के भी बहिष्कार को अध्ययन की पूर्णता के लिए उचित नही मानता । किन्तु क्या ये समान रूप से कला और साहित्य में ग्राह्य है ? यह प्रश्न विवादास्पद है । यथार्थता का आग्रह करने वाले किसी भी सामाजिक तथ्य के चित्रण मे दोष नही मानते । आदर्शवादी उन सामाजिक तथ्यो को छोड देना चाहते है जिनका चित्रण निम्न भावनाओ को उत्तजित करता है । वे उन्ही तथ्यो का ग्रहण उचित समझते हैं जिनका चित्रण उदात्त भावनाओ को प्रेरणा देता है । यह स्पष्ट है कि इस विवेचन में हम सत्य के क्षेत्र से निकलकर शिवम् के क्षेत्र में आ जाते हैं । लोकहित की दृष्टि से ही सामाजिक तथ्यो को त्याज्य अथवा ग्राह्य समझा जाता है । लोकमगल की भावना सामाजिक तथ्यो के चयन और निरूपण का मूल सिद्धान्त बनती है । जीवन का मगल एक यथार्थ तथ्य के अर्थ में सत्य नहीं है । 'यथार्थ' प्राप्त और पूर्ण होने के कारण साध्य नहीं बन सकता । शिवम् साध्य है । वह वर्त्तमान यथार्थ नहीं, भविष्य का लक्ष्य है । सामाजिक तथ्यो के ग्रहण और त्याग के आदर्शवादी दृष्टिकोण मे जीवन के मगलमय लक्ष्य का अनुराग आ जाता है, जो यथार्थ के अन्तर्गत नहीं, चाहे सत्य के व्यापक और तात्विक रूप मे उसका अन्तर्भाव सभव हो । अत इस प्रश्न के विवेचन का उपयुक्त स्थान सत्य की तात्विक कल्पना या निरूपण तथा शिवम् के स्वरूप की मीमासा है ।

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना उचित होगा कि **यथार्थ का यथार्थ चित्रण भी स्वय एक कला है।** यद्यपि कला केवल अनुकृति नही है और उसकी पूर्णता कृतित्व मे है, फिर भी विधाता की सृष्टि का यथार्थ अकन कलाकार की एक अद्भुत सफलता समझी जाती है। चित्रकला और काव्य दोनो में ही अकन की यथार्थता को महत्त्व दिया जाता है, यद्यपि काव्य की अपेक्षा चित्रकला मे इसके कौशल के लिए अधिक अवसर है। **इस यथार्थता से कला में सजीवता आती है और जीवन के सत्य प्रभावशाली बनते हैं।** अमृत शेरगिल के चित्रो मे भारतीय जीवन के कुछ भाव इसी यथार्थता के कारण प्रभावशाली बन पड़े हैं। यथार्थ के अनुरूप रचना करके कल्पना जीवन के मर्मो का प्रभावशाली उद्घाटन करती हैं। काव्य मे भी जीवन की परिस्थितियो के यथार्थ चित्रण महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। **इससे रचना में एक सत्यता और सजीवता आती है।** सभी युगो के काव्य मे यथार्थ का चित्रण पर्याप्त मात्रा मे रहता है। महाभारत और रामायण मे इस यथार्थ की प्रचुरता है। कालिदास के काव्य और नाटको मे यह पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। कालिदास के बाद के काव्य मे अलकार, कल्पना, शृगार और भक्ति की प्रधानता है, फिर भी उसमें यथार्थ मे आधार कम नही हुए। वस्तुत जिस प्रकार धरती को छोडकर चलना समव नही है उसी प्रकार यथार्थ को छोडकर कोई भी कलात्मक रचना नही बन सकती। **'यथार्थ' कलात्मक कल्पना का आधार है। साथ ही यथार्थ के तथावत् चित्रण से यथार्थ में एक अपूर्व सौन्दर्य का उदय होता है।**

कला और काव्य के प्रसग में यथार्थ के सबन्ध में दो ही बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं, एक तो यह कि कला और काव्य मे अकित यथार्थ वास्तविक यथार्थ नही वरन् काल्पनिक यथार्थ होता है। दूसरी बात यह है कि यथार्थ पूर्ण नही होता। कहा जाता है कि शिक्षाकाल मे चित्रकार सचमुच की वस्तुओ को सामने रखकर तथा जीवित मनुष्यो को सामने बिठाकर कला का अभ्यास करते हैं। यह यथार्थ के अनुकरण और अकन के कौशल की प्रणाली है। किन्तु एक शिक्षित कलाकार यथार्थ का जो चित्र अकित करता है वह वस्तु की अनुकृति न होकर उसकी कल्पना से प्रसूत होता है। **यथार्थ के अनुरूप होते हुए भी वह कल्पना की कृति है।** यथार्थ अनुभवो के विषय व्यक्तिगत इकाइयो के रूप मे होते हैं, वे अपनी विशेषताओ से पहचाने जाते हैं। इस प्रकार यथार्थ के अनुभव का रूप

विश्लेपण है। किन्तु कला में जिस रूप में यथार्थ का अंकन किया जाता है उसमें वह यथार्थ अनुभव की व्यक्तिगत इकाई नहीं रह जाता, वरन् एक वर्ग का सामान्य प्रतिनिधि बन जाता है। सामान्यता समष्टि का लक्षण है। व्यक्तिगत विशेषताओं के स्थान पर उसमें समानताओं का सश्लेष होता है। कला मे अंकित यथार्थ का इकाई में सीमित रहने के स्थान पर एक वर्ग का प्रतिनिधि बन जाना यही सूचित करता है कि सश्लेष और समन्वय कला का मौलिक स्वरूप है। काव्य म यथार्थ के चित्रण व्यक्तियो और स्थानो के नाम को लेकर होते हैं। व्यक्तियो और स्थानो के नाम से होने पर भी वे वस्तुत वर्गो के ही प्रतिनिधि होते हैं। यथार्थ का यह कलात्मक रूप कल्पना से प्रस्तुत किया जाता है। अत हम एक अद्भुत परिणाम पर पहुँचते हैं कि कला और काव्य में यथार्थ का चित्रण भी कल्पना है, यद्यपि यह सत्य है कि यह कल्पना निराधार नहीं है। प्रत्यक्ष अनुभव के तत्वों के आधार पर ही कल्पना यथार्थ के इन प्रतिनिधि और सामान्य रूपो का उपस्थापन करती है।

दूसरी बात यह है कि कला और काव्य म सामाजिक यथार्थ के पूर्ण रूप की प्रतिष्ठा नही होती। सत्ता की समग्रता के अर्थ मे पूर्णता हमारे ज्ञान की मर्यादा है। किसी भी कलाकृति मे उसका आधान असम्भव है। यहाँ इस अपूर्णता से केवल इतना ही अभिप्राय है कि सामाजिक सुरुचि और आदर्शवाद के पक्षपातियो की दृष्टि में यथार्थ के कुछ अङ्ग कला और काव्य म ग्राह्य नही है। जिन साहसी यथार्थवादियो ने रीतिकाल के शृंगार तथा खजुराहो और पुरी के मन्दिरो की भाँति सामाजिक यथार्थ का नग्न चित्रण किया है, उसे आदर्शवादी उचित नही मानते। उसी प्रकार प्रगतिवाद के नाम पर सामाजिक यथार्थ का जो नग्न चित्रण हुआ है उसे भी आदर्शवादी आलोचक उचित नही मानते। दूसरी ओर प्रगतिवादी और यथार्थवादी लोग सामाजिक तथ्य के किसी भी रूप और अङ्ग की उपेक्षा का पलायन कहते हैं। पलायन दुर्बलता का द्योतक है। यदि कलाकार दुर्बलता के कारण किसी तथ्य मे आंख बचाता है तो निश्चय ही यह पलायन है। किन्तु ऐसे तथ्यो को रजित करके उनका चित्रण भी दुर्बलता को छिपाने का प्रयत्न है। प्राचीन काव्यो में यह दुर्बलता और पलायन कम है। महाभारत और रामायण मे ऐसे अनेक प्रसग हैं, जो उनके प्रणेताओ की ईमानदारी और उनके साहस के प्रमाण हैं। मध्यकालीन कवियो ने ऐसे प्रसङ्गो की मौलिक यथार्थता को रजित करने का

प्रयत्न किया है। इसमें दुर्बलता और लोकहित दोनो ही भावनाये सभव हो सकती हैं। इसी सदिग्ध सभावना के कारण काव्य और कला मे अश्लीलता का प्रसग जटिल बन जाता है। **यथार्थवादी दृष्टिकोण से कुछ भी अश्लील नहीं है।** जो कुछ भी जीवन का तथ्य है वह कला और काव्य मे चित्रण के योग्य है। **सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से जीवन के सभी उपकरण कला और काव्य के विषय बन सकते हैं। सौन्दर्य किसी विषय अथवा वस्तु का गुण नहीं है, वरन् अभिव्यक्ति का रूप है।** इस अभिव्यक्ति के रूप मे साकार होकर प्रत्येक विषय सुन्दर बन जाता है। केवल सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण से अश्लीलता के प्रश्न को सुलझाना कठिन है। **यदि समात्मभाव को सौन्दर्य का आवश्यक आधार मानें तो भाव के साम्य की अपेक्षा में अश्लीलता का परिहार हो सकता है। भावना और व्यवहार के जो तथ्य साम्य का खडन करते हैं उन्हें अश्लील कहा जा सकता है।** वस्तुत भाव का यह साम्य अश्लीलता का ही नही, जीवन की अन्य सभी विषमताओ का परिहार करता है। अश्लीलता उनमे से केवल एक है। **'अश्लीलता' भाव और व्यवहार की विषमता का वह रूप है जो स्त्री-पुरुष के सबन्ध के प्रसग में निर्धारित होता है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अश्लीलता किसी भाव अथवा व्यवहार के स्वरूप में नहीं रहती वरन् उसकी सामाजिक अभिव्यक्ति में प्रकट होती है।** पति-पत्नी के व्यक्तिगत सम्बन्धो मे जिन भावो और व्यवहारो को अश्लील नही कहा जा सकता वे ही अन्य सबन्धो के प्रसग मे अश्लील बन जाते हैं। अश्लीलता के विवेचन मे केवल सौन्दर्यवादी अथवा शुद्ध यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाकर प्राय हम कला के सामाजिक स्वरूप को भूल जाते हैं। वायु के समान सुलभ होने के कारण कलाकार और आलोचक दोनो ही कला के सामाजिक आधार की उपेक्षा करते हैं। **इस सामाजिक वायु-मडल में समात्मभाव की प्राण-प्रेरणा से ही कलात्मक अनुभूति सभव होती है। कलात्मक अभिव्यक्ति और भी अधिक स्पष्ट रूप से सामाजिक है। वह केवल 'स्वान्तः सुखाय' नहीं होती वरन् दूसरे के प्रति भाव और रूप के सम्प्रेषण के उद्देश्य से प्रेरित होती है।**

कला के इस सामाजिक अनुपग मे सामाजिक सबन्धो और समाज के वर्गो के प्रश्न उठते हैं। सभी साहित्य और कला आवाल-वृद्ध सभी जनो के लिए समान रूप से रुचिकर नही हो सकती। इस रुचि के प्रसग मे हम स्वतन्त्रता को भी मान सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कला और काव्य का कोई रूप किसी वर्ग के लिए वर्जित भी हो सकता है। क्या किन्ही सबन्धो मे कलात्मक अभिव्यक्ति के कुछ

रूप अवाछनीय भी हो सकते हैं। यदि अन्य अभीष्ट सबन्धो मे यह समात्मभाव से युक्त हो और वाछनीय हो तो अन्य सबन्धो मे वर्जित होते हुए भी ये अभिनन्दनीय हो सकते हैं, किन्तु अन्य सबन्धो मे इन्हे वर्जित करने रखने की व्यवस्था का एक दूसरा प्रश्न खडा हो जाता है। यदि अश्लील कहलाने वाले भाव और व्यवहार अपने अभीष्ट सबन्धो मे ही सीमित रहे तो अश्लीलता का प्रश्न नही उठता। किन्तु उनको इस प्रकार सीमित रखने की व्यवस्था कठिन है। अभिव्यक्ति के सामाजिक माध्यमो को वर्गों में सीमित नहीं रखा जा सकता। अत कला और काव्य के क्षेत्र में अश्लीलता की मर्यादा माननी होगी। इस मर्यादा के निर्धारण का सूत्र साम्य हो हो सकता है, जिसकी हमने 'परस्पर सभावन' के अर्थ में व्याख्या की है। सभावन के स्थान पर जहा कलात्मक अभिव्यक्ति के रूप अन्य सामाजिक सबन्धो मे अवमान के कारण बन जाते हैं वहा विषमता प्रकट होती है। अश्लीलता इसी विषमता का रूप है। यह स्पष्ट है कि विषमता और अश्लीलता के निर्धारण का आधार नैतिक श्रेय और उस पर आश्रित आचार है। केवल सुन्दरम् के आधार पर ऐसे भेद नहीं किये जा सकते। हमारे मत मे जो समात्मभाव सौन्दर्य और कला का आधार है, वही शिव का भी मूल सूत्र है। 'सुन्दरम् और शिवम्' शक्ति और शिव की भाति अभिन्न है। समात्मभाव के आशिक रूप मे वर्तमान रहने पर भी जब उसमे कुछ आशिक विषमता का दोष रहता है तभी उसमे अश्लीलता आदि के दोष उत्पन्न होते हैं। सुन्दरम् के प्रबलतम अनुरोध मे शिव के उपेक्षित होने पर ही कला और काव्य के ऐसे दूषित रूप प्रकट होते हैं। समात्मभाव के प्रदान पक्ष मे कलाकारो और कवियो से यह अपराध अधिक होता है। समात्मभाव का प्रदान पक्ष ही प्राय दुर्बल रहता है। किन्तु वस्तुत यही समात्मभाव का श्रेष्ठतर रूप है। प्रदान की प्रमुखता से ही आदान का सन्तुलन होता है और समात्मभाव का साम्य पूर्णतर बनता है। समात्मभाव के इस साम्य की पूर्णता और अपूर्णता की दृष्टि से ही कलात्मक अभिव्यक्ति की विषमता, अश्लीलता आदि का निर्धारण किया जा सकता है।

सत्य यह है कि सामाजिक यथार्थ के किसी भी अङ्ग का चित्रण अथवा उसकी उपेक्षा अपने आप में किसी एक सिद्धान्त की सूचक नहीं है। दोनो मे ही अनेक सभावनायें हो सकती हैं। जो कला को केवल अभिव्यक्ति मानते हैं तथा 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के पक्षपाती हैं वे जीवन के सभी रूपो के चित्रण को समान रूप से सुन्दर मानते हैं। तथ्यो के कलात्मक मूल्य में उनकी दृष्टि में कोई अन्तर

नही है। उनके अनुसार कला-कृतियो में नैतिकता देखना कला का आर्थिक मूल्य आँकने के समान ही अनुचित है। प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार प्रकृतिवाद है। क्रान्ति उसका राजनीतिक लक्ष्य है। जिन घृणात्मक, बीभत्स और विकारोत्पादक सामाजिक तथ्यो का चित्रण आदर्शवादी अनुचित मानते हैं, उनका चित्रण प्रगतिवादियो की दृष्टि मे उनक दोनो लक्ष्यो का साधक है। एक ओर वह मनुष्य की प्रकृति और स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति मानसिक दमन की सम्भावनाओ को कम करती है। प्रवृत्ति के दमन से मनोविकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, अत दमन स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक हैं। मनोविज्ञान का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त मनोविश्लेपण के सिद्धान्त के प्रवर्तक फ्रोयड की दन है। आश्चर्य की बात यह है कि प्रगतिवाद और आदर्शवाद जैसे दो विरोधी सम्प्रदाय दो विपरीत मार्गों से सामाजिक स्वास्थ्य की साधना करते हैं। प्रगतिवाद सामाजिक क्रान्ति के लिए जीवन की बीभत्स हीनताओ का नग्न उद्घाटन आवश्यक मानता है। समाज की अनीतियो के परिणाम को नग्न रूप से उद्घाटित करने पर शोपक वर्ग को अपने कुकृत्यो और शोपित वर्ग को अपने अधिकारो का बोध हो सकता है। यही बोध क्रान्ति का बीज है। प्रगतिवाद का यह दूसरा पक्ष कार्ल मार्क्स की देन है। फ्रोयड और मार्क्स दोनो ही प्रकृतिवादी थे। अत प्रगतिवाद दोनो की प्राकृतिक प्रेरणाओं से प्लावित है। उसकी दोनो मान्यताओ मे एक प्राकृतिक सम्बन्ध है। एक बात स्मरणीय है कि कलात्मक यथार्थवाद कला को ही लक्ष्य मानता है, इसके विपरीत प्रगतिवाद कला को स्वस्थ जीवन और उसके लिए क्रान्ति का साधन मात्र मानता है। इसीलिए अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का महत्व भी प्रगतिवादी काव्य मे कम है।

आदर्शवाद के नैतिक दृष्टिकाण से समाज क नग्न और बीभत्स तथ्यो की उपेक्षा को प्रगतिवाद मे पलायन कहते हैं। पलायन दुर्बलता है किन्तु प्रकृतिवादियो का यथार्थ के प्रति अनुराग उनके साहस का सूचक है अथवा उनकी प्रच्छन्न दुर्बलताओं का पोषक है, यह सन्देहास्पद है। कलात्मक यथार्थवाद के दृष्टिकोण में भी ऐसा ही छद्म अन्तर्निहित हो सकता है। सत्य यह है कि केवल यथार्थ के रूप और उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर इसका निर्णय नही किया जा सकता कि उसका अन्तर्निहित उद्देश्य और वास्तविक परिणाम क्या है। मध्य युग म कला के नाम पर चित्रकला और मूर्तिकला मे जो शृंगार का नग्न चित्रण हुआ है उसमे कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ निम्न वासनाओ का पोषण भी होता रहा है। इसी प्रकार

प्रगतिवाद के प्रकृतिवाद और क्रान्तिवाद की छाया मे भी प्राय ऐसी वासनाये पलती हैं। आदर्शवाद के अन्तर में भी इन वासनाओ के प्रति दुर्बलता अन्तर्निहित हो सकती है। आदर्शवाद वस्तुत इतना कठोर सिद्धान्त है कि उसे किसी भी यथार्थ से भीत होने की आवश्यकता नहीं है। आदर्शवाद का मृदुल रूप एक आडम्बर और छद्म है। यह मगल कलात्मक यथार्थवाद का अनायास फल है। उक्त तीनो सिद्धान्तो म भ्रान्ति का वीज समान हैं। दूसरी ओर तीनों के वास्तविक रूप में पवित्रता और उदारता का प्रभाव हो सकता है। इनके होने पर ये तीनो विरोधी सिद्धान्त सामाजिक मगल के एक ही विन्दु पर मिलते हैं। प्रगतिवाद के प्रकृतिवाद और क्रान्तिवाद का यह सचेतन लक्ष्य है। यही मगल आदर्शवाद की साधना है। प्रकृति इस मगल का पूर्ण रूप नही है। इसकी पूर्णता का विधान चेतना के स्वतन्त्र सस्कारो से होता है। मनुष्य की स्वतन्त्रता और उसका गौरव इस मगल तत्व की दो भुजाये हैं।

यहाँ कला और काव्य के सम्बन्ध में मानवीय सस्कृति और मगल के प्रश्न उठते हैं। 'सस्कृति' प्रकृति के परिग्रह और उसकी मर्यादा के आधार पर मानवीय चेतना और जीवन का कलात्मक एव आध्यात्मिक विधान है। इसे आध्यात्मिक इसीलिये कहा जाता है कि चेतना के रूपो में ही सस्कृति की विवृति होती है। भौतिक तत्व उसके उपकरण और माध्यम मात्र हैं। चेतना प्रत्येक मनुष्य की विभूति है, इसीलिये स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व, समात्मभाव आदि सस्कृति के मूल सिद्धान्त हो जाते हैं। स्वतन्त्रता जहाँ चेतना का मुल्य गौरव है वहाँ समानता उसकी प्रमुख मर्यादा है। सस्कृति का अग बनकर यह मर्यादा प्रकृति की सीमा बन जाती है। प्रकृति की यह मर्यादा प्रकृति पर चेतना का स्वतन्त्र शासन और प्रकृति का सस्कार है। यही सस्कार सस्कृति का मूल सूत्र है। दार्शनिक व्याख्या की दृष्टि से यदि हम चाहे तो इसे दोषहरण, गुणाधान आदि के रूप मे समझ सकते हैं किन्तु वस्तुत यह प्रकृति का उन्नयन है। प्राकृतिक धरातल से उठकर अपने प्राकृतिक रूप के सहित ही प्रकृति चेतना के कुछ सास्कृतिक विधानो मे अन्वित हो जाती हैं। यह प्रकृति का सस्कृति मे समन्वय है। सस्कृति मे समन्वय के लिये अपेक्षित प्रकृति की मर्यादा जीवन के व्यवहार की सीमा बन जाती है। कला और काव्य के चित्रण मे सभी सामाजिक तथ्यो का समर्थन नही कर सकते। सामाजिक यथार्थवाद एक प्रकार का प्रकृतिवाद है। प्रकृतिवाद की दृष्टि से सभी तत्व समान

हैं। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टिकोण को अपना लेने पर इस समानता का स्थान मनुष्य की समानता और उसका गौरव ले लेते हैं। **इस प्रकार मनुष्य की समानता और उसका गौरव स्वतन्त्रता के मूलतत्व बन कर सामाजिक यथार्थवाद की उच्छृंखलता के नियामक सिद्धान्त बन जाते हैं। स्वतन्त्रता, समानता और सम्मान ही शिव के मूल सत्य हैं।** प्रकृति की मर्यादा से संयुक्त होकर ये लोक-मंगल के विधायक बनते हैं।

अतः एक दृष्टि से 'संस्कृति' शिव का ही पर्याय है। यथार्थ रूप सत्य इस संस्कृति का प्राकृतिक आधार है। सत्य की व्यापक और तात्विक कल्पना में शिव ही मुख्य तत्व है। इस सत्य के साथ शिव की एकात्मकता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वेदान्त में ब्रह्म को 'शान्त शिव अद्वैत' कहा गया है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म अद्वैत है और अद्वैत ही शिवम् है। तात्विक दृष्टि से जिस अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानंद अथवा अनन्त चैतन्य और अनन्त आनन्द है, व्यावहारिक दृष्टि से उसका लक्षण आत्मभाव अथवा आत्मदान है। यही शिव का मूल रूप भी है। व्यवहार न विवर्त है, न उपचार और न माया। ये सब वेदान्त की तात्विक और तार्किक कठिनाइयों से निकलने के द्वार हैं। इनकी आवश्यकता तभी होती है, जब कि हम वास्तविक जीवन के सत्य से पलायन कर तर्क और कल्पना के किसी सूक्ष्म लोक में भागना चाहते हैं। **अन्यथा व्यवहार के धर्मों में सत्य ही चरितार्थ होता है।** सत्य और व्यवहार के समन्वय में हमें जो विरोध और असंगति दिखाई देती है उसका कारण यह है कि सत्य के सम्पूर्ण और वास्तविक रूप के स्थान पर हम तर्क और बुद्धि के नियमों को ही अन्तिम सत्य मान लेते हैं। तर्क और बुद्धि उच्चकोटि के मानसिक व्यापार हैं। किन्तु जिन रूढ सिद्धान्तों पर इनकी प्रणाली आश्रित है वे वस्तुतः प्राकृतिक तथ्य हैं सांस्कृतिक सिद्धान्त नहीं। इकाइयों की एकरूपता और अविरोध के सिद्धान्त प्राकृतिक व्यवस्था में वस्तु रूपों की स्थिरता के आभास के परिणाम हैं। अहंकार की इकाई भी एक ऐसा ही अपूर्ण आभास है। चेतना एक ऐसा अभौतिक तत्व है जिस पर प्रकृति के ये नियम लागू नहीं होते जो भूत तत्वों पर होते हैं। इकाई परिच्छेद गति, स्थिति दिक्, काल बहिर्भाव आदि ऐसे अनेक प्राकृतिक नियम हैं जिनका भौतिक व्यवहार में पालन करते हुए भी मानवीय व्यवहार और भावना में चेतना अतिक्रमण करती है। **वस्तुतः यह अतिक्रमण ही मानवीय सम्बन्ध और भावना का मर्म है।** उपनिषदों के ब्रह्म

निरूपण में 'तदेजते तन्नैजते' के समान विरोधी वचनो का समाधान यही है कि गति स्थिति, इकाई आदि प्राकृतिक नियम हैं, जो मूल तत्वों पर ही लागू होते हैं। चेतना इन नियमो की प्रयोजक होने के कारण तर्कत इनके निवचन से अतीत है। वेदान्त का आत्मभाव चेतना के स्वरूप और व्यवहार का ऐसा सकेत है जिसमे अहकार का परिच्छेद भी सामाजिक समात्मभाव के वर्धमान क्षितिजो मे विस्तीर्ण होने लगता है। अनुभूति का यह आत्मभाव व्यवहार में आत्मदान बन जाता है। यही शिव का स्वरूप है। जीवन और व्यवहार में इसी की साधना मगल का मार्ग है। यही मंगल-साधना सस्कृति का स्वरूप और धर्म है। स्वतन्त्रता, समानता और सम्मान इस मानवीय सस्कृति की तीन विमायें हैं। इन्ही तीन विमाओ से सस्कृति के साक्षात् रूप का निर्माण होता है। इसमे काल-गति की चतुर्थ विमा मिलकर एक प्रगतिशील और विकासमुखी सस्कृति की परम्परा की प्रेरणा बनती है। इसी परम्परा मे उक्त तीन विमाओ के सामान्य रूप में निहित रहते हुए भी प्रकृति के समान ही नित्य नवीन रूपो से सस्कृति अपने चिरन्तन यौवन का शृगार करती है।

सस्कृति के इस स्वरूप और प्रवाह मे सुन्दरम् का भी स्थान है। किन्तु सस्कृति की सामान्य धारणा मे सुन्दरम् का जो अतिरजित महत्त्व बन गया है वह एक भ्रम पर अवलबित है। यह भ्रम सस्कृति की वह अपूर्ण कल्पना है जो कला और सौन्दर्य को ही सस्कृति का सर्वस्व मानती है। सुन्दरम् वस्तुत सस्कृति का रूप है, वह उसका विधायक तत्व नहीं है। सस्कृति के विधायक तत्व स्वतन्त्रता, समानता और सम्मान है। इन्ही तीन विमाओ मे सस्कृति का जगत साक्षात् रूप ग्रहण करता है। इन्ही तीन विमाओ के त्रिकोण काच मे प्रतिबिम्बित होकर आत्मा का आलोक सुन्दरम् के सप्तरग इन्द्रधनुष मे अभिव्यक्त होता है। ये तीन तत्व मानवीयता और मगल के विधायक हैं। केवल कला की दृष्टि से प्रत्येक अभिव्यक्ति सुन्दर है। किन्तु प्रत्येक अभिव्यक्ति मागलिक नही। शिव की त्रिपुटी से समन्वित होकर ही सुन्दरम् सस्कृति का रूप बन सकता है। कलात्मक यथार्थवाद के विपरीत शिव के इस सिद्धान्त के अनुकूल होने पर ही सामाजिक यथार्थ का चित्रण सास्कृतिक कला और सास्कृतिक काव्य का उपादान बन सकता है। शिव का आधान कला और काव्य को सास्कृतिक तथा सुन्दरम् का समन्वय सस्कृति को सुन्दर बनाता है। दोनो के पूर्ण सामजस्य में कला और सस्कृति दोनो की पूर्णता है। इस दृष्टि से सुन्दरम् की अभिव्यक्ति कला और काव्य मे रूप-विधान का सिद्धान्त है, किन्तु शिव का

आत्मभाव अथवा आत्मदान (जो स्वतन्त्रता, समानता और सम्मान की त्रिपुटी में साक्षात् होता है) इनके उपादान तत्वों के चयन और विधान का मूल सूत्र है। लोक मंगल इस शिव का व्यावहारिक रूप है। लोकहित का विवेचन मुख्यतः शिव का प्रसंग है किन्तु जहां तक सामाजिक तथ्य से उसका संबन्ध है, इतना संकेत कर देना उचित है कि निम्न भावनाओं से संबन्धित सामाजिक तथ्यों का यथार्थ चित्रण सर्वदा लोकहित का साधक नहीं होता। ग्रीक ट्रेजडी अथवा शेक्सपीयर की ट्रेजडी जैसी उदात्त और भीषण कृतियों में अंकित सामाजिक यथार्थ कदाचित मनोविरेचन (कैथार्सिस) द्वारा मन का शोधन करते हों, किन्तु 'रघुवंश' के अन्तिम सर्ग, रम्भाशुक-संवाद, कवि नरेन्द्र की कामिनी आदि के यथार्थ, किन्तु रमणीय, चित्रण निम्न प्रवृत्तियों का शोधन करने के स्थान पर उन्हें उत्तेजित ही अधिक करते हैं। साथ ही यह भी सत्य है कि रमणीयता के लिए ऐसे तथ्यों को कल्पना से रंजित करना यथार्थ और आदर्श दोनों के उद्देश्य से दूर जाना है। इसमें न सामाजिक न्याय ही हो पाता है और न काव्य का श्रेय पक्ष ही सुरक्षित रहता है। सही बात यह है कि **यथार्थ के चित्रण में तथ्यों की हीनता अथवा उच्चता इतनी विचारणीय नहीं है, जितनी कि उनके सम्बन्ध में कवि की दृष्टि और अन्तर्भावना। यही तथ्यों के चित्रण को मनोवैज्ञानिक प्रभाव देती है। यह अन्तर्भावना वैज्ञानिक दृष्टि से तटस्थ तथ्य की मनोवैज्ञानिक भंगिमा है।** यही भंगिमा कला और शैली के रूप में तथ्यों के चित्रण की प्रभावशीलता बढ़ाती है। कवि की दृष्टि और अन्तर्भावना के प्रभाव से नैतिक दृष्टि से हेय तथ्यों का प्रभाव भी तदनुरूप होता है। वे हीन वृत्तियों को उत्तेजित भी कर सकते हैं और उन्हें संस्कार की प्रेरणा देकर उनका उदात्तीकरण भी कर सकते हैं।

पश्चिमी ट्रेजडी तथा महाकाव्यों में जीवन और समाज के वीभत्स तथ्यों का चित्रण प्रकृति की रमणीयता की भावना से नहीं किया गया है, वरन् जीवन की भीषण, भयंकर तथा निम्न किन्तु गम्भीर वास्तविकताओं के उद्घाटन की भावना से किया गया है। इन तथ्यों की भीषणता से स्तम्भित होकर मनुष्य का मन शुद्ध और सत्वोन्मुख होता है। इन कृतियों की भयंकरता रमणीयता के अभाव के कारण उत्तेजन के स्थान पर उन प्रवृत्तियों का वर्जन करती है जिन प्रवृत्तियों से वे भयंकर तथ्य प्रसूत हैं। इस प्रकार पश्चिमी ट्रेजडी और महाकाव्यों का भीषण किन्तु निर्भीक तथ्य चित्रण एक उग्र मनोविरेचन है। डिवाइन कॉमेडी में दांते के नरक

चित्रण का नाम ही 'विरेचन लोक' है। इस विरेचन के स्थान पर जहाँ तथ्य-चित्रण में विरेचन का अन्तर्भाव ही रहता है, वहाँ रमणीयता के भाव-निवेश के कारण तथ्य-चित्रण से प्रवृत्तियो को उत्तेजना ही अधिक मिलती है। यह स्पष्ट है कि कला की दृष्टि से सभी तथ्यो का चित्रण सौन्दर्य की सृष्टि बन सकता है। किन्तु **काव्य के श्रेय की दृष्टि से न उनका त्याग और न उनका ग्रहण अपने आप में कोई निश्चित फल रखता है। उनका फल कवि और पाठक दोनो की भावना पर निर्भर है।** साधारण पाठको की रुचि स्वभावत प्रवृत्ति की रमणीयता की ओर होती है। ये रमणीयता की खोज मे प्रवृत्ति की उत्तेजना के लिये यथासभव अवसर और आधार निकाल लेते हैं। रामचरितमानस के पुष्प वाटिका के प्रसग, श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध, शाकुन्तल आदि की लोकप्रियता का यही रहस्य है। इन सभी चित्रणो मे कविता के वातावरण और कवि की भावना की भूमिका प्रवृत्तियो के ही अनुकूल है। पाठक मे उन्नयन का सस्कार न होने पर वह इस भूमिका की उपेक्षा करता है। पश्चिमी ट्रेजडी मे प्रवृत्तियो के परिणामो की भीषणता पाठक की प्रवृत्ति को स्तम्भित कर देती है। **अत. भीषणता प्रवृत्ति की उत्तेजना की प्रतिबंधक है।** पाठक के सस्कारो का उत्तरदायित्व स्वय पाठक तथा समाज पर है। कवि का उत्तरदायित्व केवल इतना ही है कि वह मगलमय लक्ष्य की प्रतिष्ठा के लिये सामाजिक तथ्यो का उदात्त भावना के साथ प्रयोग करें, तथा उन्हे एक उदात्त भूमिका के द्वारा प्रवृत्तियो के उन्नयन के अनुकूल बनाये। कुछ अत्यन्त व्यक्तिगत और वर्जित तथ्यो को छोडकर अन्य कोई तथ्य अपने आप मे उपेक्षणीय नही है। **कला और काव्य में तथ्यो की उपेक्षा की अपेक्षा उनका उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है।** रचना की भावात्मक भूमिका और कवि की भावना के साथ पाठक की भावना का सामजस्य तथा इस सामजस्य मे कवि के उदात्त सस्कार की प्रेरणा सामाजिक तथ्यो के सदुपयोग का उत्तम मार्ग है।

काव्य अथवा साहित्य केवल जीवन और समाज का चित्रण ही नही है, वह उनका निर्माण भी है। चेतना की सृजनात्मक क्रिया उनमे साकार होकर समाज की सास्कृतिक रचना और उन्नति मे योग देती है। **कला की दृष्टि से काव्य स्वयं एक सृष्टि है। किन्तु महान् काव्य की कृतार्थता कलात्मक रचना के सौन्दर्य में ही नहीं है।** ससार के साहित्य की महान् काव्य-कृतिया सास्कृतिक विकास मे सामाजिक जीवन की महती प्रेरणा रही हैं। श्रेष्ठ काव्य मे सामाजिक सत्य के

यथोचित ग्रहण के साथ साथ सस्कृति की विधायक चेतना का सम्पुट भी वाछनीय है। श्रेष्ठ काव्य अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपो मे करता है। महाभारत और रामायण अपने अपने युग के समाज के विशद चित्र मात्र नही हैं। अनेक प्रसगो मे उनमे सामाजिक सस्कृति के विधायक सिद्धान्तो और तत्वो का समावेश हुआ है। आगे की कृतियो मे अतीत के इतिहास का उपादान प्रमुख रहने के कारण अपने काल के सामाजिक यथार्थ के ग्रहण की सभावना अधिक नही रही। ऐसे काव्यो मे अपने युग के सामाजिक तथ्यो का सन्निवेश 'उत्तर रामचरित' के शबूक-वध, मधुपर्क आदि के समान यत्र-तत्र मिलता है। किन्तु ऐतिहासिक आधार के निमित्त मे भी जीवन और सस्कृति के सामान्य सिद्धान्तो के उद्घाटन का अवकाश रहता है। सभी काव्यो मे ये सिद्धान्त न्यूनाधिक मात्रा मे मिलते हैं। ये सिद्धान्त तत्व ही ऐतिहासिक काव्य को सनातन महत्व की वस्तु बनाते हैं। सामान्यत जिन्हे क्लासिक्स कहा जाता है उनकी अमरता का यही कारण है।

यह सत्य है कि इतिहास का नैमित्तिक आधार मात्र रहने के कारण अधिकाश काव्यो में मनुष्य के सामान्य स्वभाव का चित्रण तथा जीवन के शाश्वत सत्यों का उद्घाटन ही अधिक हुआ है। किसी युग के सामाजिक यथार्थ का परिचय उनमे कम मिलता है। आश्चर्य की बात है कि इन कृतियो मे कल्पना तथा शाश्वत सत्य का सगम है किन्तु सामाजिक यथार्थ का पर्याप्त समन्वय नही है। कलात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का महत्व भी काव्य मे बढता गया। कालिदास के बाद सस्कृत काव्य मे तथा हिन्दी के रीति-काव्य मे यह प्रवृत्ति अधिक प्रबल है। आधुनिक हिन्दी के छाया-वादी काव्य मे प्रकृति और काल्पनिक प्रेम की प्रधानता रही। कुछ प्रबन्ध काव्यो में जीवन के सामाजिक सत्य के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष अवश्य प्रकाशित हुए हैं। राष्ट्रीय काव्य मे एक स्वतत्रता की समस्या ही उच्च स्वर मे मुखरित हुई। स्वतन्त्रता के पूर्व और बाद के काव्य मे वर्तमान जीवन के सामाजिक यथार्थ का अनुपात और स्वर बढने लगा। जिसे प्रगतिवादी काव्य कहा जाता है उसमे नग्न और उग्र सामा-जिक यथार्थ का आग्रह अधिक प्रबल है। अन्य सामान्य कविताओ मे उनका स्वर कला और संस्कृति की मर्यादाओ से प्रभावित है। किन्तु जिस प्रकार शताब्दियो की दासता के बाद हमारा समाज जागरण की करवट ले रहा है उसी प्रकार आधुनिक कविता भी इतिहास, कल्पना शाश्वत सत्य आदि की प्राचीन भूमिकाओ का

तिरस्कार करते हुए भी वर्तमान सामाजिक यथार्थों और आकांक्षाओं के प्रति अधिक जागरूक हो रही है। किन्तु सदा की भाँति अब भी विशेष तथ्यों का ही ग्रहण अधिक हो रहा है। यह सत्य है कि तथ्यों में भी सिद्धान्त अन्तर्निहित होते हैं किन्तु सामाजिक क्रान्ति के लिए प्रधान सिद्धान्तों की व्यापक भूमिका में जीवन के यथार्थ का प्रकाशन अपेक्षित है। कामायनी' की भाँति शाश्वत सत्यों का उद्घाटन तो मिलता है, किन्तु एक विशाल और व्यापक सामाजिक यथार्थ की भूमिका में समाज के जागरण और विकास की प्रेरणा को साकार करने वाला काव्य अभी अभिलाषा का ही विषय है।

सामाजिक सत्य के साथ काव्य के सबन्ध के प्रसग मे व्यक्ति और समाज तथा व्यक्तियो के परस्पर सम्बन्धो का विचार आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध समाज शास्त्र का एक जटिल प्रश्न है। व्यक्ति की स्वतत्रता और व्यक्तित्व का महत्व इस प्रश्न का मर्म है। व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टिकोण क्रमश व्यक्ति और समाज के महत्व को अधिक मानते हैं। इस एकागी दृष्टिकोण मे अन्तत व्यक्ति की ही हानि होती है। व्यक्तिवाद मे जो व्यक्ति के महत्व की प्रतिष्ठा की जाती है वह यदि अन्य व्यक्तियो की प्रतिष्ठा के लिए हानिकारक होती है तो अन्तत आत्मघाती बन जाती है। समाजवाद मे प्राय सामूहिक हित के लिए व्यक्ति की बलि हो जाती है। इन मतो के विरोध का परिहार व्यक्ति और समाज में सामजस्य देखने पर हो सकता है। समाज व्यक्तियो का समूह है। केवल समूह को समाज कहना उचित नहीं है। इन व्यक्तियो के बीच पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा समाज का निर्माण होता है। इस समाज मे व्यक्तियो का पूर्ण सामजस्य होना कठिन है। प्राय व्यक्तियों के हितो मे विरोध बना रहता है। इस विरोध की स्थिति में व्यक्ति के अधिकार और स्वातन्त्र्य की क्या मर्यादा हो सकती है, यही समाजशास्त्र का मूल प्रश्न है। समान स्वतन्त्रता का सिद्धान्त ही इस मर्यादा का सूत्र बन सकता है। समानता को भग करने वाले तथा विषमता को बढाने वाले व्यवहार वर्ज्य और दण्डनीय हे। समानता की सीमायें बहुत व्यापक और अनिश्चित हैं। ज्ञान और इच्छा के समुचित जागरण में ये सीमायें अधिक स्पष्ट होती हैं। गभीर विश्लेषण के द्वारा इस समानता और स्वतन्त्रता के मर्म मे सामाजिक हित की प्रेरणा भी मिल सकती है। अन्य व्यक्तियो का हित ही इस सामाजिक हित का अर्थ होगा। समात्मभाव इसका मूल सूत्र होगा। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो की कठिन

पहली को मुलझाने मे समात्मभाव का सूत्र सहायक हो सकता है। काव्य मे कवि अथवा पात्रो के रूप मे व्यक्ति के स्थान का निर्णय भी समात्मभाव के आधार पर ही हो सकता है। प्रबन्ध काव्यो मे नाटको के उदात्त चरित्र समात्मभाव से परिपूर्ण हैं। किन्तु वीर नायको के चरित्र मे प्राय इसका खडन भी मिल जाता है। समाज और काव्य दोनो में व्यक्ति की ऐसी प्रतिष्ठा, जो दूसरो के व्यक्तित्व को हीन बनाती हो, समात्मभाव की विरोधी है। हिन्दी के आधुनिक गीत काव्य मे कवि का अहकार प्राय समात्मभाव का खडन करता है। दूसरो के व्यक्तित्व को आघात न पहुँचाने की सीमा तक व्यक्तिवाद मान्य हो सकता है। इस सीमा का निर्धारण समात्मभाव के अनुरूप स्वतन्त्रता और समानता के आधार पर ही हो सकता है। दूसरो के व्यक्तित्व के उन्नयन के अर्थ मे सामाजिक हित की सृजनात्मक प्रेरणा व्यक्तित्व का ऐसा गौरव है, जिसमे व्यक्ति और समाज के विरोध का अन्तिम सामजस्य हो जाता है। जीवन के व्यापक उपकरणो को लेकर इस सृजनात्मक प्रेरणा को विविध रूपो मे साकार बनाने वाले काव्य साहित्य की अनमोल निधि बन सकते हैं। अनेक काव्यो मे यह प्रेरणा मिलती है, फिर भी जीवन के अनेक क्षेत्र इस प्रेरणा का प्रकाश पाकर काव्य मे खिलने के लिए अभी तक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

जीवन के अनेक उपकरणो और पक्षो के अतिरिक्त सामाजिक सबन्धो के के कुछ रूपो मे काव्य के इस अभाव के उदाहरण मिल सकते हैं। भारतीय काव्य में कुछ सामाजिक सबन्धो के आदर्श विपुलता से मिलते हैं। आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श शिष्य आदि के उदाहरण काव्यो मे बडी गरिमा के साथ प्रतिष्ठित किये गये हैं। श्रद्धा और आदर का भाव इन आदर्शों का मूल है। आदर्श नारी, आदर्श भक्त आदि इसी श्रेणी म गिनाये जा सकते हैं। इन सामाजिक सबन्धो म प्राय सामाजिक साम्य का श्रेष्ठ रूप मिलता है, फिर भी इन सबन्धो मे बडो के गौरव की अतिरजना मे छोटो के गौरव की कही-कही ऐसी उपेक्षा हुई है कि वह इस साम्य को भग कर देती है। एक प्रकार से इस साम्य की अवहेलना भारतीय परम्परा के सामाजिक दृष्टि कोण मे कुछ व्यापक रूप से हुई है। इस सामाजिक दृष्टिकोण में बडो के गौरव और छोटो के कर्त्तव्य पर कुछ एकागी बल दिया है। इसके विपरीत छोटो के प्रति बडो के कर्तव्य पर अथवा छोटो के अधिकार पर जोर नहीं दिया गया है। आदर्श पति आदर्श पिता, आदर्श गुरु आदि के उदाहरण साहित्य और परम्परा में ऐसी प्रखरता से प्रतिष्ठित नही हुए हैं, जैसी

प्रखरता से आदर्श पुत्र, आदर्श पत्नी, आदि चरित्रों की प्रतिष्ठा हुई है। समाज और संस्कृति की परम्परा मे इन आदर्शो का ऐसा प्रभाव नही रहा जैसा साहित्य मे दिखाई देती है। फिर भी आश्चर्य की बात है कि साहित्य और काव्य मे ये आदर्श पूर्ण रूप से उपेक्षित रहे। पुरुष-तन्त्र के प्रभाव से समाज मे भी इन आदर्शो का मान कम होता गया। किन्तु ऐसी स्थिति मे इन आदर्शो का अंकन और भी अधिक आवश्यक हो जाता है। पति और पिता के रूप मे शिव का आदर्श ही एक अत्यन्त महिमामय रूप मे काव्य का विषय बन सकता था। किन्तु खेद की बात है कि 'कुमार सभंव' के अपूर्ण अपवाद को छोड कर संस्कृत तथा हिन्दी कवियो का ध्यान इस ओर नहीं गया। वे राम और कृष्ण के चरित्रो के उस रूप मे ही अधिक रमते रहे जिसमे पिता अथवा पति का कर्त्तव्य यथेष्ट गौरव नही पा सका। भारतीय लोक-संस्कृति की परम्परा में अत्यन्त स्नेह से अभिसिंचित और अत्यन्त गौरव से मण्डित एक बहन का सबन्ध ऐसा है जो साहित्य में नितान्त उपेक्षित रहा है। भारतीय परम्परा मे विश्व की कल्पना एक कुटुम्ब के रूप मे की गई है। सामाजिक सबन्धो की विविधता भारतीय संस्कृति का वैभव है। इन विविध सामाजिक सम्बन्धो के रूप मे समात्मभाव की भूमिका मे सामाजिक सत्य की प्रतिष्ठा काव्य को समाज का प्रतिनिधि और निर्माता बना सकती है। सामाजिक सम्बन्धो को अधिक व्यापक और सम्पन्न रूप में समाहित करने के कारण 'रामचरित मानस' भारतीय साहित्य का सबसे अधिक प्रतिनिधि काव्य है। वीरता, भक्ति, शृंगार, आदि के सम्मोहन मे मध्यकाल के कवि काव्य के सामाजिक वैभव को उचित आदर नही दे सके। अहंकार और आधुनिकता के मोह मे आधुनिक कवि भी इस ओर ध्यान नही दे सके। आशा है कि भारत की सांस्कृतिक परम्परा से प्रेरित कोई भावी कवि भारतीय साहित्य के इन उपेक्षित अंगो का आदर करेंगे।

अध्याय १७

ऐतिहासिक सत्य और काव्य

'सामाजिक तथ्य', घटना संस्था, प्रथा, परम्परा, सम्बन्ध, व्यवहार आदि के रूप मे होते हैं। व्यवस्था और परम्परा सामाजिक तथ्य के विभिन्न रूपो के दो प्रधान पक्ष हैं। व्यवस्था तथ्य के अङ्गों के पारस्परिक सम्बन्ध की वस्तुगत स्थिति है। परम्परा इस व्यवस्था की गति का कालगत क्रम है। एक काल के सम्बन्ध मे यथार्थ का रूप घटना अथवा तथ्य कहलाता है। आनुकालिक सम्बन्ध से ये ही तथ्य इतिहास का निर्माण करते हैं। इतिहास में यथार्थ के साथ काल विशेष के अवच्छेद अथवा क्रम का प्रसग रहता है। इति' यथार्थता का सूचक तथा 'हास' (ह+आस) भूत के निश्चित (ह) काल सम्बन्ध का द्योतक है। प्रकृति और समाज दोनों के तथ्य जड नहीं वरन् गतिशील होते हैं। काल की गति से ही उनका रूप बनता है। यह गति ही उनका इतिहास है। जीवन और जगत के तथ्य कला और काव्य के उपादान हैं, इस दृष्टि से काव्य का इतिहास मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। चित्रकला, सगीत आदि कलाओ का रूप मुख्यत ऐन्द्रिक होने के कारण उनमे इतिहास की परम्परा सम्बद्ध रूप मे अंकित नही हो सकती। स्मृति और धारणा इन्द्रियो के धर्म नही, बरन् अन्त करण के लक्षण हैं। काव्य के विधान मे शब्द की शक्ति द्वारा इन्द्रियो के रूपो के अतिरिक्त स्मृति और धारणा के अर्थमय सस्कार भी सन्निहित हैं। यही कारण है कि स्फुट कविताओ मे कालक्षणो से अवच्छिन्न तथ्यो का ग्रहण होने के अतिरिक्त प्रबन्ध काव्यों मे प्राय तथ्यो की परम्परा का ऐतिहासिक आधार रहता है। इस ऐतिहासिक आधार को सक्रिय और सजीव रूप मे प्रस्तुत करने के कारण ही नाटक इतना लोकप्रिय है तथा नाटकीय गतिशीलता और सजीवता से युक्त प्रबन्ध काव्य अधिक प्रभावशाली हुआ है। जीवन की व्यवस्था और गति का लेखा होने के कारण इतिहास काव्य का उपयोगी उपादान है। किन्तु इतिहास व्यवस्था और परम्परा का यथार्थ रूप है। जो घटनायें जिस रूप मे घटित हुई हैं और जो व्यवस्थायें जिस काल मे जिस रूप मे वर्तमान थी, उनका यथावत् अकन ही इतिहास है। यथार्थ को अन्यथा करना तो अनुचित और असम्भव है, किन्तु किसी

यथार्थ की अन्यथा कल्पना करना सम्भव है और सर्वदा अनुचित भी नहीं। इतिहास मे तो ऐसी कल्पना का कोई अवकाश नहीं है, किन्तु काव्य मे इसका उपयोग होता रहा है। **इतिहास यथार्थ का पूर्णत अक्षुण्ण रूप है। इतिहास काव्य का उपादान है, किन्तु काव्य इतिहास नहीं।** दोनो के रूप और प्रयोजन मे अन्तर है। इतिहास का वैज्ञानिक रूप जीवन की परम्पराओ का निष्पक्ष और वास्तविक विवरण है। इतिहास का एक दार्शनिक रूप भी है, जिसकी उत्कृष्ट स्थापना टौयनबी ने की है। **यह दार्शनिक स्थापना जीवन की परम्परा के यथार्थ में एक सास्कृतिक प्रयोजन का सूत्र देखती है।** वैज्ञानिक दृष्टिकोण इस सूत्र को कल्पना तथा आरोपण मानता है। इतिहास मनुष्य जीवन का वृत्त है, इसलिए यदि उसकी प्रगति मानवीय समाज की सास्कृतिक साधना का मार्ग बन जाये तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। किन्तु दार्शनिक इतिहास वैज्ञानिक इतिहास का विरोध नही करता, वह सभी तथ्यो और घटनाओ को यथावत् रूप मे स्वीकार करके उनकी व्याख्या करता है। वैज्ञानिक इतिहास भूत के तथ्यो का विवरण है। दार्शनिक इतिहास इन तथ्यो की व्याख्या है। इस व्याख्या मे भविष्य का एक अनुक्त सकेत भी रहता है। **फिर भी इतिहास विवरण ही है, निर्माण नहीं। काव्य के साथ इतिहास का यह मौलिक अन्तर है।** काव्य रचना है। वह जीवन की अन्तर्तम और उच्चतम आकाक्षाओ का सुन्दर और मगलमय समाधान है। अतीत के प्रकाश मे वर्तमान के रहस्यो का उद्घाटन करने के साथ साथ भविष्य की श्रेष्ठ सम्भावनाओ का सकेत भी काव्य मे निहित रहता है। इस प्रकार काव्य एक अकाल कला के चमत्कार की त्रिकाल विभूति है। इसीलिए शकराचार्य ने उपनिषदो के कवि को क्रान्तदर्शी और सर्वदृक् कहा है। 'क्रान्त' मे इतिहास का ग्रहण है और 'सर्व' मे वर्तमान तथा भविष्य का समाहार है। इतिहास के विवरण और व्याख्या का उद्देश्य बुद्धि का विशदीकरण है। किन्तु काव्य के कृतित्व का उद्देश्य जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओ को समात्वभाव के द्वारा गति, प्रेरणा, आलोक और उल्लास प्रदान करना है। **'काव्य' कला के कूलो पर जीवन की प्रवाहिनी का तरंगित सगीत है।**

'इतिहास' यथार्थ की परम्परा का वृत्त है। 'काव्य' यथार्थ के आधार पर कल्पना की सृष्टि है। इतिहास और काव्य का वही सम्बन्ध है, जो सामान्यत यथार्थ और कल्पना का है। यथार्थ और कल्पना में विरोध आवश्यक नहीं है, किन्तु यथार्थ की नियति और कल्पना की स्वच्छन्दता के कारण विरोध सम्भव है।

इस विरोध से चेतना की व्यवस्था मे असगति उत्पन्न होती है। यह असगति कला के रूप मे असामजस्य का कारण बनती है। अत चाहे सभी तथ्यों के स्मृति मे मानसिक प्रत्यय बन जाने के कारण कलात्मक कल्पना चेतना मे उनकी नवीन सृष्टि करती हो और चाहे यह सृजन कलात्मक कल्पना की पूर्णत स्वच्छन्द क्रिया हो, फिर भी कल्पना की सृष्टि और व्यवस्था मे अन्तर्गत असगति उचित नही। यह असगति कला के सौन्दर्य का खण्डन करती है, जिसका रूप सामजस्य है। शुद्ध कला की दृष्टि से यथार्थ और कल्पना मे कोई भेद नही है। किन्तु चेतना मे प्रत्यक्ष अनुभव के सस्कार अन्तर्निहित रहते हैं तथा व्यवहार की अवस्था मे वे प्रकट हो जाते हैं। इसलिए कल्पना अनर्गल सृष्टि करने मे सकोच करती है। ऐसा करने पर वह कला के स्वरूप मे असामजस्य पैदा करती है। इसलिए कलात्मक कल्पना से लिए यथार्थ का आदर करना उचित है। यथार्थ के अकन का भी एक कलात्मक सौन्दर्य है। अनुभव, निरीक्षण और अनुकृति के चमत्कार द्वारा वह चेतना के प्रसाद का साधक है। यथार्थ के उपादानो से जहा कल्पना अ-यथार्थ व्यवस्थाओ की सृष्टि करती है, वहा वह अधिक स्वच्छन्द है। किन्तु इस सृजन में भी संगति की द्विविध मर्यादा मान्य है। एक तो इन व्यवस्थाओ मे ग्रहीत तथ्यो मे अन्तर्गत सगति अपेक्षित है। दूसरे प्राकृतिक अनुभव, सामाजिक शिष्टाचार आदि की दृष्टि से इन तथ्यो का परस्पर सगत होना वाछनीय है। यह स्पष्ट है कि इस सगति का निर्णय केवल तथ्यो के स्वरूप के आधार पर कठिन है। सामाजिक शिष्टाचार और औचित्य की भावना मे ऐतिहासिक यथार्थ के साथ साथ नैतिक आदर्शों का प्रश्न भी आ जाता है और सत्य से निकल कर हम शिव के क्षेत्र मे आ जाते हैं। तथ्यो की स्वच्छन्द व्यवस्था का रूप-विधान कल्पना से प्रसूत होने के कारण यथार्थ के साथ उनकी अनुरूपता प्रमाणित नहीं की जा सकती। इस व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहीत तथ्यो की परस्पर असगति और सगति के निर्णय मे प्राकृतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक यथार्थ के निरीक्षण कुछ सहायक हो सकते हैं, किन्तु इसमें भी और इससे भी अधिक सम्पूर्ण व्यवस्था की सगति का निर्णय अन्तत सामाजिक औचित्य के आधार पर ही किया जा सकता है। **सामाजिक औचित्य के निर्णय में शिव के स्वरूप के सभी सास्कृतिक प्रश्न सजग हो उठते हैं।**

अत कला और काव्य की सबसे पहली मर्यादा यह है कि यदि कोई कृति इतिहास पर आधारित है, तो जहाँ तक उसमे ऐतिहासिक तथ्यो का ग्रहण किया गया

है, वहां तक उनका अंकन यथार्थ रूप मे ही किया जाना उचित है। व्यावहारिक चेतना के समान ही यह यथार्थ की अनुकृति कला के सौन्दर्य मे बाधक नही वरन् चेतना के प्रसाद द्वारा सौन्दर्य की साधक है। कला की दूसरी मर्यादा का संबन्ध ऐतिहासिक तथ्यो के परिवर्तन से है। कलाकार इतिहास-लेखक नहीं है; इसीलिए उसे इस परिवर्तन का उतना ही अधिकार है, जितना नवीन तथ्यो और कल्पनाओ के सृजन का। किन्तु परिवर्तन के द्वारा वास्तविक तथ्यो को विकृत बनाने का अधिकार कलाकार को भी नहीं है। विकृति का सम्बन्ध तथ्य के समग्र रूप से है, यदि इस समग्र रूप मे कोई ऐसा अन्तर नहीं आता जो सामाजिक औचित्य को चुनौती देता है अथवा यथार्थ के आधार को खण्डित कर देता है, तो वह कलात्मक सामंजस्य मे बाधक नहो होता। यथार्थ के रूप पूर्णत सुन्दर नही होते, अत इस प्रकार के परिवर्तन कभी सौन्दर्य के वर्द्धक भी हो सकते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे कालिदास की दुर्वासा के शाप की कल्पना एक ऐसा ही उदाहरण है। 'उत्तररामचरित' के अन्तिम अक मे राम-सीता के मिलन की कल्पना तथा 'महावीरचरित' मे बालि के साथ राम के साक्षात् युद्ध की कल्पना आदि भी इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। रामकथा के तथ्यो का उक्त परिवर्तन ऐतिहासिक यथार्थ से असगत है। सामाजिक चेतना मे इन तथ्यो के अधिक रूढ हो जाने के कारण इनके साथ कल्पना की असगति कलात्मक सामजस्य को छिन्न बनाती है। यथार्थ के साथ सगति कला के प्रभाव को बल प्रदान करती है। इस बल के विपरीत असगतिजन्य दुर्बलता के कारण इतने महत्त्वपूर्ण होते हुए भी ये दोनो तथ्य हमारी साहित्यिक चेतना मे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सके हैं। कभी कभी लोक परम्परा मे प्रतिष्ठित भावना के विपरीत तथा ऐतिहासिकता से असगत तथ्यो की कल्पना लोक मानस मे बड़ा क्षोभ उत्पन्न कर देती है। जुलाई १९५७ की 'सरिता' मासिक पत्रिका मे प्रकाशित 'राम का अन्तर्द्वन्द्व' नामक कविता इसका नवीनतम उदाहरण है। इस कविता मे बिना पर्याप्त ऐतिहासिक आधार के यह कल्पना की गई है कि सीता छलपूर्वक राम और लक्ष्मण को पर्णकुटी से दूर भेजकर अपनी इच्छा से रावण के साथ भाग गई थी। दुर्वासा का शाप एक पूर्णत नवीन कल्पना है। ऐतिहासिक यथार्थ के साथ उसकी निषेधात्मक असगति अवश्य है, किन्तु भावात्मक असगति का प्रश्न नहीं है। यथार्थ की अपेक्षा सामाजिक औचित्य की दृष्टि से इसकी सगति का विचार अधिक समीचीन है। सामाजिक चेतना के एक रूप से इसकी पर्याप्त सगति हो जाने के कारण

दुर्वासा के शाप की कल्पना भवभूति की उक्त दो कल्पनाओं की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा पा सकी। अस्तु, **कलात्मक कल्पना की तीसरी मर्यादा का रूप यह है कि नवीन तथ्यों और व्यवस्थाओं की कल्पना का एक ओर समाज के सामान्य यथार्थ और अनुभव के साथ विरोध न हो, दूसरी ओर आदर्शमुखी सामाजिक चेतना से भी वह संगत हो।** यथार्थ के किसी विशेष रूप से संगति का प्रश्न न होने के कारण निषेधात्मक असंगति कला की स्वच्छन्द कल्पना को बाधित नहीं करती, किन्तु सामाजिक अनुभव के सामूहिक यथार्थ के साथ इसके विरोध का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इन स्वच्छन्द कल्पनाओं को यथार्थ का बल नहीं मिलता, फिर भी यथार्थ से असंगति के कारण इनके प्रभाव में दुर्बलता भी नहीं आती। इनका कलात्मक प्रभाव कृति की सम्पूर्ण व्यवस्था के साथ इनके सामंजस्य और रचना के सौन्दर्य पर ही निर्भर होता है। **नवीन तथ्यों की कल्पना में एक मर्यादा और मान्य है कि वे अनर्गल नहीं होने चाहिए। स्वच्छन्द होते हुए भी कल्पना अनर्गल नहीं है। मर्यादा उसकी अर्गला है। समुद्र की वेला की भाँति वह अनुल्लंघनीय है।** इस मर्यादा की अनेक दिशायें हैं। अतिशयोक्ति एक रूप में कविता का अलंकार भी है, किन्तु मध्यकाल के कवियों की राजप्रशंसा की भाँति निर्मर्याद होकर वह उपहास का कारण बनती है। कलात्मक सौन्दर्य के सामंजस्य को खण्डित करके वह कृति को असुन्दर बनाती है। सामाजिक यथार्थ की संगति की दृष्टि से असम्भव प्रतीत होने पर अविश्वास का कारण बनती है। **आस्था कलात्मक सौन्दर्य का आधार है।** अनास्था का कारण बनकर अविश्वास कला की रसानुभूति के मूल पर ही आघात करता है। **सत्य और असत्य का भेद कला के प्रसंग में पूर्णतः निर्मूल नहीं है, जैसा कि कौलिंगवुड का विश्वास है।** आन्तरिक अनुभूति अथवा कल्पना में भी, जिसे क्रोचे तथा कौलिंगवुड कला का स्वरूप मानते हैं, सत्य के आधार की आस्था महत्त्वपूर्ण है। वही कलात्मक कल्पना को सौन्दर्य का मूल्य प्रदान करती है। **निराधार और असत्य कल्पनायें भी सत्य के रूप में स्वीकृत होकर ही कला का उपादान बनती हैं। कला का सत्य यथार्थ नहीं है, किन्तु यथार्थ के साथ असंगति उसे असत्य से लांछित करती है। सत्यता की प्रतीति कला की रसानुभूति का आधार है।** मोहनलाल महतो के 'आर्यावर्त' महाकाव्य में पृथ्वीराज के मरने के बाद संयोगिता का गोरी पर आक्रमण एक ऐसी ही अनर्गल कल्पना है, जो असम्भव न होते हुए भी ऐतिहासिक यथार्थ से अधिक असंगत होने के कारण कलात्मक

प्रभाव की दृष्टि से दुर्बल हो जाती है। कलात्मक रचना की दृष्टि से सुन्दर होते हुए भी वह राष्ट्रीयभावना को सत्य का बल नही दे पाती।

अस्तु ऐतिहासिक तथ्य के सबन्ध में कल्पना की स्वच्छन्दता सीमित है। इतिहास अतीत का इतिवृत्त है। अतीत अपरिवर्तनीय है। प्राकृतिक तथ्यो की भाँति ऐतिहासिक तथ्यो को भी अन्यथा करने का अधिकार कवि तथा कलाकार को नही है। अत्यन्त प्रसिद्ध तथ्यो के विषय मे इनको परिवर्तन करने का अधिकार सबसे अधिक सीमित है। जहा प्रसिद्ध तथ्यो मे कवि ने भवभूति की भाति मनोवाछित परिवर्तन किये हैं, वहाँ प्रसिद्ध यथार्थ के विरोध मे कल्पना के दुर्बल हो जाने के कारण कला की दृष्टि से सुन्दर होते हुए भी कृति का प्रभाव मन्द हो जाता है। अप्रसिद्ध तथ्यो के विषय में कवि की कल्पना अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द है। सामाजिक चेतना मे अप्रसिद्ध तथ्यो के सस्कार अधिक रूढ अथवा स्पष्ट न होने के कारण नवीन कल्पना और परिवर्तन अधिक ग्राह्य बन जाते हैं। ऐसी स्थिति मे कवि की कल्पना के प्रभाव को विरोध से दुर्बल बनाने के लिए कोई प्रबल तथ्य वर्तमान नही रहते। कवि के परिवर्तनो और उसकी कल्पना की सफलता एव प्रभविष्णुता कल्पना की सजीवता और कृति की सम्पूर्ण व्यवस्था के साथ कल्पित तथ्यो की सगति पर निर्भर होती है। 'साकेत' मे चित्रकूट की सभा और उसमें कैकेयी के द्वारा अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण ऐसे परिवर्तन का उदाहरण है। वाल्मीकि रामायण के आधार पर राम के वनवास का उत्तरदायित्व दशरथ पर होने के कारण कैकेयी के चरित्र का बहुत कुछ परिशोध हो गया है। अत चित्रकूट की कल्पना समस्त कृति की योजना से सगत तथा प्रभावशाली है। जयशकर प्रसाद की 'कामायनी' की व्यवस्था भी एक अल्प और अप्रसिद्ध कथानक का मनोवाछित रूपान्तर है। प्रसाद जी ने जलप्लावन और मनु के बचने के प्रसग को तथावत् रहने दिया है। उन्होने अप्रसिद्ध तथ्यो का ही कल्पना से रूपान्तर किया है। इसलिए 'कामायनी' की कथा ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत नही जान पडती। कवि की कल्पना को सबसे अधिक स्वच्छन्दता शून्य मे तथ्यो का सृजन करने मे होती है। कला की दृष्टि से शून्य ऐतिहासिक तथ्यो के बीच का अन्तराल है। इस अन्तराल मे कोई तथ्य न होने के कारण ऐतिहासिक यथार्थ से कल्पना के विरोध का प्रश्न नही रहता, कल्पना की सफलता पूर्णत व्यवस्था की सामान्य सगति पर निर्भर करती है। 'साकेत' मे उर्मिला का विरह वर्णन एक ऐसी ही कल्पना है। 'कामायनी' मे भी

इस कल्पना के लिए वहुत स्थान मिला है। 'आर्यावर्त' मे सयोगिता के साहस का प्रसग भी इसी कोटि मे है। अन्तिम कल्पना अनर्गल होने के कारण असगत हो गई है। 'साकेत की उर्मिला सम्बन्धी कल्पनाये भी कृति की सम्पूर्ण योजना से अधिक सगत नही बन सकी। उनम रीतिकालीन शृगार का चमत्कार अधिक है, शेष ग्रन्थ क साथ सगति का सौन्दर्य कम है।

ऐतिहासिक तथ्यो के परिवर्तन और नवीन तथ्यो की कल्पनाओ के सबसे अधिक सफल और सुन्दर होने की सभावना अप्रसिद्ध और अस्पष्ट तथ्यों के धुंधले क्षितिज पर होती है। सध्या के क्षितिज के समान इतिहास के धुंधले पटल पर कवि की प्रतिभा को शून्य के विशाल अन्तरालो में कल्पना के विचित्र मेघो की सज्जा रचने का सुन्दर अवसर मिलता है। प्राचीन इतिहास के अल्प-तथ्य कथानको तथा मध्य काल के अप्रसिद्ध और अपर्याप्त वृत्तो मे कल्पना को इस सज्जा का अच्छा अवसर मिलता है। 'मेघदूत' और 'कामायनी' इस सज्जा के दो अत्यन्त सफल और सुन्दर उदाहरण हैं। 'कामायनी' प्रागैतिहासिक कला के धुंधले और विशाल क्षितिज पर कवि-प्रतिभा का रमणीय चित्र विधान है। 'मेघदूत' सन्ध्या के उत्तर क्षितिज का अभियानी एक चित्र मेघ ही है।

अतीत भी इतिहास बनकर स्मृति मे कल्पना का ही रूप ग्रहण करता है। स्मृति अप्रस्तुत या उपस्थापन है। कल्पना अप्रस्तुत का विधान है। प्रत्यक्ष अनुभव से दोनो ही भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का इन्द्रिय-सन्निकर्ष स्मृति और कल्पना मे नही होता। स्मृति पूर्वानुभव का स्मरण है। **अत. भावी पीढियो के लिए इतिहास एक कल्पना ही है।** कल्पना के द्वारा ही हम अतीत सत्यो का साक्षात्कार करते हैं, इस दृष्टि से इतिहास भी कल्पना ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि पूर्वजो के सस्मरणो के आधार पर जिस अतीत वृत्त की रचना होती है, वह 'इतिहास' कहलाता है। इस इतिहास की कल्पना के प्रसग मे यह अकित इतिवृत्त एक मर्यादा है। कल्पना का विषय होने पर भी इस अकित इतिवृत्त मे हमारी ऐतिहासिक धारणाओ और वृत्तो का सवाद अपेक्षित है। **साहित्य और काव्य में सत्य का एक और रूप मिलता है, जिसे हम 'काल्पनिक सत्य' कह सकते है।** साहित्य मे *'उपन्यास' कथा और तथ्य की दृष्टि से काल्पनिक सत्य का ही लोक है।* उपन्यास की भांति नाटक और काव्य भी काल्पनिक सत्य के आधार पर रचे जाते है। कवि नरेन्द्र की 'कामिनी', सुमित्रानन्दन पत का 'सौवर्ण' आदि इसके उदाहरण हैं।

आधुनिक एकाकी नाटको मे इस काल्पनिक सत्य का आधार अधिक मिलता है। कवियो मे कदाचित् सत्य की कल्पना की क्षमता कम होती है, इसीलिए उपन्यास और नाटको की तुलना मे काल्पनिक सत्य पर आश्रित काव्य बहुत कम मिलते हैं। कवियो की कल्पना प्राय. यथार्थावलम्बिनी दिखाई देती है। वायुयान की भाँति मुक्त आकाश में उड़ते हुए भी वह यथार्थ की परम्पराओ के प्रवाह का आधार लेकर अपनी दिशा और गति का निर्धारण करती है। इसीलिए जहा काव्यो मे पूर्णत स्वच्छन्द कल्पना के विधान बहुत कम मिलते हैं, वहाँ ऐतिहासिक यथार्थ के आधार पर स्वच्छन्द जीवन गति के विधान बहुत है। सिद्धान्त की दृष्टि से पूर्णत काल्पनिक विधान का रूप और स्थान वही है, जो ऐतिहासिक कथानको के अन्तराल मे रचित आंशिक कल्पनाओ का है। काव्य मे जिस प्रकार आंशिक कल्पनाओ की सफलता और सुन्दरता का निर्धारण सम्पूर्ण इतिवृत्त के साथ कल्पित अश की सगति के द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार पूर्णत काल्पनिक वृत्त की सफलता और सुन्दरता का निर्णय उस वृत्त की आन्तरिक सगति तथा उस युग की सामान्य ऐतिहासिक परिस्थिति के साथ उसकी सगति के द्वारा किया जाता है। मानव-मनोविज्ञान के नियम और सामाजिक श्रेय की धारणायें भी इसमे सहायक होती हैं। यह स्पष्ट है कि दोनो के ही सम्बन्ध में मत-भेद की सम्भावना अधिक होने के कारण इस निर्णय का प्रश्न भी जटिल हो जाता है। युग के ऐतिहासिक और सामाजिक यथार्थ के साथ सगति के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता पर भी काल्पनिक सत्य का सौन्दर्य निर्भर होता है।

कविता मे चित्राकन और वृत्तवर्णन की अपेक्षा भाव-निरूपण का महत्व अधिक होता है, कदाचित् इसीलिए कल्पना मे समर्थ होते हुए भी कवियो ने काल्पनिक वृत्तों का विधान नही किया। जहाँ कविता केवल एक कला है और शैली का सौन्दर्य ही उसका सर्वस्व है, वहाँ कोई भी कथानक कला के लिए उपयुक्त हो सकता है। प्रसिद्ध कथानक का आधार पाठको की आस्था के साथ-साथ कला को यथार्थ का बल देता है। जहाँ काव्य केवल कला नहीं है और उसका प्रयोजन सास्कृतिक है, वहाँ इस प्रयोजन के निर्वाह के लिए एक उपयुक्त कथानक चाहिए। रामायण और महाभारत की कथाओ के समान विशाल इतिहासो मे तो सास्कृतिक प्रयोजन को अत्यन्त समृद्ध कल्पनाओं को आकार देने का आधार मिल जाता है। इसीलिए रामायण और महाभारत में इतिहास के अचल मे कला और सस्कृति का

सगम है। बाद की कृतियो मे कला की प्रधानता अधिक है। इसलिए कथानक का महत्त्व कम है। "नैषधीय चरित' मे कला के प्रपच के विस्तार मे कथानक ही अधूरा रह गया है। जहा काव्य मे सामाजिक और सास्कृतिक श्रेय के भाव को आकार देने का उद्देश्य होता है, वहा कथानक निमित्त मात्र रह जाता है। इतिहास के विशाल क्षेत्र मे इस निमित्त के लिए उपयुक्त कथानक मिलना कठिन नही है। इसीलिए सास्कृतिक प्रयोजन से प्रेरित कवियो ने भी ऐतिहासिक कथानको का आधार लिया है। 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र', भगवतीचरण वर्मा की 'द्रौपदी' और नरेन्द्र का 'धर्मराज इसके उत्तम उदाहरण हैं। तीनो ने महाभारत के कथा प्रसङ्गो को अपनी सास्कृतिक धारणाओ को आकार देने का आधार बनाया है। इतिहास के अल्प निमित्त का आधार लेकर उन्होने अपनी सास्कृतिक कल्पनाओ का प्रासाद निर्मित किया है। 'पार्वती' मे इसी प्रकार एक प्राचीन पौराणिक वृत्त के आधार पर सामाजिक सस्कृति की एक व्यापक और विशाल कल्पना प्रस्तुत की गई है। कथावृत्त और सास्कृतिक धारणा की सगति ऐतिहासिक आधार की सम्भावनाओ और कवि कल्पना की सामर्थ्य पर निर्भर है। **रामायण और महाभारत के बाद मध्यकाल में 'राम-चरित मानस' ही एक महान् सास्कृतिक काव्य है।** आधुनिक युग मे 'कामायनी' के कवि को एक सूक्ष्म और मौलिक कथानक मे एक विशाल और व्यापक सास्कृतिक उपस्थापना का निमित्त मिल गया। 'पार्वती' के कवि को प्रसिद्ध और सनातन शिव-कथा के तनु किन्तु विशाल क्षितियो के अन्तराल मे मानवीय सस्कृति का एक सम्पूर्ण विश्व रचने का अवकाश मिल गया। 'कामायनी और 'पार्वती' काव्य के इतिहास मे ऐतिहासिक निमित्त के आधार पर विशाल और गम्भीर सास्कृतिक योजनाओ की दृष्टि से अपूर्व है। 'कामायनी' मे मनोविज्ञान और व्यक्तिगत श्रेय साधना की प्रधानता है, जो समाज का प्रतीक बन सकती है। 'पार्वती' मे स्पष्ट रूप से सामाजिक श्रेय और सस्कृति की विशाल एव व्यापक प्रस्तावना है।

इतिहास मे प्राप्त प्राचीन इतिवृत्त प्राय साहित्य और काव्य के आधार बनते रहे हैं। अधिकाश प्रबन्ध काव्यों और नाटकों का आधार तो ऐतिहासिक वृत्त ही है। उनके कथा और पात्र इतिहास से ही लिये गये हैं। वाल्मीकि-रामायण और महाभारत को धार्मिक परम्परा मे इतिहास माना गया है। किन्तु दूसरी ओर साहित्यिक परम्परा मे इनकी गणना काव्य के अन्तर्गत की जाती है। वाल्मीकि को आदि कवि और उनकी रामायण को आदि काव्य माना जाता है। वेदव्यास के

महाभारत की गणना भी काव्य में ही की जाती है। रामायण और महाभारत दोनो संस्कृत के प्रथम और प्रमुख महाकाव्य माने जाते है। साथ ही धार्मिक परम्परा में इन्हें 'इतिहास' माना जाता है। यह इतिहास एक वेदांग है। इनके संबन्ध में इन भिन्न और भ्रामक मतो का कारण यह है कि ये दोनो ही तत्व की दृष्टि से इतिहास हैं और रूप की दृष्टि से काव्य हैं। इन दोनो मे कथावृत्त का विस्तार इतना है कि इन्हे इतिहास मानना अनुचित नही है। दूसरी ओर इनका रूप इतना कवित्वमय है कि वह इतिहास के लिए आवश्यक नही है। इतिहास का प्रयोजन केवल अतीत कथावृत्त से है। काव्य के संयोग को इतिहास मे दोष माना जा सकता है। जहा हमारा प्रयोजन केवल तथ्य से है, वहा सौन्दर्य का संयोग उसमे भ्रान्ति उत्पन्न कर सकता है। वस्तुत वाल्मीकि और वेदव्यास द्वारा रचित रामायण तथा महाभारत मुख्यत काव्य है। वे इतिहास नही है, वरन् इतिहास उनका आधार है। रघुवंशी और कुरुवंशी वीरो का अन्य कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नही है। अत इसके अभाव मे इन काव्यो को ही इतिहास माना जाता है। किन्तु यह एक अभाव-जनित उपचार है। यदि इनसे पूर्वतर कोई गद्य में तथा कवित्व से रहित इतिहास उपलब्ध होता तो इन काव्यो को इतिहास नहीं कहा जाता। ब्राह्मणो, उपनिषदो आदि मे जिसे 'इतिहास' कहा गया है, उस इतिहास का अभिप्राय वाल्मीकि और व्यास द्वारा रचित रामायण तथा महाभारत से नही है, वरन् उनके आधारभूत अतीत वृत्त से तथा ऐसे ही अन्य इतिवृत्तो से है। भारतीय साहित्य की परम्परा इतनी प्राचीन है कि उसका आरम्भिक रूप लिखित नही वरन् श्रव्य था। उस समय तक लिखने के साधनो का आविष्कार नही हुआ था। इतिहास भी उस समय लिखा नही जाता था। 'इति' से युक्त उसका नाम ही इस बात का सूचक है कि वृद्ध जन इतिहास को सुनाया करते थे। संस्कृत भाषा की प्रणाली में 'इति' का प्रयोग किसी व्यक्ति के कथन के अन्त मे उसकी समाप्ति की सूचना मे किया जाता है। पूर्वजो के द्वारा सुनाये गये ये प्राचीन वृत्त इस 'इति' के प्रयोग के साथ उत्तरोत्तर सुनाये जाते थे। आधुनिक इतिहास के लिखित होने के कारण उसकी शैली ऐसी नही है। वह पूर्वजो के कथनो की 'इति' पूर्वक आवृत्ति नहीं। वह अतीत के वृत्तो का विवरण मात्र है। पूर्वजो के कथन की आवृत्ति उसका रूप नही है। अत इतिहास के लिए अन्य भाषाओ मे जो पर्याय मिलते हैं उनमे इस 'इति' पूर्वक आवृत्ति का कोई प्रसंग नही। वाल्मीकि-कृत रामायण तो

मुख्यत एक काव्य है। उसमे काव्य का सौन्दर्य भी महाभारत से अधिक है। उसकी शैली मे भी इतिहास के रूप की छाया नही है। रामचरित का ऐतिहासिक वृत्त उसका तात्विक आधार है। राम को भगवान न मानकर एक महापुरुष के रूप मे चित्रित किया गया है। राम के प्रथम निर्वासन और सीता के द्वितीय निर्वासन आदि के कारण भी अधिक यथार्थ रूप में दिये गये हैं। इसी लौकिक यथार्थ के कारण 'रामचरितमानस' आदि की तुलना मे 'रामायण' को इतिहास माना जाता है। नारद आदि के कथनो मे पुराणो मे प्राप्त 'इति'-पूर्वक कथन के अर्थ में इतिहास का लेश भी 'रामायण' मे मिलता है। महाभारत में यह इतिहास की शैली अधिक विपुलता से मिलती है। काव्य का सौन्दर्य भी उसमें रामायण की अपेक्षा कम है। प्राचीन इतिवृत्त का विपुल भाडार महाभारत मे मिलता है। अत काव्य के साथ-साथ उसे इतिहास मानना रामायण की अपेक्षा अधिक उचित है।

रामायण और महाभारत के अतिरिक्त अन्य अनेक काव्यो मे भी प्राचीन इतिवृत्त का आधार लिया गया है। सस्कृत और हिन्दी के अनेक प्रबन्ध काव्य ऐतिहासिक आधार पर रचे गये हैं। इनमे अधिकाश काव्यो का आधार 'रामायण' और 'महाभारत' हैं। कुछ काव्यो का आधार पुराणो मे मिलता है। एक 'कामायनी' का आधार पुराणो से पूर्वतर वैदिक साहित्य मे है। किन्तु मनु की कथा भी एक प्रचीन इतिवृत्त ही है। पुराणो मे भी उसका उल्लेख मिलता है। 'पुराण' भी प्राचीन इतिवृत्त है। पुराण' का अर्थ ही प्राचीन है। इतिहास और पुराण मे कुछ भेद किया जा सकता है। इस भेद का विवरण हम अगले अध्याय में करेंगे। प्राचीन इतिहास पर आश्रित इन काव्यो को इतिहास नही कहा जाता, क्योकि ऐतिहासिक आधार के रूप मे इनका उपजीव्य रामायण और महाभारत मे मिलता हैं। अन्य पूर्व तर इतिहास के अभाव मे इनको ही इतिहास मान लिया जाता है। कालिदास के 'रघुवश' महाकाव्य का ऐतिहासिक आधार 'वाल्मीकि रामायण' मे मिलता है। भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपालवध', श्रीहर्ष का 'नैषधीय चरित' आदि 'महाभारत' में प्राप्त कथानको पर अवलबित हैं। अश्वघोष के काव्यो का आधार इतिहास की उक्त परम्पराओ से भिन्न बुद्ध के जीवनवृत्त मे मिलता है। हिन्दी मे प्राप्त रामचरित के काव्य मूलत वाल्मीकि रामायण पर ही आश्रित हैं। इनमे केशवदास की 'रामचन्द्रिका', मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और रामचरित उपाध्याय की 'रामचरित चिन्तामणि' उल्लेखनीय है। कृष्ण चरित के काव्य

महाभारत पर आश्रित हैं। इनमें हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' और द्वारका प्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त आधुनिक हिन्दी के आरम्भ काल में मैथिलीशरण गुप्त ने 'रामायण' और 'महाभारत' के कथानकों पर आश्रित अनेक खण्ड काव्य लिखे हैं। आधुनिक युग के उत्तरकाल में उर्मिला, कैकेयी, सीता, दमयन्ती, द्रौपदी, एकलव्य आदि के चरित्रों को लेकर प्रबन्ध-काव्य रचे गये हैं। शिव-कथा का आधार ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक अधिक है। 'रामायण' और 'महाभारत' के समान शिव का इतिहास नहीं मिलता, किन्तु लोक-परम्परा में शिव की कथा सदा प्रचलित रही है। पारिवारिक संस्कृति में तथा लोक धर्म में 'शिव-पार्वती' सीता-राम और राधा-कृष्ण से अधिक पूजित हैं। प्राचीन वृत्त होने के अर्थ में शिव कथा भी इतिहास है। शिव के ऐतिहासिक पुरुष होने में सन्देह हो सकता है किन्तु दाम्पत्य की जिस मधुर लौकिक भूमिका में शिव-कथा प्रतिष्ठित है उसके कारण शिव-चरित में इतिहास से भी अधिक सजीवता आ गई है। इस सजीवता को देखते हुए यह संभावना हो सकती है कि शिव चरित का कोई वस्तुगत ऐतिहासिक आधार रहा हो। वैदिक परम्परा से कुछ बाह्य होने के कारण कदाचित शिव का इतिहास नहीं रचा गया। किन्तु स्वतन्त्रचेता कवियों ने भी शिव के ऐसे सुन्दर और महिमामय चरित को अधिक ध्यान नहीं दिया; यह भारतीय साहित्य की एक आश्चर्यजनक पहेली है। इस पहेली का एक उत्तर यह हो सकता है शिव-पार्वती के तपोमय आदर्श के प्रति कवियों की अधिक श्रद्धा न रही। कालिदास के अपूर्व और शृंगार-पूर्ण 'कुमारसंभव' के अतिरिक्त शिवचरित पर आश्रित कोई उल्लेखनीय काव्य संस्कृत साहित्य में नहीं मिलता। हिन्दी काव्य में तो तुलसीदास के रामचरित मानस की भूमिका के अनुरूप शिव का कुछ उपहास ही मिलता है। शिव-पार्वती के महिमामय चरित पर आश्रित कोई भी उल्लेखनीय काव्य सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता। तुलसीदास का 'पार्वती मंगल' मध्यकालीन हिन्दी काव्य में इस कथन का एक अत्यन्त अल्प अपवाद है, साथ ही वह बालकाण्ड की भूमिका में किये गये शिव के उपहास का एक अत्यन्त अल्प परिशोध भी है। 'पार्वती' महाकाव्य शिव-पार्वती के महिमामय कथानक पर आश्रित हिन्दी का प्रथम उल्लेखनीय काव्य है। प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' के 'तारक वध' की रचना 'पार्वती' से पहले हुई, किन्तु साहित्य जगत को उसका परिचय तथा उसका प्रकाशन 'पार्वती' के बाद हुआ। इसके अतिरिक्त 'तारक वध' में गांधीजी के अहिंसा दर्शन का

आरोपण किया गया है, जो देव सेनानी कार्तिक के विदित ऐतिहासिक अथवा पौराणिक चरित्र के प्रतिकूल है। इतिहास का इतना प्रतिकूल परिवर्तन कवि कल्पना के अधिकार की मर्यादा का अतिक्रमण करता है। ऐतिहासिक और प्रसिद्ध पात्रो पर प्रतिकूल दर्शनो के आरोपण के स्थान पर काल्पनिक पात्रो के अवलंब से अपने अभीष्ट दर्शन का प्रतिपादन अधिक उचित है।

ऐतिहासिक सत्य के साथ काव्य के संबन्ध का कोई भी विवरण प्रसाद जी के नाटको के उल्लेख के बिना अधूरा रहेगा। प्रसाद जी के नाटक हिन्दी साहित्य के गौरवपूर्ण रत्न है। इनके साथ-साथ वे भारतीय इतिहास के अत्यन्त गौरव पूर्ण युगो और नायको को अमर बनाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के ओजस्वी और महिमामय चरित्र प्रसाद जी के नाटको मे अत्यन्त उज्ज्वल रूप से अंकित हुए हैं। काव्य और नाटक के गुणो का इनमे अद्भुत समन्वय है। प्रसाद जी ने इन नाटको की रचना अत्यन्त परिश्रम से की गई खोजो के आधार पर की है। इन नाटकों में भारत के राष्ट्रीय गौरव की प्रेरणा यौवन की ऊर्ज्जस्वित शक्ति के समान ओतप्रोत है। इस दृष्टि से जयशंकर प्रसाद हिन्दी के ही नहीं संभवतः भारतवर्ष के सम्पूर्ण साहित्य के इतिहास में सबसे अधिक राष्ट्रीय कवि है। किन्तु प्रसाद जी के नाटको की राष्ट्रीय प्रेरणा किसी ऐतिहासिक कथानक पर प्रतिकूल दर्शन का आरोपण नही है। ऐतिहासिक कथानको की प्रमाणित वास्तविकता के आधार पर ही प्रसाद जी ने अपने नाटको मे अनुकूलता-पूर्वक राष्ट्रीय प्रेरणाओ की सम्भावनाओ का सामंजस्य किया है। इतिहास, राष्ट्रीयता, काव्य और नाटक के अद्भुत सामंजस्य से युक्त प्रसाद जी के ये नाटक भारतीय साहित्य की अनमोल निधि हैं।

इतिहास के साथ काव्य के सम्बन्ध के प्रसंग मे मनुष्य का इतिहास के प्रति अनुराग तथा जीवन और काव्य मे इतिहास का महत्व भी विचारणीय है। इसी प्रसंग मे कथा और काव्य के सामंजस्य की कठिनाइयाँ भी प्रकट होती हैं। किसी सीमा तक इतिहास के प्रति मनुष्य का अनुराग स्वाभाविक है। इस अनुराग का मूल मनुष्य की जिज्ञासा और उसके कौतूहल में है। दूसरो के विषय में जानने की मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है। मनुष्य का यह कौतूहल वर्तमान और अतीत दोनो के सम्बन्ध मे होता है। मनुष्य की यह जिज्ञासा उसकी ज्ञान-सम्पत्ति को बढाती है। यह ज्ञान अपने आप में एक विभूति है। गीता मे इसको सबसे अधिक पवित्र माना है। किन्तु लौकिक ज्ञान का एक अन्तर्निहित प्रयोजन भी हो सकता है। मनुष्य की

जिज्ञासा के पीछे जीवन की रक्षा और उसके विकास मे ज्ञान के उपयोग की एक अलक्षित और अन्तर्निहित प्रेरणा भी सक्रिय हो सकती है। किन्तु इसके अतिरिक्त मनुष्य की जिज्ञासा का कुछ गभीर अभिप्राय भी हो सकता है। शुद्ध ज्ञान के अनुराग तथा जीवन मे ज्ञान की उपयोगिता के अतिरिक्त आत्मविस्तार एव अमरता तथा इनके द्वारा जीवन की अधिकतम समृद्धि एव अधिकतम सार्थकता की प्रेरणा भी सम्भवत मनुष्य की इस जिज्ञासा मे अन्तर्निहित है। शुद्ध ज्ञान मे तटस्थता रहती है तथा वह वस्तुओ एव व्यक्तियो को वहिर्गत विषय मानकर प्रवृत्त होती है। किन्तु यह वहिर्भाव ही ज्ञान का सर्वस्व नहीं है। दूसरे व्यक्तियो के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा आत्म-भाव से भी प्रेरित होती है। वर्तमान व्यक्तियो के प्रति हमारा कुछ अहकार और द्वेष का भाव भी हो सकता है, किन्तु अतीत काल के व्यक्तियो के प्रति सम्बन्ध मे इन प्राकृतिक भावो का अवकाश उन व्यक्तियो की अनुपस्थिति के कारण वहुत कम हो जाता है। इसी कारण अपने देश और अपनी जाति के पूर्व-पुरुषो के प्रति हमारा आत्मीय-भाव रहता है। इस आत्मीय-भाव में हमारे व्यक्तित्व का विस्तार होता है। अतीतकाल मे जितनी दूर तक हमारा यह आत्मीय भाव जा सकता है उतना ही हमारे व्यक्तित्व का वैभव और अमरता के भाव का विस्तार होता है। इतिहास के प्रति हमारे अनुराग का यह रहस्य शुद्ध ज्ञान और जीवन में ज्ञान की उपयोगिता से भी अधिक गभीर है। साहित्य और काव्य मे ऐतिहासिक कथानको के आश्रय का कारण भी इसी रहस्य में मिलता है। काल्पनिक कथानको के कल्पित पात्रो के साथ हमारी ऐसी आत्मीयता नही होती। उस आत्मीयता के लिए जो यथार्थता का आधार चाहिए वह इनमे नही मिलता। ऐतिहासिक कथानको के पात्रो के साथ उनकी यथार्थता के कारण हम एक वास्तविक आत्म भाव का अनुभव करते हैं। कवि की कल्पना के द्वारा इन पात्रो के रूप मे कुछ परिवर्तन होते हुए भी उनकी यथार्थता का आधार अक्षुण्ण बना रहता है। समाज का अतीत इतिहास प्रत्येक व्यक्ति का एक समृद्ध उत्तराधिकार बन जाता है और इस प्रकार वह प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व को समृद्ध करता है। इसके साथ-साथ अतीत का इतिहास वर्तमान पीढी का सामान्य उत्तराधिकार होता है। इस सामान्यता के भाव से वर्तमान पीढी के व्यक्तियो मे एक अलक्ष्य किन्तु गभीर समात्मभाव विकसित होता है। यह व्यापक और गम्भीर समात्मभाव वर्तमान जनो के व्यक्तित्व को और भी अधिक सम्पन्न बनाता है। इतिहास के यथार्थ का बल इसमे अन्तर्निहित होने के

कारण यह ममात्मभाव वास्तविक और सुदृढ होता है। साहित्य और काव्य मे भी इतिहास के यथार्थ का बल उन्हे प्रभावशाली बनाता है। भविष्य सुन्दर (भव्य) किन्तु सदिग्ध और अनिश्चित होता है। आशा और उत्साह की प्रेरणा भविष्य से ही मिलती है। किन्तु दूसरी ओर इतिहास की निश्चितता हमारे जीवन और साहित्य को एक सुदृढ सबल प्रदान करती है। **इतिहास के विश्वास और भविष्य की आशा के दो कूलो के बीच ही वर्तमान जीवन की भागीरथी प्रवाहित होती है।**

अस्तु इतिहास हमारे जीवन और साहित्य दोनों का एक दृढ़ संबल है। इतिहास का तत्व जीवन का अवलब और साहित्य का उपकरण बनता है। इतिहास पतीत समाज का इतिवृत्त है। इस दृष्टि से उसमे तत्व की ही प्रधानता होती है। इतिहास और जीवन दोनो का तत्व साहित्य एव काव्य का उपादान बनता है। **किन्तु साहित्य और काव्य की रचना केवल तत्व से ही नहीं होती। रूप का वैभव इनकी प्रमुख विशेषता है।** साहित्य और कला का सौन्दर्य 'रूप के अतिशय' मे प्रकाशित होता है। भाषा के क्षेत्र मे रूप के इस अतिशय को 'व्यजना' कहते हैं। व्यजना मे अर्थ अथवा भाव का अतिशय अन्तर्निहित रहता है। एक प्रकार से अर्थ और भाव का अतिशय रूप के अतिशय को सम्भव बनाता है। केवल रूप का अतिशय होने पर काव्य आलकारिक अधिक बन जाता है, किन्तु उसमे स्थायी मूल्य और प्रभाव नही रहता। भाव और रूप दोनों का अतिशय काव्य मे अपेक्षित होने पर इतिहास के साथ काव्य का सबन्ध कुछ विचारणीय बन जाता है। तत्व की यथार्थता इतिहास का आदर्श है। इतिहास के इस यथार्थ मे अतिशय वाछनीय नही होता। तत्व के अतिशय का सबन्ध रूप के अतिशय से होता है। **रूप के अतिशय के बिना तत्व के अतिशय की अभिव्यक्ति संभव नहीं है।** अत इतिहास के अतिशय-हीन यथार्थ तत्व की अभिव्यक्ति अभिधान के द्वारा होती है, इसमें रूप के अतिशय के लिए स्थान नहीं होता। **किन्तु काव्य में तत्व और रूप दोनों का अतिशय अभीष्ट होता है। इतिहास और काव्य का यह भेद काव्य के साथ इतिहास के सामजस्य की एक कठिनाई है।** इतिहास के तत्व और रूप दोनो मे अतिशय का योग देकर इतिहास को काव्य का उपादान बनाया जाता है। **जिस प्रकार भूमि, जल और वायु के रासायनिक तत्वो को ग्रहण कर वृक्ष प्रकृति के सौन्दर्य की रचना करते हैं, उसी प्रकार कवि और कलाकार इतिहास के तत्वो से सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं।** व्यजना के द्वारा रूप के अतिशय को समाहित करके ऐतिहासिक

कथानक मे कविजन काव्य रचते हैं। व्यजना मे आकृति के अन्तर्निधान के अतिरिक्त भाव का योग भी तत्व अतिशय की रचना करता। 'आकृति' अर्थ का अतिशय है। अर्थ अभिव्यक्ति का निरपेक्ष और उदासीन तत्व है। अतएव अर्थ का अतिशय प्राय व्यजना के आवरण मे अवगुण्ठित रहता है। मूलत अर्थ के निश्चेय होने के कारण उसका अभिधान सभव है। काव्य की व्याख्याओ और आलोचनाओ मे अर्थ के इस अतिशय का अभिधान के द्वारा विवरण किया जाता है। 'भाव' तत्व का अनभिधेय अतिशय है। व्यजना के विस्तार उसके क्षितिजो का स्पर्श भर सकते है। 'भाव' अर्थ के समान निरपेक्ष और उदासीन नही होता। वह पारस्परिक सम्बन्धो की सरस और अनिर्वचनीय भावना में उदित होता है। इतिहास जीवन का वृत्त है और भाव जीवन की विभूति है। अत इतिहास मे भी पात्रो के परस्पर सम्बन्ध मे भाव का अतिशय मिलता है। किन्तु इतिहास मे यथार्थता का अनुरोध अधिक रहता है। अत भाव का भी अभिधान अधिक किया जाता है। 'अभिधान' भाव का केवल बाह्य विवरण है, वह उसके मर्म को प्रकाशित नही कर सकता। इतिहास के उपादान से रचित काव्य मे व्यजना के द्वारा भाव की अभिव्यक्ति होती है। 'कवि' कल्पना के द्वारा भी ऐतिहासिक काव्य मे भाव के अतिशय का आधार करते हैं। ऐतिहासिक कथानको मे कवियो ने नवीन तथ्यो की कल्पनाये भी की हैं। किन्तु इन कल्पनाओ का उद्देश्य प्राय भाव की सृष्टि ही रहा है। रूप के अतिशय के साथ साथ भाव के अतिशय की रचना कवियो का प्रमुख कर्म रहा है। इसी रचना की अद्भुत शक्ति के कारण कुछ कवि महान बने हैं। तुलसीदास, प्रसाद आदि की कीर्ति का आधार भाव और रूप की अदभुत रचना ही है। जीवन और इतिहास का तथ्य भाव और रूप की रचना का मुख्यत एक निमित्त है। अत कवियो ने ऐतिहासिक कथानको मे तथ्यो की कल्पना भाव की अपेक्षा से ही की है। आकृति के जो तत्व कवियो के अभीष्ट रहते हैं, अन्तिम अन्वय मे वे भी भाव मे समन्वित हो जाते हैं। जीवन के मूल्य बन कर वे भाव के अनुरूप बन जाते हैं। तथ्य और भाव के रूप में प्राप्त इतिहास का यथार्थ काव्य को वास्तविकता का बल और प्रभाव देता है। इसीलिए काल्पनिक वृत्तो की ओर कवियो की रुचि कम रही है। सुन्दर और भाव-पूर्ण होते हुए भी ये काल्पनिक वृत्त ऐतिहासिक वृत्तो के समान प्रभावशाली नही बन सके हैं। सम्भव है इसमे कवियो की कल्पना का भी दोष हो, कदाचित

कवि ऐतिहासिक वृत्तो के समान प्रभावशाली वृत्तो की कल्पना नही कर सके हैं। इतिहास मे कुछ असाधारण पात्र, वृत्त, चरित, सवन्ध और भाव चमकते हैं। अपनी असाधारणता के कारण ही वे इतिहास मे अमर रहते हैं। ऐसी असाधारणता जीवन मे दुर्लभ है। वह कुछ असाधारण व्यक्तियो के जीवन की अद्भुत प्रतिभा से चरितार्थ होती है। कवियो के लिए भी ऐसी असाधारणता की कल्पना करना कठिन है। इसीलिए वे इतिहास का अवलव ग्रहण करते हैं। साधारण जीवन का काव्य भी सुन्दर वन जाता है, किन्तु उसे भाव की दृष्टि से असाधारण तथा प्रभावशाली नही बनाया जा सकता। उपन्यासो मे कवियो की कल्पना अधिक उर्वर दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि एक व्यापक व्यजना के रूप में साहित्य होते हुए भी उपन्यास मे अभिधान की विपुलता होती है। इस अभिधान मे जीवन के यथार्थ तत्व को अधिक परिमाण मे ग्रहण किया जा सकता है। यथार्थता की प्रचुरता ही उपन्यास को प्रभावशाली वनाती है। इसके विपरीत काव्य मे यथार्थ का आश्रय और उसका अभिधान बहुत कम रहता है। भाव और रूप की प्रधानता के कारण काव्य मे कथा तत्व कम ही रहता है, क्योकि वृत्त की अभिधेयता के कारण व्यग्य भाव और रूप से उसका सामजस्य कठिन हो जाता है। इसीलिए ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनो प्रकारो के काव्यो मे कथा-तत्व काव्य की माला के सुतनु सूत्र के रूप मे ही मिलता है।

अध्याय १८

पौराणिक सत्य और काव्य

ऐतिहासिक सत्य और काव्य मे उसके स्थान के विवेचन के प्रसङ्ग मे इतिहास और पुराण का भेद करना भी आवश्यक है। भारतीय साहित्य की परम्परा मे इतिहास और पुराण दोनो का नाम साथ साथ लिया जाता है। ये दोनो वेदाग माने जाते हैं। इतिहास और पुराण के द्वारा वैदिक ज्ञान के उपबृहण का विधान शास्त्रो मे मिलता है (इतिहास-पुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्)। इतिहास और पुराण का यह युग्म दोनो की समानता के कारण प्रसिद्ध हुआ है। दोनो मे ही अतीत का वृत्तान्त रहता है। अतीत का लेखा होने की दृष्टि से दोनो ही समान हैं। दोनो पूर्वजो की स्मृति और उनके प्रमाण पर आश्रित होते हैं। इसीलिए दर्शन शास्त्रो मे जहाँ 'ऐतिह्य' को प्रमाण माना गया है, वहा इतिहास और पुराण मे अन्तर नही किया गया है। समस्त प्राचीन वृतान्त 'ऐतिह्य' के अन्तर्गत हैं। धर्म शास्त्र की परम्परा मे इतिहास और पुराण मे काल की अवधि की दृष्टि से भेद किया जा सकता है। अत्यन्त प्राचीन इतिहास को 'पुराण' कहा जाता है। 'पुराण' शब्द का अर्थ ही 'प्राचीन' है। 'इतिहास' भी काल-गति से प्राचीन बन जाता है। किन्तु 'पुराण' की तुलना में उसे अर्वाचीन ही कहना चाहिए। काल का यह भेद सापेक्ष ही है, फिर भी अत्यन्त प्राचीन वृत्त को 'पुराण कह सकते हैं। उसकी तुलना मे इतिहास अर्वाचीन है। इतिहास की आधुनिक धारणा के अनुसार निकट के अतीत के जिस इतिवृत्त के पर्याप्त और वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं, उसी को इतिहास कहा जाता है। उससे पूर्व का वृत्त प्रागैतिहासिक कहलाता है। इस धारणा के अनुसार 'रामायण' 'महाभारत' आदि के जिन वृत्तो को भारतीय परम्परा मे इतिहास कहा जाता है वे भी प्रागैतिहासिक हैं और उन्हे पुराण की कोटि मे रखना होगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इतिहास विश्वसनीय प्रमाण पर आधारित होता है और उसमे अलौकिक घटनाओ के लिए स्थान नही होता। वे ही घटनाये जो मानवीय सीमाओ के अन्तर्गत सभव हो सकती हैं, इतिहास का उपकरण बन सकती हैं, किन्तु भारतीय परम्परा मे पुराण और इतिहास में इस प्रकार भेद नही किया जाता। वैज्ञानिक

दृष्टिकोण से अलौकिक समझी जाने वाली घटनायें इतिहास और पुराण दोनों मे मिलती हैं। इतना अवश्य है कि इतिहास मे ये घटनायें पुराणों की अपेक्षा कम मिलती हैं। पुराणों की अपेक्षा इतिहास वैज्ञानिक धारणा के इतिहास के अधिक निकट पहुँचता है। इस इतिहास में भी लौकिक और प्रामाणिक तथ्य की ही प्रधानता रहती है। पुराणों की तुलना म इतिहास कही अधिक लौकिक रहता है। इतिहास के पात्र भी लौकिक पुरुष अधिक होते हैं। पुराणों के पात्रों मे अलौकिक पुरुष अधिक होते हैं। काल की दृष्टि से भी पुराणों की घटनायें सृष्टि के उद्भव से ही आरम्भ होती है और उनमे अनेक मन्वन्तरो का वृत्तान्त रहता है।

पुराण शब्द का अर्थ ही प्राचीन है। पुराण प्रागैतिहासिक युग का प्राचीन इतिहास है। पुराणो में अलौकिक और अतिरंजित कल्पनायें अधिक हैं, किन्तु इतिहास भी इनसे पूर्णत मुक्त नही है। महाभारत और रामायण दोनों की कथाओं मे अनेक अलौकिक वृत्त हैं। भारतीय इतिहास आधुनिक वैज्ञानिक इतिहास की भांति केवल लौकिक तथ्यो का यथार्थ अकन ही नहीं है। 'इति ह' 'ऐसा हुआ' के रूप में प्राचीन परम्पराओं का इतिहास मे स्मरण है, जिसमे प्राचीनता के कारण लौकिक के साथ अलौकिक का भी मिश्रण हो गया है। जाति के शैशव काल मे कदाचित मनुष्य का मन अधिक विश्वासी और कल्पनाशील था, इसीलिए प्राचीन वृत्तो मे अलौकिक कल्पनायें बहुत मिलती हैं। यदि लोग उन पर अविश्वास करते तो वे आज तक विस्मृत और नष्ट हो जाती। आज के वैज्ञानिक और तार्किक युग में प्रत्यक्षगत यथार्थ हमारे विश्वास की सीमा बन गया है। वैज्ञानिक इतिहास भी प्रमाणित तथ्यों का यथार्थ अकन है। आधुनिक परिभाषा मे इतिहास का अर्थ लौकिक इतिवृत्त है। अलौकिकता के लिए इतिहास में कोई स्थान नही है।

अत कला और काव्य मे ऐतिहासिक सत्य के निरूपण के सम्बन्ध मे एक यह भी महत्वपूर्ण प्रश्न है कि अलौकिक सत्य का उसमे क्या स्थान है। भारतीय काव्यो मे ही नहीं विदेशी भाषाओं के काव्यो मे भी अनेक अलौकिक वृत्त पाये जाते हैं। होमर, वर्जिल, दान्ते, मिल्टन आदि के महाकाव्यो मे स्वर्ग नरक, देवी, देवता, राक्षस आदि की अलौकिक कथायें मिलती हैं। सम्भवत सभी देशो मे अलौकिकता साधारण विश्वास की वस्तु थी, इसीलिए अलौकिक कथायें प्राचीन परम्पराओं मे जीवित रहीं। तर्क और विज्ञान के सन्देहवादी युग मे आज वे असम्भव जान पडती हैं। श्रीकृष्ण का गोवर्धन पर्वत को अँगुली पर उठा लेना जयद्रथ वध के पूर्व सूर्य

को सुदर्शन चक्र से ढक लेना, द्रौपदी के चीर को बढ़ाना आदि महाभारत की अलौकिक कथायें आज अद्भुत जान पड़ती हैं। इसी प्रकार हनुमान का समुद्र को लाघना, द्रोणाचल को उठाकर लाना, राम का समुद्र में पत्थर तैराना, राम की चरण धूलि से अहल्या का जीवित हो उठना आदि रामायण की अलौकिक घटनाय आज विश्वसनीय नही जान पडती। इसीलिए युग की चेतना के अनुकूल आधुनिक काव्य मे अलौकिकता का कोई स्थान नही रह गया है। प्राचीन कथानकों के आधार पर भी जो काव्य लिखे गये हैं उनमे भी अलौकिकता के परिहार का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। 'प्रिय प्रवास' मे हरिऔध जी ने अंगुली पर पहाड को उठा लेने की एक मुहावरा बनाकर उसकी अलौकिकता का समाधान किया है। 'साकेत' मे गुप्त जी ने हनुमान के समुद्रलघन का समाधान योग के आधार पर किया है। प्राचीन कथाओ के अलौकिक अंगो को छोडकर भी कवि उन्हे युग के विश्वासो के अनुकूल बना रहे हैं। प्राचीन युग मे धार्मिक विश्वास अधिक था। ईश्वर और उसके चमत्कारो मे आस्था होने के कारण अलौकिकतायें लोगो के सहज विश्वास का आधार बन जाती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वास के कारण ही अनेक लौकिक वृत्तो को भी अतिरंजित करके अलौकिक रूप दिया गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आज अलौकिक वृत्तो को लौकिक रूप दिया जा रहा है। श्रीकृष्ण अपने युग के अद्वितीय वीर थे। चरो से समाचार पाकर वे द्रौपदी के चीर-हरण के समय कौरव सभा मे पहुँच गये होगे। उनकी उपस्थिति में एक अबला का अपमान करने का साहस किसे हो सकता था? चीर का विस्तार नही वरन् चीर-हरण का अन्त इस कथा का लौकिक सत्य है। श्रीकृष्ण को भगवान बनाने के क्रम में उनका चमत्कार बढाने के लिए चीर हरण की कथा को अलौकिक रूप दिया गया। जयद्रथ-वध के पूर्व भी यह सम्भव है कि घने बादलो मे सूर्य के छिप जाने से लोगो को सूर्यास्त का भ्रम हुआ हो। इस प्रकार बहुत सी अलौकिक कथाओ का रूप मूलतः लौकिक है और उनके इस मूल का उद्घाटन किया जा सकता है।

किन्तु देवताओं के अद्भुत रूपो तथा कृत्यो की भाँति अनेक अलौकिक तथ्य शेष रह जाते हैं, जिनका कोई समाधान सम्भव नही है। आधुनिक चेतना उन्हे किस रूप मे ग्रहण कर सकती है? आधुनिक कृतियो मे इन तथ्यो को किस रूप मे स्थान दिया जा सकता है तथा जिन प्राचीन काव्यों मे यह तथ्य ग्रहीत हैं, उनका आनन्द आधुनिक पाठक कैसे ले सकते हैं? जो महत्व पूर्ण अलौकिक तथ्य हमारी

सास्कृतिक चेतना मे घुलमिल गये हैं, उनका वहिष्कार असम्भव है। अत उनका समाधान आवश्यक है। कला और काव्य की रसानुभूति के लिए वास्तविकता की आस्था अपेक्षित है। अलौकिक वृत्तो की असम्भवता इसके विपरीत है। कुछ अलौकिक वृत्तो के लौकिक मूल का उद्घाटन कर उन्हे आधुनिक आस्था के योग्य बनाया जा सकता है। शेष लौकिक तथ्यो का समाधान प्रतीकवाद के द्वारा हो सकता है। वास्तविक तथ्यो के रूप मे असम्भव प्रतीत होने वाले अलौकिक वृत्तो की व्याख्या उन्हे प्रतीक मानकर की जा सकती है। प्रतीक के बाह्य रूप की अपेक्षा उसके आन्तरिक अर्थ का महत्त्व अधिक है। वाह्य रूप अद्भुत होते हुए भी आन्तरिक अर्थ ग्राह्य होने पर प्रतीक सफल हो सकता है। 'रूपो' के अद्भुत विधान मे मनुष्य की कल्पना स्वतन्त्र है, किन्तु अग्राह्य 'अर्थ' मान्य नही हो सकते। ऊपर जिस काल्पनिक सत्य की चर्चा की गई है, वह अलौकिक तथ्यो की कल्पना नही है। काल्पनिक सत्य तथ्यो और घटनाओ के ऐसे रूपो का विधान है जो वस्तुत यथार्थ न होते हुए भी पूर्णत सम्भव प्रतीत होते हैं। पुराणो के अलौकिक वृत्त काल्पनिक तो हैं, पर सत्य नही। उनके अद्भुत रूपो को आन्तरिक अर्थ-सगति के द्वारा ही सार्थक बनाया जा सकता है। इस अर्थ-सगति के स्पष्ट होने पर 'रूप' प्रतीक बन जाता है और उसकी अलौकिकता के दोष का परिहार हो जाता है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओ, लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियो, सृष्टि, समुद्रमन्थन, अवतार आदि की घटनाओ की अलौकिकता का काव्य के सौन्दर्य और रस के साथ इसी प्रकार समन्वय हो सकता है। वस्तुत. यह प्रतीकवाद इन अद्भुत वृत्तो की व्याख्या की विशेष प्रणाली ही नही है, वह हमारे अर्थ-बोध की सामान्य विधि है। भाषा और शब्दो के रूप, वस्तुओ के नाम आदि सब अर्थो के प्रतीक ही हैं। ये प्रतीक अर्थो के सकेत मात्र हैं। भाषा के अनुसार इनमे भिन्नता है। एक ही भाव और वस्तु के लिए विभिन्न भाषाओ मे विभिन्न शब्द हैं। एक ही भाषा मे भी वर्णो के रूप और शब्दो के अर्थ मे परिवर्तन होता रहा है। इससे यह स्पष्ट है कि शब्दो के रूप गौण हैं और अर्थ मुख्य हैं। ऐतिहासिक वृत्तो मे भी घटना के बाह्य रूप की अपेक्षा उसका सास्कृतिक अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अर्थ की संगति स्पष्ट होने पर अलौकिकता की अद्भुतता आश्चर्य का कारण नही रह जाती। यह स्पष्ट है कि इस अर्थ-सगति का आधार इतिहास का वैज्ञानिक दृष्टिकोण नही वरन् सास्कृतिक दृष्टिकोण है। वैज्ञानिक इतिहास मे अर्थ गौण है। वह प्राचीन

घटनाओं का यथार्थ लेखा है, अत वे लौकिक और विश्वसनीय रूप मे ही अंकित हो सकती हैं। बाह्य रूप की अलौकिकता ही वैज्ञानिक इतिहास मे वृत्त को असत्य बना देती है। सास्कृतिक इतिहास बाह्य रूपो मे आन्तरिक अर्थ का सूत्र खोजता है। यह अर्थ सगति रूपो की अलौकिकता मे भी सम्भव हो सकती है। प्रतीक बनकर यह अलौकिक रूप अर्थ के वाहक बन जाते हैं। इस दृष्टि से वे सही और मान्य ही नही वरन् महत्त्वपूर्ण भी हैं। जीवन के अनेक गूढ और जटिल तत्व मूर्त-प्रतीको के रूपो मे अधिक सुग्राह्य बन गये हैं। प्रतीको का सरल रूप उन गूढ तत्वो के परम्परा मे सुरक्षित रहने का भी हेतु है। अर्थ के बौद्धिक अवगम मे प्रेरणा नही है। बिना प्रेरणा के कोई तत्व जीवन की परम्परा नही बन सकता। अद्भुत होते हुए भी प्रतीकों के अलौकिक रूप कला और काव्य के सौन्दर्य में सहज अन्वित होकर सास्कृतिक परम्पराओ का सवहन करते रहे हैं। इस दृष्टि से ये अलौकिक प्रतीक इतिहास के लौकिक रूपो से भी अधिक उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं।

किन्तु कविता केवल इतिवृत्त नही है। हिन्दी मे जो इतिवृत्तात्मक कविता कही जाती है, उसमे कवित्व बहुत कम है। कविता न कहकर उसे पद्यात्मक इतिवृत्त कहना अधिक उचित होगा। ऐतिहासिक वृत्त काव्य का केवल आधार है। वृत्त के तथ्य-तन्तु देह के अस्थिपंजर के समान हैं। उन्हीं पर काव्य का देह खड़ा होता है। किन्तु काव्य के देह-सौष्ठव का निर्माण (सम्वेदनाओ के स्नायु-मण्डल में) जीवन की रक्तिम विद्युत धारा तथा चेतना के प्रवाह से होता है। भावो के रक्त की लाली और आत्मा के ओज की स्फूर्ति एक अपूर्व लावण्य की सृष्टि कर काव्य के स्वरूप सौन्दर्य को यौवन की सुषमा की भाँति खिलाती है। पुराणो के प्रतीक स्वरूपत कलापूर्ण होते हैं क्योकि उनमे रूप का अतिशय होता है। फिर भी वे स्वरूपत काव्य के उपादान नही बन सकते। उनके तात्पर्य की अधिक स्फुट व्यजना होने पर ही वे काव्य के सौन्दर्य मे समवेत होते हैं। सौन्दर्य के इस रूप मे साकार होकर इतिहास के वृत्त और पुराणो के धार्मिक प्रतीक साहित्य की मनोहर विभूति बन जाते हैं।

पुराणो का यह प्रतीकवाद उनकी एक प्रमुख विशेषता है। यह पुराण और इतिहास के बीच एक अन्य महत्त्वपूर्ण भेद उपस्थित करता है। पुराण और इतिहास मे काल और विषय का ही भेद हो नही है वरन् इसके अतिरिक्त उनकी शैली अथवा

उनके रूप मे भी एक मुख्य भेद हैं। सृष्टि के उदय और उसके आरम्भिक विकास का लेखा होने के कारण पुराण के वृत्त इतिहास की अपेक्षा बहुत अधिक प्राचीन हैं। विषय की दृष्टि से इतिहास मे मुख्यत मनुष्य जाति के वीरो का ही चरित रहता है। पुराणो मे भगवान और देवताओ के अलौकिक चरित की विपुलता होती है। प्राचीन कथावृत्त के उपकथन की शैली पुराण और इतिहास मे समान रूप से मिलती है। किन्तु विषय और वृत्त की भिन्नता से दोनो के रूप कुछ भिन्न हो जाते हैं। लौकिक वीरो का चरित होने के कारण इतिहास का सामान्य एव लौकिक अर्थ लगाया जा सकता है। किन्तु पुराणो के अलौकिक वृत्तो का सामान्य अर्थ लगाना कठिन है। लौकिक जीवन और जगत की स्थितियो के अनुरूप उनकी व्याख्या नही हो सकती। इन अलौकिक वृत्तो को प्रतीको के रूप मे ही ग्रहण किया जा सकता है और उसी रूप म इनकी व्याख्या की जा सकती है। प्रतीको की इस व्याख्या मे पुराणो के अद्भुत और अलौकिक वृत्त सार्थक बन जाते हैं। जीवन और जगत के अभिप्रायो के अनुरूप व्याख्या करने पर ये अलौकिक प्रतीक भी सगत जान पडते हैं। किन्तु यह सार्थकता और सगति प्रतीको के तात्पर्य के द्वारा ही होती है। पौराणिक वृत्तो का बाह्य रूप फिर भी अद्भुत और अलौकिक ही रहता है तथा उस रूप मे उनकी सार्थकता एव सगति सभव नही हो सकती। **इसके विपरीत इतिहास के पात्र और वृत्तो का महत्त्व उसी रूप में होता है जिस रूप में वे प्रस्तुत किये जाते हैं।** इतिहास के बहुत कुछ वृत्त सामाजिक जीवन की प्राकृतिक घटनाओ के रूप मे होते हैं। इसीलिए वैज्ञानिक इतिहासकार इतिहास मे अर्थ खोजने के पक्ष मे नहीं है। यदि इतिहास के कुछ पात्र किन्ही आदर्शो के अनुसार आचरण करते हैं तो उन आदर्शो को इतिहास की गति का अग माना जा सकता है। इन आदर्शो के रूप मे ही जीवन के सिद्धान्त इतिहास मे अनुस्यूत माने जा सकते हैं। इतिहास की अन्य प्राकृतिक गतियो मे अर्थ की खोज विवादास्पद है। महाभारत और रामायण के इतिहासो को धर्म की विजय के रूप मे देखा जा सकता है। किन्तु इतिहास मे सदा धर्म की ही विजय नही होती रही है। मुसलमानो और अग्रेजो की विजय को जीवन के किस सिद्धान्त की दृष्टि से देखा जायेगा। इतना अवश्य है कि अन्धकार और पराजय को छोडकर सामान्य रूप से सम्पूर्ण मनुष्य समाज स्वतन्त्रता तथा जीवन के अन्य मूल्यो की ओर बढता हुआ दिखाई दे रहा है। द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका के देशो की बढती हुई स्वतन्त्रता

इतिहास के इस अभिप्राय को प्रमाणित करती है, किन्तु दूसरी ओर मनुष्यता के विनाश की ओर बढती हुई गति इस अभिप्राय को खंडित भी करती है। ऐसी संदिग्ध स्थिति में इतिहास के अभिप्राय की कल्पना भी संदेहास्पद जान पडती है। इतिहास के पात्रों द्वारा प्रमाणित आदर्शों के अतिरिक्त इतिहास का कोई व्यापक अभिप्राय सर्वमान्य नहीं है। वैज्ञानिक इतिहास मनुष्य समाज की घटनाओं का लेखा मात्र माना जाता है। इसके विपरीत पुराणों के प्रतीक-वृत्त लौकिक जीवन में घटित नहीं होते। प्रतीक रूप में ही उनकी अर्थ-संगति संभव हो सकती है। अत उनमें प्रतीक के अर्थ के रूप में तात्पर्य का अन्तर्भाव मान्य हो सकता है। यह तात्पर्य पुराण और इतिहास का एक प्रमुख भेद है। किन्तु प्रस्तुत और प्रतीक रूप में सार्थक न होने पर पुराणों के 'रूप' का महत्व बहुत कम हो जाता है। रचना की दृष्टि से पुराणों के रूप को भी महत्व देना होगा। धार्मिक विश्वास में तो उस रूप को भी महत्वपूर्ण माना जाता है। धार्मिक जनों में इस रूप के प्रति इतनी श्रद्धा होती है कि वे पुराणों के तात्पर्य की ओर भी ध्यान नहीं देते। वे पुराणों की अलौकिक घटनाओं को उसी रूप में मानते हैं। घटनाओं का वैज्ञानिक लेखा बन कर इतिहास पुराणों के इस अलौकिक रूप से और भी दूर हो जाता है।

इतिहास और पुराण के ये बहुत कुछ भिन्न रूप काव्य के साथ अधिक संगत नहीं हो सकते। इतिवृत्त के अभिधान में काव्य के सौन्दर्य का समवाय कठिन है। पुराणों के अलौकिक वृत्त भी लौकिक काव्य के अधिक उपयुक्त उपादान नहीं है। इसीलिए ऐतिहासिक काव्यों में प्रायः इतिहास के पात्रों के आदर्शों को प्रस्तुत करने के लिए इतिहास को काव्य का आधार बनाया गया है। इतिहास में ऐसे आदर्श दुर्लभ तो नहीं है, फिर भी वे अधिक नहीं मिलते। इसीलिए ऐतिहासिक काव्य हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी कम पाये जाते हैं। इतिहास में वीरता का सबसे अधिक गौरव है। इसीलिए अधिकांश ऐतिहासिक काव्यों में वीरों के चरित्र का ही अवलंब लिया गया है। 'रघुवंश' 'शिशुपाल वध' 'किरातार्जुनीय' 'पृथ्वीराज रासो' 'बीसल देव रासो' 'आल्ह खण्ड' आदि प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्यों में वीरों का चरित्र ही प्रधान है। हिन्दी के वीर काव्य सामन्ती युग के दरबारी कवियों की रचनायें हैं। अन्य कवियों का वीरता के प्रति कम अनुराग रहा है। इसीलिए ऐतिहासिक काव्य अधिक नहीं पाये जाते। हिन्दी साहित्य में भक्ति-काव्य और गीति-काव्य की विपुलता है। गीतिकाव्य में कवि के व्यक्तिगत भावों की प्रधानता रहती है।

भक्ति-जनित श्रद्धा के कारण अलौकिक तत्वो का भी उसमे सरलता से ग्रहण किया जाता है। यद्यपि राम कृष्ण की कथाओ का आधार 'इतिहासो' मे मिलता है। किन्तु भक्ति-काव्यो मे जिस रूप मे इनको अंकित किया जाता है उसे ऐतिहासिक की अपेक्षा पौराणिक कहना अधिक उचित है। श्रीकृष्ण का चरित्र तो काव्यो मे श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर ही प्राय अंकित किया गया है। 'रामचरित मानस' भी वस्तुत राम के चरित का पुराण है। उसकी शैली भी पौराणिक है। वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा यह रामचरित के अन्य पौराणिक और धार्मिक आधारो पर अधिक अवलम्बित है। अलौकिकता के अतिरिक्त भक्ति के लिये अपेक्षित श्रद्धा की भावना भी पुराणो के अधिक निकट है। इतिहास समाज का लौकिक वृत्त है। मानवीय आचार के अर्थ मे 'महाभारत' मे भी धर्म का विवरण मिलता है। किन्तु अलौकिक वृत्त और दिव्य श्रद्धा के अर्थ मे यह धर्म नही है। इस रूप में धर्म पुराणो मे ही पाया जाता है। हिन्दी के भक्ति काव्य मे अलौकिकता और दिव्य श्रद्धा के रूप मे पुराणो का ही प्रभाव अधिक है। पौराणिक प्रभाव के कारण वृत्तो के अलौकिक रूप उसी रूप मे चित्रित किये गये हैं। दिव्य श्रद्धा इन अलौकिक रूपो को सार्थक बना देती है। प्रतीको के रूप मे ग्रहण करने पर 'अर्थ' की प्रधानता के कारण इन 'रूपो' का महत्व कम हो जाता है। काव्य मे भी रूप का महत्व होता है। इस दृष्टि से पुराण काव्य के कुछ निकट प्रतीत होते हैं। इसीलिए भारतीय काव्य मे पुराणो का प्रभाव अधिक है। आधुनिक हिन्दी के महाकाव्यो में 'कामायनी' और 'पार्वती' दोनों के कथानक पौराणिक हैं। यद्यपि आधुनिकता के अनुरोध के कारण महाकाव्यो में पुराणो की अलौकिकता को प्राय छोड दिया गया है, फिर भी इनमे उस अलौकिकता की छाया शेष है, क्योंकि किसी सीमा तक वह इनके आधार-भूत पौराणिक वृत्तो का अभिन्न रूप है। प्राचीन पौराणिक पात्रो और वृत्तों को इन महाकाव्यो मे बहुत कुछ प्राचीन रूप मे ही अंकित किया गया है। पुराणो से इन महाकाव्यो मे एक प्रधान अन्तर यह है कि जहाँ पुराणो मे अलौकिक वृत्त प्रधान रहता है और उसका प्रतीकार्थ सामान्यत अलक्ष्य रहता है, वहाँ इन महाकाव्यो में उनका प्रतीकात्मक अर्थ अधिक स्पष्ट है। व्यग्य होते हुए भी इस अर्थ की व्यजना इनमें पुराणो के समान अलक्ष्य नही है। इस दृष्टि से ये महाकाव्य पुराणो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में दार्शनिक हैं। काव्य की दृष्टि से इन महाकाव्यो का लक्ष्य पौराणिक रूप और दार्शनिक अभिप्राय का समन्वय है। इस समन्वय मे ये

पौराणिक रूप और दार्शनिक अभिप्राय का समन्वय है। इस समन्वय में ये कहाँ तक सफल हुए हैं इसी पर इनकी सफलता भी निर्भर है। 'रघुवंश' 'प्रियप्रवास' 'साकेत' आदि महाकाव्यों में पौराणिक प्रभाव की अपेक्षा ऐतिहासिक आधार अधिक है। इसीलिए इनमें जीवन का कोई सामान्य सिद्धान्त अथवा तात्पर्य स्पष्ट रूप से समाविष्ट नहीं हो सका है। वृत्त और चरित्र की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य का जितना रूप समवेत हो सका है उतने ही ये काव्य सफल और सुन्दर कहे जाते हैं। पात्रों के आदर्शों में जो कुछ जीवन के सिद्धान्त इन काव्यों में व्यक्त हुए हैं वे ही इनके दार्शनिक तत्व हैं। 'कामायनी' और 'पार्वती' के पौराणिक महाकाव्यों की भाँति इन ऐतिहासिक महाकाव्यों का कोई समग्र तात्पर्य खोजना कठिन है। कला की दृष्टि से यह इन काव्यों का दोष नहीं है, किन्तु जीवन के मूल्य, जीवन में काव्य के मूल्य, काव्य के तत्व-वैभव और काव्य में रूप एवं तत्व के सम्पन्न साम्य की दृष्टि से 'कामायनी' और 'पार्वती' की व्यापक अर्थ-गरिमा अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनकी इस अर्थ गरिमा में पुराणों के प्रतीकवाद का प्रमुख योग है। पौराणिक वृत्तों की अलौकिकता को यथा-सम्भव कम करके इन काव्यों में पौराणिक आधार, दार्शनिक तत्व, लौकिक सबन्ध, मानवीय भाव और काव्य-सौन्दर्य का पर्याप्त सामंजस्य बन पड़ा है। इस सामंजस्य की दृष्टि से ये महाकाव्य भारतीय साहित्य में एक विशेष स्थान रखते हैं।

अध्याय १९

कथावृत्त और काव्य

इतिहास और पुराणों में प्राचीन कथावृत्त रहते हैं। कथा वृत्त का कला और काव्य से क्या संबंध है ? वह काव्य का आधार और उसके देह का अस्थिपंजर है, यह तो स्पष्ट है। किन्तु कथा-तत्व का काव्य के सौन्दर्य और श्रेय में किस प्रकार समन्वय होता है और किस प्रकार कथा का अस्थिपंजर काव्य के देह-सौष्ठव का आधार बनता है, यह विचारणीय है। कथा में जीवन का गतिशील वृत्त होता है। गति जीवन का लक्षण है। कथा का रूप स्वभाव से ही सजीव होता है। इसीलिए आबाल वृद्ध सबकी अभिरुचि कथा में होती है। आधुनिक युग में कहानी और उपन्यास की लोक प्रियता का यह एक मुख्य कारण है। कहानी की लोक-प्रियता कोई आधुनिक विशेषता नहीं है। केवल उसकी नवीन शैली आधुनिक है, अन्यथा आदि काल से लोगों की रुचि कथाओं में रही है। लोक साहित्य की परम्परा में कथाओं का अनन्त भाण्डार मिलता है। हमारे पुराण और इतिहास इन्हीं लोक परम्पराओं के कुछ प्रसिद्ध रूप हैं। कथा में मनुष्य की स्वाभाविक अभिरुचि होने के कारण प्राचीन काव्य की मूल्यवान निधियाँ प्रबन्ध काव्य के रूप में हैं।

जीवन में कथा के प्रति मनुष्य की अभिरुचि स्वाभाविक है। इसका कारण कथा वृत्त की जीवन के साथ अनुरूपता है। 'जीवन' लौकिक एवं सांस्कृतिक क्रियाओं, घटनाओं आदि का कालगत क्रम है। गति जीवन का रूप है, वह काल का लक्षण है। इस प्रकार मानों काल ही जीवन है। काल के इस प्रवाह में लौकिक उपकरण और कर्म जीवन को साक्षात् रूप देते हैं। कथा अथवा कहानी का रूप भी ऐसा ही है। वह मानों जीवन की विवृति है। जीवन के साथ इसी अनुरूपता के कारण कहानी में लोगों की सदा अभिरुचि रही है। आदिकाल से वृद्धजन लोगों को कहानियाँ सुनाते आये हैं। साहित्यिक शैली की कहानी का प्रचार तो आधुनिक युग में ही हुआ है, किन्तु दूसरे रूपों में कहानी प्राचीन साहित्य में भी बहुत मिलती है। भारतीय साहित्य में तो कहानी की विपुलता है। पुराण, महाभारत आदि कथा के अनन्त भंडार हैं। नाना दृष्टान्तों की संख्या में प्राचीन

कथायें इन ग्रन्थो मे कही गई हैं। बडी श्रद्धा और रुचि के साथ लोग आदि काल से इन कथायों को सुनते और सुनाते आये हैं। सास्कृतिक जीवन मे भी कहानी का बडा महत्व है। भारतीय व्रतो और पर्वों के अवसर पर पारण के पूर्व कुछ कहानियाँ कही जाती हैं। इनमें एकादशी, अनन्त चतुर्दशी आदि अनेक व्रतो की कहानियाँ पुराणो मे मिलती हैं। बहुत सी कहानियाँ ऐसी भी हैं जो पुराणो के साहित्य मे सम्मिलित नहीं हो सकी है। ये कहानियाँ लोक-सस्कृति की मौखिक परम्परा मे ही प्रचलित रही हैं। इनमें धार्मिक और लौकिक दोनो प्रकार की कहानियाँ हैं। धार्मिक तथा सास्कृतिक कहानियाँ तो व्रतो और पर्वो के अवसर पर ही कही जाती है, किन्तु लौकिक कहानियाँ वयस्को और बालको की शिक्षा और उनके मनोरजन के दैनिक उपयोग मे आती हैं। 'नानी की कहानी' तो स्वय एक कहानी बन गई है। आधुनिक युग मे इन लोक-कथाओ के सग्रह भी किये गये हैं। जर्मन-भाषा-विद् ग्रिम ने इस सग्रह की प्रक्रिया का आरम्भ किया था। भारतीय पुराणो मे इन कथाओ के सग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से होते रहे हैं। ग्रिम की प्रेरणा ने अवशिष्ट लोक-कथाओ के सग्रह का मार्ग प्रशस्त किया। धार्मिक और सास्कृतिक कथाओ के अतिरिक्त मौखिक परम्परा में बिखरी हुई लोक कथाये भी इस मार्ग से सुरक्षित रह सकेंगी। धार्मिक कथानकों में 'सत्य नारायण की कथा' सबसे अधिक लोक-प्रिय है। इसकी लोक प्रियता धार्मिक श्रद्धा की सूचक ही नहीं है वरन् कहानी की लोक-प्रियता का भी प्रमाण है। लोक-कथाओ मे राजा-रानी तथा राजकुमार और राजकुमारियो की कहानियाँ साधारण जनो का सदा अनुरजन करती रही हैं।

जीवन के साथ कहानी की अनुरूपता तथा मनुष्य-समाज मे कहानी की लोक-प्रियता असदिग्ध है। इन्हीं कारणो से धार्मिक और सास्कृतिक परम्परा के अतिरिक्त लोक परम्परा और साहित्य मे भी कहानी को स्थान मिला है। साहित्य के क्षेत्र मे नाटक और प्रबन्ध काव्य के साथ कथावृत्त का अन्वय हुआ है। इनके अतिरिक्त बहुत सा ऐसा काव्य और साहित्य भी है, जिसमे कथा तत्व का आधार नहीं है। अनेक कृतियो मे यह अन्वय एक सफल समन्वय के रूप मे सभव हुआ है। फिर भी साहित्य की दृष्टि से यह विचारणीय है कि कथा और काव्य का क्या सबन्ध है तथा उनका समन्वय किस प्रकार सभव होता है। यह आवश्यक नहीं है कि कथा के सभी लक्षण काव्य के अनुरूप हो तथा उनका सरलता से सामजस्य हो सकता हो। काव्य की छन्दोबद्धता का तो कथा के साथ सरलता से सामजस्य हो सकता है।

किन्तु कथा के लक्षणो का काव्य के अन्य लक्षणो के साथ सामजस्य इतना सरल नही है और अधिक कवि उसे सफलता पूर्वक सम्पन्न नही कर सके हैं। प्रबन्ध काव्यो मे कथा का सूत्र अल्प ही रहता है। 'रामचरितमानस' के समान विपुल कथावृत्त से समन्वित प्रबन्ध काव्य का दूसरा उदाहरण मिलना कठिन है। अन्य प्रबन्ध काव्यो मे कथा तत्व कम और कवित्व अधिक है। कथा की गतिशीलता का निर्वाह भी 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त अन्यत्र मिलना कठिन है। अधिकाश प्रबन्ध काव्यो में कथा का प्रवाह नहीं है। कुछ घटना-क्रमो के विलवित अन्वय के कारण उनका कथा प्रवाह बहुत शिथिल है। कथा के प्रवाह मे यात्रा करने के स्थान पर अधिकाश प्रबन्ध काव्यो का कथा प्रसग नदी के द्वीपो की मन्द यात्रा के समान प्रतीत होता है। अत कथा और काव्य के सबन्ध का गभीर विवेचन अपेक्षित है।

'कथा' जीवन के सत्य का एक प्रमुख रूप है। जीवन का कालगत रूप घटनाओ मे मूर्त होकर साकार होता है। जीवन के साकार सत्य के रूप मे सस्कृति तथा अन्य कलाओ के साथ भी कथा के सबन्ध का विचार उपयोगी होगा। सास्कृतिक जीवन मे कथा का जो महत्व है उसका कुछ सकेत हम ऊपर कर चुके हैं। रचनात्मकता और कर्तृत्व सस्कृति के दो प्रमुख लक्षण हैं। समात्मभाव की भूमिका में सस्कृति के ये लक्षण सफल होते हैं। कहानी एक रचना है उसके रचने सुनाने मे कर्तृत्व की स्पष्टता रहती है। जीवन की घटनाओ अथवा उसके इतिवृत्तो का विवरण होने के कारण कहानी की रचनात्मकता और सक्रियता कम नही होती। घटनाये और इतिवृत्त कहानी के उपकरण होते हैं। इन उपकरणो के आधार पर गठित कहानी मे रचनात्मकता का तत्व मूर्त होता है। समात्मभाव की प्रेरणा कहानी की रचना मे ही रहती है। कहानी के सुनाने में यह समात्मभाव और भी सक्रिय रूप मे सफल होता है। कहानी दूसरो के जीवन का वृत्त होता है। उसमे हमारी रुचि केवल कौतूहल के कारण नही होती। दूसरो के प्रति समात्मभाव की भावना भी उस रुचि को प्रेरित करती है। धार्मिक और सास्कृतिक कथाये तथा लोक कथाय जिस सामाजिक वातावरण मे कही जाती हैं उनमे एक सहज समात्मभाव उत्पन्न हो जाता है। इसी समात्मभाव के आधार पर कथाओ का ग्रथन और उनका कथन होता रहा है। समात्मभाव की भूमिका में रचनात्मकता और कर्तृत्व की सक्रियता को अवसर देकर कथा सस्कृति की एक महत्वपूर्ण विभूति बनी रही है।

संस्कृति के साथ-साथ कलाओं में भी कथा का स्थान विचारणीय है। साहित्य और काव्य में तो शब्द के कालगत माध्यम के कारण कथा का प्रवाह भी समाहित किया जा सकता है। किन्तु अन्य कलाओं की कृतियों का पटल इतना विस्तृत न होने के कारण उनमें यह तो संभव नहीं है, फिर भी घटनाओं के विन्दु इन कलाकृतियों में सौन्दर्य की अर्चना के मंगल-कलश भर सकते हैं। संगीत, चित्र नृत्य आदि में अल्प घटना क्रम का ही प्रदर्शन किया जा सकता है। कुछ मूर्तियों और चित्रों में समुद्र-मंथन, महिषासुर मर्दन, धनुष-यज्ञ, चीरहरण आदि के कथा-प्रसंगों का अंकन मिलता है। किन्तु इनमें घटनाओं के स्पष्ट क्रमिक निर्देश की अपेक्षा उनका लाक्षणिक संकेत अधिक रहता है। काव्य में शब्द के माध्यम के द्वारा जिस प्रकार घटना क्रम का पर्याप्त निरूपण होता है, वैसा दृश्य कलाओं में संभव नहीं है। शब्द का माध्यम काल के स्वरूप से समवेत है, अतः कथाक्रम का विवरण उसके द्वारा सहज रूप में हो सकता है। दृश्य कलायें दिक् की विधा में साकार होती हैं। जिस प्रकार काल का लक्षण क्रम है उसी प्रकार दिक् का लक्षण यौगपद्य है जो क्रम के विपरीत है। अतः दृश्य कलाओं में काल के क्षणों का ही ग्रहण किया जा सकता है। एक कलाकृति एक क्षण का ही अंकन करती है। अनेक कला कृतियों की योजना के द्वारा कथा-वृत्त का भी निरूपण किया जा सकता है। किन्तु प्रायः यह अव्यावहारिक है। दृश्य कलाओं के माध्यम शब्द के समान सरल और सुलभ नहीं है। इनकी कृतियों का निर्माण बहुत समय लेता है। अतः इनमें कथा वृत्त का निरूपण दुःसाध्य है। काव्य के समान विपुल परिमाण में इन कृतियों का निर्माण नहीं हो सकता। इसीलिए पूर्ण कथा-वृत्तों का निरूपण इनमें बहुत कम मिलता है। संगीत में सार्थक शब्द का अवलंब ग्रहण करने पर वह काव्य के अधिक निकट आ जाता है। अतः उसमें कथा का निरूपण अधिक सरलता से हो सकता है। किन्तु संगीत में भी रूप की प्रधानता होने के कारण वृत्त तत्व का अधिक ग्रहण नहीं हो सकता। प्रयत्न करने पर वह श्रोताओं को सह्य नहीं होगा। अतः संगीत की कृतियों में वृत्त के विन्दु ही मिलते हैं। धार्मिक परम्परा में एक विलोम क्रम में काव्य में संगीत का सामंजस्य कथा के साथ अवश्य मिलता है। प्राचीन परम्परा में काव्य में पुराणों का पाठ होता था। तुलसी कृत रामायण का पाठ इतने विपुल संगीत के साथ होता है कि उसे काव्य, संगीत और कथा की त्रिवेणी कह सकते हैं। उसमें इन तीनों तत्वों का समान परिमाण में योग रहता है। गतिशील होने के

कारण नृत्य भी कालक्रम के अनुरूप है। अत उसमे कथा का समवाय सभव है। जहाँ नृत्य मे कलात्मक रूप की प्रधानता होती है, वहाँ तो उसमे गीत, चित्र, मूर्ति आदि के समान भाव और सौन्दर्य ही प्रमुख होता है, किन्तु जहाँ वह नट् धातु के मौलिक आधार के अनुरूप नाटक के अधिक निकट रहता है वहाँ उसमे कथा का समावेश हो सकता है। उदयशकर के मदन भस्म, देवयानी आदि के कथानृत्य इसके उदाहरण हैं। किन्तु इनमे भी कथा का समावेश अत्यन्त सीमित परिमाण मे होता हैं। अग-भगिमाओ के द्वारा कथा की घटनाओ और क्रियाओ की अभिव्यक्ति नि सन्देह नृत्य मे गतिहीन कलाओं की अपेक्षा अधिक सफलता से हो सकती है। नृत्य मे काव्य के समान दीर्घ कथा का निरूपण नही हो सकता। कथा की दृष्टि से नृत्य को काव्य तथा दृश्य कलाओ के बीच रख सकते हैं। फिर भी वह काव्य की अपेक्षा अन्य कलाओ के ही अधिक निकट रहता है। **काव्य में भी नाटक जीवन के सबसे अधिक निकट है। वह जीवन का साक्षात् चित्रण है।** इसीलिए उसम कथा का सहज समवाय रहता है। नाटक मे कथा की व्यजना क्रिया के द्वारा अधिक होती है। काव्य मे कथा का अभिधान भी सभव है और प्राय रहता है। इसलिये व्यजना की अधिकता और अभिधान की न्यूनता के कारण काव्य मे नाटक को अधिक सुन्दर माना जाता है। काव्येषु नाटक रम्यम् की उक्ति इसी आधार पर प्रचलित हुई है। **अभिधान के कारण काव्य में कथा के साथ सौन्दर्य का समवाय कठिन होता है।**

कथावृत्त जीवन का तत्व है, जो कला और काव्य का उपादान बनता है। तत्व की दृष्टि से वह अभिधान का ही विषय अधिक है। सक्षेप और सकेत के द्वारा कथा तत्व का कुछ अश अनुक्त रह जाने पर उसके अभिधान मे भी तत्व का अतिशय उत्पन्न होता है और कथा का निरूपण व्यजना की ओर बढने लगता है। किन्तु प्रमुखत पात्रो के भाव सबन्ध के द्वारा भाव के अतिशय के रूप मे ही तत्व का अतिशय कथा प्रसग मे भी उत्पन होता है। रूप के अतिशय के योग से इसमे सौन्दर्य का उदय होता है, फिर भी कथावृत्त का अभिधान काव्य मे कुछ रहता ही है तथा पूर्णत भाव और रूप के साथ उसका सामजस्य सम्भव नही होता। **यह कथा काव्य की एक मौलिक कठिनाई है।** रामचरितमानस' मे भी 'आगे चले बहुरि रघुराई, ऋष्यमूक पर्वत नियराई' जैसे इतिवृत्तात्मक वर्णन मिलते हैं। मैथिलीशरण गुप्त के प्रबन्ध काव्यो मे अभिधान का तत्व अधिक हैं तथा

व्यंजना का रूप-सौन्दर्य और भाव का अतिशय 'रामचरितमानस' के समान विपुल नहीं है। कथा भाग की अल्पता के कारण प्रबन्ध काव्य होते हुए भी 'कामायनी' मे गीत काव्य के समान प्रचुर सौन्दर्य मिलता है। कथा के विशाल पटल पर अभिधान की अल्पता तथा भाव और रूप की विपुलता 'पार्वती' महाकाव्य में भी अवलोकनीय है। यह स्पष्ट है कि कथा का निरूपण प्राय अभिधान की अपेक्षा करता है और रूप की न्यूनता के कारण अभिधान काव्यत्व को कम करता है। यह प्रबन्ध काव्य की एक मौलिक कठिनाई है। इसी कारण सस्कृत के प्रबन्ध काव्यो मे प्राय कथा तत्व कम मिलता है। अल्प कथा में विपुल सौन्दर्य का सन्निधान करके मे प्रबन्ध काव्य सुन्दर बने हैं। विपुल कथा-तत्व को समाहित करने वाले प्रबन्ध काव्य विरले ही हैं। इस दृष्टि से वाल्मीकि 'रामायण', 'रामचरित मानस' और पार्वती भारतीय साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं।

कथा वृत्त के अभिधान की कठिनाई के कारण एक ओर कथा तत्व काव्य के सौन्दर्य के अधिक अनुरूप नहीं है। किन्तु दूसरी ओर कथावृत्त की गति जीवन के स्वरूप के अनुरूप है। यह अनुरूपता कथा को काव्य के अनुकूल भी बनाती है। कथा की गति एक सम्बद्ध क्रम मे रूप ग्रहण करती है। तथ्यो और घटनाओ का पूर्वापर सम्बन्ध गति को एकसूत्रता देता है। इस प्रकार इतिवृत्त एक गतिशील व्यवस्था बन जाता है। कथा की गति मे सगति की अपेक्षा फल का कौतूहल अधिक रहता है। कहानी सुनाने वालो का यह अनुभव होगा कि बालक और वृद्ध सभी जितने उत्सुक कथा की गति के लिए रहते हैं, उतने ही उत्सुक उसके अन्तिम फल के लिए भी रहते हैं। 'फिर क्या हुआ', फिर अन्त मे क्या हुआ ?' आदि श्रोताओ के सामान्य प्रश्न हैं। घटनाओ के पूर्वापर क्रम मे श्रोताओ को जितना कौतूहल अगली कड़ी के लिए होता है, उतना ही कौतूहल उन्हें अन्तिम निष्कर्ष के लिए होता है। इसीलिए राजा-रानी की प्राचीन कहानियाँ प्राय राजकुमार और राजकुमारी के विवाह से समाप्त होती थीं, जिसके बाद वे दीर्घकाल तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। जीवन की कहानी का यह अत्यन्त सन्तोषजनक अन्त है। महाभारत और रामायण की कथायें भी ऐसे ही सन्तोषजनक फलो मे समाप्त होती हैं। उनकी घटनाओ की गति और सगति के अतिरिक्त उनकी समाप्ति भी कौतूहल के समाधान के कारण रुचि की वर्धक है। नाटको की अन्तिम सन्धि (फलागम) का भी यही प्रयोजन था। शरच्चन्द्र के उपन्यासो की भाँति जिन कथाओ के अन्त

निष्कर्ष पर न पहुँचने के कारण पाठक को असमजस मे छोड देते है, उनमे कला का चमत्कार भले ही अधिक हो, किन्तु रुचि का समाधान नही है। यह सत्य है कि, वास्तविक जीवन मे ऐसे निष्कर्ष कम ही होते हैं और इस दृष्टि से शरच्चन्द्र के उपन्यासो जैसी कथाय जीवन की यथार्थता के अधिक निकट हैं। **किन्तु कला और काव्य जीवन को यथार्थताओ का ही अकन नहीं है, मानव-चेतना की आकाक्षाओ का सस्कार और समाधान भी उसका लक्ष्य है।** मनुष्य की जिज्ञासा एक फलमुखी वृत्ति है। कथा का सतोषजनक पर्यवसान फलाकाक्षा का समाधान करता है। इस दृष्टि से कला और साहित्य का प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण अधिक मान्य है।

कथा का पर्यवसान उसकी गति को एक प्रयोजन प्रदान करता है। अन्त और फल की सापेक्षता से कथा की गति प्रगति बन जाती है। **प्रगति लक्ष्य की ओर अभिमुख गति है।** प्राचीन इतिहासो मे ऐसे सफल कथानक ही अधिक लोकप्रिय हुए हैं, यह अकारण नही है। रामायण और महाभारत की लोकप्रियता का यह भी एक प्रमुख कारण है। इस प्रकार ऐतिहासिक (अथवा काल्पनिक) कथा मे गति, सगति और प्रगति का सम्बन्ध है। डाक्टर हरद्वारीलाल शर्मा ने इन तीनो को कला का लक्षण माना है।[१८] उनके अनुसार ये तीनो कला के सभी रूपो मे विद्यमान रहते हैं। सगीत और नृत्य मे इनकी उपस्थिति स्पष्ट है। सम्भवत चित्रो और मूर्तियो मे ये रहते हो, किन्तु जितने सजीव और स्फुट रूप मे ये ऐतिहासिक वृत्त और कथा मे विद्यमान रहते हैं, उतने अन्यत्र नही। कथा की गति केवल स्वर या अङ्गो की गति नही है। वह जीवन की घटनाओ की सजीव गति है। गति की सजीवता के कारण कथा की प्रगति और उसका पर्यवसान भी अधिक सजीव होना है। कथा का पर्यवसान सगीत अथवा नृत्य की भाँति स्वरो अथवा भगिमाओ की एक सगतिपूर्ण योजना का कलात्मक पर्यवसान नही है, वरन् वह जीवन की घटनाओ के विकास क्रम का सजीव फल है। स्थूल और ग्राह्य होने के साथ साथ सजीवता भी उसका एक प्रमुख लक्षण है। सगीत और नृत्य मे क्रिया और काल की गति कथा के वृत्त की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। ये तीनो कला के स्वरूप के लक्षण होते हुए भी कला मे समान महत्व नही पा सके। ख्याल और ठुमरी के शास्त्रीय सगीत तथा अलकार युग के काव्य मे गति का रूप चाहे कुछ हो, किन्तु प्रगति शैली सौन्दर्य की भगिमाओ में उलझकर मन्द हो गई। कथा पर आश्रित होते हुए भी इन महाकाव्यो की प्रगति मन्द है। 'रामचरित मानस' इस दृष्टि से एक अपवाद है। उसमे

कथा की प्रगति पौराणिक कथाओं के समान है। पुराणों की शैली से भी 'रामचरित-मानस' की बहुत समानता है। 'रघुवंश' में आलंकारिक शैली के साथ-साथ भी कथा-प्रगति की बहुत रक्षा हुई है। इसका कारण यह है कि अनेक रघुवंशी राजाओं की कीर्तिगाथा होने के कारण रघुवंश का कथा भाग पर्याप्त है।

गति, संगति और प्रगति का स्वाभाविक और प्रभावशाली संगम होने के अतिरिक्त इतिवृत्त में कला के और भी तत्व विद्यमान हैं। कथा जीवन का वृत्त है। उसके प्रति मनुष्य के स्वाभाविक कौतूहल में जिज्ञासा के अतिरिक्त आत्मभाव की भी प्रेरणा है। घटनाओं की प्रगति और उनके परिणाम से हमारा कौतूहल ही शान्त नहीं होता वरन् घटना के पात्रों के साथ हमारी सहानुभूति और समवेदना भी होती है। यदि समात्मभाव कला का एक मौलिक तत्व है तो यह असन्दिग्ध है कि कथा में वह विशेष मात्रा में वर्तमान रहता है। जीवन का वृत्त केवल प्राकृतिक घटना नहीं है। उन घटनाओं में पात्रों और श्रोताओं की भावना का संयोग कथा को सजीवता प्रदान करता है। यही भाव संयोग समात्मभाव का आधार बनता है। आत्मभाव एक सचेतन धर्म है। वह तथ्य के साथ नहीं, भाव के साथ तादात्म्य है। इस आत्मभाव में श्रोता अथवा पाठक की आत्मा का विस्तार होता है और आनन्द की स्फूर्ति होती है। गति, संगति और प्रगति की तीन विभाओं के साथ मिलकर आत्मभाव कला की चारों विभाओं को पूर्ण करता है। कलाकार अपने वृत्त के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, इस दृष्टि से आत्मभाव का शिवम् कला का मूल है। सुन्दरम् उस आत्म-भाव की अभिव्यक्ति है। संगीत और नृत्य में तथा गीतकाव्य में भी यह तादात्म्य सहज मिल जाता है। किन्तु कथा-काव्य में वह सबसे सहज और सजीव रूप में प्राप्त होता है। ऐतिहासिक कथा की यथार्थता इसे सत्य का बल प्रदान करती है। इस प्रकार जीवन की स्थूल घटनाओं के रक्त-मांस से गठन-सौष्ठव प्राप्त कर और भावों की संवेदनाओं से जीवन का रक्त-संचार प्राप्त कर तथा आत्मभाव के ओज से दीप्ति प्राप्त करके ऐतिहासिक वृत्त का अस्थिपंजर काव्य का सजीव और सुन्दर आकार ग्रहण करता है।

कथा काव्यों में जीवन के सांस्कृतिक सत्य साकार और सजीव रूप में प्राप्त होते हैं। प्रबन्ध-काव्यों की लोकप्रियता और उनके स्थायित्व का यही कारण है। कला की दृष्टि से काव्य के सभी रूप समान हैं। प्रबन्ध काव्य और गीत काव्य दोनों में ही कला-सौन्दर्य पर्याप्त हो सकता है। गीत काव्य में भाव की गंभीरता

और सगीत की मधुरता के लिए और भी अधिक अवकाश रहता है। सगीत के सौन्दर्य और भाव की तीव्रता के कारण ही सूरदास और मीराबाई के पद इतने लोकप्रिय हो गये हैं। किन्तु गीत काव्य मुक्तक काव्य है। उसमे भावो की मुक्तायें बिखरी रहती हैं। प्राय उनमे किसी क्रम और सम्बन्ध का सूत्र नही होता। महादेवी वर्मा ने गीत की तुलना बादल से की है। गीत बादल के समान ही मुक्त और स्वच्छन्द हैं। बादल के समान ही वह कभी जीवन की गहरी घाटियो और कभी जीवन के उन्नत शिखरो को स्पर्श कर लेता है। यो गीत की अपनी विशेषतायें हैं। सस्कृति के सौन्दर्य के लिए बादलो की रगीन सुषमा, उनके मन्द्र गर्जन तथा उनके सरस वर्षण की भी आवश्यकता है। **किन्तु सास्कृतिक जीवन की सुदृढ़ और स्थायी परम्पराओ का निर्माण प्रबन्ध काव्य की भूमि पर ही होता है।** स्थूल ऐतिहासिक कथानक उसे ग्राह्य और स्थायी बनाता है। इस कथा मे वृत्त के अतिरिक्त जीवन और सस्कृति के कुछ स्थायी सत्यो का उद्घाटन गति, सगति और प्रगति से युक्त होने के कारण जीवन की सास्कृतिक परम्पराओ का प्रतिनिधि बन जाता है। जीवन का स्वरूप भी गति है। उसमे भी सगति अपेक्षित है और प्रगति अभीष्ट है। जीवन के अनुरूप होने के कारण प्रबन्ध काव्य स्थायी रुचि का विषय बन जाता है। प्रबन्ध काव्य के पटल का विस्तार उसे जीवन का सवाक् चलचित्र बना देता है। गीत काव्य सध्या के रगीन बादलो की भाति सुन्दर और मार्मिक प्रभाव से युक्त होता है। उसकी तीव्र और मार्मिक भावना हृदय के मर्म को स्पर्श करती है। उसकी सरस भावना हृदय को रस-विभोर कर देती है। गीतकाव्य की कादम्बिनी के पलको पर अङ्कित सतरगी स्वप्नो का दिव्य इन्द्र-धनुष कल्पना और कामना के स्वर्ग का तोरण-द्वार बनाता है। किन्तु जीवन की सरिताओ के प्रवाह तथा जीवन की सास्कृतिक परम्पराओ का पोषण करने वाली वनराजियों का शृगार तथा केदारमालाओ का विस्तार प्रबन्ध काव्य की उर्वर भूमि पर ही होता है। यह स्मरणीय है कि प्रबन्ध काव्य की इस दृढ भूमि का गीत काव्य की कादम्बिनी के अमृत वर्षण से सरस होना आवश्यक है। इसी वर्षण की रस राशि सचित होकर जीवन की धाराओ मे प्रवाहित होती है। यही रस-राशि प्रबन्ध काव्य की धरती को सरस बनाकर वनराजियो और केदारमालाओ मे उसकी उर्वरता को सफल बनाती है। **गीत-तत्व काव्य का प्राण है।** उसी से अनुप्राणित होकर 'प्रबन्ध' काव्य का रूप ग्रहण करता है। गीत के स्वर और श्वासो का स्पन्दन प्राप्त करके ही प्रबन्ध

के सास्कृतिक स्वर प्रभावशाली बनते हैं। प्रबन्ध काव्यों के मार्मिक स्थलों में गीत के समान ही भावों की तीव्रता, स्वर का माधुर्य और कला का सौन्दर्य साकार हो उठा है। **इस प्रकार गीत काव्य और प्रबन्ध काव्य में रूप का भेद अवश्य है, किन्तु स्वरूप की समानता है।** गीत के सौन्दर्य को आत्मसात करके ही 'प्रबन्ध' काव्य बनता है। 'रामचरितमानस और 'कामायनी' के प्रबन्ध में गीत की भावना का समन्वय होने के कारण ही ये हिन्दी की सर्वोत्तम निधि हैं। 'रामचरितमानस' में प्रबन्ध की प्रचुरता तथा नीति और धर्म का आधिक्य होने के कारण कवित्व के मर्म से रहित वर्णन भी बहुत हैं। विशाल पटल के प्रबन्ध काव्य मे यह स्वाभाविक है। किन्तु अल्प प्रबन्ध और लघु पटल होने के कारण 'कामायनी' में गीत तत्व और प्रबन्ध काव्य का ऐसा अद्भुत समन्वय हुआ है कि विश्व काव्य में इसकी तुलना मिलना कठिन है। **'कामायनी' गीत में प्रबन्ध और प्रबन्ध में गीत है। कथा और गीत के तत्व मिलकर मानो जड़-चेतन के समान एक-रस हो गए हैं।** जयशकर प्रसाद एक श्रेष्ठ गीतकार और नाटककार थे, अत कामायनी में गीत की भाव प्रवणता और नाटक की सजीवता का समन्वय है। यह काव्य का दोष नहीं, गुण है। गीत-तत्व काव्य का स्वरूप और उसकी आत्मा है। गीतमत्ता 'कामायनी' का दोष नहीं वरन् उसका एक अद्भुत गुण है। यदि 'कामायनी' एक लोकप्रिय महाकाव्य नहीं बन सकती तो उसका कारण उसके विषय की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता तथा छायावादी शैली की अमूर्त्त और अस्पष्ट व्यजना है। इतिहास जीवन का मूर्त्त रूप है। उसका स्थूल कथानक गीत के प्राण प्राप्त करके सजीव काव्य का रूप ग्रहण करता है। **विषय की सूक्ष्मता और कथानक की अल्पता के कारण 'कामायनी' प्रबन्ध काव्य की अभीष्ट मूर्तिमत्ता प्राप्त नहीं कर सकी।** इसीलिए चाहे वह लोक-प्रिय न हो सके, किन्तु काव्य के क्षेत्र में प्रबन्ध और गीत के समन्वय से युक्त एक अद्भुत रचना का उदाहरण सदा बनी रहेगी।

प्रबन्ध में गीत के काव्य स्वरूप के अन्वय से सुन्दर और स्थायी सास्कृतिक काव्य का रूप बनता है। **'गीत' काव्य की आत्मा है। प्रबन्ध देह है। देह को अनुप्राणित कर आत्मा उसे सुन्दर और सजीव बनाती है। श्रेष्ठ सास्कृतिक काव्य का यही रूप है।** इसके विपरीत गीत में प्रबन्ध का अन्वय उसी प्रकार अकल्पनीय है, जिस प्रकार आत्मा में शरीर का अन्वय अकल्पनीय है। श्रीकृष्ण के जीवन का कुछ क्रमबद्ध वर्णन होते हुए भी सूरसागर में प्रबन्ध का प्रवाह नहीं है। एक

सम्पूर्ण सांस्कृतिक धारणा के प्रतिनिधि होते हुए भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विशाल गीतराशि मे कोई क्रम और व्यवस्था नही है। एक प्रश्न के उत्तर मे उनका यह कलात्मक कथन कि सरस्वती के नूपुरो से टकराकर मेरा प्रबन्ध काव्य गीतो मे बिखर गया यथार्थ ही है। **रवीन्द्रनाथ के गीत कविता के आकाश में बिखरे हुए तारो के समान है।** इनमे कोई क्रम अथवा व्यवस्था सम्भव नही है। भावो की मुक्ताओ के गुम्फन के लिए प्रबन्ध की कथा एक स्वाभाविक सूत्र है। इन सूत्रो के आधार पर जीवन की सांस्कृतिक परम्पराओ का सरक्षण और विकास सरलता से सम्भव होता है। गीतो के भावो मे भी एक सूक्ष्म क्रम और व्यवस्था सम्भव है, किन्तु गीतकार के लिए उसका निर्वाह पक्षी के पैर मे सूत्र बाधकर उडाने के समान अस्वाभाविक है। **गीत की भाव विभोर तन्मयता में व्यवस्था का सूत्र विलय हो जाता है।** अत पाठको (वस्तुत अनुगायको) के लिए भी उस सूत्र का ग्रहण कठिन है। आलोचक गीतो मे गतिशील तत्वो को जड बनाकर उसमे व्यवस्था और एकसूत्रता का आरोपण कर सकते हैं। यह गीतो की आत्मा का उद्घाटन नही वरन् उनके शरीर की शल्य क्रिया है। साहित्य और लोकपरम्परा दोनो मे गीत मनुष्य के मानस की स्वच्छन्द तरगो मे रूप मे ही गुजित रहे हैं। सांस्कृतिक अर्चना के नित्य नवीन प्रसून सस्कृति के आराधको को उनमे मिलते रहे हैं, किन्तु सस्कृति की स्थायी और गतिशील परम्परा के प्रतिनिधि प्रबन्ध काव्य ही रहे हैं।

कथा और काव्य के सबन्ध के प्रसग में दो बातें और विचारणीय है—एक यह है कि काल क्रम के अनुरूप कथा की गति जीवन के अनुरूप होने के कारण काव्य मे भी रुचि का सन्निधान करती है, किन्तु दूसरी ओर काव्य के रस को एक अकाल अनुभव माना जाता है। काव्य मे सौन्दर्य एक कालातीत अनुभव के दिव्य लोक में हम ले जाता है, जहाँ पहुँचकर हम शाश्वत भाव मे विभोर हो जाते हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानो कालगति हमे प्रभावित नही करती। यह काव्य के आनन्द का अमृतलोक है, जहाँ कला की गति निस्पन्द हो जाती है और आत्मा का अक्षय यौवन अपने अजर सौन्दर्य में विलास करता है। काव्य में इस रसात्मक अनुभव के साथ कथा की गतिशीलता का सामजस्य किस प्रकार हो सकता है, यह एक कठिन प्रश्न है। सामान्य दृष्टि से कथा की गतिशीलता और काव्य के रसानुभव के स्थिर भाव मे परस्पर विरोध दिखाई देता है। विरोधी होने पर इन विरुद्ध तत्वो का सगर जीवन और काव्य दोनो म विषमताओ का कारण बन सकता है।

किन्तु जीवन और काव्य दोनों में गति और अमृतभाव दोनों का सामंजस्य अपेक्षित और संभव है। वेदान्त की जीवन्मुक्ति इसी संभावना को प्रतिपादित करती है। शिव के समाधिस्थ और नटराज रूपों में स्थिरता और गति के ये भिन्न रूप साकार हुए हैं। वे एक ही शिव के रूप हैं। इससे इनके भी सामंजस्य का संकेत मिलता है। फिर भी प्रकट रूप में ये रूप शिव की दो भिन्न अवस्थाओं में साकार होते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से इनमें दोनों के सामंजस्य का सूत्र अवश्य है। जीवन्मुक्ति में यह सामंजस्य अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है। मूलतः यह अकाल आत्मा और काल के सामंजस्य का प्रश्न है। काव्य में यह सामंजस्य जितना अधिक होता है उतना ही काव्य अधिक सफल और सुन्दर बनता है। इस सामंजस्य के स्वरूप को समझना और इसे सम्पन्न करना दोनों ही कठिन हैं। इतना संकेत किया जा सकता है कि इस सामंजस्य में आत्मा का अमृतभाव काल के गतिशील क्रम में अनुस्यूत एवं ओत-प्रोत रहता है तथा आत्मा के अमृतभाव की स्थिरता में भी एक सजीवता और सक्रियता रहती है। अधिक पूर्ण रूप में इस सामंजस्य को कृतार्थ साधक और कृती कवि ही जान सकते हैं तथा सम्पन्न कर सकते हैं।

काव्य के साथ कथा के संबन्ध के प्रसंग में एक अन्य बात यह है कि वृत्त के अतिरिक्त निर्माण की प्रेरणा का काव्य में क्या स्थान है। कथावृत्त अतीत के विवरण के रूप में ही होता है। निर्माण का संबंध भविष्य से है। काव्य में रसानुभाव के अमृतभाव के साथ गतिक्रम के सम्बन्ध की भाँति भावी निर्माण की प्रेरणाओं के साथ काव्य का संबन्ध भी विचारणीय है। जो केवल सौन्दर्य को काव्य का लक्ष्य मानते हैं उनके लिए निर्माण का प्रश्न विचारणीय नहीं है। सौन्दर्य के रूप में ही यदि काव्य निर्माण में योग दे सकता है तो दूसरी बात है। यदि सृजनात्मक होने के साथ साथ सौन्दर्य निर्माणकारी भी है तो यह निर्माण सौन्दर्य के स्वरूप का अंग है, कवि का सचेतन अथवा अचेतन अभीष्ट नहीं है। निर्माण का सम्बन्ध जीवन के शिव तत्व से है। कला और काव्य में निर्माण की प्रेरणा उसके भाव-तत्त्व में सन्निहित रहती है। रूप का सौन्दर्य इस भाव तत्व को प्रभावशाली और प्रेरणा-प्रद अवश्य बना सकता है। वृत्त भी जीवन तथा काव्य का तत्व ही हैं। इसी प्रकार वृत्त का विवरण और निर्माण की प्रेरणा दोनों 'तत्व' होने के कारण कला एवं काव्य के रूप-सौन्दर्य के विपरीत जान पड़ते हैं। अभिधेय होने के कारण कथावृत्त के साथ काव्य सौन्दर्य के विरोध का संकेत हम ऊपर कर चुके हैं। तत्व दृष्टि से निर्माण

का सामजस्य भी काव्य मे कठिन है। किन्तु कठिन होने के कारण वह अवाछनीय नही है। तात्विक होते हुए भी निर्माण मे एक भाव का अतिशय है जो रूप के अतिशय का मार्ग प्रशस्त कर काव्य म सौन्दर्य का विधायक बनता है। कथा मे भी पात्रो के परस्पर सबन्ध के द्वारा यह सभव हो सकता है। भव्य (भविष्य) होने के कारण निर्माण मे एक सहज आकर्षण होता है। एक प्रकार से यह निर्माण जीवन की गति का भावी क्रम है। इस गति क्रम मे अतीत और भविष्य तथा वृत्त और निर्माण का सामजस्य सभव हो सकता है। इस सामजस्य के द्वारा प्रबध काव्य अतीत के सुन्दर वर्णन होने के साथ-साथ भविष्य के निर्माण की प्रेरणा भी बन सकते है। 'राम चरित मानस' मे यह निर्माण का सकेत एक सनातन आदर्श के रूप मे मिलता है। 'कामायनी' मे इस आदर्श का सकेत भावी समाज की ओर भी है। पार्वती मे यह निर्माण की प्रेरणा अधिक व्यापक, स्फुट और सजीव रूप मे साकार हुई है। कल्पित कथा मे अतीत वृत्त का बन्धन न होने के कारण निर्माण का समवाय अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक सभव हो सकता है, यद्यपि किसी महत्वपूर्ण काव्य मे यह अभी देखने मे नही आया है।

अध्याय २०

मनोवैज्ञानिक सत्य और काव्य

प्राकृतिक तथ्य स्वतन्त्र और निरपेक्ष सत्ताएं हैं। किन्तु जीवन और कला में उनका रूप पूर्णत निरपेक्ष नही रहता। आत्मवादी दर्शन का यह एक तर्क अखण्डनीय है कि पूर्णत निरपेक्ष प्राकृतिक तथ्य की चर्चा नही हो सकती। चर्चा करते ही वह मन सापेक्ष बन जाता है। यथार्थवाद और अध्यात्मवाद की तार्किक और दार्शनिक मीमासा तथा उनके तार्किक विवेचन का तो यहाँ कोई प्रसग नही है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि दर्शन की तार्किक स्थिति जो कुछ हो किन्तु व्यवहार और कला मे एक ओर प्राकृतिक तथ्य की स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव करते हुए भी दूसरी ओर हम उसके साथ मानसिक तादात्म्य और सम्बन्ध भी मानते हैं। भूमि, ग्रह, वस्तुओ, वृक्षो आदि से भी मनुष्यों के समान हमारा स्नेह, ममत्व और बधुत्व हो जाता है। यह न भ्रम है और न प्रकृति का मानवीयकरण है, वरन् जीवन के एक व्यापक सत्य का गम्भीर अनुसधान है। जीवन और कला में इसी भावानुबन्ध मे प्राकृतिक तथ्य की कृतार्थता है। सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यो का वैज्ञानिक अध्ययन तटस्थ रूप मे अवश्य होता है, किन्तु उनकी मन सापेक्षता स्पष्ट है। उनका बाह्य रूप केवल उनका देह है, उनका प्राणतत्त्व मनोवैज्ञानिक है। मनुष्य का मन ही उनका आदि स्रोत है। मन से ही प्रसूत होकर जीवन और समाज मे वे घटनाओ, सस्थाओ और प्रथाओ का रूप ग्रहण करते हैं। मूलत वे मानसी सृष्टि हैं, अत उनके स्वरूप, सम्बन्ध, परिणाम और महत्त्व को समझने के लिए मनुष्य के मनोलोक का परिचय अपेक्षित है। इसी मनोवैज्ञानिक परिचय और दृष्टिकोण के व्यापक महत्त्व के कारण आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का इतना विकास हो रहा है। सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यो का मूल स्वरूप और स्रोत तो स्पष्टत मानसिक है। जीवन और कला मे जिस रूप मे प्राकृतिक तथ्यो का ग्रहण होता है, उनका भी मानसिक आधार कम महत्त्वपूर्ण नही है। अस्तु प्राकृतिक, सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यो के मूल स्रोत होने के नाते तथा जीवन और कला मे इन तथ्यो के रूप मे साकार होने कारण मनोवैज्ञानिक तथ्यो का एक

व्यापक और मौलिक महत्त्व है। मनुष्य की प्रकृति, प्रवृत्तियाँ, भावनाये तथा उसकी चेतना और उसके चरित्र के रूप मनोवैज्ञानिक तथ्यो के प्रमुख उदाहरण हैं।

ये मनोवैज्ञानिक तथ्य ही मनुष्य के जीवन और व्यवहार की प्रेरणा तथा सामाजिक और ऐतिहासिक तथ्यो के आधार हैं। यदि काव्य किसी भी अर्थ मे जीवन का चित्रण है, तो काव्य मे इनका क्या स्थान है, यह स्पष्ट है। सभी प्रवृत्तियाँ और भावनाये काव्य का उपादान बन सकती हैं। यथार्थवादी दृष्टिकोण मे किसी भी मनोभाव की व्यजना वर्जित नही है। यहा भी काव्य के उद्देश्य के प्रसग मे वही प्रश्न उठता है कि क्या सभी सामाजिक तथ्यो की भाँति सभी प्रवृत्तियो और भावनाओ का अकन उचित है। यह स्पष्ट है कि इस प्रश्न का **सबन्ध अभिव्यक्ति के औचित्य से है, उसके सौन्दर्य से नहीं। कला की दृष्टि से तो सभी अभिव्यक्तियो का रूप सुन्दर है।** प्राकृतिक और सामाजिक तथ्यों के यथार्थ चित्रण की भाँति मनोवैज्ञानिक तथ्यो के अकन मे भी प्रकृति की अनुकृति का सौन्दर्य है। औचित्य का प्रश्न है, जो कला और काव्य के सामाजिक रूप के कारण विचारणीय है। कला केवल अनुकृति नही है, वह सस्कृति का स्वरूप भी है। अनुकृति प्रजापति के यथापूर्व सर्ग की भाँति यथार्थ के अनुरूप सृष्टि है, किन्तु सस्कृति प्रकृति के आधारो पर अनुकृति के मार्ग से यथाकाम लोको की स्वतन्त्र सृष्टि है। कला मे चेतना की यह स्वच्छन्द क्रिया ही उसकी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य मे शिव का बीज है। स्वतन्त्रता के सामाजिक रूप से स्वतन्त्रता की मर्यादा और अभिव्यक्ति के औचित्य का भाव उदित होता है। **चेतना की स्वतन्त्रता आन्तरिक समृद्धि और आन्तरिक आनन्द है। उसमें किसी प्रकार की बाधा अशिव और अनुचित है। इसी दृष्टि से कला और काव्य के जो रूप दूसरो की चेतना के स्वतन्त्र धर्म के बाधक हैं, वे अशिव होने के कारण ही असुन्दर है।** अभिव्यक्ति सौन्दर्य का धर्म है। सामजस्य उसका स्वरूप है। सामाजिक स्वतन्त्रा की मर्यादा का उल्लघन करने मे असामजस्य उत्पन्न होता है। अत सामाजिक यथार्थ की भाँति मनोवैज्ञानिक यथार्थ का अनियन्त्रित चित्रण भी कला की स्वरूपगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का विघातक है। **यह एक विचित्र किन्तु सत्य सिद्धान्त है कि सामाजिक स्वतन्त्रता का लक्ष्य कला की अनियत स्वतन्त्रता का खडन करता है और इस प्रकार कला के सभी स्वच्छन्द अथवा उच्छृंखल सिद्धान्त आत्मघाती बन जाते हैं।**

कला और काव्य को चेतना की स्वच्छन्द सृष्टि और स्वतन्त्रता को चेतना ...

लक्ष्य मानकर तथा कला को संस्कृति का स्वरूप मान लेने पर कलाकृतियों में सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्यों के अमर्यादित चित्रण के अधिकार की घोषणा एक विसवादी स्वर है, जो जीवन की रागिनी की कलापूर्ण व्यवस्था को भंग कर देता है। इसमें एक व्याघात और भ्रम है, जो कला और स्वतन्त्रता को व्यक्तिगत मान लेने के कारण दिखाई नहीं देता। स्वतन्त्रता कला और चेतना का सार्वभौम सत्य है। अतः वह सामान्य और सामाजिक है, व्यक्तिगत नहीं। स्वतन्त्रता के इस सामाजिक स्वरूप में व्यक्ति का तिरस्कार नहीं वरन् अधिकतम सम्मान है। व्यक्तियों की समानता, और आन्तरिक समृद्धि के लिए उनका समान अधिकार इस स्वतन्त्रता के दल हैं। स्वतन्त्रता के इस सामाजिक रूप का अनुशीलन करने वाली 'कला' भी अपने नाम को सार्थक करती है। जीवन में शिव ही सुन्दर है। केवल निष्प्रयोजन और परिणाम रहित रूप दर्शन और रूप-रचना के क्षेत्र में (शुद्ध चित्र-कला और संगीत आदि) केवल और अनियन्त्रित अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के रूप में कला का अस्तित्व सम्भव है। किन्तु इस रूप मात्र के अतिरिक्त जहाँ कहीं भी जीवन के अर्थ और भाव कला तथा काव्य के उपादान बनते हैं, वहाँ स्वतन्त्रता का सांस्कृतिक और सामाजिक रूप अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की मर्यादा बन जाता है। दार्शनिक शब्दों में हम कह सकते हैं कि बुद्धि का तिरस्कार करके ही कला की अभिव्यक्ति अमर्यादित हो सकती है। कला बौद्धिक चिन्तन नहीं है, किन्तु उसकी सृजनात्मक वृत्ति में बुद्धि का अन्तर्भाव होने पर ही प्रौढ़ और पुष्ट कला का रूप खिल सकता है। बुद्धि चेतना का वह रूप है, जो सामाजिक न्याय और समानता का आधार है। राजनीतिक शब्दों में हम कह सकते हैं कि बुद्धि समानता और जनतन्त्र का आधार है। कला का प्राकृतिक रूप तो निःसन्देह अभिव्यक्ति का अनियन्त्रित सौन्दर्य है, किन्तु कला के सांस्कृतिक रूप में स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता की मर्यादा है।

सांस्कृतिक कला और काव्य में शिव और सुन्दरम् का समन्वय हो जाता है। जो शिव नहीं है, वह असुन्दर बन जाता है। भारतीय संस्कृति और कला की परम्परा में इसीलिए 'शिव' परम सुन्दर भी हैं। कलानाथ और नटराज होने के साथ वे अखिल मंगलमय हैं। तप, संयम और योग प्रकृति के संस्कार और मंगल-मयी संस्कृति में उसके अन्वय के साधन हैं। अस्तु जिस प्रकार नैतिक श्रेय की दृष्टि से जीवन में प्रकृति का अनियन्त्रित अनुसरण अनुचित है, उसी प्रकार सांस्कृतिक

कला की दृष्टि से भी मनोवैज्ञानिक तथ्यों का चित्रण सुन्दर नहीं है। **जो तथ्य तथा जीवन चित्रण समाज की स्वतन्त्रता और सांस्कृतिक समृद्धि की परम्परा तथा प्रगति के अनुकूल है, वे ही सांस्कृतिक कला और काव्य की सम्पत्ति बन सकते हैं।** इसका अर्थ यह नहीं है कि अशिव और अमगलकारी तथ्यों की उपेक्षा कला का कर्त्तव्य है। प्रगतिवाद इस उपेक्षा का पलायन कहेगा। इस उपेक्षा के मूल मे एक दुर्बलता और भय है, इसमे सन्देह नही। **कला' सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के साथ साथ शक्ति की भी अभिव्यक्ति है।** यह भौतिक नही, आत्मिक शक्ति है। तन्त्रो मे भगवती महा शक्ति को महासुन्दरी के रूप मे अर्चित किया है। शक्ति और अभय ही कला के सौन्दर्य को स्वतन्त्रता और शिव के अनुरूप बनाते हैं। शक्ति अभय और स्वतन्त्रता की दृष्टि मे अन्वित होकर अमगलकारी प्रतीत होने वाले मनोवैज्ञानिक तथ्य भी परिणाम म मगलमय बन जाते हैं। इसकी कसौटी कवि की अन्तर्भावना, और सामान्य पाठकों की भावना पर कलाकृति का सम्भावित प्रभाव है।

यह सत्य है कि प्रकृति स्वरूपत नैतिकता के गुण दोषो से रहित है, किन्तु मनुष्य के जीवन मे प्रकृति का वह शुद्ध रूप नही रह गया है। बुद्धि तथा अन्य शक्तियो के विकास के द्वारा मनुष्य म प्रकृति की पाशविक मर्यादाओ का अतिक्रमण करने की क्षमता बढ गई है। समाज म यह अतिक्रमण अतिचार का रूप ग्रहण करता है। यह अतिचार दूसरो की स्वतन्त्रता, उनके आत्मगौरव और आनन्द की क्षति करता है। इसीलिए जिस प्रकार नीति और संस्कृति के क्षेत्र म सामाजिक मगल की साधना के लिए प्रकृति की मर्यादा और उसका सस्कार अपेक्षित है, उसी प्रकार कला और काव्य के क्षेत्र मे प्रकृति की अभिव्यक्ति में भी मर्यादा और सस्कार अपेक्षित है। मनुष्य के समाज ने अपनी सभ्यता और सस्कृति के विकास मे जिन प्रवृत्तियो के जिन पक्षो को व्यक्तिगत और गोपनीय मानकर उनकी अभिव्यक्ति को अश्लीलता की कोटि मे रख दिया है कला और काव्य मे इन प्रवृत्तियो के उन पक्षो की अभिव्यक्ति सुरुचिकर नहीं है। किन्तु कला और काव्य प्राय सामाजिक शील की इस मर्यादा का उल्लघन करते रहे हैं। मनोविश्लेषणवाद के अनुसार कहा जा सकता है कि सामाजिक शील और शिष्टाचार की मर्यादाय जिन स्वाभाविक प्रवृत्तियो का दमन करती है, कलाकारो और कवियो के अवचेतन मन मे दबे हुए उन प्रवृत्तियो के सस्कारो की अभिव्यक्ति कला और काव्य म एक प्रतिक्रिया के रूप मे होती रही है। समाज के मन म दबे हुए सस्कारो की प्रच्छन्न रुचि ऐसी कृतियो

मे रस लेती रही है। भारतीय कला और काव्य मे शृगार की प्रधानता का यही कारण है। काम मनुष्य की एक अत्यन्त प्रबल प्रवृत्ति है। मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप मे इसका महत्व शास्त्रकारो को भी मान्य है। समाज की व्यवस्था और सस्कृति के आदर्शो मे काम का समुचित समन्वय अभीष्ट है। शिव कथा मे कामदहन की भूमिका इस सत्य की सूचक है कि काम के सस्कार और समन्वय के बिना मगलमयी सस्कृति की स्थापना सम्भव नही है। यह सत्य है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक प्रवृत्तियो और उनमे विशेषत काम के दमन द्वारा सन्तोषजनक समाज, साहित्य और सस्कृति का निर्माण नही हो सकता। अत इनका समाधान आवश्यक है। यह समाधान दमन, उपेक्षा अथवा बुद्धि के शासन के द्वारा नही हो सकता। उनका स्वीकरण और सस्करण ही इस समाधान का एक उत्तम मार्ग है।

मनोविज्ञान मे कला को भी प्रवृत्तिया के समाधान का एक साधन मानते हैं। कला और धर्म के नाम से प्रवृत्तियो के वर्जित रूपो की ऐसी अभिव्यक्ति जो सौन्दर्य अथवा अध्यात्म की साधना प्रतीत होने के कारण समाज को मान्य है, प्रवृत्तियो का उदात्तीकरण कहलाती है। नारी के रूप और सौन्दर्य के नग्न चित्रण कला के नाम से गर्हणा के स्थान पर सराहना के पात्र बन जाते हैं। धर्म के नाम पर श्रीकृष्ण की शृगारमयी लीलायें दिव्य मानी जाती हैं। काव्य मे भी इस प्रकार के वर्णन कला के उदाहरण माने जाते हैं। मनोविश्लेषणवाद की इतनी व्याख्या तो सत्य है कि इन रूपो और मार्गो मे वर्जित प्रवृत्तिया आत्मप्रकाशन के समाज-सम्मत अवसर प्राप्त करती है। किन्तु इस प्रक्रिया में प्रवृत्तियो का किस अर्थ में उदात्तीकरण होता है यह स्पष्ट नहीं। यह तो स्पष्ट है कि कलाकार और कलाप्रेमी दोनो एक छद्म के आवरण मे, सम्भवत अवचेतन भाव से, वर्जित प्रवृत्तियो की तृप्ति का रस लेते है, किन्तु यह छद्म रूप से प्रवृत्तियो का प्राकृतिक मोह ही है। ऐसी स्थिति मे उदात्तीकरण का अर्थ और रूप क्या है, यह विचारणीय है। काव्य शास्त्र मे धीरोदात्त नायक की जो कल्पना प्रतिष्ठित की गई है, उसमें उदात्त का अर्थ प्रवृत्तियो का सयमन और उनका उन्नयन है। धीरोदात्त नायक की चेतना इतनी उत्कृष्ट और सस्कृत होती है कि उसका चरित्र प्रवृत्तियो के आवेग से अभिभूत नही होता। उसके स्वभाव मे प्रवृत्तियो का दमन नही, सस्कार होना है। इस सस्कार से उन्नत होकर वे उसके शील मे अन्वित हो जाती हैं।

इसीलिए धीरोदात्त नायक का संयम और गौरव स्वाभाविक होता है, प्रयत्न-साध्य नहीं। प्रवृत्तियों के साथ संघर्ष न होने के कारण उसे आध्यात्मिक विजय का गर्व भी नहीं होता। भरत, राम और श्रीकृष्ण का चरित्र ऐसा ही है। **विकार और संघर्ष से रहित प्रवृत्तियों का सहज और सास्कृतिक उन्नयन ही उदात्तीकरण का वास्तविक रूप है।** किन्तु मनोविज्ञान में प्राय जिसे उदात्तीकरण कहा जाता है' वह उदात्तीकरण की विडम्बना है। वह शील और स्वभाव की कोई सिद्ध अवस्था नहीं है, वरन् प्रवृत्तियों के धरातल पर ही कला और धर्म के माध्यम से प्रवृत्तियों का छद्ममय प्रकाशन और उनकी प्रच्छन्न तृप्ति है। शील और स्वभाव मनुष्य के अन्तर्मन का संगठित और समाहित रूप है। **भारतीय अर्थ में उदात्तीकरण में शील और स्वभाव का धरातल ऊँचा हो जाता है और प्रवृत्तियाँ उस धरातल तक उठकर अपने स्वभाव को एक उत्कृष्ट संस्कार में समर्पित कर देती हैं। मनोविश्लेषणवाद के उदात्तीकरण में प्रवृत्तियाँ अपने प्राकृतिक धरातल पर ही रहती हैं।** उसी धरातल पर रहते हुए प्रवृत्तियाँ छद्म रूप में अपने को प्रकट और तृप्त करती हैं। उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम समाज द्वारा मान्य होते हैं। यदि हम इन माध्यमों के धरातल को ऊँचा भी मान लें, तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। प्रवृत्तियों का आन्तरिक रूप तथा अन्तर्मन का धरातल वही रहता है, जो अन्य प्राकृतिक अवस्थाओं में रहता है। प्रवृत्तियों के रूप में न कोई संस्कार होता है और न उनका उन्नयन ही होता है। ऐसी अवस्था में अन्तर्मन का भी उन्नयन और संस्कार नहीं होता। **अत उदात्तीकरण का यह रूप तथा उस पर आश्रित कला और धर्म छद्म मात्र है।** सम्भवत मनोविश्लेषणवाद के उदात्तीकरण का अभिप्राय भी यही है, क्योंकि मनोविश्लेषणवाद कला और धर्म की श्रेष्ठता स्वीकार करने के स्थान पर उनकी व्याख्या स्वाभाविक प्रवृत्तियों की प्रच्छन्न और समाज-सम्मत अभिव्यक्ति के रूप में करता है। **यह वस्तुत प्रवृत्तियों का उदात्तीकरण नहीं वरन् कला और धर्म की श्रेष्ठता के आडम्बर का खण्डन तथा दोनों का प्राकृतीकरण है।**

यह सत्य भी है। कला और धर्म में सौन्दर्य और अध्यात्म के नाम से प्राय प्रवृत्तियों की प्रच्छन्न तृप्ति होती है। मनोविश्लेषणवाद इस भ्रान्ति के सत्य का उद्घाटन करता है। प्रकट और प्रच्छन्न दोनों ही रूपों में प्राकृतिक प्रवृत्तियों का चित्रण कला का प्राकृतिक रूप है, सांस्कृतिक नहीं। हिन्दी के आधुनिक प्रगतिवादी लेखक मनोविश्लेषणवाद के संकेतों को ग्रहण करके प्रवृत्तियों के नग्न उद्घाटन में

ऐसे उत्साह पूर्वक सलग्न हो गए जैसे कहीं चोरी का सकेत पाकर पुलिस के अधिकारी सभ्रान्त कुलो की लाज मर्यादा और उनके मान की धूल उड़ाने मे तत्पर हो जाते हैं। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य के नाम पर उन्होंने मनुष्य के मन और समाज के जीवन को कुत्सित वृत्तियो के नग्न उद्घाटन को अपनी रचना का विषय बनाया। कुछ इसे कला का स्वाभाविक अधिकार और कर्तव्य मानते हैं, दूसरे मनोविरेचन के रूप मे इसे समाज के सुधार का साधन मानते हैं। कुछ मनुष्य के स्वभाव और जीवन की यथार्थताओ का नग्न उद्घाटन उसकी भ्रान्तियो के निवारण के लिए आवश्यक समझते हैं। प्राय सभी प्रगतिवादी इस विषय मे एकमत हैं कि मनोवैज्ञानिक तथ्यो के नग्न चित्रण मे कोई दोष नही है। उनकी दृष्टि मे नैतिकता और सस्कृति मनुष्य के मिथ्या दम्भ हैं। सब छद्मो के आवरण में मनुष्य का वास्तविक स्वभाव और शील प्राकृतिक हैं तथा प्रवृत्तियो से ही प्रेरित हैं। कला और धर्म के नाम से इनका आवरण छद्म है और नैतिकता के नाम पर इनका सयमन दमन है तथा इनकी उपेक्षा पलायन है।

यह सत्य है कि जिस प्रकार सामाजिक तथ्यो की यथार्थताओ से आँख बचाना दुर्बलता और पलायन है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक तथ्यो की उपेक्षा करना भी दुर्बलता और पलायन है। गाधीजी के तीन गुरुओं की भाँति उपेक्षा-मन्त्र अनीति और अमगल का उपचार नही है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि केवल उनका उद्घाटन और चित्रण ही निर्भयता और साहस का सूचक नही है। मनोविश्लेषणवाद ही इस विचित्र सिद्धान्त का समर्थन करता है कि प्राय इनका उद्घाटन और वर्णन ही इनके प्रति दुर्बलता का सूचक होता है। व्यक्तिगत चिकित्सा के सम्बन्ध मे मनोविश्लेषण-वाद का यह मत है कि अवचेतन मन मे दबी हुई मनुष्य की वासनाये यदि किसी प्रकार चेतना की परिधि मे लाई जा सकें तो उससे व्यक्ति का मानसिक सघर्ष मिट जाता है और वह स्वस्थ हो जाता है। मनोविश्लेषण की चिकित्सा प्रणाली इसी का प्रयत्न करती है। पूर्णत सफल न होते हुए भी यह प्रणाली हितकर है इसमे सन्देह नहीं। किन्तु साहित्य के माध्यम से सामाजिक अवचेतन का नग्न और अनियन्त्रित उद्घाटन कितना हितकर हो सकता है यह सदिग्ध है। यह स्पष्ट है कि सामाजिक तथ्यो की भाँति मनोवैज्ञानिक तथ्यो के वर्णन की मर्यादा और उसके औचित्य की चर्चा लोक के सास्कृतिक मगल की दृष्टि से ही की जा सकती है। प्राकृतिक यथार्थ की दृष्टि से सभी तथ्य समान हैं, उनके प्राकृतिक स्वरूप मे नैतिक

गुण भेद नहीं हैं। किन्तु यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। विज्ञान में तथ्यों का अध्ययन तथ्य के रूप में ही किया जाता है। विज्ञान का उद्देश्य सौन्दर्य साधना नहीं, केवल यथार्थ सत्य का निर्धारण है। उपयोगिता और अवगति में विज्ञान की कृतार्थता है, किन्तु कला और काव्य संस्कृति के रूप हैं। **'संस्कृति' मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना के अध्यवसाय द्वारा प्रकृति के अनुकूल आधार पर जगत् एवं जीवन की सुन्दर और मंगलमयी व्यवस्था है।** अतः कला और काव्य के सांस्कृतिक रूपों में सामाजिक और मानसिक तथ्यों का चित्रण सांस्कृतिक मर्यादा के भीतर ही किया जा सकता है। स्वतन्त्र चेतना का उन्नयनकारी संस्कार तथा सबकी स्वतन्त्रता, समानता और उनके आत्म गौरव की रक्षा तथा साधना इस सांस्कृतिक मर्यादा की परिधियाँ हैं। यह मर्यादा ही कला, साहित्य और संस्कृति के औचित्य की परिधि भी है। यह सम्भव है कि जीवन और मन के कुछ नग्न तथ्य स्वरूपतः ही इस मर्यादा की परिधि के बाहर हों। किन्तु अनेक संदिग्ध तथ्यों के विषय में तथ्य की मर्यादा उसके स्वरूप में निहित न होकर प्रायः उसके चित्रण की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि और व्यवस्था तथा कलाकार की अन्तर्भावना से निर्धारित होती है।

कलाकार की अन्तर्भावना के यथातथ्य की कसौटी केवल उसका *व्यक्तिगत* सन्तोष नहीं वरन् उसका सामाजिक प्रभाव है। शिक्षा और उपदेश के नाम पर प्रायः आपत्तिजनक तथ्यों का जो निरूपण किया जाता है, उसका सामाजिक फल प्रायः अभीष्ट फल के विपरीत होता है। सन्तों और ज्ञानियों की विषय गर्हणा का रूप और फल प्रायः यही रहा है। जिन प्राकृतिक प्रवृत्तियों के उन्नयन के लिए इन रचनाओं में विषयों की भर्त्सना की जाती है, प्रायः यह भर्त्सना उन्हीं का उत्तेजन करती है। 'रमाशुक-सम्वाद' तथा अन्य नीति ग्रन्थों में विषय और शृंगार की भर्त्सना का परिणाम प्रायः प्रणेताओं के अभीष्ट के विपरीत होता है। 'रघुवंश' के अन्तिम सर्ग की भाँति जहाँ शृंगार का वर्णन विपुल और स्फुट है तथा शिक्षा का संकेत सूक्ष्म और अस्पष्ट है, वहाँ तो सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से उपदेश गौण और शृंगार ही प्रधान हो जाता है। कदाचित् इसी कारण गोस्वामी तुलसीदास जी ने विषय और शृंगार के वर्णन को अपनी पवित्र कृति के स्थान नहीं दिया है। *किन्तु ऐसी उपेक्षा* यदि पलायन न भी हो तो भी समाज के सांस्कृतिक उन्नयन को पर्याप्त प्रेरणा नहीं बन सकती। *उसका यथोचित मार्ग* तो मर्यादा के अन्तर्गत प्रकृति और प्रवृत्तियों को समुचित स्थान देकर सम्पूर्ण कृति की योजनाओं को प्रवृत्ति के उन्नयन की सम्भव

और समर्थ प्रेरणा से ओतप्रोत करना है। कादम्बरी और शाकुन्तल का शृंगार इसी मर्यादा के अन्तर्गत है, यद्यपि इनमे भी पाठको को प्रकृति के रंजन के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं तथा इनमे भी प्रवृत्तियो के संस्कार की कोई स्पष्ट और समर्थ प्रेरणा का निधान नही है। जयशंकरप्रसाद की 'कामायनी' भारतीय काव्य में सम्भवत ऐसी एक मात्र कृति है जिसमे जीवन की सांस्कृतिक प्रेरणाओ का सन्निधान एक स्पष्ट और सबल रूप मे किया गया है। 'कादम्बरी' और 'शाकुन्तल' का पवित्र वातावरण प्रवृत्तियो के संस्कार को एक सूक्ष्म प्रेरणा है। कामायनी' मे वह प्रेरणा सांस्कृतिक सिद्धान्त-तत्वो के रूप मे सन्निहित हुई है। इन सभी मे कवि की उदात्त दृष्टि और पवित्र अन्तर्भावना वासना को उदात्त संस्कारो की प्रेरणा प्रदान करती है। किन्तु 'कामायनी' में भी संस्कार और साधना का रूप व्यक्तिगत है। इसे हम समाज का प्रतीक मान सकते हैं, किन्तु इसके लिए पाठको को व्यक्तिगत प्रतीको के सामाजिक अन्वय का बौद्धिक कार्य करना होगा जो काव्य के रसास्वादन मे बाधक होगा। इसके अतिरिक्त प्रतीको का यह सामाजिक अन्वय बौद्धिक होने के कारण सामाजिक संस्कार की भावनामयी प्रेरणा नही बन सकता। 'पार्वती' महाकाव्य मे प्रवृत्तियो के उन्नयन और उनसे उपजात अनीतियो के उन्मूलन के सांस्कृतिक तत्वो की एक व्यापक सामाजिक भूमिका मे प्रतिष्ठा की गई है। शिव-कथा के सम्पन्न सांस्कृतिक प्रतीक का यह सामाजिक अन्वय मन के उन्नयन की एक व्यापक और गम्भीर प्रेरणा है।

जीवन के मनोवैज्ञानिक तथ्यो के औचित्य का प्रश्न अश्लीलता, अनीति, अतिचार आदि के रूप में उनके सामाजिक परिणामो के प्रसग में ही उठता है। यह स्पष्ट है कि यह प्रश्न हमें यथार्थ सत्य की सीमा के बाहर शिवम् के क्षेत्र में ले आता है। इस प्रसग मे सौन्दर्य और श्रेय अथवा कला और नैतिकता के संबन्ध की सभी समस्याये खडी हो जाती हैं। यह सौन्दर्य-शास्त्र का एक मौलिक और गम्भीर प्रश्न है तथा इसके संबन्ध मे बहुत मतभेद है। इस संबन्ध में हमारा मत यह है कि समात्मभाव सामान्य रूप से सौन्दर्य और श्रेय का सामान्य आधार है। भाव होने के कारण इसका मर्म सौन्दर्य की अपेक्षा श्रेय के अधिक निकट है। इस धारणा के अनुसार श्रेय सौन्दर्य की आत्मा है। सौन्दर्य और श्रेय के संबन्ध के प्रसगो मे प्राय जो विवाद होता है वह जीवन के मांगलिक तत्वो को कला अथवा काव्य का विषय मानकर होता है। काव्य के विषय तत्व के संबन्ध मे भी नैतिक

दृष्टि से विचार अपेक्षित है। किन्तु यह विचार नैतिक दृष्टिकोण से ही होगा। **कला के दृष्टिकोण से विषय का विवेचन कला का द्वितीय प्रश्न है। पहला प्रश्न कला के स्वरूप का प्रश्न है।** अधिकांश सौन्दर्य-शास्त्रियों के मत में श्रेय अथवा नैतिकता का कला के स्वरूप से कोई मौलिक सबन्ध नहीं है। उनके मत में कला केवल सौन्दर्य की साधना है और व्यक्ति रूप मे कलाकार उसका अधिष्ठान है। **किन्तु हमारे मत में व्यक्तित्व के एकान्त में सौन्दर्य की साधना संभव नहीं हो सकती। समात्मभाव के क्षितिज पर ही कला के इन्द्रधनुष खिलते हैं। समात्मभाव के रूप में शिवम् का बीज कला के गर्भ में ही निहित होता है।** किन्तु कदाचित् सभी कृतियो मे यह बीज पल्लवित नही होता। फिर भी इतना निश्चित है कि समात्म-भाव के मार्ग से श्रेय का भाव कला की समस्त साधना में तथा समस्त कृतियो मे अनुस्यूत रहता है। **कला के स्वरूप में ही श्रेय का अन्तर्भाव है। कला का स्वरूप सुन्दर होने के साथ-साथ मंगलमय भी है। कला के इतिहास के दो तथ्य उसके स्वरूप की शिवात्मकता को प्रमाणित करते हैं।** एक तो यह कि कवियो और कलाकारो मे किसी व्यक्ति अथवा समाज के अहित करने की भावना बहुत कम मिलती है। उनमे प्राय स्नेह और सद्भावना की प्रचुरता रहती है। दूसरे कला कृतियों मे भी अमगल का उद्देश्य प्राय नही दिखाई देता। सगीत चित्रकला आदि प्रमुखत शुद्ध-रूपात्मक कलाओ का उपयोग अमगल के लिये कला के इतिहास मे कदाचित् ही हुआ होगा। काव्यो मे अनीति और अतिचार को विषय अवश्य बनाया गया है किन्तु वे अनीति और अतिचार इन काव्यो के लक्ष्य नही है। **कलाकारों के स्वभाव और कला के स्वरूप में सौन्दर्य के साथ श्रेय का सहज समवाय रहता है।** समाज पर कुछ-कला कृतियो का यदि विपरीत प्रभाव होता है तो एक ओर इसके लिए कलाकार के स्वभाव की कुछ दुर्बलता और दूसरी ओर सामाजिक जनो की दुर्बलता इसका कारण है। यह निश्चित है कि दोनो मे यह दुर्बलता कला की साधना को भी मन्द बनाती है। श्रेष्ठतम रूपो मे कला को इस दुर्बलता से ऊपर उठना होगा। यह दुर्बलता समात्मभाव को सीमित बना देती है और उस समात्म-भाव की सीमा मे ही सघर्ष एव दोष उत्पन्न होते हैं तथा समात्मभाव का स्वरूप भी मन्द होता है। **विषय रूप में श्रेय समस्त कला का आवश्यक उपादान नहीं है, किन्तु स्वरूप से समस्त कला मगलमयी है। समात्मभाव की अपूर्णता के कारण कला भी** अपूर्ण रह जाती है। अपूर्ण कला अमगलकारी भी हो सकती है। किन्तु ऐसा भी कला के इतिहास मे बहुत कम हुआ है।

जीवन के दोषपूर्ण मनोभावो को कला और काव्य मे बहुत कम स्थान मिला। अनीति और अतिचार को जहा कला अथवा काव्य का उपादान बनाया गया है वहाँ उसका भी प्रभाव और उद्देश्य अमगलकारी नही है। अश्लीलता का दोष बहुत कुछ कला और काव्य पर लगाया जा सकता है, किन्तु कला ने समाज मे अश्लीलता को बढाया है ऐसा कहना उचित नही है। शृगारमयी कला व्यक्तियो की शृगार भावना का अवश्य अनुरजन करती रही है। अश्लीलता से सयुक्त सौन्दर्य का भी सौन्दर्य पक्ष अश्लीलता के दुष्प्रभाव को मन्द करता है। इसीलिए समाज मे अश्लीलता और अनीति का व्यवहार कला के बाहर तथा असुन्दर रूप मे होता रहा है। अश्लीलता और अनीति के भावो को छोडकर अधिकाश कला और काव्य मे जीवन के सहज और मागलिक भावो की प्रचुरता है। मन के सभी भाव और सभी प्रवृत्तियाँ स्वरूप मे दोषपूर्ण नही हैं। वे कुछ विरोध की परिस्थिति मे दोषपूर्ण बन जाती हैं। इस विरोध के अतिरिक्त अपने सहज रूप मे वे ही मनोभाव निर्दोष तथा सुखकर होते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप मे भी इन भावो का सहज रूप मे चित्रण कला एव काव्य मे बहुत मिलता है। निर्दोष होने के कारण ये अमगलकारी नही है। इनके सहज भाव और सौन्दर्य मे मगल की प्रेरणा भी मिल सकती है, चाहे यह मगल कला कृति का उद्देश्य न रहा हो। **भारतीय काव्य में ऐसे सहज भावों का चित्रण प्रचुर परिमाण में मिलता है।** भारतीय काव्य की इसी विशेषता के कारण सहजोक्ति अथवा स्वाभावोक्ति काव्य के अलंकार बनी। यशोदा और कौशल्या का वात्सल्य, शाकुन्तल मे सखियो का व्यवहार, रामचरित मे वनवासियो के व्यवहार आदि सहज मनोभावो के उदाहरण हैं। ये सहज मनोभाव अनेक प्रकार के हैं। इनका चित्रण कला एव काव्य मे सहज सौन्दर्य की विपुल सृष्टि कर सकता है। आधुनिक काव्य तो कवियो के व्यक्तिगत मनोभावो तथा विचारो से बहुत आक्रान्त रहा है। आधुनिक चित्रकार कवियो की अपेक्षा व्यक्तित्व के अनुरोध से अधिक मुक्त हैं। अत आधुनिक भारतीय चित्रकला मे अति आधुनिकता के प्रभाव के पूर्व सहज मनोभावो का चित्रण प्रचुरता से मिलता है। मन के ये सहज भाव प्राकृतिक हैं, यह स्पष्ट है। किन्ही नैतिक आदर्शों की सचेतन साधना इनका निर्माण नही करती हैं। इनमे निर्दोष भाव सहज रूप मे मगल के अनुकूल रहते हैं क्योकि उनमें अतिचार की प्रवृत्ति नही होती। **भारतीय काव्य में इस सहज एव निर्दोष रूप में प्राकृतिक भावो का ग्रहण बहुत हुआ है। सहज रूप में इन भावो के श्रेय के**

अनुकूल होने के कारण श्रेय की भावना का भारतीय काव्य में गम्भीर समन्वय हो सका है। यह भी कहा जा सकता है कि श्रेय मे मौलिक आस्था होने के कारण भारतीय कवियो ने तदनुकूल भावो को ही अधिक ग्रहण किया है। पश्चिमी काव्य इस दृष्टि से अधिक स्वाभाविक तथा प्राकृतिक है। इसीलिए उसमें उग्र मनोभावो का ग्रहण भी प्रचुरता से हुआ है। ये उग्र मनोभाव जीवन मे भीषण स्थितियो की सृष्टि करते हैं। यही भीषणता शेक्सपीयर के दुखान्त नाटको की महानता है। यह भीषणता जीवन की अनिष्टकर एव अमगलकारी सभावनाओ को उग्ररूप में उद्घाटित कर तथा मनुष्य की असहायता और तुच्छता को प्रकट कर इन नाटको को अत्यन्त प्रभावशाली बनाती है। साहित्य के इस प्राकृतिक एव भीषण रूप का मूल स्रोत प्राचीन ग्रीक भाषा के दुखान्त नाटको में है। इसके विपरीत भारतीय साहित्य का लक्ष्य सौन्दर्य की साधना के साथ साथ मनुष्य के गौरव का उन्नयन भी रहा है। इसीलिए उसमे तदनुकूल मनोभावो का ग्रहण अधिक किया गया।

अध्याय २१

अलौकिक सत्य और काव्य

प्राकृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक तथ्य सामान्यत लौकिक यथार्थ के अन्तर्गत हैं। लौकिक यथार्थ तथ्य का वह रूप है जो प्रत्यक्ष और बुद्धिगम्य है। सर्वदा हमारे लिए प्रत्यक्ष गम्य न होने पर भी उसकी प्रत्यक्ष गम्यता बुद्धिग्राह्य है। लौकिक यथार्थ मे अनेक आश्चर्यजनक बाते होते हुए भी उसमे अद्भुत और असम्भव कुछ भी नही है। मानुषिक सामर्थ्य और सम्भावना लौकिक यथार्थ की एक सामान्य मर्यादा है। इसके विपरीत इतिहास, साहित्य और काव्य मे तथ्य का एक ऐसा रूप भी है जिसे हम अलौकिक कह सकते हैं। 'अलौकिक' अद्भुत और लोकोत्तर है। वह तथ्य का ऐसा रूप है जो सामान्यत सम्भव नहीं जान पडता। उसकी प्रत्यक्ष-गम्यता सन्दिग्ध है तथा उसकी सम्भावना भी सर्वदा बुद्धि सगत नहीं है। अत इसे प्रतीन्द्रिय और अद्भुत कह सकते हैं। विश्वास की अपेक्षा हमें उस पर आश्चर्य अधिक होता है। कही-कही यह आश्चर्य भय का रूप लेकर अद्भुत रस का स्थायी भाव बन जाता है। प्राचीन काव्यो मे ऐसी अतीन्द्रिय और अलौकिक वस्तुओ, व्यक्तियो और घटनाओ का वर्णन बहुत मिलता है। भारतीय पुराण अलौकिक तथ्यो से परिपूर्ण है। इनके आधार पर रचित काव्यो मे भी इन तथ्यो का ग्रहण किया गया है। यह भारतवर्ष की ही नही सम्भवत प्राचीन युग की विशेषता है। अत्यन्त प्राचीन काल से लौकिक और प्राकृतिक तथ्य भी अद्भुत और चमत्कारपूर्ण प्रतीक होते थे। अत मानव चेतना अद्भुत और चमत्कारपूर्ण तथ्यो पर विश्वास करने के अनुकूल थी। इसीलिए प्राचीन काव्यो मे अनेक अलौकिक तथ्यो का समावेश है। योरोप के प्राचीनतम कवि होमर के 'इलियड' और 'ओडेसे' नामक महाकाव्यो मे अनेक विचित्र देशो, राक्षसो आदि के सम्बन्ध मे ग्रीक योद्धाओ के अद्भुत पराक्रमो का वर्णन है। दान्ते और मिल्टन के काव्यो मे स्वर्ग और नरक के वर्णन भी पौराणिक और अद्भुत हैं। भारतीय काव्य मे भी ऐसे अनेक अलौकिक अद्भुत स्थल मिलते हैं। रामायण मे अहल्या का उद्धार, केवट की आशका, दशानन का रूप आदि अनेक अद्भुत और

अलौकिक तथ्य हैं। अन्य काव्यो मे भी यत्र तत्र इनका पुट मिलता है, विज्ञान और मानवीय विचार के विकास के साथ साथ आधुनिक काव्यों में अलौकिक तथ्य का बहिष्कार हो रहा है। फिर भी सामान्यत काव्य में इसका क्या स्थान है यह विचारणीय है।

अलौकिकता का मूल मनुष्य की कल्पना में है। मनुष्य के विश्वास मे उसका आधार है। प्रत्यक्ष अनुभव यथार्थ की वास्तविकता से नियत्रित है, किन्तु कल्पना अनर्गल और निर्बोध है। कल्पना के लिए असम्भव भी सम्भव तथा सत्य के समान साक्षात् प्रतीत होता है। महाकवि माघ ने कहा है कि सुन्दरी के मुख की उपमा चन्द्रमा के उस कलकित भाग से नही दी जा सकती जिसे सभी लोग देखते हैं। सुन्दरी का मुख चन्द्रमा के उस निष्कलक पृष्ठभाग के समान है जिसे किसी ने नही देखा, किन्तु मैंने देखा है। यह स्पष्ट है कि महाकवि माघ ने चन्द्रमा के पृष्ठभाग को कवि की कल्पना-दृष्टि से ही देखा होगा। शकराचार्य ने कवि को सर्वदर्शी कहा है। तात्पर्य यही है कि कवि अपनी कल्पना दृष्टि से समस्त सत्ता का साक्षात्कार करने मे समर्थ है। इतना ही नही कवि की कल्पना साक्षात्कारिणी शक्ति ही नही है, वह सृजन कारणी शक्ति भी है। 'कवि' विधाता है। वह यथाकाम वस्तुओं व्यवस्थाओ और लोको की रचना कर सकता है। विश्वामित्र के समान वह नवीन स्वर्ग रचने मे समर्थ है। कवि और उसकी कल्पना की इस सामर्थ्य मे सन्देह का अवकाश नही। विचारणीय प्रश्न सत्य के साथ कवि की सृष्टि का सम्बन्ध है। सृष्टि की सामर्थ्य मे कवि विधाता के समान अवश्य है। किन्तु दोनो की सृष्टि में एक अन्तर है। विधाता की सृष्टि प्रत्यक्ष अनुभव का विषय बनकर अनिवार्य और सामान्य सत्य का रूप ग्रहण करती है। कवि की सृष्टि का साक्षात्कार कल्पना के द्वारा ही किया जा सकता है। पाठको के लिए इस कल्पना का आधार विश्वास है। विश्वास प्रतर्कनीय है, क्योकि वह तर्क के द्वारा खण्डित हो सकता है। अत अतर्कित अवस्था मे ही कवियो की कल्पना-सृष्टि विश्वास का विषय रहती है। ज्यो ज्यों विज्ञान और दर्शन का विकास होता जाता है तथा मनुष्य के ज्ञान और तर्क की वृद्धि होती जाती है, त्यो त्यों कल्पना और विश्वास का क्षेत्र कम होता जाता है। कदाचित् इसीलिए आधुनिक युग में धर्म और कविता दोनों का महत्व कम होता जा रहा है। प्राचीन काल मे जब

प्रकृति और प्रत्यक्ष विषयों के सम्बन्ध में भी मनुष्य का ज्ञान अधिक अपूर्ण था तथा मनुष्य की तर्क-बुद्धि अधिक विकसित नहीं हुई थी, तब उसकी कल्पना और उसके विश्वास का क्षेत्र आज की अपेक्षा अधिक था। ज्ञान की अल्पता के कारण साधारण और प्रत्यक्ष तथ्यों की भी समुचित व्याख्या उपलब्ध नहीं थी। वे भी अद्भुत और अलौकिक जान पड़ते थे। किन्तु प्रत्यक्ष होने के कारण उनमें विश्वास करना अनिवार्य था। सूर्य कैसे छिपता है और निकलता है, चन्द्रमा कैसे घटता-बढ़ता है, बादल कैसे उठते हैं, बिजली क्यों चमकती है, पेड़ कैसे फलते फूलते है, मनुष्य कहाँ से आता और कहाँ जाता है, यह सब भलीभाँति समझ में न आते हुए भी प्रत्यक्षगत सत्य थे, इसीलिए बिना समझे हुए भी उस पर विश्वास करना पड़ता था। प्राचीन मानव का यह सरल दर्शन कहा जा सकता है कि जो प्रत्यक्ष है वह अलौकिक और आश्चर्यजनक हो सकता है, तो प्रत्यक्ष से परे भी अलौकिक और अद्भुत सत्तायें तथा व्यवस्थायें हो सकती हैं। प्रत्यक्ष में अलौकिकता का अनुभव अप्रत्यक्ष अलौकिकताओं के विश्वास का आधार बना। यथार्थ अलौकिक प्रतीत होता है तो 'अलौकिक' यथार्थ नहीं तो सम्भव अवश्य हो सकता है। ज्ञान की अल्पता के कारण प्राचीनों के सरल दर्शन में यह विपर्यय भी सम्भव हुआ। यह पुरातन विपर्यय ही प्राचीन धार्मिक आस्थाओं और अलौकिक पुराण कथाओं का कारण बना।

इन अलौकिक सत्ताओं में ईश्वर, देवी-देवता, राक्षस आदि तथा इनके अद्भुत कृत्य काव्य और कथाओं के प्रमुख विषय बने। इनके लिए अनेक लोकों की रचना भी हुई। इन अद्भुत सत्ताओं के आवास भी इनके अनुरूप अद्भुत ही रचे गये। अद्भुत शक्ति और अद्भुत कर्म इन अद्भुत सत्ताओं के जीवन के साधारण कृत्य हो गये। प्रकृति की अनेक घटनायें प्रत्यक्ष होने हुए भी अद्भुत और आश्चर्यजनक जान पड़ती थीं, अतः अन्य अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओं की सम्भावना अकल्पनीय न थी। सम्भावना और व्याख्या की दृष्टि से लौकिक और अलौकिक तथ्यों में इतना अधिक अन्तर नहीं था, जितना कि आज प्रतीत होता है। प्रकृति की सम्भावनाओं को मनुष्य भलीभाँति नहीं समझ सकता था। अतः प्रकृति की प्रत्यक्ष घटनायें भी असम्भावित प्रतीत होती थीं। प्रत्यक्ष के असम्भावित होने के कारण असम्भावित कल्पनीय जान पड़ता था। इसीलिए ईश्वर की मायाशक्ति को 'अघटनघटना-पटीयसी' का पद मिला तथा राक्षसों की गतिविधि के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध हुआ कि

'जानि न जाय निशाचर माया'। प्रत्यक्ष की अनवगम्य और अव्याख्येय गतिविधियाँ कल्पनीय बन गई। अलौकिक तथ्यो और घटनाओं से प्राचीन धर्म और काव्य का भाण्डार भर गया। लौकिक के समान ही अनवगम्य और अव्याख्येय होने के कारण अलौकिक जगत लौकिक जगत से भिन्न नही वरन् उसका ही एक विस्तार था। प्राचीन परम्परा मे लौकिक और अलौकिक का भेद नही है, इह और अमुत्र का भेद है। तथ्यो और घटनाओ मे सम्भावना समान है, केवल स्थान का भेद है। जो यहाँ नही है, वह वहा सभव हो सकता है। अमुत्र की इन्ही सम्भावनाओ मे स्वर्ग, बैकुण्ठ, नरकादि की सत्ता अन्तर्निहित थी। धर्म और काव्य मे यही सत्ता कल्पना और विश्वास के आधार पर साकार हुई है।

धर्म और ईश्वरवाद के प्राचीन रूपो म अलौकिक तथ्यो मे विश्वास का आरम्भ हुआ। लौकिक ज्ञान की अपूर्णता, प्राकृतिक तथ्यो की अव्याख्येयता, आदिम मनुष्य की असमर्थता और इस कारण उसकी किसी अलौकिक शक्ति से चमत्कारपूर्ण सहायता की आशा, ईश्वर की असीम शक्ति का विश्वास आदि अनेक बात अलौकिकता की आस्था को एक स्थायी परम्परा बनाने म सहायक हुई। धार्मिक श्रद्धा और उपासना का आधार बनकर यह अलौकिकता विश्वास के एक स्थान पर स्थायी भावना के रूप म रूढ हो गई। भावना में रूढ होकर विश्वास दीर्घजीवी होते हैं। भावना जीवन की स्फूर्ति है, उसमे अन्वित होकर विश्वास जीवन मे एकाकार हो जाते हैं और जीवन के साथ समजीवी बन जाते हैं। अलौकिकता की भावनाओ की इसी दृढता और दीर्घजीविता के कारण मनुष्य के ज्ञान और सामर्थ्य का विकास भी अलौकिकता के विश्वासों को बहुत धीरे-धीरे और बडी कठिनाई से मिटा पा रहा है। इन विश्वासो के प्रति मनुष्य का कितना मोह है यह इसी से प्रकट है कि आधुनिक लौकिकवादी युग मे भी मनुष्य इन अलौकिकताओ का पूर्णत न त्यागकर उन्हे नया अर्थ दे रहा है। नई व्याख्या म इन प्राचीन अलौकिकताओ को विज्ञान सम्मत और बुद्धिमान्य बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। चमत्कारपूर्ण होते हुए भी मनुष्य के मन का झुकाव अलौकिकताओ को लौकिकताओ के साथ सगत बनाने की ही ओर है। प्राचीनकाल मे लौकिक के भी अलौकिक प्रतीत होने के कारण दोनो मे एक सगति थी। आज अलौकिक को लौकिक के समान बनाकर एक विपरीत विधि से इस सगति का प्रयत्न किया जा रहा है। इसम केवल इतना ही अन्तर है कि

दैवीचमत्कार की भावना से बदलकर वह सगति प्राकृतिक विलक्षणता का रूप ले रही है।

भारतीय परम्परा मे राम और कृष्ण के चरित्र मे अलौकिक और चमत्कार-पूर्ण घटनाओ की व्याख्या वैज्ञानिक और बुद्धि सगत ढग से की जा रही है। 'प्रिय प्रवास' मे श्रीकृष्ण का चरित्र और 'साकेत' मे राम का चरित्र प्राचीन और मध्यकालिन काव्यो की अपेक्षा अधिक लौकिक है। कुछ अशो मे यह इसलिए भी सम्भव हो रहा है कि वस्तुत इन चरित्रो मे प्राचीन काल मे विश्वासी जनता को चमत्कृत और प्रभावित करने के लिए लौकिक तथ्यो को ही अलौकिक रूप दे दिया गया था। राम और कृष्ण के जीवन की ऐतिहासिक और साहसपूर्ण घटनाओ को अद्भुत और अलौकिक बना दिया। ईश्वर बन जाने के कारण उनके चरित्र मे अलौकिकता का सम्पुट आवश्यक था। अलौकिक कृत्यो और घटनाओ मे ईश्वर की असीम और अद्भुत शक्ति तथा चमत्कारिणी प्रतिभा व्यक्त होती है। ईश्वर के सर्वशक्तिमान् और सर्वसमर्थ होने के कारण उसके चरित्र की सभी अलौकिकतायें मान्य हैं। राम और कृष्ण के चरित्रो की मौलिक लौकिकता के कारण उनकी अलौकिकताओ का लौकिकीकरण सम्भव हो रहा है, किन्तु साथ ही वह धार्मिक भावना की दुर्निवार्यता का भी प्रमाण है।

इसका सबसे अच्छा प्रमाण ईसाई धर्म परम्परा मे ईसा के अलौकिक जन्म सम्बन्धी विश्वास मे मिलता है। ईसा कुमारी मेरी के पुत्र थे। लौकिक दृष्टि से यह असम्भव अथवा लाछनयुक्त घटना प्रतीत होती है। लाछन किसी भी व्यक्ति, समाज अथवा सम्प्रदाय को स्वीकार्य नही हो सकता। अत उनके लिए असम्भव की लौकिक सम्भावना और सगति ही एक मार्ग रह जाता है। ईसाई विद्वानो ने अनेक बार ईसा के जन्म को असम्भव और लौकिक घटना को विज्ञान-सगत सिद्ध करके लोक-सम्मत बनाने का प्रयत्न किया है। इसके लिए ईसाई धर्माचारियो ने जीवविज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य हक्सले के किसी कथन का आश्रय लेना चाहा था। विदित होने पर हक्सले को जीव-क्षेत्र में ईसा के जन्म जैसी अलौकिक घटना की सम्भावना का निराकरण करना पडा था। अभी हाल मे कुछ पत्रो मे किसी यूरोपीय महिला के पुरुष सयोग के अभाव मे उत्पन्न कन्या की कथा प्रकाशित हुई है। वैज्ञानिको ने जांच करके इस घटना की सत्यता का समर्थन किया है। इसकी पुष्टि के लिए कुछ पशुओ पर किये गये प्रयोगो के प्रमाण भी दिए हैं किन्तु इन

सबरो भी अभी तक यही प्रमाणित हो सका है कि नर संयोग के बिना कन्या ही एक उत्पन्न हो सकती है, पुन नही। इसके अतिरिक्त नर सयोग के बिना सन्तति की उत्पत्ति केवल एक अपवाद-रूप सम्भावना ही रहेगी। यह सम्भावना ईसा के जन्म के लाछन को निश्चित रूप से निवारित नही कर सकती। यदि असयोगज संतती सम्भव भी हो तो भी यह आवश्यक नही है कि ईसा इन अपवादो की ही कोटि मे थे, यद्यपि अभी यह अपवाद भी पूर्णत सिद्ध नही हो सका है, फिर भी इस दिशा मे ईसाई वैज्ञानिको के निरन्तर प्रयास धार्मिक भावना के प्रबल आग्रह के प्रमाण हैं। भारतीय परम्परा मे भी ऐसे अलौकिक जन्मो की कुछ कथाये मिलती हैं, किन्तु यहा ऐसा प्रबल आग्रह नही है। पहली बात तो यह है कि वे कथाय धार्मिक नही, ऐतिहासिक हैं। दूसरी बात यह है कि उस इतिहास मे ही उन कथाओ की लौकिक व्याख्या का बीज वर्तमान है। 'रश्मिरथी' मे कवि दिनकर ने कर्ण के जन्म को कुन्ती के कौमार्यकालीन प्रेम का फल माना है। कर्ण का जन्म प्रत्यक्ष विदित न होने के कारण लोगो को लोकश्रुति की परम्परा से विदित हुआ, कदाचित् इसीलिए 'कर्ण' को यह नाम मिला। कौरव और पाण्डवो के जन्म की कथाये स्पष्टत प्राचीन काल मे प्रचलित नियोग के उदाहरण हैं। दिलीप का पुत्रेष्टि-साधन एक नियमित दुग्धकल्प था। दशरथ का पुत्रेष्टियज्ञ भी सम्भवत वृद्ध राजा की समुचित चिकित्सा का विधान था। अन्य अलौकिक जन्मो की व्याख्या प्रतीकार्थ के द्वारा हो सकती है। ब्रह्मा और प्रजापति की मानस सन्तति का अभिप्राय संस्कृति की सृजनात्मक परम्परा से है।

जिन अलौकिक तथ्यो की व्याख्या लौकिक सम्भावना और सगति के द्वारा नही हो सकती, उनकी व्याख्या भी प्रतीकार्थ के द्वारा हो सकती है। **प्रतीत एक व्यापक अर्थ का वाहक निमित्त मात्र है। प्रतीत से भिन्न अर्थ की व्यजना के द्वारा जो प्रत्यय सास्कृतिक अर्थ परम्परा के बीज बन जाते हैं वे 'प्रतीक' कहलाते हैं।** लौकिकता और अलौकिकता के भेद का महत्त्व प्रतीको मे नही रहता, क्योकि उनके अभिधेय अर्थ की आकाक्षा नही होती। प्रतीको के उपादान लौकिक और अलौकिक दोनो ही हो सकते हैं। श्रीमद्भागवत आदि की भाति रास-रग के लौकिक प्रतीक का अभिप्राय आध्यात्मिक हो सकता है। भगवान के अवतारो की कुछ अलौकिक घटनाय लौकिक अभिप्रायो की प्रतीक हो सकती हैं। क्षीरसागर शेषशय्या नाभिकमल आदि ऐसे ही अलौकिक तथ्य हैं, जो लौकिक अर्थों

के प्रतीक हैं। कुछ अलौकिक प्रतीक लौकिक तथ्यों की अलौकिक और अद्भुत व्यवस्था के रूप में है। शिव का स्वरूप इसका एक सुन्दर उदाहरण है। बाघम्बर डमरू, त्रिशूल, चन्द्रमा, सर्प आदि लौकिक उपादानों की अलौकिक व्यवस्था शिव का स्वरूप है। इन प्रतीकों की सहायता से कुछ दुरूह और जटिल सांस्कृतिक सत्य बड़ी सरलता से जीवन की परम्परा में समवेत हो गये हैं। व्यंजना की सरलता और संक्षिप्तता प्रतीक का एक अमूल्य गुण है। किन्तु इन संक्षेप से एक कूटता उत्पन्न होती है, जो व्याख्या की कठिनता और अभिप्राय के विस्मरण का कारण बनती है। इसीलिए हमारी सांस्कृतिक परम्परा में जो अनेक प्रतीक पूजित हैं, उनका अभिप्राय लुप्त हो गया है।

फिर भी प्रतीकात्मक व्याख्या तथ्यों और व्यवस्थाओं की अलौकिकता का निवारण करके उनके अभिप्रायों को अधिक संगत बनाती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन प्रतीकों के सम्बन्ध में केवल एक ही बात महत्वपूर्ण है, वह यह है कि वे अपने अभिप्राय को व्यंजित करने में कहाँ तक समर्थ हैं। जहाँ तक प्रतीकों के रूप का सम्बन्ध है, वह तो इतना सरल और सुग्राह्य है कि अशिक्षित और ग्रामीण जनता की सांस्कृतिक परम्परा में भी वह अक्षुण्ण बना हुआ है। अभिप्राय की दृष्टि से इन प्रतीकों की सार्थकता और सफलता का प्रश्न संस्कृति की अपेक्षा कला और काव्य में अधिक विचारणीय है। अभिप्राय की दुरूहता के कारण सांस्कृतिक परम्परा में प्रतीकों के रूप की ही पूजा शेष रह गई है, उनके अर्थ और आशय लुप्त हो गये हैं ये अर्थ और आशय कला, काव्य एवं साहित्य की परम्परा में प्रतिष्ठित हो सकते हैं। और सुरक्षित रह सकते हैं। चित्रकला और नृत्यकला तो प्रतीकों के समान ही रूप-प्रधान हैं, किन्तु काव्य में भाषा के सहयोग से अर्थ और आशय का सन्निधान सम्भव है। प्रतीकों की रूपात्मक व्यंजना भाषा में अर्थवती आकृति बन जाती है। काव्य में इस व्यंजना की सफलता सांस्कृतिक आकृतियों के भावपूर्ण संकेतों पर तथा इन संकेतों के अभ्रान्त निर्वाह पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से प्रतीकों का विधान और उनकी व्याख्या दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। शृंगार के प्रतीकों में भ्रान्ति की सम्भावना सबसे अधिक रहती है। शृंगार की भ्रान्तियों से सतर्क रहने पर प्रतीकों की अर्थ-सम्पत्ति संस्कृति की दिव्य विभूति बन जाती है।

शृंगार मनुष्य की एक अत्यन्त प्रबल और स्वाभाविक प्रवृत्ति है। वस्तुतः जीवन की प्रेरणा और सृष्टि की परम्परा का बीज शृंगार में ही निहित है, इसीलिए

वह आदिकाल से ही लौकिक जीवन को ही नहीं वरन् अध्यात्म, कला और साहित्य के क्षेत्र को भी प्रभावित करता रहा है। आदिकाल से ही अध्यात्म के निरूपणों में शृंगार के रूपक और उपमाय मिलती हैं। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के तन्मय मिलन की उपमा दम्पति के तन्मय मिलन से दी गई है, जिसमें मनुष्य को बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार के विषयों की सुध-बुध भूल जाती है। कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' बतलाया है। तुलसीदास जैसे कवि ने भी, जिन्होंने कहीं भी अश्लील शृंगार को स्थान नहीं दिया है, राम के प्रति अपनी प्रीति के उसी प्रकार दृढ और तीव्र होने की कामना की है जैसी प्रीति कामी की स्त्री के प्रति होती है। यह स्पष्ट है कि शृंगार का वर्णन इन कवियों का उद्देश्य नहीं, इनका लक्ष्य विषय आध्यात्मिक है। शृंगार के रूपकों और उपमाओं से वे आध्यात्मिक भाव और भक्ति की तीव्रता, तन्मयता आदि का संकेत करना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि इन संकेतों के सहारे लोगों को अध्यात्म और भक्ति के अगम और अनिर्वचनीय तत्वों का आभास मिल सकता है। जहाँ शृंगार का उपयोग केवल अलकार के रूप में किया गया है, वहाँ तो यह स्पष्ट है कि शृंगार साधन मात्र है और मुख्य लक्ष्य अध्यात्म है। किन्तु श्रीमदभागवत, पद्मावत, कामायनी, पार्वती के समान ऐसे अनेक काव्य हैं जिनके सम्पूर्ण रूप का विधान रूपक के शिल्प के अनुरूप हुआ है। ऐसी कृतियों में रूपक ही प्रधान प्रतीत होता है। उसके आशय की व्यंजना को अन्वय और अनुभव के आधार पर ग्रहण करना पड़ता है। रूपक जितना प्रसिद्ध, प्रभावशाली और आकर्षक होगा, वह उतनी ही अधिक भ्रान्ति की सम्भावना पैदा करेगा। ऐसे रूपकों का आध्यात्मिक अन्वय कठिन होता है और होने पर भी जीवन में एक प्रभावशाली प्रेरणा नहीं बन पाता। प्रवृत्तियाँ के लिए जहाँ भी रमण का अवकाश मिलता है वे रम जाती हैं। अतः सांस्कृतिक तत्वों के निरूपणों में उनके सस्कार, उन्नयन और उपराम का आयोजन रखना उचित है। श्रीमद्भागवत के समान जिन रूपकों में इस आयोजना का समावेश नहीं है वे प्रायः अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते। पत्रिकाओं तथा कैलेन्डरों में प्रकाशित होने वाले धार्मिक चित्रों की भाँति वे अध्यात्म की अपेक्षा शृंगार का ही अधिक पोषण करते हैं। पद्मावत के समान जिन काव्यों में रूपक के विधान के साथ उनके आध्यात्मिक अन्वय का सूत्र भी अभिहित है, उसमें आध्यात्मिक आशय के भ्रान्त होने की सम्भावना कम रहती है। 'कामायनी' के

समान जिन रूपकों का बाह्य आधार अल्प और अप्रसिद्ध है तथा जिनमे आध्यात्मिक अर्थ रूपक से एकाकार हो गये हैं, उसमे आध्यात्मिक अर्थ का प्रभाव ही प्रधान होता है। सुमित्रानन्दन पन्त ने अपने 'अशोक-वन' मे रामचरित के रूपक की एक नवीन ढग से व्याख्या की है। व्याख्या का सूत्र रूपक मे अन्वित और अभिहित होने के कारण तथा दूसरी ओर प्रवृत्तियो के रमण का कोई उपकरण न होने के कारण 'अशोकवन' का प्रतीक भ्रान्ति का कारण नही है। 'पार्वती' महाकाव्य में सम्पूर्ण शिवकथा को एक सास्कृतिक प्रतीक मानकर उसके प्रति-अग की विस्तृत और साग व्याख्या की गई है, इस व्याख्या के सूत्र रूपक के प्रतीक-विधान मे अनुस्यूत हैं तथा यथावसर उनका स्पष्ट अभिधान भी किया गया है।

इन अलौकिक तथ्यो और इनकी प्रतीकात्मक व्याख्या के सम्बन्ध में एक विचारणीय बात यह है कि प्रतीक शैली का कला की दृष्टि से अपने आप में कोई महत्त्व नही है। प्रतीक कुछ अभिप्रायो की व्यजना के माध्यम मात्र हैं। प्रतीक के विशद, प्रसिद्ध और ग्राह्य होने पर अन्तर्निहित अभिप्राय का अवगम सुगम हो जाता है। जो प्रतीक इन अभिप्रायो को सुग्राह्य रूप देने में समर्थ नही होते अथवा अपने बाह्य रूप की रमणीयता के कारण अपने आन्तरिक अभिप्राय को भ्रान्त बना देते हैं, वे अपने प्रयोजन मे सफल नही होते। श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द आदि के शृगारिक प्रतीक अध्यात्म को आच्छादित करके अपने बाह्य और लौकिक शृगार की रमणीयता के कारण लोक-प्रिय बने हुए हैं। इन प्रतीको ने समाज और साहित्य को कितना भ्रान्त किया है, इसके उदाहरण हिन्दी के रीतिकाव्य और अविभाजित भारत के सिन्ध की 'ओ३म् मण्डली' की भाँति तथाकथित धार्मिक सस्थाओं मे मिलते हैं। अत अलौकिक तथ्यो के इन लौकिक प्रतीको की काव्य मे उपादेयता इनकी व्यजना की सफलता पर निर्भर है। यह स्पष्ट है कि प्रतीकार्थ के स्थान पर प्रतीत रूपो को मुख्य बना देने वाले रूपको मे भ्रान्ति की सम्भावना रहती है। प्रतीक अनिर्वचनीय तत्वो के निर्वचन के साधन हैं। ये दुरूह और कठिन विषयो को सरल और सुबोध बनाने की क्षमता रखते हैं, किन्तु साथ ही उनके आच्छादित होने की सम्भावना भी रहती है। अत वे ही प्रतीक सफल होते हैं, जो किसी सीमा तक पारदर्शी हैं तथा अन्योक्ति की भाँति मूल अर्थ के सश्लेष का सूत्र अपने मे अन्तर्निहित रखते हैं और इसी कारण भ्रान्ति की सम्भावनाओ से दूर हैं। प्रवृत्तियो के रमण के अवसरो को वहिष्कृत करके शील और सस्कार की

भावना से ओत-प्रोत प्रतीक पन्त के 'अशोकवन' की भांति अधिक सुन्दर और सफल बनते हैं। 'पद्मावत' और 'पार्वती' की भाति जहाँ कवियो ने अपने प्रतीको के सूत्र का स्पष्ट अभिधान करने की सतर्कता का उपयोग किया है, वहाँ वे प्रतीक व्यजना मे अभिधा के सम्पुट से अधिक असदिग्ध बन जाते हैं। यह अभिधेय अश कला की दृष्टि से सौन्दर्य का साधन न भी हो तो भी काव्य के उद्देश्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। भक्ति, अध्यात्म आदि के तत्त्व यदि अनिर्वचनीय नहीं तो अनभिधेय अवश्य हैं। उपर्युक्त प्रतीको रूपको आदि के द्वारा वे केवल व्यग्य हैं। अत इन काव्यो मे प्रतीको और रूपको के सूत्र का निर्देश अध्यात्म का अभिधान नही। यह निर्देश केवल भ्रान्ति की आशंका है। काव्य-शिल्प के सौन्दर्य मे भी इनका बाधक होना आवश्यक नही है, क्योकि प्रतीको और रूपको का बाह्य रूप भी अभिधान ही होता है और इन अभिधान के साथ प्रतीकार्थ के अभिधान की सगति सम्भव है। 'रामचरितमानस' मे भी तुलसीदास जी ने अनेक स्थलो पर राम के परब्रह्म होने का उल्लेख किया है और सीताजी के स्वरूप का सकेत 'जगदीश माया जानकी' कह कर किया है। 'रामचरितमानस' मे सर्वत्र यही भावना ओत-प्रोत है। आध्यात्मिक भावना के प्रवाह की तरगो मे यह निर्देश और अभिधान भ्रमर की भाति धारा की गहराइयो का सकेत करते हैं और धारा के प्रवाह को तीव्र बनाने मे सहायक होते हैं। तरगो और भ्रमरो की भाति जहाँ प्रतीक-विधान और अर्थ-अभिधान मे सगति होती है, वहा काव्य के कलात्मक सौन्दर्य मे सामजस्य की अक्षुण्णता के कारण कोई क्षति नही आती।

चमत्कारपूर्ण विषयो, व्यवस्थाओ और घटनाओ के अतिरिक्त अलौकिक तथ्य का एक आन्तरिक रूप भी है, यह अनुभव का वह रूप है जो अलौकिक भावनाओ से सम्बन्ध रखता है तथा सामान्य मनोभावो से कुछ विलक्षण है। आध्यात्मिक अनुभव और भक्तो की दिव्य अनुभूतियाँ इसी के अन्तर्गत हैं। भक्तिकाव्य मे और काव्य के उस रूप मे जिसे रहस्यवाद कहा जाता है, इनकी प्रधानता रहती है। एक दृष्टि से ये अनुभूतियाँ लोकोत्तर होती हैं। लौकिक अनुभवो से इनकी कुछ समानता होते हुए भी स्वरूपत ये एक नितात भिन्न कोटि की अनुभूतियाँ हैं। अनुभूति के तथ्य होने के कारण मनोवैज्ञानिक भाषा मे उन्हे व्यक्तिगत कहना होगा। इसीलिए सूर, मीरा, महादेवी आदि के काव्य की भाति गीतो मे ही इन अनुभूतियो की अभिव्यक्ति अधिक सफल होती है। लौकिक अनुभवो की भाति इनमे कोई सामान्य

लक्षण ढूंढना कठिन है। रहस्यवाद का तो नामकरण ही इनकी विलक्षणता, असामान्यता और व्यक्तिनिष्ठता सूचित करता है। भक्ति और अध्यात्म के अनुभवों मे विनय, समर्पण, वियोग, मिलन, तादात्म्य आदि की भावनाये समान प्रतीत होने पर भी उनका मर्म व्यक्तिगत ही होता है। उनमें न लौकिक अनुभवो की सहज सामान्यता होती है और न तार्किक अथवा बौद्धिक सत्य की सार्वभौमता रहती है, अत ये सिद्धान्तो के सामान्य सत्य की कोटि मे नही आते।

एक दृष्टि से अनुभव के सभी मनोवैज्ञानिक तथ्य व्यक्तिगत और रहस्यमय होते हैं। मनुष्य जीवन मे केन्द्रित होने के साथ-साथ चेतना व्यक्तित्व के दुर्भेद्य कोट मे सीमित हो गई है, किन्तु दूसरी ओर मनुष्य की सारी प्रवृत्ति अपने से बाहर निकलकर जीवन के विस्तार मे एकाकार होने की ओर है। इसी विस्तार मे मनुष्य को आनन्द मिलता है। इसी विस्तार का नाम ब्रह्म है और वह आनन्दमय है। इसी कारण मनुष्य अपनी अनुभूति को दूसरो की चेतना में उँडेलने के लिए आतुर रहता है। यही चेतना का संवाद है। अध्यात्म में इसी को 'तादात्म्य' कहते हैं। इसे 'समात्मभाव' कहना अधिक उचित है। अनुभूतिमय होने के कारण इसका भी निर्वचन और अभिधान सम्भव नही है। वस्तुत अनुभूति ही रस का स्वरूप है। उपनिषदो मे यह रस आत्म-विस्तार और तादात्म्य की अनुभूति है। काव्यशास्त्र ने इसे व्यक्तिगत सवेदना के रूप मे ही समझा है। दोनो ही रूपो मे यह अनभिधेय है, किन्तु व्यग्य है। इतिवृत्तो और बाह्य तथ्यो की भाँति इन अनुभूतियो का अभिधान नही हो सकता। 'अनुभव' अनुभव मे ही गम्य है। निर्वचन और निर्देश उसके सकेत मात्र हैं। काव्य की कलात्मक व्यजना पाठक के हृदय मे मूल अनुभव के समान सवेदना उत्पन्न करके अनुभव मे इस अनुभव की व्यजना को ग्राह्य बनाती है। पाठक का सक्रिय सहयोग ही व्यजना की कला को सफल बनाता है, इसीलिए कवि लोग सहृदय पाठको की सवेदना मे अपनी कविता का सौभाग्य मानते रहे हैं तथा अरसिको के प्रति कवित्व-निवेदन से बचाने की प्रार्थना भगवान से करते रहे हैं। सरस हृदय के द्वारा ही अनिर्वचनीय रस और भाव की व्यजना ग्रहण की जाती है। सामान्य लौकिक अनुभवो मे समानता का अश अधिक होने के कारण सवेदना के जागरण द्वारा काव्यगत व्यजना को सफल बनाना सरलतर है। भक्ति और अध्यात्म के अनुभवो के लिए सवेदना का सहयोग इतना सुलभ नहीं होता, इसीलिए प्राय भक्ति काव्य और रहस्यवाद मे लौकिक प्रतीकों, उपमाओं

और रूपकों का प्रयोग किया जाता है। प्रेम और दाम्पत्य के रूपक इनमें सबसे अधिक सुग्राह्य और प्रभावशाली हैं। उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य को अभिव्यक्त करने के लिए दाम्पत्य के तादात्म्य का आश्रय लिया है। कबीर ने अपने को 'राम की बहुरिया' कहकर इसी परम्परा का अनुसरण किया है। तुलसीदास जी की 'कामिहि नारि पियारि जिमि' आदि उपमायें भी इसी परम्परा में हैं। मीरा और महादेवी की मर्मानुभूतियां दाम्पत्य-भाव का आश्रय लेकर ही इतनी प्रभावशालिनी बनी। स्वामी और दास के रूपक भी समर्पण और सेवा के लोक-विदित मर्म से अनुप्राणित होकर प्रभावशाली बनते हैं। सूर और तुलसी में दास्य भाव का वैभव दर्शनीय है। सखाओं के सबन्ध में भी एक ऐसी सहज मार्मिकता रहती है कि वह अध्यात्म के अन्तर्भाव को एक अद्भुत संवेदना से हमारे मानस में दीप्त कर देती है। सूरदास तथा अन्य कृष्ण-काव्य के कवियों में सख्यभाव का सौन्दर्य एक अपूर्व आभा से निखरा है।

प्रश्न यह है कि क्या ये लौकिक प्रतीक, उपमा और रूपक अध्यात्म की आन्तरिक अनुभूति को व्यक्त करने में समर्थ हैं। यह स्पष्ट है कि मुक्ति और अध्यात्म की अनुभूति इतनी अलौकिक होती है कि लौकिक अनुभूतियां उसके दूर संकेत मात्र हैं। उपनिषदों में लौकिक सुखों की एक उत्तरोत्तर उत्कर्षशील परम्परा के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द का परिमाप करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उनमें गणित की जिन कोटियों का उपयोग किया गया है, उनसे यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक आनन्द लौकिक सुखों से कितना दूर है। तुलसीदास जी ने अपने 'जो मोहि राम लागते मीके' वाले प्रसिद्ध पद में यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि भक्ति तथा अध्यात्म के रस की तुलना में समस्त लौकिक रस तुच्छ और त्याज्य हैं। 'नव रस' में काव्य के रसों और विशेषत शृंगार का ग्रहण कर गोस्वामी जी ने यह भी संकेत किया है कि अध्यात्म का रस शृंगार के सुख से नितान्त भिन्न है तथा काव्य के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति कठिन है।

लौकिक प्रतीकों, उपमाओं और रूपकों के सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और आवश्यक है कि वे आध्यात्मिक अनुभव को व्यक्त करने में असमर्थ ही नहीं हैं वरन् उनके प्रयोग से लौकिक संवेदनाओं के जागरण तथा आध्यात्मिक तथ्य के आच्छादन की आशंका रहती है। इसीलिए व्यग्य अध्यात्म प्राय. भ्रान्ति का कारण बनकर

अपने उद्देश्य में असफल रहा है। अभिधेय अध्यात्म अपनी असन्दिग्धता के भी कारण सदा अधिक हितकर है, यद्यपि उसमे कवित्व का समावेश कठिन है। 'रामचरितमानस', 'कामायनी' और 'पार्वती' की भाति लौकिक प्रतीको का उपयोग नैतिक शील की एक उदात्त मर्यादा का पालन करने के कारण दुर्बलताओ को उत्तेजित करने की आशका से सुरक्षित रहता है। अन्यथा श्रीमद्भागवत, गीतगोविन्द आदि कृष्ण-काव्यों की भाँति लौकिक प्रतीक अध्यात्म की अभिव्यक्ति की अपेक्षा लौकिक वृत्तियो का ही उत्तेजन अधिक करते हैं। निष्कर्ष यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति के उदात्त भाव के गम्भीर और महान मर्म से अन्वित होकर ही लौकिक प्रतीक अपने उद्देश्य की अभिव्यक्ति के साधन बन सकते हैं। नैतिक शील की मर्यादा का निर्वाह इस दिशा मे एक सुरक्षा का मार्ग है। श्री अरविन्द की 'सावित्री' की भाँति गभीर और उदात्त आध्यात्मिक अनुभवो के दिव्य आलोक मे ही लौकिक प्रतीको की सुषमा अध्यात्म की सफल व्यजना मे कृतार्थ हो सकती है।

आध्यात्मिक अनुभवो मे कुछ ऐसे अलौकिक और अद्भुत अनुभव भी होते हैं, जिनकी व्याख्या लौकिक अनुभवो के आधार पर नही की जा सकती। ईश्वर और अध्यात्म की अलौकिक घटनाओ की भाति ये अनुभव भी दिव्य चमत्कार से पूर्ण हैं। गीता का विश्व-रूप दर्शन एक ऐसा ही अनुभव है। अर्जुन के समान ही कुछ अनुभव कौशल्या और यशोदा को राम तथा कृष्ण के बाल्यकाल मे हुए थे। तुलसीदास जी को चित्रकूट मे अश्वारोही राजकुमारो के रूप मे राम-लक्ष्मण के दर्शन हुए थे। माता यशोदा के उपालम्भ करने के लिए जब कृष्ण को पकडकर एक गोपिका लाई तो यशोदा के पास आते आते उन्होंने 'पराई सुता' का रूप धारण कर लिया। रास के समय श्रीकृष्ण अनेक रूप हो जाते थे, इसका प्रमाण व्रज के कवियो के 'द्वै द्वै गोपी बिच बिच माधो' नामक प्रसिद्ध वचन मे मिलता है। राम भी इसी प्रकार लका से लौटने पर अयोध्या के निवासियो से अनेक रूप होकर एक साथ मिले थे। लौकिक अनुभवो के आधार पर इन अनुभवो की व्याख्या नही की जा सकती। अपने स्वरूप मे ये अलौकिक और अद्भुत हैं। इस सम्बन्ध मे दो ही विकल्प हैं, एक तो यह कि धार्मिक आस्था के आधार पर अलौकिक होते हुए भी इन्हे सत्य मान लिया जाय। दूसरा विकल्प इनकी व्याख्या है। इस व्याख्या के दो रूप सम्भव हैं, एक तो यह कि इन अनुभवो को यथार्थ मे न लेकर इन्हे कुछ आध्यात्मिक तथ्यों की व्यजना का प्रतीक मान लिया जाय। अर्जुन का विश्वरूप दर्शन तथा इसी प्रकार कौशल्या

और यशोदा का क्रमश राम और कृष्ण के युग मे अखिल विश्व-लोको का दर्शन इसी रूप मे समझे जा सकते हैं। यद्यपि इन दर्शनो मे प्रत्यक्ष की सजीवता और स्पष्टता है, फिर भी ये ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष नही हैं। ये आध्यात्मिक कल्पना के दिव्य और अद्भुत साक्षात्कार हैं। कल्पना की गति अनन्त है, उसका आकार और क्षेत्र भी अनन्त है। वस्तुत कल्पना मनुष्य मे ईश्वर की दिव्य प्रतिभा का चमत्कार है, अत उसके लिए अलौकिक और अद्भुत रूपो का साक्षात्कार सहज सम्भव है। राम के अयोध्यावासियो से मिलन और कृष्ण के युगपत् रास को भी या तो ईश्वरीय चमत्कार माना जा सकता है या इस रूप मे उसकी व्याख्या की जा सकती है कि राम इतने वेग और इतनी व्यग्रता से सबसे मिले कि मानो वे सबसे एक साथ ही मिले हो। उसी प्रकार रास-लीला में कृष्ण के पल-पल प्रत्येक गोपी के निकट आते रहने के कारण सबको समान रूप से उनके सग का अनुभव होता था। तुलसीदास के चित्रकूट में राम-लक्ष्मण के दर्शन जैसे अलौकिक अनुभवो की व्याख्या भी कल्पना के साक्षात्कार के रूप मे हो सकती है। केवल इतना अन्तर है कि श्रद्धालु जन इसे मानस-प्रत्यक्ष कहना चाहेगे और मनोवैज्ञानिक उसे भ्रम अथवा विकल्प मानेगे। **मनोविज्ञान धर्म के अलौकिक अनुभवो को भ्रम के तुल्य ही मानता है।** बर्ट्रेण्ड रसल ने एक स्थान पर लिखा है कि एक मनुष्य जो अधिक शराब पीता है और उसे चूहे दिखाई देते हैं तथा दूसरा मनुष्य जो कम खाता है और उसे ईश्वर दिखाई देता है, इन दोनो के अनुभवो मे कोई अन्तर नही है। तात्पर्य यह है कि दोनो ही समान रूप मे भ्रम मे हैं। यदि एक का कारण भौतिक सुरा का पान है, तो दूसरे का कारण धार्मिक आस्था का प्रभाव है। भक्तो का 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' यह विश्वास भी आध्यात्मिक कल्पना के साक्षात्कार का ही समर्थन करता है। धर्म मे जहाँ आस्था और इन साक्षात्कारो का सम्मान है, वहाँ मनोविज्ञान इन्हे शका और सन्देह की दृष्टि से देखता है। कुछ मनोवैज्ञानिक धार्मिक प्रेरणा को एक उन्माद मानते हैं। जिस प्रकार पागल को अपने उन्माद मे अनेक अद्भुत दर्शन होते रहते हैं, उसी प्रकार धर्म मे श्रद्धा रखने वालो को भी अनेक दिव्य दर्शन होते हैं। नारदीय भक्ति सूत्र में उन्मत्तता को भक्ति की प्रगाढता का लक्षण माना है। भक्ति भी लौकिक प्रेम की भांति एक तीव्र भावना है और वह लौकिक प्रेम के समान ही उन्मादकारी है। भक्ति और लौकिक प्रेम में भावना के स्वरूप का भेद नही है, उनमे केवल विषय का भेद है। इसी समानता के कारण

लौकिक रूपको और उपमाओ के द्वारा भक्ति की व्यजना हुई। आज विज्ञान के युग मे अलौकिकता और चमत्कार के विश्वास तो उखड रहे हैं, किन्तु श्रद्धा और समर्पण के रूप मे एक धार्मिक भावना अनेक आधुनिक कवियों मे प्रौढवय मे प्रकट होने लगती है। यह तात्पर्य नही है कि धार्मिक आस्था वृद्धावस्था का अन्तिम अवलम्ब है। सत्य यह है कि लौकिक विषयों और अनुभवो की आसक्ति से कुछ मुक्त होने पर ही अध्यात्म का तत्त्व स्पष्ट होता है। लौकिकता की आँधी और विमोह के बादलों के हटने पर ही अध्यात्म के चन्द्रमा का आलोक प्रकाशित होता है। सम्भव है अलौकिकता और चमत्कार से विरहित होकर अध्यात्म का आन्तरिक तत्त्व जीवन और सस्कृति मे आडम्बर के धर्म की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण बन सके। ऐसा होने पर ही भक्ति और अध्यात्म के उन्मादो मे अन्तर्निहित सत्य भी प्रकाशित होगा।

लौकिक जीवन के जो अद्भुत और अलौकिक अनुभव हैं, उन्हे मनोविज्ञान मानसिक विकृति, उन्माद, पागलपन आदि की सज्ञा देता है। यदि अलौकिक नही तो ये असाधारण अवश्य हैं, क्योकि ये विरले लोगो मे ही देखने मे आते हैं। असाधारण होने के कारण तथा इसके कारणो को स्पष्टत न समझ सकने के कारण प्राचीन काल मे तथा मध्ययुग मे लोग इनमे भी अलौकिकता का आभास देखते थे। दैवी व्याधि के रूप मे पागलपन का निदान और उसकी चिकित्सा प्राचीन युगो की अलौकिक आस्था के अवशेष के रूप मे आज भी वर्तमान है। ओझा, सयानो, मन्त्र, तन्त्र, टोना, जादू, आदि की मान्यता आज के वैज्ञानिक युग मे भी पूर्णत विलीन नही हुई है। किन्तु शिक्षित समाज मे मनोविज्ञान के प्रभाव से इन असाधारणताओ के मानसिक और सामाजिक आधार अधिक स्पष्ट हो रहे हैं। मनोविज्ञान इन मनोविकृतियो को मानसिक सघर्ष का परिणाम मानता है। यह मानसिक सघर्ष जीवन का एक कठोर किन्तु गम्भीर सत्य है। जीवन के अन्तर्द्वन्द्व इसमे बडी तीव्रता से साथ व्यक्त होते हैं। शृंगार, प्रेम और वियोग के सघर्षो को छोड़कर अन्य सघर्षों की ओर कवियो ने प्राय. कम ही ध्यान दिया है। अलकार, चमत्कार और भक्ति के प्रपचो मे लीन रहने के कारण हमारे कवि सीता, द्रौपदी, दमयन्ती आदि की अन्तर्व्यथाओ का स्पर्श नही कर सके। कर्ण, युधिष्ठिर, राम आदि के मनोमन्थन का चित्रण भी हमारे काव्य मे अधिक नही मिलता। यशोदा और गोपियो के विलाप तथा विरहियो के विलाप मे ही अधिकाश काव्य की इतिकर्त्तव्यता है। इस दृष्टि से सस्कृत कवियो मे बाण की महिमा को पुन स्वीकार करना होगा। ब्रह्मचारी पुण्डरीक की प्रथम

काम-सवेदना के सघातक आक्रमण तथा कपिंजल और महाश्वेता के मन पर पुण्डरीक की मृत्यु की प्रतिक्रिया मे बाण ने मानव-सवेदना की तीव्रता और उसके सघर्ष का अद्भुत वर्णन किया है। सामान्यत वियोग की मूर्च्छा सस्कृत और हिन्दी काव्य मे असाधारण अनुभूति का एक साधारण रूप है। जीवन को विक्षिप्त और मन को विदीर्ण करने वाले मानसिक और सामाजिक सघर्षों का चित्रण प्राय भारतीय काव्य में नहीं है। इसका एक कारण तो जीवन का संतुलित दृष्टिकोण है, जो काव्य का आदर्श बन गया था। दूसरे नाटकों की सुखान्तता मे प्रमाणित श्रेय और समन्वय की भावना भी इसका कारण है। इसके अतिरिक्त कठोर मानसिक सघर्षों के प्रति भारतीय चेतना की उदासीनता भी इसका एक प्रमुख कारण है। भारतीय प्रेम के इतिहास में कोई मजनू नहीं है। यहाँ के प्रेमी साहसी हैं, किन्तु उन्मत्त नहीं। महाभारत और रामायण की जैसी भीषण कथाओ मे भी ग्रीक ट्रैजडी के समान व्यथा, सघर्ष और मन मे हलचल मचा देने वाली तीव्रता नही है। शेक्सपीयर की प्रसिद्ध ट्रैजेडियो का गम्भीर सघर्ष और आन्दोलन भी भारतीय रचनाओ मे नही है। लेडी मैकबैथ के निद्रा सचरण, लीयर के उन्माद, हैमलेट के हृदय विदारक सघर्ष और ओथैलो के भीषण कृत्य के समान असाधारण स्थितियो के उदाहरण भारतीय रचनाओ मे नही मिलेंगे। आधुनिक कृतियो में भी मानसिक सघर्ष और विकृति का चित्रण इस पश्चिमी सीमा तक नही पहुँचा है। इनकी तुलना मे 'साकेत' की कैकेयी और 'कुरुक्षेत्र' के धर्मराज का मानसमन्थन कही अधिक सतुलित है। भारतीय जीवन के सतुलित और सामजस्य पूर्ण दृष्टिकोण को ही भारतीय काव्य की इस मर्यादा का मुख्य श्रेय है।

अध्याय २२

तार्किक सत्य और काव्य

तथ्य के ये अनेक रूप प्रत्यक्ष के विषय हैं। प्राकृतिक, सामाजिक ऐतिहासिक और मानसिक तथ्यो का ज्ञान प्रत्यक्ष मे ही होता है। प्राकृतिक तथ्य ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष के विषय हैं। मानसिक तथ्य आन्तरिक प्रत्यक्ष के द्वारा जाने जाते हैं, जिसे हम मानस प्रत्यक्ष कह सकते हैं। 'अन्त करण' स्मृति का भी साधन है। सामान्यत तथ्य के सभी रूपो का और विशेषत सामाजिक तथा ऐतिहासिक तथ्यो का विशद ज्ञान प्रत्यक्ष के दोनो रूपो मे स्मृति के सयोग से होता है। सामान्यत ये तथ्य अनुभव की इकाइयो के रूप मे समझे जाते हैं, किन्तु वस्तुत प्रत्येक इकाई स्वय एक जटिल व्यवस्था है। इस व्यवस्था का विस्तार दिक् और काल दोनो विभाओ मे होता है। हमारे अनुभव मे इन सरल व्यवस्थाओ से मिलकर जटिल और जटिलतर व्यवस्थाये बनती हैं। इन जटिल व्यवस्थाओ के उदाहरण हमारे नागरिक और सामाजिक जीवन तथा इतिहास मे मिलते हैं। इतिहास, विज्ञान, साहित्य और सस्कृति इन जटिल व्यवस्थाओ के मानसिक रूप हैं। प्रत्यक्ष की इकाइयाँ भी विशृखल रूप मे नही रहती। विज्ञान उनमे भी व्यवस्था खोजता है। इस व्यवस्था का आधार एक सामान्य नियम अथवा सिद्धान्त होता है। तथ्यो की परम्परा और व्यवस्था की गति तथा विधान का सूत्र ही 'नियम' अथवा 'सिद्धान्त' कहलाता है। 'नियम एक प्राकृतिक विधान है, जो स्वतन्त्र और अनिवार्य है। प्राकृतिक जीवन में उसका शासन है। सिद्धान्तो को हम सास्कृतिक नियम कह सकते हैं, जो मानव चेतना से नि सृत होकर जीवन की श्रेष्ठ दिशाओ और सार्थकता के मार्गों का निर्देश करते हैं। एक दृष्टि से एक ओर सिद्धान्त मानवीय चेतना की स्थापनायें हैं तथा दूसरी ओर वे उसके सस्कार एव उत्कर्ष के शासन-सूत्र हैं। विज्ञानो म इन नियमो का निर्धारण होता है तथा शास्त्र उन सिद्धान्तो के सचय हैं।

इन नियमो एव सिद्धान्तो की खोज और स्थापना में मन की जिस शक्ति का मुख्य हाथ रहता है, उसे 'बुद्धि' कहते हैं। बाह्य दृष्टि से ये नियम और सिद्धान्त

स्थापनाएं हैं, किन्तु आन्तरिक दृष्टि से ये धारणायें हैं। बुद्धि की इस धारणा के दो धर्म हैं–एक स्मृति और दूसरी व्यवस्था। स्मृति पूर्वापर क्रम में प्राप्त तथ्यों का एकसूत्र में सयोजन है। इस प्रकार स्मृति अतीत को सुरक्षित रखने और वर्तमान से उसे सम्बद्ध करने का साधन है। व्यवस्था स्मृति की तथ्य सम्पत्ति की परस्पर संगति है। यह संगति कुछ नियमों और सिद्धान्तों के आधार पर होती है। 'तर्क' बुद्धि का मुख्य लक्षण है। इसलिए इसे प्रायः तर्क-संगति भी कहते हैं। किन्तु वस्तुतः संगति चेतना के सम्पूर्ण सामंजस्य की अवस्था है। तर्क संगति उसका केवल एक किन्तु महत्त्वपूर्ण पक्ष है। हमारे सामान्य अनुभव, व्यवहार, विज्ञान, शास्त्र आदि सब में इस स्मृति और व्यवस्था का योग रहता है। भावना के आवेग में जब कभी हम इसकी उपेक्षा करते हैं। तो इसे मन की असाधारण अवस्था अथवा प्रमाद कहा जाता है। इससे विदित होता है कि मनुष्य की प्रकृति में ही इस व्यवस्था और संगति का विक्षेप करने वाली संभावनायें वर्तमान हैं, फिर भी मनुष्य सदा संगति की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, उसी को प्राप्त करके उसे प्रसन्नता का अनुभव होता है।

यह बौद्धिक व्यवस्था और संगति सत्य का एक दूसरा रूप है, जो तथ्यों से भिन्न तो नहीं किन्तु उनके सम्बन्ध का व्यापक और आन्तरिक सूत्र है। तथ्यों और सिद्धान्तों में एक भेद यह माना जाता है कि तथ्य विशेष और व्यक्तिगत इकाइयाँ हैं तथा सिद्धान्त सामान्य हैं। मनुष्य के अनुभव को व्यक्तिगत माना जाता है, किन्तु उसकी बुद्धि में सामान्य को ग्रहण करने की भी शक्ति है। बुद्धि की इसी शक्ति के आधार पर मानसिक आदान प्रदान और सामाजिक व्यवहार सम्भव होते हैं। भावना में भी तीव्र अनुभूति का एक आन्तरिक पक्ष है। जो कला और काव्य को अनुभूति और भावना से प्रसूत मानते हैं, उनके लिए बुद्धि और तर्क के साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार करना कठिन हो जाता है। अनुभूति और भावना में एक संश्लेष और एकात्मकता होती है। बुद्धि के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह धारणात्मिका शक्ति होने के साथ-साथ विश्लेषण की भी शक्ति है। विरुद्ध धर्म के कारण बुद्धि का अनुभूति और भावना के कलात्मक क्षेत्र से बहिष्कार किया जाता है। यह विरोध का प्रश्न भी बुद्धि का ही प्रश्न है। विरोध और संगति की स्थापना तथा उनका ज्ञान भी बुद्धि के द्वारा होता है। अतः यह मानना होगा कि बुद्धि ही कला और काव्य के क्षेत्र से स्वयं अपना बहिष्कार करती है। अनुभूति और भावना की जिस तन्मयता को कला और काव्य का स्वरूप माना जाता है, उन्हें अपनी विभोर

अवस्था मे न बुद्धि के साथ सगति की रुचि होती है तथा न उनके विरोध और वहिष्कार की उत्सुकता। यदि कविता ब्रह्म-ज्ञान के समान पूर्णत तन्मय चेतना है, तब तो उसमे प्रत्यक्ष के तथ्यो के विषय-रूप अस्तित्व के लिए भी स्थान नही है, बुद्धि के सामान्य सिद्धान्तो का तो कोई प्रश्न ही नही है। कला और काव्य का यह आन्तरिक स्वरूप तो एक अनिर्वचनीय तत्व है, किन्तु रूप और भाषा के जिस व्यक्त माध्यम मे कला और काव्य की अभिव्यक्ति होती है, उसमे बुद्धि और तर्क का समुचित स्थान है। यदि अनेक-रूप तथ्य व्यक्त कला और काव्य के उपादान हैं, तो उनकी बौद्धिक सगति काव्य मे उनकी आवश्यक व्यवस्था है। काव्य को सगत और सम्पन्न बनाने के लिए तथ्यो के साथ-साथ सिद्धान्तो के आधार की भी आवश्यकता है। दूसरी ओर निषेधात्मक दृष्टि से वास्तविक तथ्यो, नियमो तथा सिद्धान्तो के खण्डन के दोष से बचने के लिए भी उनके अनुशीलन की आवश्यकता है। इस अनुशासन से रहित रचना अनर्गल और अग्राह्य हो जाती हैं। वैज्ञानिक युग में पौराणिक काव्यो की अ-लोकप्रियता का यही कारण है। पाठको के लिए भी उन तथ्यों और सिद्धान्तो से अवगत होना आवश्यक है। इस अवगति के बिना वे काव्य का पूरा-पूरा आनन्द नही पा सकते। काव्य में जहाँ अभिव्यक्ति का सौन्दर्य आनन्द का कारण है, वहाँ उसके साथ-साथ सत्य की अवगति का वैशद्य भी प्रसन्नता का हेतु है। विज्ञान, व्यवहार और साहित्य मे सिद्धान्तो का प्रश्न तो तथ्य-परम्पराओ की व्यवस्था और सगति के प्रसग मे ही उठता है, किन्तु इसके भी पूर्व तथ्य-मात्र के सम्बन्ध मे भी बौद्धिक सगति का प्रश्न एक सूक्ष्म और असाधारण रूप मे पैदा हो जाता है। विज्ञान, व्यवहार और साहित्य मे तथ्य के तथात्व का प्रश्न एक सूक्ष्म और जटिल समस्या है। व्यवहार मे हम अधिक तर्क नही करते, इसलिए हमे अधिक कठिनाइयो का अनुभव नही होता। किन्तु जिस रूप में भी हो जहाँ भी तथ्य का उल्लेख या अकन किया जाता है, उसके तथात्व का प्रश्न महत्वपूर्ण है। इसमे तनिक भी असगति होने पर आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। यह तथ्यो की तथावत् सगति भी बुद्धि का ही कार्य है। अत हम देखते हैं कि व्यवहार और साहित्य के सरलतम रूपों में बुद्धि के सिद्धान्त अन्तर्निहित हैं।

यह बौद्धिक सगति तार्किक सत्य का एक रूप है। विज्ञान और दर्शन तो इसी के आधार पर आश्रित हैं, किन्तु कला और काव्य में इसका क्या स्थान है, यह विवादग्रस्त है। तथ्य के उल्लेख मात्र में जो उसके तथात्व की सगति का प्रश्न है,

उसकी उपेक्षा तो कला और काव्य भी नहीं कर सकते। यथार्थ का अंकन कला और काव्य में भी सौन्दर्य का सृजन है। तथ्यो का उल्लेख होने पर उनकी परस्पर सगति का प्रश्न भी अनिवार्य हो जाता है। यद्यपि कला और काव्य यथार्थ अनुभव के आधार पर मानसिक सृष्टिया हैं, फिर भी सामाजिक मनुष्य का मन जीवन और व्यवहार के यथार्थ तथा उसकी सम्भावनाओ के साथ उन सृष्टियो मे भी सगति चाहता है। प्राकृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और मानसिक सभी प्रकार के तथ्यो के सम्बन्ध में इस सगति की आकाक्षा होती है। जिस सिद्धान्त के आधार पर 'प्रियप्रवास' और 'हल्दी घाटी' जैसे काव्यो में प्राकृतिक तथ्यो की अयथार्थता का दोष तथा 'आर्यावर्त' जैसे काव्य मे ऐतिहासिक अयथार्थता का दोष तथा आदर्शवादी काव्यो में सामाजिक अयथार्थता का दोष पाया जाता है, वह बौद्धिक सगति का ही सिद्धान्त है।

इस तार्किक सत्य के दो रूप हैं—एक तो प्रत्ययो की तथ्यो के साथ सगति और दूसरे प्रत्ययो का परस्पर अविरोध-सम्बन्ध। ऊपर जिस सगति का उल्लेख किया गया है, वह वस्तुत प्रत्ययो के साथ वास्तविक तथ्यो की ही सगति है। हमारे अनुभव में तथ्यो का प्रत्यक्ष मानसिक प्रत्ययों के रूप मे सुरक्षित रहता है। भारतीय दर्शन के अनुसार तो यह भी बुद्धि का धर्म है। व्यवहार और साहित्य मे जब इन तथ्यो का उल्लेख होता है तो मानसिक प्रत्ययो के वास्तविक तथ्यो के साथ सगति होने का प्रश्न खड़ा होता है। डाक्टर राजू ने बड़ी विदग्धता के साथ यह स्पष्ट किया है कि तथ्यो के साथ तथ्यो की सगति का प्रश्न ही असगत है।[१४] तथ्य तो केवल समसत्ताक होते है प्रत्यक्ष के तथ्य एक ही काल मे भिन्न-भिन्न स्थानो पर एक साथ सत्तावान् होते हैं। समसत्ताको की सगति एक अर्थहीन प्रश्न है, उनका एक साथ अस्तित्व ही उनकी सगति है। ऐतिहासिक तथ्यो की सत्ता का रूप प्रत्यक्ष तथ्यो से भिन्न होता है। प्रत्यक्ष सत्य एक काल और भिन्न-भिन्न स्थानो मे समसत्ताक होते हैं। ऐतिहासिक तथ्य भिन्न-भिन्न स्थानो और भिन्न-भिन्न कालो के तथ्यो का एक अनिवार्य क्रम है। वस्तुत यह अनिवार्य क्रम ही प्रत्यक्ष तथ्यो की सगति का भी वास्तविक रूप है। ज्ञान की दृष्टि से इस अनिवार्यता मे सगति का तर्क असगत है। उनकी सत्ता ही सगति का प्रमाण है। **कला की दृष्टि से इस सगति का जहां प्रश्न उठता है, वहां सगति का अर्थ रास्ता अथवा तर्कानुकूलता**

नहीं है, वरन् एक सौन्दर्यशील सामजस्य है। यह सामजस्य कलात्मक अनुभूति और सौन्दर्य के बाह्य लक्षण का प्रश्न है।

प्रत्ययो की तथ्यो के साथ सगति मे अनेक तार्किक जटिलताये और कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। कला और काव्य मे तार्किक विवेचनाओ की जटिलता का इतना स्थान नही है। बुद्धि से चाहे इनका विरोध न हो और चाहे बुद्धि के साथ इनका समन्वय सम्भव हो, किन्तु बुद्धि की सूक्ष्म समस्याओ के अन्तिम निर्णयो से इनका आवश्यक सम्बन्ध नही है, ये निर्णय विज्ञान और दर्शन के विषय हैं। कला और काव्य के लिए विज्ञान और दर्शन की भाँति ये निर्णय अन्तिम लक्ष्य नहीं है। कला और काव्य मे बुद्धि की समस्याओ का व्यवहारिक रूप ही अधिक प्रासगिक है। व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्ययो की तथ्यो के साथ सगति तार्किक सत्य का पहला रूप है। यह ठीक है कि कला और काव्य के तथ्य वास्तविक तथ्यो की प्रतिलिपि नही हैं। तथ्यो की व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और जटिल है कि उनके रूप के विधायक समस्त तत्वो अथवा अङ्गो का विश्लेषण करना कठिन है। हम तथ्यो के रूप को कुछ प्रमुख अङ्गो के सकेत से ही पहचानते हैं। ये सकेत ही हमारे मानसिक प्रत्ययो का विधान करते हैं और इन्ही का सामान्य रूप प्रत्ययो तथा तथ्यो की परस्पर सगति का आधार बनता है। मूलत अविरोध ही बुद्धि का लक्षण है, इसीलिए इस सगति मे भी अविरोध ही प्रमुख सूत्र हैं। प्राकृतिक तथ्यो का रूप वास्तविक होता है, अत उनके वास्तविक रूप के विदित तत्वो का विरोध नही किया जा सकता। जहाँ असगति इस विरोध के रूप मे होती है, वहाँ वह अत्यन्त आपत्ति का कारण बन जाती है। इसीलिए जिन काव्यो म प्राकृतिक व्यवस्था के वास्तविक तथ्यो के विदित अङ्गो का विरोध मिलता है, उनकी बहुत आलोचना होती है। ऐतिहासिक तथ्यो में भी एक यथार्थता होती है, किन्तु अतीत होने के कारण उनमे वर्तमान तथ्यो की वास्तविकता का सा प्रभाव नही होता। अत ऐतिहासिक तथ्यो के परिवर्तन के सम्बन्ध मे कवियो और कलाकारो पर अधिक प्रतिबन्ध नही रहा है। उनकी कृतियाँ एक काल्पनिक इतिहास के समान मानी जाती रही हैं। ऐतिहासिक तथ्यो के सम्बन्ध मे असगति और विरोध की आपत्ति वही खडी होती है, जहाँ किसी एतिहासिक घटना मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाता है कि वह विदित इतिहास के विपरीत अथवा उसके विरुद्ध बन जाती है। इसी प्रकार युग की सामाजिक स्थितियो के विदित तथ्यो के विपरीत कल्पनाय करने पर भी काव्य आपत्ति के कारण बन जाते हैं।

ऐतिहासिक और सामाजिक तत्वो के साथ कला एव काव्य के प्रत्ययो की सगति वास्तविक होने के साथ साथ मनोवैज्ञानिक भी है। किसी युग और समाज की सामान्य चेतना के अनुकूल होने पर ही काव्य की कल्पनायें आदरणीय होती हैं। प्रकृति मे तो अवकाश नही है, किन्तु ऐतिहासिक और सामाजिक व्यवस्थाओ में कवियो को कल्पना के लिए बहुत अवकाश मिल जाता है। यह कल्पना अनुकूल तथ्यो के आधार पर ही होती है तथा विदित युग और समाज के साथ सगत होनी चाहिए। अनर्गल आदर्शवाद प्रभावशाली नही होता। **यथार्थ के आधार पर युग और समाज की सम्भावनाओ के अनुकूल उदित होने पर ही आदर्श वर्तमान की प्रेरणा बनता है। ऐसा होने पर ही वर्तमान आदर्श भविष्य का यथार्थ भी बन सकता है।**

प्रत्ययो के साथ तथ्यो की सगति मे भी हम देखते हैं कि अविरोध का सिद्धान्त ही अन्तर्निहित है। इस सगति मे कला और कल्पना के मानसिक लोक तथा यथार्थ के वास्तविक लोक के सवाद का प्रश्न है। प्रत्यय और तथ्य एक दूसरे से बाह्य प्रतीत होते हैं, अत उनकी परस्पर सगति एक बाह्य सवाद की समस्या है। इसके अतिरिक्त बुद्धि की एक और प्रमुख समस्या है जिसे अन्तर्गत सगति कहा जा सकता है। यह अन्तर्गत सगति प्रत्ययो की तथ्यो के साथ सगति नही है वरन् प्रत्ययो की प्रत्ययो के साथ सगति है। इस सगति का प्रश्न पूर्णत मानसिक अथवा बौद्धिक है। इसमे वस्तुओ का कोई प्रश्न नही है। वास्तविक तथ्यो मे विरोध असम्भव है। वे समसत्ताक होते हैं। सत्ता मे विरोध की सम्भावना नही है। विरोध एक बौद्धिक सघर्ष है, इसीलिए जब हीगल ने अविरोध को सत्य का लक्षण बनाया तो उसके दर्शन मे अन्तिम सत्य और सत्ता का स्वरूप ही मानसिक अथवा आध्यात्मिक हो गया।

अस्तु अविरोध बुद्धि का मूल लक्षण है। विचारों का परस्पर विरोध बुद्धि को सह्य नही है। अत जहाँ भी बुद्धि का सन्निकर्ष रहता है वहाँ अविरोध का आदर करना आवश्यक हो जाता है। **'कविता' शास्त्र और विज्ञान की भाँति जीवन का बौद्धिक विवेचन तो नहीं है; फिर भी बुद्धि से उसका कोई आवश्यक विरोध नहीं है। कला और काव्य का स्वरूप समात्मभाव की सम्भूति है, किन्तु उस सम्भूति के आन्तरिक स्वरूप का भी बुद्धि की विभूति से विरोध नहीं है। चेतनाओं का संवाद दोनों का सामान्य लक्षण है। कविता के व्यक्त रूप में तो बुद्धि के तत्व**

संश्लिष्ट रहते हुए भी स्फुट रहते हैं। वस्तुतः भाषा का रूप ही बुद्धिसंगत है, अतः भाषा में व्यक्त होने पर कविता की बुद्धि संगति स्वाभाविक हो जाती है। कविता का अनुभूति-मूलक मर्म अभिधेय नहीं, व्यंग्य है, अतः इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कविता का व्यंग्य भाव बौद्धिक नहीं होता। किन्तु उस अनभिधेय भाव की बुद्धि और अभिधा के साथ संगति सम्भव ही नहीं, आवश्यक है। अभिधा और बौद्धिक भाषा के माध्यम से ही अनभिधेय भाव की व्यंजना होती है। अतः माध्यम के साथ संगति व्यंजना की सुष्ठुता और सुन्दरता की सहकारी है। इसी संगति के लिए ही कबीर की उलटबासियों और सूर के दृष्ट-कूटों की कष्ट-पूर्वक व्याख्या की जाती है। सामान्य काव्य में भी सर्वदा यह संगति खोजी जाती है। कविता का स्वरूप बौद्धिक न होने पर भी उसका माध्यम बौद्धिक है। अतः माध्यम में किसी प्रकार का दोष आने पर व्यंजना में विक्षेप होता है और काव्य का स्वरूप कलुषित हो जाता है। स्वरूप में अन्तर्गत सामंजस्य काव्य के सौन्दर्य का आन्तरिक मर्म है। माध्यम के रूप में व्याघात होने पर माध्यम के साथ कविता की संगति और कविता का आन्तरिक सामंजस्य दोनों ही विक्षुब्ध हो जाते हैं। इस विक्षोभ से कविता का रूप विकृत हो जाता है। व्यंजना की सफलता के लिए अभिधान के माध्यम का ऋजु होना आवश्यक है। स्वच्छ दर्पण के प्रतिबिम्ब की भाँति तथा ऋजु नलिका में से दृश्य-दर्शन की भाँति अभिधान का पारदर्शी आर्जव व्यंजना का उत्तम माध्यम है। विचारों के व्याघात से जो कुटिलता उत्पन्न होती है वह अभिधान के आर्जव को नष्ट करके व्यंजना में बाधक होती है। विचारों की असंगति और उनके अविरोध से मुक्त अभिधान पारदर्शी काच के समान है, जो रूप की व्यंजना को कांति और शोभा प्रदान करता है। विचारों के व्याघात और बौद्धिक असंगति से अभिधान का माध्यम ह्रासलेन्स अथवा मन्ददर्शी काँच के समान धुँधला हो जाता है, जो भाव की अभिव्यक्ति के स्थान पर उसका व्यवधान बनता है। बौद्धिक असंगति व्यंजना के प्रकाश के लिए कुहरे के समान है। एक ओर जहाँ भाषा की अक्षमता और बुद्धि के साथ कविता के तत्व का विरोध पूर्णतः अवास्तविक नहीं है, वहाँ दूसरी ओर भाषा की क्षमता और बुद्धि के साथ कविता के तत्व की संगति भी महत्त्वपूर्ण है।

इस संगति का वास्तविक सूत्र अनुभूति के आन्तरिक भाव में अन्तर्गत सामंजस्य के सौन्दर्य पर निर्भर है। विरोध दो विचारों की बौद्धिक असहिष्णुता है।

जब एक विचार दूसरे विचार को आदरपूर्वक स्वीकार नही करता तो इस बौद्धिक तिरस्कार को ही विरोध कहते हैं। अविरोध बुद्धि के द्वारा विचारो का आदर है। अनादर और अस्वीकरण विरोध कहलाता है। विरोध अथवा अविरोध मुख्यत दो विचारो का परस्पर सम्बन्ध है। अनेक विचारो की व्यवस्था मे इस अविरोध से जो सतुलन उत्पन्न होता है, उसे 'सगति कहना अधिक उचित है। **'अविरोध' एक स्थिर तार्किक प्रत्यय है, 'सगति' एक गत्यात्मक प्रत्यय है। अविरोध बुद्धि का स्वरूप है और सगति उसकी प्रगति की सन्तोषपूर्ण प्रणाली है।** इस सगति के द्वारा विचारो की एक गतिशील व्यवस्था का विधान होता है। अनुभूति के भावो मे अविरोध उतना आवश्यक नही है। कुछ लोग तो घृणा और प्रेम, प्रेम और वध जैसे विरोधी भावो को भी एक ही पात्र मे सम्भव और सगत मानते हैं। यदि ऐसा न भी हो तो भी इतना अवश्य है कि भावो के विरोध का निश्चय उतनी सरलता से नही किया जा सकता, जितनी सरलता से विचारो के विरोध का निश्चय किया जा सकता है। साथ ही भाव लोक मे यह अविरोध इतना आवश्यक भी नही है। **'भाव' विचारो की अपेक्षा अधिक सजीव और गतिशील होते हैं** उनके सम्बन्ध मे वह जड एक रूपता सम्भव नही है, जो विचारो म सम्भव है। कुछ अध्यात्मवादी दार्शनिक विचारो मे भी उसे इतना यथार्थ अथवा उचित नही मानते, इसीलिए हीगल और उनके अनुयायियो मे आकर बुद्धि का लक्षण दा स्थिर प्रत्ययो के अविरोध के स्थान पर प्रत्ययो की एक गतिशील परम्परा की सगति हो गया। इस सगति पूर्ण परम्परा के आधार पर सत्य का स्वरूप भी एक सगतिपूर्ण व्यवस्था हो गया। इस व्यवस्था के व्यापक रूप म अविरोध का निर्णय करना उतना आवश्यक नही है जितना सगति का निर्णय करना। **यह सगति अनेकरूपता में सामजस्य का मार्ग है। यही सामजस्य भाव और विचार की सन्धि का सूत्र है।** तथ्य लोक मे अनेकरूपता का जो जड सह अस्तित्व है, वह विचार और भाव-लोक मे सगति तथा सामजस्य बन जाता है। वस्तुत प्रकृति ऐसी जड और विशृखल नही है, जैसी कल्पना कि बुद्धि का जड विश्लेषण प्राय कर लेता है। **प्रकृति के तथ्यो में प्रतीत विषयो के पार्थक्य के साथ साथ एक आन्तरिक सश्लेष और सगति की अन्तर्धारा है। यही अन्तर्धारा प्रकृति का जीवन और उसमें सौन्दर्य की सृष्टि का अभिषेक है।**

प्रकृति की गति तथा उसके रूपो की सगति सूक्ष्म होने के कारण उसके विधान

मे जड़ता और उसकी व्यवस्था के रूपो मे पृथकत्व का आभास होता है। किन्तु यह आभास मिथ्या प्रतीति है। **प्रकृति का सत्य भी सश्लेष और सङ्गति है। विचार-लोक में इस संश्लेष और सङ्गति का सत्य अधिक स्फुट हो जाता है।** प्रकृति के तथ्यो की जड़ एकरूपता के आभास की छाया विचारो पर भी पड़ती है। किन्तु शीघ्र ही विचारो के सश्लेष और उनकी सगति का सत्य उद्घाटित होता है। जड़ और स्थिर रूपो के अविरोध के ऊपर गतिशील रूपो की परम्परा में सगति का सत्य स्फुटित होता है। विरोध के सघर्ष और अविरोध की उदासीनता के विपरीत सगति सक्रिय सहयोग है। यह सहयोग प्रकृति और बुद्धि दोनो के लोक मे सामजस्य का सूत्र बनता है। इसी के द्वारा विशृखल इकाइयां सौन्दर्य की अर्चना की माला सजाती हैं। सगति और सहयोग अनेकरूपता मे सामजस्य का विधान करते हैं। **सामंजस्य के प्रकाश में विचार के क्षितिज पर भाव का लोक उद्घाटित होता है। भाव-लोक में भी अनुभूति की इकाइयां होती हैं; किन्तु उनके तरल तत्त्व को हम शीघ्र ही एक दूसरे में विलय होते देखते हैं। इस विलय से भावों का सामंजस्य स्थापित होता है।** प्रकृति के तथ्यों का विरोध सघर्षमय होते हुए भी उनके सह-अस्तित्व का बाधक नही है। प्रकृति मे विषमता के लिए अधिक अवकाश है, (यद्यपि सघर्ष विनाश भी करता है) किन्तु विचारो मे विरोध की 'कल्पना भी' नही की जा सकती। विरोध का आभास होते ही उसके परिहार का प्रश्न प्रमुख हो जाता है। **इस प्रकार प्रकृति की अपेक्षा विचार में संगति और सामंजस्य का अधिक विकास हुआ है। भावलोक में विरोध का विरोध सबसे कम है।** संगीत के विसवादी स्वरों की भाँति किसी सीमा तक विरोध सामजस्य का साधक भी माना जा सकता है। इस सामजस्य मे विरोध का ही नही, अनेकरूपता का भी, विलय होने लगता है। अनुभूति के चिद्-बिन्दु अपनी व्यापकता अथवा वर्द्धनशीलता मे भाव के विश्वो की प्रगतिशील व्यवस्थाओं का विधान करने लगते हैं। **संघर्ष अथवा विरोध का सर्वाधिक सामंजस्य होने के कारण भाव का लोक सबसे उत्तम और उच्च है। यदि प्रकृति तथ्यों का भूलोक है, जिसमें सत्ताओं का संघर्ष अधिक स्थायी और सह्य होता है, तो बुद्धि प्रत्ययों का भुवर्लोक है जिसमें विरोध अधिक सह्य नहीं, किन्तु सम्भव अवश्य है। 'भाव' अल्पतम विरोध और सामंजस्य का स्वर्लोक है।** विरोध का आभास होने पर बुद्धि प्रकृति की अपेक्षा उसके परिहार में अधिक सचेष्ट हो जाती है। भावलोक में इस विरोध का निर्णय ही कठिन है। प्रतीत होने पर इसका

अनायास विलय हो जाता है। सामजस्य के इसी सहज रूप मे सौन्दर्य का उदय होता है। प्रकृति के रूपो की सगति सामजस्य बनकर ही निसर्ग सृष्टि मे सौन्दर्य की विधात्री बनती है। प्रकृति के तथ्यो का सह-अस्तित्व सहयोग बनकर प्रगतिशील सौन्दर्य की परम्परा का विधान करता है। विचारलोक की सगति सामजस्य के क्षितिज तक पहुँचते पहुँचते भाव के सौन्दर्य लोक मे परिणत होने लगती है। भावो के साथ सहज सामजस्य म तो इस सौन्दर्य के सूत्र और स्रोत हो निहित है। **सामजस्य सौन्दर्य का वस्तुगत स्वरूप है और सङ्गति उसकी प्रणाली है।** बुद्धि और भाव के समन्वय का यही दिग्दर्शन है। इसी दिशा के मार्ग से तर्क के बौद्धिक सत्य कला और काव्य के सुन्दरम् मे अन्वित होते हैं।

बुद्धि और भाव दोनो ही आत्मा के चैतन्य की विभूतियाँ है। दोनो ही आत्म-विकास के द्वारा अनेकता म एकता की स्थापना करती है। 'बुद्धि' सत्ता की इकाइयो के अन्तर्गत सामान्य सिद्धान्तो का उद्घाटन करती है। 'भावना' उन इकाइयो मे एक अन्तर्गत आत्मीयता स्थापित करके उनका सामजस्य करती है। सामजस्य सौन्दर्य का रूप है, इसीलिए कला, काव्य और सौन्दर्य के साथ भावना का आन्तरिक सम्बन्ध मान्य रहा है। बुद्धि के द्वारा सामान्य सिद्धान्तो का उद्घाटन भी इकाइयो की अन्तर्गत एकता का ही अनुसधान है। यह एकता एक सूक्ष्म नियम के रूप मे स्थापित होती हैं। स्थूल सत्ता के रूप म अनेकता अथवा द्वैत ही प्रधान रहता है। किन्तु भावना एक सजीव एकता की विधात्री है। स्थूल अनेकता को भी वह एक सजीव एकता से अनुप्राणित कर देती है। इस प्रकार वह अद्वैत भाव की साधिका है और सुन्दरम् के साथ शिवम् की भी सहयोगिनी है। एकता का भाव बुद्धि और भावना के समन्वय का सूत्र है। अविरोध का आग्रह छोड़कर जब बुद्धि' सगति और समन्वय की ओर अग्रसर होती है, तो भावना के सजीव सामजस्य मे उसका सौन्दर्य स्फुटित होता हैं। जीवन के अनेक स्वर विविध रागो मे समजसित होकर सौन्दर्य के समृद्ध और सजीव सगीत की सृष्टि करत हैं। कला और काव्य मे यही सगीत साकार होता है।

जीवन से पृथक् एक प्रत्याहार के रूप में ही बुद्धि भावना की विरोधी दिखाई देती है। जीवन के निकट आने पर दोनो का समन्वय और सहज प्रतीत होने लगता है। बुद्धि के इस पृथक्त्व का कारण अहकार की सकीर्णता है। बुद्धि का

वैभव जब अहकार का दर्प बन जाता है, तो वह व्यक्तित्व की इकाइयों में दम्भ उत्पन्न करता है। इसी कारण बौद्धिक लोगों में विरोध अधिक तथा स्नेह और सद्भाव कम दिखाई देता है। इसी कारण सभ्यता के इतिहास मे ज्ञान विज्ञान, शास्त्र और दर्शन का जितना अधिक विकास होता गया, उतना ही कला, काव्य और संस्कृति के साथ साथ स्नेह और सद्भाव का ह्रास होता गया। इसी ह्रास का परिणाम है कि आज ज्ञान विज्ञान और सम्पत्ति की समृद्धियों मे भी मनुष्य का हृदय शून्य और उसका मन उदासीन होता जा रहा है। वस्तुत अहकार का दर्प बुद्धि का स्वरूप नहीं है। भारतीय दर्शन के अनुसार बुद्धि चेतना की वृष्टि है, जो सर्ग क्रम मे अहकार से पूर्वतर तथा स्वरूप से सामान्य और उदासीन है। मनुष्य जीवन मे अहकार की केन्द्रीयता के कारण बुद्धि का स्वरूप व्यक्तिगत बन जाता है। अहकार ज्ञान का विषय बन कर बुद्धि के द्वारा उद्घाटित सामान्य सिद्धान्तो के सत्य को अपनी सम्पत्ति मानता है। अहकार की सम्पत्ति बन कर 'बुद्धि' ज्ञान की विडम्बना और संस्कृति की विनाशक बनती है। अहकार से ऊपर सिद्धान्तो की निरपेक्षता बुद्धि का वास्तविक स्वरूप है। इस निरपेक्षता से उदासीनता का संस्कार ग्रहण करके अहकार को विनय का शील प्राप्त होता है। यह विनय ही भावना के साथ उसके सामजस्य का सूत्र है। इस विनय से अहकार का विगलन और उदासीनता का अनुप्राणन होता है। विनय के शील के इन विविध संस्कारो की सन्धि में ही भावना उदित और समन्वित होती है। भावना का स्वरूप अहकार के केन्द्र का विस्तार है। इस विस्तार मे अहकार मन्द-मन्दतर होता है तथा 'अनुभूति' स्नेह सहानुभूति और सदभाव का रूप ग्रहण करती है। यद्यपि अविरोध को बुद्धि का सिद्धान्त माना जाता है किन्तु वस्तुत वह विरोध और संघर्ष अधिक उत्पन्न करती है। इसका कारण बुद्धि का स्वरूप नहीं, अहकार का दर्प है। अपने स्वरूप को ही भूलकर 'बुद्धि' समाज और साहित्य में संघर्ष का कारण बनती है। उसकी स्वरूपगत निरपेक्षता' निष्पक्षता, सहिष्णुता और उदारता का वरदान देती है। सामान्यत भारतीय धर्म और संस्कृति की अनेक-रूपता तथा विशेषत जैन धर्म के अनेकान्तवाद मे बुद्धि की उदासीनता का उदार परिणाम प्रत्यक्ष दर्शनीय है। अहकार के दर्प की अपेक्षा इस उदासीनता का भावना में समन्वय अधिक सरल है। उदासीनता उदारता के उस विस्तार की भूमिका है, जो भावना की सहज विभूति है। भावना मे भी अहकार का दर्प इतना

ही विधातक तत्व है, जितना कि बुद्धि के लिए है। वस्तुत एक उदार समात्मभाव बुद्धि और भावना का सामान्य लक्षण है, इसीलिए भारतीय परम्परा मे भक्ति के क्षेत्र मे जिसे 'भावना' कहते रहे है, अध्यात्म के क्षेत्र मे वह 'बुद्धि' के नाम से प्रसिद्ध रही है। गीता में आध्यात्मिक दृष्टि अथवा योग को अनेक बार 'बुद्धि' का नाम दिया है। **आध्यात्मिक दृष्टि आत्मा की स्निग्ध और सरल दृष्टि है।** अत भक्ति की भावना से वह अधिक भिन्न नही है। समात्मभाव की सरलता मे दोनो का सगम हैं। इसीलिए वेदान्त मे आत्मा का अद्वैत के साथ साथ रस-स्वरूप और आनन्दमय माना गया है। **अहकार के दर्प से मुक्त होकर और रस से अनुप्राणित होकर बुद्धि की विभूतियाँ भावना में समन्वित होती हैं।** वस्तुत प्रकृति और विशेषत अहकार की सकीर्ण सीमाओ से ऊपर बुद्धि और भावना मे विरोध की अपेक्षा सामजस्य अधिक है। इस सामजस्य म इकाइयो का अविरोध सगति और समन्वय का रूप ग्रहण करता है। यही समन्वय सस्कृति का मार्ग है।

बुद्धि की विभूतियो में चेतना का प्रसाद, दृष्टि की निर्मलता और सिद्धान्त-सत्य प्रमुख है। इनमे पहली दो विभूतियाँ भावना को आलोक और स्वच्छता प्रदान करती हैं। बुद्धि के सिद्धान्तो मे अहकार का दर्प तो आवश्यक नही, किन्तु निरपेक्षता की उदासीनता अवश्य रहती है। **इस उदासीनता के भावना के रस से अनुप्राणित होने पर कला और काव्य में सिद्धान्तो का समन्वय हो सकता है।** व्यक्तिगत अनुभूतियो मे तीव्रता तो अधिक होती है किन्तु वे साधारणीकरण के द्वारा ही काव्य की स्थायी विभूति बनती हैं। कदाचित् नित्य और कालातीत होने के कारण सामान्य तत्व शाश्वत और स्थायी हैं। व्यापकता के कारण उनका प्रभाव भी अधिक है। इसीलिए काव्य मे जीवन के सामान्य सिद्धान्तो का अनुग्रहण उसे गम्भीरता और स्थायित्व प्रदान करता है। भारवि के काव्य का बहुत कुछ अर्थ गौरव इन सामान्य सिद्धान्तो पर निर्भर है। तुलसीदास के रामचरितमानस मे ग्रहीत ये सामान्य सिद्धान्त लोकोक्तियो के समान लोक जीवन मे रम गये हैं। नीतिकाव्य की लोक-प्रियता का भी यही कारण है। शेक्सपीयर, मिल्टन आदि यूरोपीय महाकवियो की रचनाओ से भी ऐसी सिद्धान्त युक्त उक्तियो को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता हैं। काव्य मे इन सिद्धान्तो का ग्रहण कला की रस भावना के साथ बुद्धि के आलोक के समन्वय की स्पृहणीयता का सूचक है।

जीवन के सामान्य सिद्धान्त अर्थ-सम्पत्ति की दृष्टि से काव्य अथवा साहित्य के गौरव बनते हैं। जीवन मे इनकी व्यापकता और महिमा काव्य को महत्व प्रदान करती है। इनके दूरगामी प्रकाश से मनुष्य का जीवन आलोकित होता है। यह आलोक ही इन सिद्धान्तो का मूल्य है। यही मूल्य इन सिद्धान्तो की विभूति है। इसी से काव्य भी वैभवपूर्ण बनता है। काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओ मे भी सामान्य सिद्धान्तो की व्यजना हो सकती है। किन्तु अन्य कलाओ मे इन सिद्धान्तो का निर्वचन नही हो सकता, उनमें इनकी केवल लाक्षणिक व्यजना सभव है। इस व्यजना की सम्पूर्ण शक्ति इन कलाओ के माध्यम मे नही रहती। मुख्यत ऐन्द्रिक होने के कारण इन कलाओ के माध्यम बौद्धिक सिद्धान्तो को अभिव्यक्त नही कर सकते। बौद्धिक सिद्धान्त सामान्य होते हैं। इन्द्रियाँ विशेष और मूर्त्त इकाइयो का ग्रहण करती हैं। ऐन्द्रिक कलाओ में विशेष का ही अकन किया जाता है। इतना अवश्य है कि इन विशेषो मे सामान्य सिद्धान्तो के सकेत का समवाय सभव है। किन्तु इन सकेतो का प्रतिफलन कला-प्रेमी की बौद्धिक व्याख्या के द्वारा ही होता है। प्राचीन पौराणिक चित्रो और मूर्तियो मे धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्तो का अकन इसी सकेत के रूप मे हुआ है। शिव और शक्ति की मूर्तियो मे यह विशेष अवलोकनीय है। मध्यकालीन कला मे विशेष के अकन की प्रधानता है। इतिहास का अकन करने वाली कला मे यह स्वाभाविक है। आधुनिक चित्रकला मे बौद्धिक तत्व का समवाय अधिक दिखाई देता है। आधुनिक युग म चित्रकला के माध्यम की व्यजना शक्ति भी अधिक विकसित हुई है। फिर भी इन सार्थक चित्रो के तात्पर्य का ग्रहण व्याख्या की अपेक्षा करता है। इसका कारण दृश्य कलाओ के माध्यम एव रूप म व्यजना की प्रधानता तथा अभिधान की न्यूनता है। ग्रहण मे व्याख्या अपेक्षित होते हुए भी इन कलाओ के माध्यम और रूप व्यजना की दृष्टि से काव्य की अपेक्षा अधिक कलात्मक हैं। काव्य म अभिधान की सभावना उसकी विशेषता भी है किन्तु साथ ही उसका दोष भी है। अभिधान अभिव्यक्ति का न्यूनतम रूप है। उसम रूप का अतिशय नही होता। अत अभिधान मे सौन्दर्य की अधिक अभिव्यक्ति सभव नही है। सौन्दर्य की समृद्धि व्यजना मे होती है। पिकासो से प्रेरित आधुनिक चित्रकला की भाति दृश्य कला मे व्यजना का विपुल सौन्दर्य अभिव्यक्त होता है। किन्तु काव्य के माध्यम का मौलिक रूप अभिधान होने के कारण उसमे अभिधान अनिवार्य रहता है। उसमे विपुल व्यजना का योग होने पर ही काव्य में सौन्दर्य प्रकट होता है।

काव्य का माध्यम सार्थक शब्दो की भाषा है। अर्थ का सरल और मूल रूप अभिधेय ही होता है। यह 'अभिधान' तथ्य अथवा सिद्धान्त का निर्वचन है। भाषा की अभिधान-शक्ति सामान्य सिद्धान्तो के बौद्धिक तत्व का काव्य मे ग्रहण सभव बनाती हैं। **काव्य का माध्यम बौद्धिक सत्य की अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल है। इसीलिए काव्यो में बौद्धिक सत्य का समाहार विपुलता से मिलता है। किन्तु दूसरी ओर काव्य का यह गुण उसको कठिनाई तथा उसका दोष भी बन जाता है।** दृश्य कलाओ मे रूप और व्यजना को प्रधानता होने के कारण उनमे सौन्दर्य की अधिक सहज और समृद्ध अभिव्यक्ति होती है। काव्य मे अर्थ-तत्व और अभिधान उसके माध्यम की विशेषता है। ये दोनो ही विशेषतायें स्वरूप से सौन्दर्य के अनुकूल नही है। इसीलिए सभी काव्य इतना सुन्दर नही होता। अन्य कलाओ की सभी कृतिया प्राय सुन्दर होती है। दूसरी ओर अन्य कलाओ के कलाकार सख्या मे कवियो की अपेक्षा (कम से कम भारतवर्ष मे) कम होते है। अन्य कलाओं के व्यजना प्रधान माध्यमो मे कुशलता और कर्तृत्व की कठिनाई इसका कारण है। स्वर के नैसर्गिक माध्यम के कारण साधारण गायको की सख्या कवियो से अधिक हो सकती है। **काव्य के माध्यम की अभिधान-प्रधानता भारतवर्ष में कवियो की बहुलता का एक प्रमुख कारण है।** किन्तु काव्य की यह सुगमता दूसरी ओर उसमे सौन्दर्य के सन्निधान मे कठिनाई उत्पन्न करती है। इसीलिए बहुत कम काव्य सुन्दर बन पाता है। **अभिधेय तत्व और अभिधान का रूप दोनो ही सौन्दर्य का ह्रास करते है।** भाव और व्यजना के वैभव मे इन दोनो का समन्वय होने पर ही काव्य मे सौन्दर्य की समृद्धि होती है। किन्तु एक ओर अभिधेय तत्व और अभिधान के रूप तथा दूसरी ओर भाव और व्यजना के स्वरूप मे भिन्नता होने के कारण यह समन्वय कठिन होता है। 'भाव एक प्रकार से तत्व का अतिशय है और वह रूप के अतिशय को सहज ही प्रेरित करता है। इसीलिए भाव योग से प्रेरित सौन्दर्य ही काव्यो मे अधिक मिलता है। किन्तु बौद्धिक सिद्धान्तो के अभिधेय तत्व के सबध मे सौन्दर्य की सृष्टि कठिन है। जीवन के सिद्धान्तो मे प्राय भाव का सश्लेषण आ जाता है, अत उनके तत्व मे कुछ अतिशय उदित हो जाता है। तत्व का यह *अतिशय ऐसे बौद्धिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति मे भी सौन्दर्य* को सहज रूप मे समवेत करता है। किन्तु बौद्धिक सिद्धान्त अधिक उदासीन सत्यो के द्योतक होते हैं। उनमे तत्व का ऐसा अतिशय भाव योग के अभाव के कारण उदित नही होता।

बौद्धिक सत्य के लिए अपेक्षित निश्चितता और स्पष्टता उसमे रूप के अतिशय के योग को अनुपयुक्त बनाती है। अत नीति के दोहो की भाति प्राय ये सामान्य तत्व काव्य मे अभिधान के रूप मे ही मिलते हैं। इनकी अभिव्यक्ति के रूप में अधिक सौन्दर्य नहीं होता। इनका सौन्दर्य केवल तत्व के आलोक का सौन्दर्य है, तत्व की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य नहीं। भारवि के 'हित मनोहारि च दुर्लभ वच' मे अभिव्यक्ति के रूप का (छन्द के अतिरिक्त) कोई सौन्दर्य नहीं है। 'हितकारी और मनोहारी वचन दुर्लभ हैं' यह जीवन के सामान्य सत्य का अभिधान मात्र है। ऐसे अभिधानो मे तत्व के आलोक का सौन्दर्य अवश्य रहता है। तत्व की गम्भीरता और नवीनता इस सौन्दर्य को और बढाती है। किन्तु छन्द, अलकार आदि के अतिरिक्त तत्व के इन अभिधानो में कलात्मक व्यजना के रूप का सौन्दर्य बहुत कम मिलता है। बौद्धिक तत्वो और सामान्य सिद्धान्तो के काव्य में ग्रहण के सम्बन्ध में उनकी कलात्मक अभिव्यक्ति की कठिनाई गम्भीरता पूर्वक विचारणीय है। इसी कठिनाई के कारण रोबर्ट ब्रिजेज की 'टेस्टामेन्ट ऑव ब्यूटी' तथा दिनकर के 'कुरुक्षेत्र' जैसे काव्य कलात्मक सौन्दर्य मे इतने समृद्ध नहीं हैं, जितने कि वे अर्थ-तत्व से सम्पन्न हैं। 'रामचरितमानस' के वर्षा-वर्णन, शरद् वर्णन आदि मे समाहित जीवन तत्व मे भी छद और अलकार के अतिरिक्त अधिक रूप-सौन्दर्य नहीं मिलता। 'कामायनी' मे भी 'ज्ञान दूर, कुछ क्रिया भिन्न है, इच्छा पूरी क्यो हो मन की' आदि जैसी तात्विक उक्तियो मे व्यजना के रूप का सौन्दर्य अन्य स्थलो की अपेक्षा बहुत कम मिलता है। 'रामचरितमानस' के 'जिमि थोरेहि धन खल बौराई' मे भी तत्व का सरल आलोक अवश्य है, किन्तु रूप का विशेष सौन्दर्य नही है। तात्विक अभिव्यक्ति के रूपो की सीमितता तथा बौद्धिक सत्यों की उदासीनता के अतिरिक्त उनकी अभिधेयता के कारण उनको अभिव्यक्ति मे व्यजना के रूप का समवाय कठिन होता है। इसी कारण तत्व से पूर्ण काव्य प्राय प्रभावशाली तो बन जाता है, किन्तु उसका सुन्दर बनना कठिन होता है। छन्द, अलकार आदि प्राय इस तत्व के आलोक को रगीन बना देते हैं। अन्योक्ति, कथा, रूपक आदि का भी कवियो ने बौद्धिक सिद्धान्तो को सुन्दर बनाने के लिए उपयोग किया है। पात्रो के चरित्र के द्वारा भी सिद्धान्तो की व्यजना की जाती है। किन्तु तत्व के अभिधान के साथ-साथ प्रबन्ध काव्यो मे कथा के अभिधान की कठिनाई आती है। गीता, 'रामचरितमानस', 'कामायनी' आदि मे यत्र तत्र सामान्य बौद्धिक सत्यों मे विपुल कलात्मक सौन्दर्य का समवाय

मिलता है। हिन्दी के दोहो मे भी प्राय नैतिक सत्य की व्यजना सौन्दर्य के साथ समवेत रूप मे हुई है। उर्दू के शेरो में प्राय वक्रोक्ति बौद्धिक सत्य को चमत्कार का सौन्दर्य प्रदान करती है। उमरखैयाम के कुछ प्रसिद्ध छन्दो मे भाव की मार्मिकता के योग से बौद्धिक सत्य मे अद्भुत कलात्मक सौन्दर्य का सामजस्य मिलता है। आधुनिक हिन्दी काव्य मे प्रचलित रुबाइयो मे भी यह सौन्दर्य प्राय दिखाई देता है।

अध्याय २३

नैतिक सत्य और काव्य

बौद्धिक अविरोध, विचार-संगति तथा भावना का सामंजस्य मनुष्य की चेतना के स्वरूपगत सत्य हैं। कल्पना की रचना होते हुए भी काव्य के स्फुट रूप में इस सत्य का निर्वाह आवश्यक हो जाता है। कल्पना भी चेतना का ही धर्म है। वह कलात्मक सृष्टि की शक्ति और प्रक्रिया है। चेतना का धर्म होने के कारण कल्पना चेतना के अन्य धर्मों का उल्लंघन नहीं कर सकती। भाषा और जीवन के व्यवहार में अविरोध और संगति महत्वपूर्ण बन गये हैं। जीवन का व्यवहार स्फुट काव्य का विषय है। भाषा उसका माध्यम है। दोनों के ग्रहण के कारण काव्य में दोनों के धर्म का निर्वाह आवश्यक हो जाता है। फिर भी स्मरण रखना चाहिए कि ये धर्म काव्य के स्वरूपगत लक्षण नहीं हैं, उसके उपलक्षण मात्र हैं। सामंजस्य कला का बाह्य आकार ही है, वह बाह्य रूपों और अङ्गों की योजना का संतुलन है। आन्तरिक अनुभूति अथवा भाव में सामंजस्य का आन्तरिक रूप खोजने पर हम उसे समागमभाव की अभिव्यक्ति के सौन्दर्य से अभिन्न पायेंगे। किन्तु जिस विषय और माध्यम को लेकर कविता की सृष्टि होती है, उसके सिद्धान्तों का निर्वाह इस अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की सफलता के लिए आवश्यक है। अविरोध और संगति का सौन्दर्य से कितना घनिष्ठ संबन्ध है, यह निर्णय करना कठिन है। किन्तु सामंजस्य के साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट है। अविरोध दो बौद्धिक धारणाओं का अनुकूल सम्बन्ध है। अविरोध के आधार पर बौद्धिक धारणाओं की परम्परा का जो अनुकूल क्रम बनता है, उसे संगति कहते हैं। व्यापक विचार-योजनाओं में इस संगति के द्वारा जो संतुलन पैदा होता है, वही सामंजस्य है। अतः यदि अविरोध और संगति सौन्दर्य के साक्षात् कारक न भी हों तो भी ये उसके आरात् उपकारक अवश्य हैं। इनका भावात्मक अनुदान चाहें सौन्दर्य की रचना में कोई योग देता हो अथवा नहीं, किन्तु इनका अभाव सौन्दर्य का घातक अवश्य है। अविरोध और असंगति से भावना के सामंजस्य में जो आघात पहुँचता है, वह सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में विक्षेप का कारण होता है। सौन्दर्य की रक्षा के लिए अविरोध और संगति का अनुशीलन आवश्यक है। सौन्दर्य

के कारक न होते हुए भी ये उसके उपकारक हैं। विरोधाभास, अतिशयोक्ति, असंगति आदि अलंकारों में इनका खण्डन वास्तविक नहीं वरन् एक आभास मात्र होता है। ये विपरीत आभास मूल भाव की संगति में भी सहायक होते हैं, इसीलिए आलंकारिक उपकरण बनकर ये सौन्दर्य के साधन बनते हैं।

तार्किक अविरोध और बौद्धिक संगति बौद्धिक अथवा तार्किक सत्य के सामान्यतम रूप हैं। जीवन के व्यवहार और आचार में भी इन सिद्धान्तों के अनुशीलन का महत्व है। किसी सीमा तक समाज की व्यवस्था इन्हीं पर आश्रित है। भाषा व्यवहार का एक प्रमुख माध्यम है, अतः भाषा के व्यवहार में अविरोध और संगति के बौद्धिक नियम आचार के भी धर्म बन जाते हैं। सत्य वचन की महत्ता का यही मर्म है। जर्मन दार्शनिक काट की भांति कुछ नैतिक विचारक तो तार्किक अविरोध को ही नैतिकता की कसौटी मानते हैं। पूर्णतः सन्तोषजनक न होते हुए भी सभी विचारकों ने इस सिद्धान्त का महत्व माना है। अविरोध और संगति के अतिरिक्त सिद्धान्त का सामान्य और बौद्धिक रूप तो जीवन के सभी क्षेत्रों में आदर पाता है। 'सिद्धान्त' बुद्धि का विधान है, इस अर्थ में जीवन के सभी क्षेत्रों और शास्त्रों में बुद्धि की व्यापकता है। नीति काव्य और सौन्दर्य के शास्त्र भी इस साधारण नियम के अपवाद नहीं हैं।

अविरोध और संगति विचार तथा व्यवहार में बौद्धिक संतोष के साधन हैं। किन्तु नीति के सिद्धान्त जीवन के पथ प्रदर्शक हैं। उनमें यदि प्रेरणा नहीं, तो जीवन के मार्ग का दिग्दर्शन अवश्य मिलता है। जहाँ काव्य केवल अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है, वहाँ विषय और नीति का कोई महत्व नहीं है। किन्तु प्रायः काव्य के स्फुट रूप में, विशेषतः प्राचीन काव्य में, जीवन का व्यवहार और मंगल मुख्य विषय रहा है। इस दृष्टि से शिवम् भी सत्य का एक रूप है। नीति उस शिवम् का निर्देश है। नीति काव्य की लोक प्रियता और अधिकांश काव्य में नीति-तत्व की प्रधानता इस बात का प्रमाण है कि सामान्यतः काव्य में शिवम् को कितना महत्व दिया गया है। यदि यह सत्य भी हो कि कला का स्वरूप केवल सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है, तो भी काव्य के इतिहास में यह परिभाषा अपने पूर्ण और शुद्ध रूप में प्रमाणित नहीं होती। अधिकांश काव्य में सुन्दरम् के साथ-साथ शिवम् की भी प्रधानता है। महाभारत, वाल्मीकि रामायण आदि प्राचीन काव्यों में तो सौन्दर्य की अपेक्षा नीति और मंगल का तत्व ही प्रधान है। आलंकारिक युग

में निःसन्देह सौन्दर्य की प्रधानता रही किन्तु इसी कारण यह काव्य लोक-मन में स्थायी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सका। **रीति-काव्य की निष्फलता और छायावाद के पतन का कारण अभिव्यक्ति के सौन्दर्य का यही एकांगी अनुरोध है। आधुनिक प्रयोगवाद की निष्फलता भी इसी आधार पर निश्चित है। कालिदास, प्रसाद और रवीन्द्रनाथ के काव्य में यद्यपि सौन्दर्य की प्रधानता है, किन्तु सौन्दर्य के साथ-साथ उसमें शिव का भी पर्याप्त समन्वय है। इसी समन्वय के कारण ये हमारे राष्ट्रीय तथा लोक-प्रिय कवि हैं।** फिर भी तुलसीदास की लोक-प्रियता से इनकी कोई तुलना नहीं। लोक-मानस सौन्दर्य की अपेक्षा श्रेय का अभिलाषी अधिक है। वह रूप की अपेक्षा तत्त्व का ग्राहक अधिक है। सौन्दर्य रूप है और शिवम् तत्व है। सौन्दर्य विलास है, किन्तु शिव जीवन की आवश्यकता है। तुलसीदास में भी सुन्दरम् और शिव का पर्याप्त समन्वय है। किन्तु उनके सुन्दरम् की अभिव्यक्ति इतनी ऋजु और पारदर्शी है कि उनके रामचरितमानस में शिव का तत्व ही प्रधान प्रतीत होता है। अभिव्यक्ति की ऋजुता और शिव की प्रधानता के कारण ही 'रामचरितमानस' लोक-मानस के इतना निकट है और इसी कारण वह इतना लोक प्रिय है। यदि भविष्य में किसी समय उसकी लोक-प्रियता कम होगी तो वह पौराणिक, अलौकिक और धार्मिक तत्वों के उस रूप के कारण होगी जो एक युग में मान्य होते हुए भी भविष्य के वैज्ञानिक और समाजवादी युग में मान्य न रहेंगे। **युगानुकूल उपादानों के प्रश्न को छोड़कर शिव और सुन्दरम् का जिस रूप में रामचरितमानस में समन्वय हुआ है वह काव्य का सर्वोत्तम आदर्श है। इस दृष्टि से रामचरितमानस सम्भवतः संसार के साहित्य में अद्वितीय है। कदाचित् ही संसार में कोई ऐसा काव्य होगा जो विद्वानों और साधारण जनता दोनों में समान रूप से इतना आदर पा सका हो।** बाइबिल अथवा शेक्सपियर के प्रचार और उनकी लोक-प्रियता के पीछे अनेक सरकारों और संस्थाओं का संगठित प्रयत्न है। **स्वतंत्र रूप से बिना किसी सरकार के आश्रय और बिना किसी संस्था के प्रयत्न के इतनी लोक-प्रियता और प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला काव्य कदाचित् ही संसार में कोई दूसरा हो।** सौन्दर्य-प्रधान काव्यों की अपेक्षा नीति-प्रधान काव्य (जिन्हें पद्यबद्ध नीति शास्त्र कहना अधिक उचित होगा) अधिक लोक-प्रिय रहे हैं। यह सत्य भी लोक जीवन में सुन्दरम् की अपेक्षा शिव के महत्व का समर्थन करता है। क्रोचे और उनके अनुयायियों का यह सिद्धान्त सत्य भले ही

हो कि अभिव्यक्ति का सौन्दर्य मानस चेतना का आदिम रूप है, किन्तु इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि इस अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के अत्यन्त सरल और सामान्य रूप के सम्बन्ध मे ही यह सिद्धान्त समीचीन है। सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की कलात्मक कुशलताये, जिनका विकास कला और काव्य के इतिहास में हुआ है; व्युत्पन्न कला-प्रेमियो के लिए भले ही रुचिकर हो किन्तु साधारण लोगो के लिए प्रिय नही हो सकती। ये कुशलताये जहाँ एक ओर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति को आकर्षक भगिमाये प्रदान करती हैं तथा कला के रूप को मनोहर बनाती हैं, वहाँ दूसरी ओर तत्व का आच्छादन भी करती हैं। इसी कारण सौन्दर्य-प्रधान काव्यो मे जो कुछ शिव का तत्व है वह भी सौन्दर्य की प्रधानता मे गौण हो गया है। **ज्ञान और कला दोनों की शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार होने पर भी अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की पारदर्शी ऋजुता में सुरक्षित और सुशोभित कला-काव्य ही लोक-मानस की सास्कृतिक निधि रहेंगे।** कालिदास, रवीन्द्रनाथ और प्रसाद लोक-प्रिय न होते हुए भी कलाविदो में गौरव पाते रहेंगे, किन्तु पिकासो और प्रयोगवाद की विचित्रताये अपने अनोखेपन के कारण केवल कुछ कुतुहली मनीषियो की रुचि का विषय रह जायेंगी।

जीवन और सस्कृति मे शिव के इसी महत्व के कारण सत्य नैतिक आचार का एक श्रेष्ठ आदर्श बना। इसी सत्य का पालन करके सूर्यवशी राजा हरिश्चन्द्र अमर कीर्ति भागी हुए। यही सत्य स्वतत्र भारत का मूल मत्र बना (सत्यमेव जयते)। उपनिषदो और नीतियो के आध्यात्मिक आचार मे सत्य का बडा महत्व माना गया है। सत्य के इस नैतिक रूप मे भी उसके तार्किक रूप के सस्कार दिखाई देते हैं। तार्किक सत्य का रूप अविरोध है। नैतिक व्यवहार मे वचन की यथार्थता सत्य का एक प्रमुख रूप है। वचन और व्यवहार की एकता एक श्रेष्ठ गुण मानी जाती है। वेदान्त, योग आदि सभी दर्शनो मे आध्यात्मिक साधना में सत्य का महत्व है। 'सत्यमेव जयते' तो उपनिषद् का ही वचन है। योग दर्शन मे सत्य यमो मे द्वितीय और एक सार्वभौम महाव्रत है। सामान्यत 'सत्य' वचन की यथार्थता का ही पालन समझा जाता है। इस मान्यता का कारण सत्य का तार्किक आधार ही है। सत्य-वचन वस्तुत तार्किक सत्य का ही व्यावहारिक रूप है। यथार्थता और अविरोध दोनो ही इसके अन्तर्गत हैं। शकराचार्य और गान्धीजी के समान कुछ महात्माओ ने इस सत्य को शाब्दिक परिधि से निकालकर इसे वास्तविक नैतिक अर्थ प्रदान करने का

प्रयत्न किया है। सत्य के उस विस्तार का एक रूप तो यह है कि वह केवल वाचिक न होकर मानसिक और कायिक भी है। वचन का अविरोध ही सत्य का सम्पूर्ण रूप नहीं है। वचन के अनुकूल व्यवहार भी अपेक्षित है। किन्तु व्यवहार की यथार्थता आन्तरिक भावना के सहयोग के बिना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त केवल वचन और व्यवहार की सगति से आचार को एक वास्तविक नैतिकता आवश्यक रूप से नहीं मिलती। वचन मे छल सभव है, जैसा कि महाभारत के युद्ध मे धर्मराज युधिष्ठिर के 'अश्वत्थामा हतो' की घटना से विदित होता है। बाइबिल की सैम्सन और डिलाइला की प्रसिद्ध कथा मे सैम्सन के शत्रुओ ने डिलाइला के निर्देश के अनुसार सैम्सन के अग का स्पर्श नही किया किन्तु दूर से ही जलती हुई मशालें उसकी आँखो के पास रखकर उसे अन्धा कर दिया। सत्य वचन के व्यवहार में हमारा अभीष्ट केवल शाब्दिक अथवा तार्किक सगति नहीं है वरन् समाज के नैतिक श्रेय की सुरक्षा है। यह नैतिक श्रेय शब्दो की परिधि मे इतनी पूर्णता के साथ नहीं बाँधा जा सकता कि उसमे छल के लिए अवकाश न हो। तार्किक सगति का आग्रह नैतिक श्रेय की पूर्णत सुरक्षा नही कर सकता। इस सुरक्षा के आधारभूत वचन का पालन करने वाले व्यक्ति की आन्तरिक सद्‌भावना का रूप निश्चित करना कठिन है। किन्तु छल की कुटिलता के विपरीत विचार, वचन और व्यवहार की पारदर्शी ऋजुता छल के कौटिल्य का परिहार करने मे समर्थ है। 'छल' माया और कुटिलता है। इसके विपरीत ऋजुता सत्य है। प्रश्न उपनिषद् के भाष्य मे भगवान् शकराचार्य ने सत्य की परिभाषा मे ऋजुता को ही महत्व दिया है।[१५] सत्य केवल वाचिक वचन और व्यवहार की सगति ही नही है वरन् वह मन, वचन और व्यवहार की अकुटिलता अथवा ऋजुता है (सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यम् वाड्‌मन कायानाम्) विचार, वचन और व्यवहार की पारदर्शी ऋजुता मनुष्य के नैतिक संस्कार की ऐसी स्थिति है जो समस्त श्रेयो की असन्दिग्ध भूमिका बन सकती है।

महात्मा गाँधी ने अहिंसा को सत्य तथा सत्य को प्रेम और ईश्वर का समानार्थक बनाकर सत्य को अत्यन्त व्यापक बना दिया। उनकी इस व्यापक कल्पना मे सामाजिक और नैतिक व्यवहार तथा धार्मिक क्षेत्र के सभी महत्वपूर्ण तत्वो का समाहार हो गया। सभी मनुष्यो के प्रति निरपेक्ष स्नेह और सद्भाव ही उनके अनुसार सत्य है। यही प्रेम का स्वरूप है। यह प्रेम ही सच्ची अहिंसा है। इसी प्रेम को वे ईश्वर मानते हैं। यह प्रेम ही ईश्वर का स्वरूप है। गान्धी जी का

सत्याग्रह एक क्रान्ति होने के साथ-साथ प्रेम की साधना और ईश्वर की आराधना भी है। भक्ति-सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार प्रेम ईश्वर का स्वरूप है।

सत्य के इस रूप में सत्य एक शाब्दिक संगति अथवा तार्किक अविरोध की परिधि से निकलकर जीवन का एक व्यापक लक्ष्य बन जाता है। सत्य के इस रूप में सत्य की श्रेय में परिणति होती है। प्रेम और ईश्वर के रूप में इसे निःश्रेयस भी कह सकते हैं।

तार्किक सत्य और सत्य के इस परम रूप के बीच में जीवन के अनेक नैतिक सिद्धान्त हैं, जो जीवन के व्यापक क्षेत्र की विविध दिशाओं में श्रेय की सुरक्षा और स्थापना करते हैं। इनमें से अनेक सत्य दैनिक व्यवहार की कसौटी पर खरे होकर लोकोक्ति बन गये हैं। नीति के ग्रन्थ तो ऐसे सिद्धान्तों के सग्रह हैं। अन्य काव्यों में भी न्यूनाधिक मात्रा में इन सिद्धान्तों और तत्वों का समावेश होता है। सामान्य और सत्य होने के कारण ये वचन बड़े महत्वपूर्ण सग्रह हैं। किसी स्थल, दृश्य, चरित्र आदि का वर्णन सुन्दर और रमणीय हो सकता है, किन्तु नीति के सामान्य सिद्धान्तों का निर्वचन जीवन का प्रकाश है। उससे हमारी आत्मा को बल और आलोक मिलता है। सुन्दरम् की अपेक्षा शिव को अधिक महत्व देने के कारण सामान्य जनता सौन्दर्य से विहीन नीति काव्यों को भी बड़े आदर से अपनाती है।

इन सामान्य सिद्धान्तों के अनेक रूप हैं। इनमें बहुत से तो व्यवहारिक कुशलताओं के निर्देश हैं। ये कुशलताएँ व्यक्तिगत सुरक्षा और हित से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। गिरधर कविराय की कुण्डलिया तथा स्मृतियों और नीतियों के अनेक निर्देश इसी प्रकार के हैं। बहुत से सिद्धान्त सामाजिक श्रेय का भी संकेत करते हैं। उदारता और उपकार की भावना भी व्यवहार की कुशलता के साथ साथ नीति का विषय बनी। नीति के ये सिद्धान्त निर्वचन और उपदेश के रूपों में विकसित हुए हैं। निर्वचन नैतिक सत्य का उद्घाटन मात्र है, उसमें प्रेरणा नहीं होती। निर्वचन में निर्देश का बीज होने पर सत्य की अवगति ही प्रेरणा बन सकती है। किन्तु उपदेश का प्रयोजन ही प्रेरणा है। उपदेश वैदिक रीति के अनुरूप आदेश के रूप में होता है। वह सिद्धान्त से सूचित कर्म की स्पृहणीयता के साथ-साथ उसके अनुशीलन का आदेश भी होता है। सभ्यता के आरम्भ से ही साधारण जनता में आत्म-गौरव और स्वतन्त्रता की भावना मन्द रहने के कारण

उपदेश की प्रेरणा का महत्व रहा है। नैतिक जीवन म उपदेश और राजनीतिक जीवन मे आदेश एक ही धारा के दो किनारे हैं। आदिम सामन्तवाद से लेकर आधुनिक युग के तथाकथित जनतत्रो तक स्वतत्रता की भावना का अत्यन्त मन्दगति से विकास हुआ है। मनुष्य के अज्ञान का निवारण तो नैतिक और सास्कृतिक सत्य के उद्घाटन मात्र से हो सकता है। उपदेश प्रेरणा होने के साथ साथ एक आग्रह भी है, जो सत्य के ग्रहण और अनुशीलन मे मनुष्य की स्वतत्रता का खण्डन करता है। इसी दोष के कारण उपदेश कभी हितकर नही हुआ।

नैतिक उपदेश के अतिरिक्त नैतिक प्रेरणा का एक और रूप है, जो काव्य के स्वरूप मे सत्य का समन्वय होने पर अधिक प्रभावशाली बन जाता है। काव्य-प्रकाशकार ने काव्य के प्रयोजन का वर्णन करते हुए 'कान्तासम्मिततया-उपदेशयुजे' मे नीति और काव्य के इस समन्वय का सकेत किया है। प्रसाद गुण से युक्त नीति के निर्वचन विशद होने के कारण शिवम् होते हैं। वे हमारी बुद्धि को प्रकाश देते हैं, किन्तु उनके स्वरूप मे प्रेरणा का तत्व नही होता। फिर भी प्रसाद की ऋजुता के कारण तथा उपदेश का आग्रह न होने क कारण प्रेरणा की सभावना को कुण्ठित नही करते। मनुष्य के सकल्प की स्वतत्रता को खण्डित न करना इन प्रसिद्ध निर्वचनो का एक अद्भुत गुण है। अत. ये नैतिक उपदेशो की अपेक्षा प्राय अधिक हितकर और सफल होते हैं। उपदेशो के आदेशो मे प्रेरणा का आग्रह रहता है, किन्तु स्वतत्रता का खडन करने के कारण सामाजिक तथा सास्कृतिक जागरण मे उनकी प्रेरणाये निष्फल रहती है। यह उपदेशो की एक मनोवैज्ञानिक विडम्बना है। आधुनिक युग के भारतीय जागरण मे 'उठो भाइयो नीद को छोड दो' जैसी निष्प्राण विधियाँ कोई प्ररणा नही दे सकी। फ्रांस, रूस, भारतवर्ष आदि सभी देशों की क्रान्तियों में कविता की अपेक्षा गद्य के मार्ग से प्राप्त होने वाले प्रकाश अधिक प्रेरक रहे हैं। उनमे उद्घाटित सिद्धान्तो ने जनता की सुप्त चेतना को जाग्रत किया। कविता के उपदेश आदेश के आग्रह के कारण असफल रहे है।

इस असफलता मे कविता का कोई दोष नही है। वस्तुत ये उपदेश और आदेश कविता नही है, वे केवल पद्य-बद्ध उपदेश हैं। उपदेश की प्रेरणा मे कवित्व का समन्वय न हो सका। 'काव्य-प्रकाश' का 'कान्ता सम्मिततया' उपदेश की सफल प्रेरणा का भून है। कान्ता कविता का सजीव और साकार रूप है।

केवल विलास की दृष्टि से कामिनी के रूप में कविता की कल्पना करते रहना शृंगारी युग के कवियों की एकांगी दृष्टि का फल है; किन्तु कान्ता के सम्पूर्ण रूप में कविता की समग्र विभूति सजीव और साकार हुई है, इसमें कोई सन्देह नहीं। 'कान्ता-सम्मित' की सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी व्यंजना में जो स्फूर्ति है, वही प्रकाशित सत्य में प्रतिबिंबित होकर मनुष्य के जीवन की प्रेरणा बन सकती है। केवल माधुर्य इस प्रेरणा का मूल नहीं है। यह भी उसी शृंगारिक दृष्टिकोण की भूल है। माधुर्य में प्रसाद और ओज का सम्पुट होने पर ही सत्य को प्रेरणा की स्फूर्ति मिलती है। माधुर्य सरसता का संचार करके सत्य को हृद्य बनाता है, किन्तु इसके पूर्व उसकी अभ्रान्त अवगति के लिए प्रसाद की विशदता अपेक्षित है। वास्तविक प्रेरणा का बीज ओज में है। उपदेश और आग्रह के विपरीत आत्म-गौरव और स्वतन्त्रता का सम्मान करके ओज सत्य को स्फूर्ति और प्रेरणा का रूप देता है। इस प्रकार त्रिगुणों की त्रिवेणी के कलात्मक तीर्थ की पुण्य विभूति ही सत्य को वास्तविक प्रेरणा का रूप देती है। हिन्दी काव्यों में तो इसके उदाहरण मिलना कठिन है। कालिदास के 'रघुवंश' की निर्वासिता सीता के सन्देश में तथा भारवि के 'किरातार्जुनीय' की द्रौपदी के युधिष्ठिर के प्रति विदग्ध वचनों में इसके उदाहरण मिल सकते हैं।

काव्य में नीति का ग्रहण दो रूपों में सम्भव है। नीति के ये दो रूप जीवन के प्रति दो प्रकार के दृष्टिकोण पर निर्भर हैं। एक जीवन का यथार्थ-मूलक दृष्टिकोण है जिसे हम प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक कह सकते हैं। दूसरा आदर्शमूलक दृष्टिकोण है जिसे सांस्कृतिक कहना अधिक उचित होगा। प्राकृतिक दृष्टिकोण का आधार मनुष्य का स्वभाव है। स्वभाव एक प्राकृतिक विधान है। उसके नियम सहज और सामान्य होते हैं। मनुष्य जीवन के अनुभव और निरीक्षण द्वारा ज्ञानियों ने स्वभाव के अनेक नियमों का अन्वेषण किया है। सामान्य होने के कारण ये नियम व्यवहार के सूत्र बन सकते हैं। नीति-ग्रन्थों में ऐसे ही सूत्रों का संकलन होता है। व्यावहारिक उपयोगिता के कारण ऐसे नीति-सूत्रों का समावेश उन्हें भी लोक-प्रिय बना देता है। 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता का यह भी एक कारण है कि उसमें ऐसे सरल और उपयोगी नीति-सूत्र प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वर्षा-वर्णन के समान 'रामचरितमानस' के स्थल-स्थल पर जीवन के सामान्य सत्यों का सुन्दर निरूपण हुआ है। भारवि के 'किरातार्जुनीय' में प्राय श्लोक के अन्तिम चरण में नीति के

सूत्र मिलते हैं। कालिदास मे नीति के सूत्र बहुत कम मिलते हैं। प्रधानत सौन्दर्य के कवि होने के कारण नीति के अभिधान मे उनकी अधिक रुचि नही है। बाण मे उनकी प्रचुरता है। महाभारत तो इनका भाण्डार ही है। सौन्दर्य-प्रधान होने के कारण रवीन्द्रनाथ और प्रसाद के काव्य मे भी ये अधिक नही मिलते।

नीति-सूत्रो मे निहित जीवन के सामान्य सत्य हमारे व्यवहार का पथ प्रदर्शन करते हैं। जटिल जीवन की वास्तविकताओ का उद्घाटन करके वे हमे सतर्क और सचेत बनाते हैं। इस प्रकार वे जीवन मे व्यावहारिक कुशलता के साधन बनते हैं। यह कुशलता सफल जीवन की शिक्षा का एक अग है। जीवन के निर्वाह और सचालन मे ये नीति सूत्र बडे सहायक होते हैं। इसी सचालन मे नीति के अभिधान की सार्थकता है। किन्तु निर्वाह और सचालन के अतिरिक्त जीवन का निर्माण और विकास एक महत्वपूर्ण सास्कृतिक लक्ष्य है। यदि कुशलता जीवन की सफलता है तो निर्माण उसकी कृतार्थता है। सास्कृतिक निर्माण चेतना का जागरण और उसकी विभूतियो का विस्तार है। यह सास्कृतिक निर्माण केवल जीवन की स्वाभाविक यथार्थताओ का उद्घाटन नही है वरन् कुछ आध्यात्मिक मूल्यो और आदर्शो का अनुशीलन है। प्रकृति और स्वभाव से इसका कोई आवश्यक विरोध नही है, किन्तु स्वभाव की परिधि म ही यह समाप्त नही हो जाता। प्रकृति और स्वभाव की अनुकूल भूमिका में ही इस सास्कृतिक निर्माण की प्रतिष्ठा होती है। इसके लिए प्रकृति का आदर और सस्कार दोनो अपेक्षित है। प्रकृति के संस्कार के सिद्धान्त और साधन प्राकृतिक यथार्थ और सास्कृतिक आदर्श के सन्धि-सूत्र हैं। लोक-नीति के वचनो के साथ-साथ साधना और सस्कार के सूत्रो तथा सास्कृतिक आदर्शो का निरूपण सास्कृतिक काव्य के रूप को सम्पन्न बनाता है। कुछ चरित्रो के आधार को लेकर सास्कृतिक आदर्श के कुछ एकागी रूपो का समावेश कुछ काव्यो मे अवश्य मिलता है, किन्तु सास्कृतिक आदर्श की पूर्णता और साधनो की सम्पन्नता की दृष्टि कोई भी काव्य अधिक सन्तोष-जनक नही है। वस्तुत सास्कृतिक जीवन का सम्पूर्ण रूप इतना विशाल और अपार है कि किसी भी एक काव्य में उसका समाहार कठिन है। आकार में अपार होते हुए भी महाभारत में भी इसके अनेक अङ्ग छूट गये हैं। भारतीय परम्पराओं में श्रीकृष्ण और शिव के चरित ही ऐसे हैं जो किसी सीमा तक सास्कृतिक पूर्णता के क्षितिजो का स्पर्श करते हैं; किन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि भारतीय साहित्य में इनका समुचित उपयोग नहीं हो सका। कृष्ण काव्य

में शृंगार की अतिरंजना और भक्ति की प्रधानता के कारण अन्य पक्षों की उपेक्षा हुई। कालिदास के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी शिव के चरित को काव्य का विषय नहीं बनाया। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में भी कवि की शृंगार और सौन्दर्य प्रधान रुचि के कारण शिव के चरित्र के सांस्कृतिक पक्षों का समुचित समावेश नहीं हो सका। 'कुमार सम्भव' के अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी और बंगला में कोई भी महत्वपूर्ण शिव-काव्य उपलब्ध नहीं है। आधुनिक युग में 'कृष्णायन' और 'पार्वती' के रूप में श्रीकृष्ण और शिव के चरितों के सांस्कृतिक निरूपण का सर्व प्रथम प्रयास हुआ है।

इन चरितों के अतिरिक्त अन्यथा भी काव्यों में जीवन की व्यवस्थित अथवा विशृंखल किसी भी प्रकार की रचनात्मक योजना प्रस्तुत करने का प्रयास कम ही दिखाई देता है। काम शास्त्र और काव्य शास्त्र के शृंगारिक एवं आलंकारिक प्रभावों के कारण संस्कृत के काव्यों में तो कालिदास, भवभूति और बाण के अतिरिक्त यह प्रवृत्ति बहुत कम देखने में आती है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्य में ऊहात्मक कल्पना के वैभव और अलंकारों के चमत्कार की प्रधानता है। हिन्दी का अधिकांश काव्य भी संस्कृत काव्य के सौन्दर्य, शृंगार और अलंकारों के संस्कारों से प्रभावित है। सूर का 'सूर सागर' शृंगार की भूमि पर लहराता हुआ भक्ति का विशाल और गम्भीर सागर है। रामचरितमानस में शृंगार रहित भक्ति के साथ साथ नीति तत्व की भी प्रचुरता है। उसमें जहां एक ओर लोक स्वभाव के नीति सूत्रों का पर्याप्त कोष संचित है वहां दूसरी ओर व्यक्ति के दृष्टिकोण से समाज का सांस्कृतिक आदर्श भी सम्पन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। शास्त्रीय विधि और भक्ति की श्रद्धा के दृष्टिकोण से इन आदर्शों के अनुशीलन और उनकी साधना के सूत्र भी संक्षेपतः 'रामचरित-मानस' में पर्याप्त हैं। इस दृष्टि से **रामचरितमानस' प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी के इतिहास में एक मात्र सांस्कृतिक काव्य है।** 'रामचरितमानस' की महिमा और उसकी लोकप्रियता का यह एक प्रमुख कारण है।

आधुनिक युग में छायावाद मुख्यतः सौन्दर्य और शृंगार की भावना को लेकर ही विकसित हुआ है। मध्यकाल की भक्ति और श्रद्धा के स्थान पर कल्पना और विस्मय की प्रधानता होने के कारण छायावाद की परिणति रहस्यवाद में हुई। शृंगार और रहस्यात्मक साधना सांस्कृतिक जीवन के अङ्ग अवश्य हैं किन्तु इनमें भी सीमित रहकर कोई भी काव्य सांस्कृतिक निर्माण का मन्दिर नहीं बन सकता। भक्ति और छायावाद दोनों के ही युगों में पराधीनता की विवशता, समाज की हीनता और

सांस्कृतिक परम्पराओं की जर्जरता महत्वपूर्ण सांस्कृतिक काव्य के निर्माण में बाधक बनी हैं। भक्ति युग के तुलसी की भाँति आधुनिक युग के प्रसाद की वर्चस्विनी प्रतिभा के प्रकाश ने ही समय और परिस्थितियों की सीमाओं के ऊपर उठकर देश के सांस्कृतिक जागरण और निर्माण का पथ दिखाया है। अपने महत्वपूर्ण नाटकों में भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग की पीठिका में प्रसाद ने सांस्कृतिक निर्माण का एक भव्य और ओजस्वी चित्र प्रस्तुत किया। अपने 'कामायनी' काव्य में मानवीय इतिहास के एक मौलिक अध्याय तथा मानवीय प्रवृत्तियों के विश्लेषण के आधार पर सांस्कृतिक निर्माण का एक अपूर्व रूप साहित्य को प्रदान किया है। 'कामायनी' के पूर्वार्द्ध में प्रकृति की प्रशस्त भूमिका है। उत्तरार्द्ध के सर्गों में जीवन की सांस्कृतिक गति और साधना का संकेत है। इतना अवश्य है कि 'कामायनी' का प्रस्ताव व्यक्तिगत है। उसकी धारणायें सांस्कृतिक निर्माण की अनेक सामाजिक समस्याओं का स्पर्श और समाधान नहीं करतीं। कामायनी को एक प्रतीकात्मक काव्य मानकर भी उसके आधार पर एक व्यापक और सम्पन्न सांस्कृतिक जीवन का चित्र नहीं बनाया जा सकता। दूसरी बात यह है कि 'कामायनी' का प्राकृतिक पक्ष अधिक प्रबल और प्रभावशाली है। काव्य का आधे से अधिक भाग उसने घेर लिया है। प्रकृति के संस्कार और संस्कृति की साधना के सूत्र 'कामायनी' में बहुत सूक्ष्म और दुर्बल हैं। इसके अतिरिक्त साधना के इन सूत्रों की प्रकृति के साथ पर्याप्त सङ्गति नहीं है। प्रकृति की प्रधानता का कारण तो हमारे समस्त काव्य का शृंगार-प्रधान संस्कार है। इन्हीं संस्कारों की प्रबलता 'कामायनी' के साधना-पक्ष को सफल बनाने में भी बाधक हुई। नारी की सक्रियता कामायनी की विशेषता है। इस दृष्टि से 'कामायनी' 'रामचरितमानस' का प्रतियोगी है, जिसमें राम सक्रिय और सीता निष्क्रिय है। भारतीय परम्परा में एक शिव का ही आख्यान ऐसा है, जिसमें शिव और उमा दोनों की तपस्या में सांस्कृतिक निर्माण की एक संतुलित भूमिका मिलती है। 'पार्वती' महाकाव्य में एक विशाल सामाजिक भूमिका में शिव कथा के इसी सम्पन्न सांस्कृतिक सूत्र का उपयोग किया गया है। प्रकृति की विभूतियों को अंगीकार करके उनके संस्कार की साधना के व्यावहारिक और सामाजिक सिद्धान्तों तथा मार्गों का प्रचुर निर्देश 'पार्वती' में मिलता है। एक सनातन और प्रसिद्ध कथा के आधार पर जीवन के सांस्कृतिक जागरण तथा निर्माण की बहुमुखी और व्यापक योजना का प्रस्ताव 'पार्वती' की विशेषता है।

काव्य का स्वरूप सुन्दरम् है। यह सुन्दरम् अभिव्यक्ति मे प्रस्फुटित होता है। यह अभिव्यक्ति अर्थ का अभिधान नही वरन् आकृति की व्यजना है। अत नीति-तत्व का कविता से समन्वय कहाँ तक सम्भव है, यह विचारणीय है। नीति के पद्य-बद्ध अभिधान और शास्त्र मे अधिक अन्तर नही है। भारतीय स्मृतिया और नीतिया पद्य मे ही हैं, किन्तु वे काव्य नही है। काव्य मे प्राप्त होने वाले नीति-वचनो मे संभवत अवगति का ही आलोक अधिक है। बिहारी जैसे आलकारिक कवियो के नीति-वचनो मे कुछ उक्ति अथवा वक्रोक्ति का सौन्दर्य अवश्य मिलता है। किन्तु नीति का भाव-तत्व अवगति का विषय रहता है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य तक वह नहीं पहुँच पाता। इसीलिए कुछ लोगो का मत है कि नीति और अध्यात्म अभिधेय होने पर सौन्दर्य के विधायक नहीं होते। व्यग्य रूप में ही वे काव्य के उपादान बन सकते हैं। इस व्यजना के तीन रूप हैं। एक तो वह जो बिहारी लाल आदि कवियों की वचन-भगिमा मे मिलता है। किन्तु व्यजना वस्तुत शब्दो की भगिमा मात्र नही है। वह भाव की भगिमा है। इस भगिमा का सौन्दर्य कुसुम और यौवन के अग-सौष्ठव के समान स्वरूप मे निहित होता है। चमत्कार की अपेक्षा इसमे सामजस्य अधिक महत्वपूर्ण है। इस सौष्ठव के सामजस्य मे अन्वित होकर नीति का अभिधेय तत्व सौन्दर्य का व्यजक बनता है तथा कविता के पद को प्राप्त होता है। बाण, भारवि और जयशकर प्रसाद मे नीति की व्यजना का यह रूप मिलता है। नीति की व्यजना का तीसरा रूप कथानक पर आश्रित है। दूसरे रूप मे नीति का तत्व कवित्व मयी व्यजना से युक्त होने पर भी तत्व-दृष्टि से अभिधान के समान ही अपने स्वरूप मे शुद्ध रहता है। यदि समस्त काव्य नीतिमय नही होता तो भी ये तत्व कविता के मार्ग मे तीर्थो के समान पृथक दिखाई देते हैं। कथानक के आधार पर नीति की व्यजना अधिक सूक्ष्म रूप में होती है। कथानक में नीति का तत्व इसी प्रकार ओत-प्रोत रहता है जैसे पुष्प में सुगध अथवा फल में रस। सूक्ष्मता के कारण इसका प्रभाव और सौन्दर्य भी अधिक होता है। नाटको मे नीति की व्यजना का यह रूप सबसे अधिक सुन्दर रूप मे मिलता है। इसीलिए काव्यो की अपेक्षा नाटक अधिक लोकप्रिय और प्रभावशाली होते हैं। नाटक मे कवि के लिए अभिधान का अवकाश नहीं होता। पात्रो के मुख से नीति का अभिधान करने की अपेक्षा चरित्रो के रूप और व्यवहार के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति अधिक उत्तम होती है। उपदेशात्मक नाटको की

असफलता का कारण अभिधान का आधिक्य ही है। 'शाकुन्तला' के सौन्दर्य का एक रहस्य अभिधान-रहित व्यंजना की विपुलता भी है। 'रामचरितमानस' में नीति का अभिधान अधिक है। अलंकार के सान्निध्य के कारण चमत्कार का सौन्दर्य इन अभिधानों में अवश्य है। व्यवहार में इन तत्वों की व्यापक उपयोगिता के कारण ये लोक-प्रिय भी हो गये हैं। किन्तु सांस्कृतिक काव्य का यह सुन्दरतम रूप नहीं है। बाण, भारवि और शेक्सपियर में स्थल-स्थल पर कवित्वमयी व्यंजना मिलती है, जिसमें प्राकृति का अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में समन्वय है। नीति-काव्य का यह रूप बिखरा हुआ ही अधिक मिलता है। जहाँ इसके समग्र रूप का प्रयास हुआ है वहाँ या तो वह रोबर्ट ब्रिजेज के 'टैस्टामेन्ट ऑफ ब्यूटी' की भाँति बौद्धिक हो गया है अथवा जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' की भाँति ऊहात्मक रहा है। आधुनिक गीत और मुक्तक काव्य में इसका एक अभिनव और सुन्दर रूप निखर रहा है। किन्तु इस शैली में रचित कोई सम्पूर्ण और सफल काव्य दृष्टिगोचर नहीं होता। महाकाव्यों में कवि कथा और वर्णन के मोह में पड़ जाते हैं, अतः उनमें तीसरे प्रकार की नीति की व्यंजना का अधिक सफल रूप नहीं मिलता। 'रामचरितमानस' में चरित्रों की व्यंजना कम है; भक्ति और नीति का अभिधान अधिक है। 'कामायनी' और 'पार्वती' में दूसरे और तीसरे प्रकारों की व्यंजना का मिश्रण है। 'कामायनी' में कथानक की सूक्ष्मता और गीतशैली के कारण इन दोनों रूपों का अधिक सुन्दर समन्वय है। 'पार्वती' में नीति-तत्वों के अभिधान और उनकी स्वतन्त्र व्यंजना का आग्रह अधिक है, यद्यपि अनुकूल कथा और चरित्रों से उसका समन्वय करने का यथा शक्ति प्रयत्न किया गया है।

नैतिक सत्य और काव्य के सम्बन्ध के प्रसंग में भी तत्व और रूप के सामंजस्य की वही कठिनाई उपस्थित होती है जो सत्य के तत्व और काव्य के रूप के समन्वय की सामान्य कठिनाई है। शब्द के सार्थक माध्यम के कारण काव्य शुद्ध-रूप की कला नहीं है जैसा कि चित्रकला, संगीत आदि के विषय में सम्भव है। शब्द में समवेत अर्थ काव्य का तत्व है। इस तत्व को हम सीमित अर्थ में 'सत्य' कह सकते हैं। प्राकृतिक सत्य, सामाजिक सत्य, नैतिक सत्य आदि इसके विविध रूप हैं। जड़ तत्व में अपने स्वरूप में समाहित और सीमित रहने की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। जड़ तत्व से मनुष्य का सम्पर्क उत्तरोत्तर अधिक बढ़ता गया है। सभ्यता के इसी विकास के प्रभाव से मनुष्य की तत्वान्वेषिणी बुद्धि भी तत्व के यथार्थ निरूपण में संलग्न रही

है। जड और भौतिक सत्य के प्रसग मे बुद्धि का यह प्रयास विज्ञानो के विकास मे सफल हुआ है। सजीव सत्य के सम्बन्ध मे भी बुद्धि का यह अध्यवसाय बढता गया है। **कदाचित् बुद्धि को इस यथार्थमुखी गति का कारण बुद्धि को मौलिक जड़ता है।** भारतीय दर्शनो मे बुद्धि को जड प्रकृति का परिणाम माना गया है। वर्गसो आदि कुछ पश्चिमी दार्शनिक गतिहीनता के कारण बुद्धि को जड मानते हैं, यद्यपि तत्व के जिस निश्चित निरूपण की ओर बुद्धि का अध्यवसाय रहता है, उसका उन्होने सकेत नही किया है। **विश्लेषण भी एक सजीव समष्टि को निर्जीव इकाइयो में विच्छिन्न कर देता है।** जड होते हुए भी बुद्धि मे चेतना का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, उसी प्रकाश के द्वारा वह विषयो, तत्वो और प्रत्ययो का निर्धारण करती है। किन्तु बुद्धि का यह निर्धारण कैमरे के चित्रो की भाँति जड, गतिहीन और विशिष्ट होता है। प्रत्ययो की सगति के रूप मे बुद्धि के अध्यवसाय मे गति का आभास अवश्य दिखाई देता है, जो बुद्धि के विधानो मे सश्लेष, समग्रता और सजीवता उत्पन्न करता है। यह बुद्धि के अन्तर्गत आत्मिक चेतना की प्रेरणा का फल है। इस प्रकार बुद्धि मे एक प्रकार से चेतना और जडता का सगम है। चेतना के प्रवाह के कारण कला के सौन्दर्य से बुद्धि का समन्वय सभव हो सकता है। **किन्तु बुद्धि की मौलिक जड़ता इस समन्वय की एक प्रमुख बाधा भी है। सौन्दर्य अभिव्यक्ति का रूप है। कला इस रूप की सृष्टि है।** प्राकृतिक रूपो की अभिव्यक्ति मे भौतिक तत्व का ऐसा अपूर्व सहयोग है कि तत्व ने अपने को रूप की विभूति मे विलीन कर दिया है। यह सृष्टि की विधायिनी शक्ति सुन्दरी का अद्भुत चमत्कार है। वनस्पतियो और जीवो की देह मे यह चमत्कार साकार होता है। किन्तु मनुष्य की रचनाओ मे तत्व और रूप का ऐसा समन्वय कठिन है। एक तो उपयोगिता की तत्वमुखी दृष्टि इस समन्वय मे बाधक होती है। दूसरे बुद्धि की तत्व-निर्धारण वृत्ति भी तत्व के अनुरोध के द्वारा इस समन्वय को कठिन बनाती है। तत्व मे अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति बिल्कुल नही होती, ऐसा कहना तो उचित नही है, फिर भी इतना अवश्य है कि जड और बौद्धिक तत्व की वृत्ति अपने स्वरूप के रक्षण और निर्धारण की ओर अधिक होती है। **इस प्रवृत्ति का फल यह होता है कि *अतिशय की ओर तत्व को अभिरुचि* अधिक नहीं होती। जड और बौद्धिक दोनो प्रकार के तत्वों का स्वरूप अतिशय के अनुकूल नहीं है।** तत्व का अतिशय न होने पर रूप के अतिशय के साथ तत्व का समन्वय कठिन हो जाता है। रचना मे रूप का अतिशय होते हुए भी परिच्छेद्य

तत्व की वृत्ति अपने को स्वरूप में सुरक्षित रखने की होती है। तत्व की यह वृत्ति कलात्मक रचना में तत्व और रूप के सामंजस्य की बाधक है। काव्य में तत्व का महत्व अन्य कलाओं से अधिक है तथा काव्य का माध्यम (भाषा) भी अन्य कलाओं के ऐन्द्रिक माध्यमों की तुलना में अधिक बौद्धिक है। दोनों ही कारणों से काव्य में तत्व का समवाय आवश्यक किन्तु कठिन होता है।

वनस्पति प्रकृति के रूपों में तत्व का अनुरोध कम प्रतीत होता है तथा रूप की विभूति कवियों को अधिक आकर्षित करती है। इसीलिए प्रकृति का यह रूप काव्य में अधिक सफलता से समाहित हो सका है। किन्तु प्रकृति के प्रसंग में भी केवल प्रकृति के रूप-सौन्दर्य को काव्य का सौन्दर्य समझना भ्रान्ति है। दोनों का विवेक करना आवश्यक है। केवल प्रकृति के रूप का अभिधान सुन्दर काव्य की रचना नहीं करता। प्रकृति का वह रूप काव्य में तत्व बन जाता है। अभिव्यक्ति के रूप में अतिशय होने पर ही काव्य में उसका सामंजस्य हो सकता है। अभिव्यक्ति के रूप का यह अतिशय प्राय अलंकारों के रूप में अधिक मिलता है। मानवीय भावों का आरोपण करके भी कवियों ने प्रकृति काव्य को सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। मानवीय भावों में तत्व का अतिशय अधिक विपुलता से प्रकट होता है तथा रूप के अतिशय के साथ उसका साम्य अधिक सरलता से सम्भव है। इसी कारण काव्य में भाव की विपुलता मिलती है। सत्य के सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप मानवीय भावों के बहुत निकट आ जाते हैं। बुद्धि के द्वारा सत्य के रूप में ग्राह्य होने के कारण उनमें तत्व की यथार्थता का अनुरोध अवश्य रहता है जो भाव और रूप दोनों के अतिशय के सामंजस्य में बाधक होता है। बौद्धिक और नैतिक सत्य के साथ यह कठिनाई सबसे अधिक है। बौद्धिक सत्य के साथ इस कठिनाई का कारण उसकी भावहीनता, रूप के अतिशय की विरोधिनी तत्व की यथार्थता तथा अभिव्यक्ति के रूपों की अल्पता है। शुद्ध ज्ञान की दृष्टि होने पर बौद्धिक तत्व में उपयोगिता का अनुरोध नहीं होता। उसकी यह निरुपयोगिता निःसन्देह कला के साथ उसके एक सूक्ष्म साम्य का सूत्र है। किन्तु अन्य बाधाओं के कारण इस सूक्ष्म सूत्र का सफल होना कठिन होता है। नैतिक सत्य में बौद्धिक सत्य की उक्त बाधायें बहुत कुछ वर्तमान रहती हैं। इसके साथ साथ उपयोगिता की एक अतिरिक्त बाधा आ जाती है। नैतिक तत्व जीवन में उपयोगी होता है। लोक साधारण के लिए यहीं उसका महत्व है। शुद्ध ज्ञान की भांति अपने आप में मूल्यवान बनने पर नैतिक सत्य

की यह बाधा दूर हो सकती है। ऐसी स्थिति मे नैतिक सत्य धार्मिक सत्य तथा आध्यात्मिक सत्य मे विलीन होने लगता है। नैतिक सत्य जीवन का मानवीय तत्व है। अत उसमे मानवीय भावो के समवाय की सभावना बौद्धिक सत्य की अपेक्षा अधिक रहती है। 'भाव' तत्व का अतिशय है। व्यजना आदि के द्वारा अभिव्यक्ति के रूप का सामजस्य होने पर ही नैतिक काव्य सुन्दर एव सफल बन सकता है। पात्रो और चरित्रो के अवलम्ब के कारण प्रवन्ध काव्य और नाटक मे यह सामजस्य अधिक सरल है। कथा और पात्रो के अभाव मे शुद्ध नैतिक तत्व को सुन्दर काव्य का रूप देना कठिन है। प्राय वह तत्व की महिमा के कारण ही प्रभावशाली और आकर्षक बनता है। तत्व और रूप के साम्य से युक्त नैतिक काव्य दुर्लभ है।

अध्याय २५

धार्मिक सत्य और काव्य

सत्य का एक अन्य रूप धर्म मे मिलता है। धर्म जीवन की एक अलौकिक आस्था है। आदिम काल से मनुष्य लौकिक-जगत से परे एक अतीन्द्रिय सत्ता को मानता और पूजता आया है। इस सत्ता को वह देवता अथवा ईश्वर की सज्ञा देता रहा है। देवताओ के अनेक रूप हैं। ईश्वर की भी अनेक प्रकार से कल्पना की गई है। दोनो की उपासना की अनेक विधियाँ हैं। देवता और ईश्वर दोनो ही अतीन्द्रिय हैं। तर्क द्वारा उनका निषेध करने के प्रयास सफल नही हैं। यह मानते रहे हैं कि देवताओ और ईश्वर का साक्षात्कार अनुभव मे होता है। अनुभव के पूर्व सब इन्हे परम्परा और श्रुति के आधार पर मानते रहते हैं। श्रुति ईश्वर का वचन होने के कारण सत्य मानी जाती है। यो एक प्रकार से श्रुति और ईश्वर का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध दोनो के प्रामाण्य का साधन बन जाता है। श्रुति मे सृष्टि-विज्ञान से लेकर सामाजिक और नैतिक आचार के नियमो तक सभी प्रकार के तत्वो का समावेश मिलता है। श्रद्धालु जन श्रुति के वचनो को शाश्वत, सार्वभौम और अखण्डनीय सत्य मानते रहे हैं। धर्म-निष्ठा की यह मान्यता अन्ध श्रद्धा की चरम सीमा तक पहुँचती रही है और प्राय श्रुति का विरोध करने वालो के प्रति अमानुषिक अत्याचारो तक को पवित्र धार्मिक कृत्य मानती रही है। धर्म के इतिहास की यह एक अत्यन्त अनर्थमयी और अद्भुत विडम्बना है, जिसका समाधान और सशोधन स्वतन्त्रता, समानता और जागरण के आधुनिक युग मे सभी धर्मो को करना है। धर्म की इस विडम्बना के उदाहरण न्यूनाधिक मात्रा मे सभी धर्मो मे खोजे जा सकते हैं। ईसाई पादरी पृथ्वी को अचल मानते थे और सोलहवी शताब्दी मे उसको घूमती हुई बताने वाले वैज्ञानिको के प्राणघात तक को अपना पवित्र धार्मिक कृत्य समझते रहे। कुरान के आदेशो को मानकर इस्लाम धर्म के अनुयायी दूसरे देशो पर आक्रमण करके वहाँ के निवासियो को मृत्यु अथवा धर्म परिवर्तन का विकल्प देकर इस्लाम धर्म की रक्त-रजित विजयपताका फैलाने मे ही अपनी धार्मिक कृतार्थता मानते रहे। भारतीय श्रुतियो मे तो नही किन्तु धर्म-शास्त्रो मे और धर्म के इतिहास मे अछूतो, स्त्रियो

आदि के सम्बन्ध मे अनेक सामाजिक अनर्थों के आधार खोजे जा सकते हैं। धर्म के इन अनर्थों से इतिहास और समाज प्राय अाग ही बचाता रहा है। ज्ञात नही कि वह अज्ञात ईश्वर से डरता है अथवा अपने प्रच्छन्न पापो का प्रत्यक्ष सामना करने से लज्जित होता है। प्राय धर्म के इतिहास और परम्परा मे भक्ति, पूजा, उपासना, अर्चना, आराधना आदि की ही महिमा अधिक है।

ईसाई परम्परा मे पादरियो द्वारा रचित धार्मिक काव्य और वचन बहुत हैं, किन्तु योरोपीय साहित्य का इतिहास उसे कविता की कोटि मे नही गिनता। साहित्य के इतिहास मे धार्मिक कथानको के आधार पर रचित तथा कवित्वमयी व्यजना से युक्त वर्जिल, दान्ते, मिल्टन आदि के जैसे काव्यो को ही स्थान मिला है। सौन्दर्य से रहित उपदेशात्मक भजन साहित्य मे स्थान नही पा सके। इस्लाम धर्म के ईश्वर का रूप और उसकी नैतिक मान्यताये कुछ ऐसी हैं कि उसमे धर्म के साथ कला और काव्य के सयोग का अवकाश बहुत कम है। ईसाई और इस्लाम धर्म दोनो मे ही श्रद्धा की प्रधानता है। 'श्रद्धा' भय, आदर और प्रीति का सम्मिश्रण है। भय की प्रबलता रहने पर प्रीति मन्द और कम्पित रहती हैं, अत वह काव्य को जन्म नही दे सकती। भय कविता की नही किन्तु सेवा की प्रेरणा है। श्रद्धा मे प्रीति की प्रबलता होने पर ही धार्मिक कविता का उदय होता है। इस्लामी परम्परा मे सूफी काव्य इसका प्रमाण है। भारतीय धार्मिक परम्परा मे श्रद्धा की अपेक्षा भक्ति और प्रेम की भावना ही प्रबल है। तुलसीदास जी ने यह अवश्य कहा है कि 'भय बिनु प्रीति न होइ गुसाई' किन्तु उनके इस वचन मे भी भक्ति मे भय की अपेक्षा प्रीति का ही महत्व अधिक दिखाई देता है। भय केवल भक्ति की भूमिका है, प्रीति ही उसका मुख्य स्वरूप है। नारदीय 'भक्ति-सूत्र' के अनुसार वह 'प्रेम स्वरूपा' है।

भारतीय भक्ति-परम्परा मे इस प्रेम का ही प्रभुत्व है। इस प्रेम की निगूढ़ आकाक्षाओ के कारण ही सम्भवत भारतीय धर्म-परम्परा मे ईश्वर की प्रतिष्ठा अत्यन्त सजीव और साकार रूप मे की गई है। चाहे धर्माचार्यों की दृष्टि से भगवान धर्म की सस्थापना के लिए अवतार लेते हो किन्तु वस्तुत भक्तो के प्रेम से विवश होकर ही वे साकार और सदेह रूप मे अवतरित होते रहे हैं। 'प्रेम ते प्रगट होइ भगवाना' भारतीय धर्म और काव्य मे भगवान के अवतार और रूप दोनो

की व्याख्या का समान सूत्र है। **भारतीय धर्म में भक्ति और प्रेम की प्रधानता के कारण काव्य का एक ऐसा रूप उदित हुआ है, जो अन्य देशों के इतिहास में दुर्लभ है।** मध्यकाल के काव्य में तो धर्म और भक्ति की ही प्रधानता है। भक्तों और सन्तों का काव्य उस युग के साहित्य की विभूति है। चाहे मध्य युग के लौकिक जीवन की निराशा इसका कारण रही हो, किन्तु यह सत्य है कि उस युग के काव्य में मानवीय भावनाओं के चित्रण की अपेक्षा ईश्वर की महिमा का गुणगान अधिक है। ईश्वर एक अलौकिक सत्ता है, अतः ईश्वर के गुणगान में अलौकिकता ही अधिक है। ईश्वर की महिमा के साथ साथ श्रुति और धर्म शास्त्रों के अन्य तत्व भी हिन्दी के भक्ति काव्य को प्रभावित करते रहे हैं। पराधीनता और काव्य परम्परा के कारण आधुनिक युग में भी भक्ति का प्रवाह बना रहा, यद्यपि आधुनिक कवियों का दृष्टि-कोण धार्मिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक है। कुछ कवियों ने धार्मिक काव्य का सामाजिक रूप भी प्रस्तुत किया तथा कुछ ने भक्ति और अध्यात्म के प्रतीकों के आधार पर जीवन के रहस्यों का उद्घाटन भी किया। 'प्रियप्रवास' 'साकेत' 'कृष्णायन' और 'पार्वती' राम,कृष्ण और शिव की धार्मिक कथाओं के सामाजिक संस्करण हैं। सुमित्रानन्दन पन्त के 'अशोक वन' और 'पार्वती' में धार्मिक परम्पराओं की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक व्याख्या मिलती है।

प्रश्न यह है कि कविता के साथ धर्म का क्या सम्बन्ध है? कविता में ईश्वर का क्या स्थान है? ईश्वर की भक्ति अथवा उपासना किस रूप में कविता का विषय बन सकती है? श्रुति और धर्मशास्त्र की परम्परायें कविता में कितनी मान्य हैं? उनके सत्य कितने आदरणीय हैं? **इन सभी प्रश्नों का उत्तर धर्म और कविता के स्वरूप तथा उनकी परिभाषा पर निर्भर है।** धर्म मनुष्य की अत्यन्त प्राचीन आस्था है। आज भी ऐसा मानते हैं कि धर्म सदा मनुष्य सभ्यता का आधार रहेगा। दूसरी ओर विज्ञान, व्यापार और राजनीति के बढ़ते हुए प्रभाव से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म अपने प्राचीन रूप में जीवित न रह सकेगा। आज प्रायः सभी धर्म अपने प्राचीन तत्व से शून्य होकर उपचार मात्र शेष रह गये हैं। साम्य-वादी देशों को छोड़कर संसार के अन्य सभी देश एक या अधिक धर्मों को प्रश्रय दे रहे हैं। ईसाई देश साम्यवाद की निरीश्वरता की आलोचना करते हैं। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जिसकी सरकार धर्म-निरपेक्षता को अपना गौरव मानती है, अन्यथा सभी बौद्ध, ईसाई और इस्लामी देश अपने धर्मों को राज-धर्म मानते हैं तथा

धार्मिक परम्पराओं के सरक्षण और प्रचार के लिए विपुल धन व्यय करते हैं। एक ओर जहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि वैज्ञानिक विकास और व्यापारिक सभ्यता धर्म के मूलो को सुखा रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर यह भी दिखाई देता है कि प्रत्येक देश के बडे से बडे विद्वान, वैज्ञानिक और विचारक अपने प्राचीन धर्म मे आस्था रखते हैं और उस पर गर्व करते हैं। इतना ही नही आधुनिक युग के वैज्ञानिक जन अपने धर्म के अलौकिक तत्वो के लिए वैज्ञानिक समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न भी करते हैं। कुमारी मेरी से बिना पुरुष के सहयोग के ईसा के अद्भुत जन्म की अलौकिकता को विज्ञान सगत सिद्ध करने के लिए ईसाई विद्वानो और वैज्ञानिको ने अनेक बार प्रयत्न किए हैं। इससे विदित होता है कि एक आध्यात्मिक तत्व के रूप में ही नहीं, वरन् एक परम्परागत रूढि के रूप में अपनी समस्त अलौकिकताओ के साथ धर्म आधुनिक सभ्यता का अलकार बना रहना चाहता है। किन्तु यह प्रवृत्ति धार्मिक और राजनीतिक साम्राज्यवाद के समर्थक विद्वानो मे ही अधिक देखी जाती है। जो प्राचीन परम्पराओ के दोषो को मुक्त मन से स्वीकार कर नये समाज के निर्माण के पक्षपाती हैं, उनमे धर्म के प्राचीन रूढिवादी रूप का आग्रह नही दिखाई देता है। वे धर्म के मानवीय तत्व के समर्थक हैं और मनुष्यता के रूप मे ही धर्म का अवलब चाहते हैं। धर्म की अलौकिकतायें उन्हे मान्य नही हैं। न वे उनका वैज्ञानिक समर्थन खोजते हैं। यदि प्राचीन धर्म मे कुछ मानवीय और वैज्ञानिक तत्व छिपे हुए हैं, तो उनके उद्घाटन म उन्हे आपत्ति नहीं। दृष्टिकोण से वे उदार और अग्रगामी हैं। जनतत्रीय देशो की जागरित जनता की यही प्रवृत्ति है।

आधुनिक युग में विज्ञान की बौद्धिकता और व्यापार की भौतिकता ने जीवन के सास्कृतिक आधारो को विकम्पित कर दिया है। जीवन की आस्थायें विचलित हो गई हैं, राजनीति के विध्वसक प्रभावो स समाज का सास्कृतिक मन शून्य हो रहा है। व्यापारिक क्रान्ति से उत्पन्न इस राजनीतिक क्रान्ति ने विश्व की जनता को दो दलो मे विभाजित कर दिया है। हम उन्हे क्रमश रूढिवादी और प्रगतिवादी कह सकते हैं। रूढिवादी प्राचीन साम्राज्यवादी परम्पराओ को पकडे हुए हैं। नवयुग क भविष्य को न वे खुली आँख स देखने को तैयार हैं और न मुक्त मन से उसे स्वीकृत करने के लिए उद्यत हैं। धर्म की प्राचीन रूढिया के समर्थन और उपचार उनके आत्म सन्ताप के साधन तथा जनता को अनुयायी बनाने के प्रभावशाली अस्त्र हैं। आधुनिक भौतिकता में धर्म की रूढिवादिता का यह सस्कार आधुनिक युग की

सबसे चमत्कारिक विचित्रता है। साम्राज्यवादी धारणाओं के समर्थक राजनीतिक नेताओं के अधिक प्रभाव में न रहने वाली साधारण जनता को किसी भी रूढ़िगत सम्बन्ध पर आश्रित प्राचीन आस्थाओं से मोह नहीं है। वह ज्ञान और विज्ञान के विस्तृत क्षितिजों के आलोक में अपनी आँखें खोल रही है। एक ओर राजनीति और विज्ञान उसके सांस्कृतिक जीवन के आधारों को विकम्पित कर रहे हैं, किन्तु दूसरी ओर मानवीय सद्भावना की आस्था इस विकम्पन से पैदा होने वाले शून्य में मनुष्य का एक मात्र अवलम्ब बन रही है।

इस जागरित और प्रगतिशील समाज को धर्म के तत्व' से द्वेष नहीं है। धर्म का मानवीय और सांस्कृतिक तत्व तथा इस तत्व के अनुकूल प्राचीन धर्म-परम्पराओं की व्याख्या उसे मान्य है। प्राचीन धर्मों की रूढ़ियाँ अपनी संकीर्णताओं के कारण मनुष्य जाति को विभाजित करती हैं। उग्र आग्रह बनकर ये संकीर्णतायें युद्धों और अत्याचारों की प्रेरक बनी। आज इन्हीं संकीर्णताओं के संस्कार राजनीति का चोला पहनकर उन्हीं ऐतिहासिक अनर्थों के कारण बन रहे हैं। इसके विपरीत प्रगतिशील समाज की मानवीय मान्यतायें विज्ञान और राजनीति की अन्तर्राष्ट्रीयता से पैदा होने वाली एक विश्व की कल्पना को प्राण देने की साधना कर रही हैं। प्रगतिशील और जागरित जनता की इस प्रवृत्ति का फल धर्म का मानवीयकरण हुआ है। ज्ञान की अल्पता, विश्वास की अधिकता और तर्क की दुर्बलता के कारण प्राचीन काल में धर्म के अलौकिक तत्व भी मनुष्य की आस्था के भाजन बने रहे हैं। धर्म के व्यापक विश्वास के कारण भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी वे प्रमुख स्थान पाते रहे। इस अलौकिकता का इतना प्रभाव रहा कि तुलसीदास के समान धार्मिक कवि अलौकिक तत्वों को ही कविता का सर्वश्रेष्ठ उपादान मानते रहे। प्राकृत जन का गुण-गाण और लौकिक जीवन का वर्णन करने पर उनकी सरस्वती अपने दुर्भाग्य पर सिर धुनने लगती है।[१६] भगवान के अलौकिक चरित ही उनके लिए काव्य के सर्वोत्तम विषय हैं। किन्तु अब साहित्य की धारा लौकिकता की ओर अपने तीर्थ बना रही है। आधुनिक युग में ईश्वर और अलौकिकता के प्रति आस्था कम हो रही है। धर्म की अलौकिकता दार्शनिकों को भी मान्य नहीं। वे धर्म की मानवीय व्याख्यायें प्रस्तुत कर रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'मानव-धर्म', डा० राधाकृष्णन् का 'धर्म और समाज', हक्सले का 'आप्त तत्व से रहित धर्म' आदि धर्म के मानवीय संस्करण हैं। समय की गति-

विधि देखते हुए यह स्पष्ट है कि धर्म की अलौकिकता और ईश्वर के चमत्कार का इतना महत्व भविष्य के काव्य मे नही रहेगा, जितना कि भूतकाल मे रहा है। इस दिशा मे आधुनिक काव्य की जो प्रगति हो रही है, उससे लक्षित होता है कि भविष्य मे मनुष्य के धर्म और सस्कृति का वह रूप रह जायेगा जो नये समाज मे आदर के योग्य है।

प्राचीन धर्मो की रूढियाँ और अलौकिकताये अज्ञान और अन्धकार के युग मे मनुष्य का अवलम्ब बन गई थी। **प्रश्न यह है कि धर्म की आस्था और ईश्वर की महिमा अज्ञान, अन्धकार, पराभव और निराशा के समय में ही जीवन का अवलम्ब बनती है अथवा उनमें कोई ऐसा सनातन सत्य है, जो मानव-सस्कृति की चिरन्तन प्रेरणा बन सके।** यदि धर्म अज्ञान पर ही पलता है, तो जाग्रत समाज मे उसकी प्रतिष्ठा सम्भव नही है। यदि धर्म हमारे पराभव मे आत्म सन्तोष का साधन है, तो उत्थान के युग मे वह टिक न सकेगा। विश्वासी और असमर्थ समाज को ही दैवी चमत्कारो मे आशा की मरीचिका दिखाई देती है। विज्ञान के विकास और जन-साधारण के जागरण द्वारा जीवन के ये मरुस्थल मिट रहे हैं। अविश्वास और सामर्थ्य का बोध अलौकिक चमत्कारो के इतिहास का अन्त कर रहा है। जब तक समाज लौकिक तत्वो के सास्कृतिक सौन्दर्य के प्रति जागरूक नही होता, तभी तक अज्ञान की आशा बनकर अलौकिक तत्त्व एव चमत्कार जीवन और साहित्य के सम्बल बने रहते हैं। अतीत के जिन अन्धकारो और आपत्तियो मे धर्म की अलौकिकता ने मानव मन को आश्वासन दिया, उनके मिट जाने पर धर्म का वह अलौकिक रूप मान्यता नही पा सकता। आधुनिक भारतीय समाज और साहित्य मे इसके स्पष्ट सकेत दिखाई देते हैं। सस्कृत और हिन्दी के धार्मिक काव्य मे धर्म और ईश्वर का जिस अलौकिक रूप मे चित्रण किया गया है, वह आज के शिक्षित जागरित और प्रगतिशील समाज मे आदर नही पा रहा है। इसीलिए धार्मिक आचार की यान्त्रिक रूढि में जीवन की कृतार्थता मानने वाले परम्परावादियो के अतिरिक्त अन्य अधिकाश लोग धर्म से उदासीन हो रहे हैं। धार्मिक श्रुति, शास्त्र, कथा, काव्य आदि किसी मे उनकी आस्था नही है। कथा कीर्तन के प्रसग मे भी वे राजनीति और व्यापार की चर्चाओ मे अधिक रुचि रखते हैं। **किन्तु इस अनास्था से उत्पन्न शून्य जीवन में उदासीनता भर रहा है। धर्म का मानवीय और सास्कृतिक तत्व ही इस शून्य की पूर्ति तथा इस उदासीनता में स्फूर्ति का सचार कर सकता है।**

धर्म का वास्तविक तत्त्व अतीन्द्रिय अवश्य है किन्तु अलौकिक नहीं। अध्यात्म धर्म का सार है। मानवीय भावना मे अन्वित होकर वह 'अध्यात्म' कला, काव्य और संस्कृति की विभूति बन सकता है। भारतीय धर्म-परम्परा की अलौकिकता और धार्मिक आचार के आडम्बरो मे भी धर्म का यह आध्यात्मिक तत्त्व सदा स्पष्ट रहा है। यद्यपि ईश्वर की उपासना का बाह्य आचार ही धर्म के रूप मे अधिक विदित है, फिर भी सत्य यह है कि स्मृतियो और धर्मशास्त्रो मे धर्म की जो परिभाषा की गई है, उसमे प्रमुख नैतिक गुणो और मानवीय भावना का ही उल्लेख है। उनमे उपासना और उपचार की चर्चा कही नही है। महाभारत मे 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' को 'धर्म का सर्वस्व' बताया गया है।[१७] याज्ञवल्क्य स्मृति मे योग पूर्वक आत्म दर्शन' को 'परम धर्म' बताया है।[१८] आत्म-दर्शन एकात्मभाव है, अत मानवीय भावना उसका सहज फल है। स्मृतियो मे धर्म के प्रसग मे अहिसा आदि जिन गुणो का उल्लेख है, वे भी मानवीय भावना के द्योतक है। मीमासा दर्शन मे वैदिक कर्म विधियो को धर्म माना गया है। कदाचित् पूर्वमीमासा के प्रभाव के कारण कर्म काण्ड और उपासना का बाह्य उपचार धर्म मे अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। वैशेषिक दर्शन मे 'अभ्युदय और नि श्रेयस के हेतु के रूप मे धर्म की जो एक परिपूर्ण परिभाषा दी गई है, उसका एक सगत रूप मे हमारी धार्मिक परम्परा मे अनुशीलन न हो सका।

फिर भी धार्मिक आचार मे उपचार और आडम्बर की बहुलता रहते हुए भी भारतीय चेतना और साहित्य मे धर्म की मूल मानवीय भावना भी सुरक्षित रही। यद्यपि परम्परागत विश्वास के कारण ईश्वर के अलौकिक रूप और उनके चमत्कारो को भी काव्य मे स्थान मिला, किन्तु दूसरी ओर उनके साथ भावमय मानवीय सम्बन्धो की एक सजीव परम्परा हमारे भक्ति काव्य मे प्रतिष्ठित हुई है। दाम्पत्य, दास्य, सख्य आदि भावो के रूप मे भगवान की भक्ति हमारे भक्ति काव्य का मुख्य विषय है। यह एक दृष्टि से लौकिक प्रतीको के द्वारा ईश्वर की आराधना है। लौकिक प्रतीको के उपयोग से धर्म के अलौकिक रूप और अनुभव का अवगम सहज प्रतीत होता है, किन्तु वह अत्यन्त भ्रान्तिमय है। धर्म अपने अध्यात्म की ऊँचाइयो से लोक जीवन के धरातल पर उतर आता है और अपना गौरव खो बैठता है। यह ठीक है कि ईश्वर की भक्ति और उसकी रहस्यमय अनुभूति लौकिक प्रतीको के द्वारा ही

कविता में व्यक्त की जा सकती है, किन्तु लौकिक प्रतीकों के भाव-संकेत लौकिक जीवन में ही सीमित रह जाते हैं। ईश्वर के अनुभव और साक्षात्कार के अनुरूप स्फुरण जाग्रत करने की सम्भावना उनमें कम रहती है। मनुष्य में अधोमुखी चेतना की सहज प्रवृत्ति होने के कारण धर्म का यह रूप स्वयं पतित होकर साहित्य और समाज के पतन का कारण बनता है। लौकिक प्रतीकों के उपयोग से धर्म, ईश्वर और काव्य किसी का भी हित नहीं हुआ। धर्म भ्रान्त हो गया, ईश्वर अनेक शोचनीय स्थितियों में चित्रित होकर रीतिकाल के कृष्ण की भांति अपमानित हुआ तथा ऐसे धर्म और ईश्वर को विषय बनाकर कविता कलंकित हुई तथा ईश्वर की अलौकिकता वासना के लौकिक उपचारों में आडम्बर का आच्छादन बनी। इस भ्रान्ति में धर्म और लोक दोनों भ्रष्ट हो गये। इसके स्थान पर धर्म के लौकिक भावों का अनुवाद यदि सामाजिक जीवन में किया जाता, तो धर्म अधिक कल्याण कारक सिद्ध होता। किन्तु अलौकिकता के आग्रह के कारण यह न हो सका। उपेक्षित होने के कारण समाज का पतन हुआ। धर्म के आधार में अध्यात्म और मानवीय भावना का समुचित समन्वय न हो सकने के कारण धार्मिक श्रद्धा क्षीण होने लगी। काव्य में राम और कृष्ण के महामानव के रूप में चित्रण अतिरिक्त अधिक उग्र रूप में भी धर्म का खण्डन हुआ। प्रगतिवादी काव्य और पिछले कुछ दशकों की सामाजिक क्रान्ति की कविता में यह विरोध का स्वर अधिक तीव्र हो गया है। इस विरोध का मूल कारण धर्म की असफलता है। इस असफलता का कारण भ्रान्ति है। सामाजिक समस्यायें विषम और दुःसाध्य होने पर ईश्वर की अलौकिक सत्ता और उसके चमत्कार में विश्वास बना रहना कठिन है। जागरण और क्रान्ति के इस युग में सांस्कृतिक मूल्यों की एक सनातन आध्यात्मिक प्रेरणा के रूप में ही धर्म और ईश्वर का निर्वाह हो सकता है। आध्यात्मिक अनुभूति का अलौकिक तत्व अपनी अलौकिकता और अतीन्द्रियता में ही सुरक्षित है। धर्म का मानवीय और सात्विक रूप भी उस तक पहुँचने की सांस्कृतिक भूमिका बन सकता है। कविता में व्यंजना के संकेतों के द्वारा इन आध्यात्मिक अनुभूतियों की कुछ अभिव्यक्ति की जा सकती है। सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, महादेवी आदि के काव्य में इसके उदाहरण मिलते हैं। रामकुमार वर्मा, पन्त, नरेन्द्र आदि छायावादी युग के कवियों की प्रौढ़वय की कुछ रचनाओं में दिव्य अनुभूतियों की मर्मस्पर्शी व्यंजना हुई है।

भक्ति और उपासना का कविता में स्थान धर्म और ईश्वर की स्थिति पर ही निर्भर है। **भक्ति ईश्वर के प्रति मनुष्य का भाव है। उपासना उस भाव की व्यंजना और साधना की चर्या है।** भक्ति की तन्मयता और उपासना की भावमयता अन्य अनुभूतियों के समान ही कविता का विषय बन सकती है। शृंगार और अदभुत रस का भाव बनकर तो उनमें भ्रान्ति की सम्भावनायें पैदा हो जाती हैं, किन्तु शान्त रस का सात्विक भाव बनकर वे हमारी आध्यात्मिक वृत्ति का पोषण कर सकती हैं। भावना कविता की विभूति है अतः उपासना की चर्या की अपेक्षा उसके लिए कविता में अधिक अवकाश है। सामान्यतः ईश्वर के अलौकिक रूप के कारण इस भावना का रूप भी अलौकिक रहा है। किन्तु ईश्वर के वास्तविक स्वरूप और अध्यात्म के तत्व को ठीक ठीक समझ लेने के बाद यह अलौकिकता धर्म और भक्ति का आवश्यक अंग नहीं रह जाती। **यदि ईश्वर सच्चिदानन्द है और वह प्रेमस्वरूप है तो चैतन्य और आनन्द की विभूतियों तथा प्रेम की भावना का जीवन में अनुशीलन ही भक्ति का वास्तविक रूप है। यदि विष्णु लोक के पालक हैं, तो लोक की सेवा और रक्षा ही उनकी सर्वोत्तम सेवा है। यदि शिव विश्व-मंगल के स्वरूप हैं, तो लोक-मंगल की साधना ही शिव की श्रेष्ठ उपासना है।** धर्म की अलौकिकताओं की भ्रान्ति और आडम्बरों के अनर्थ के कारण एक ओर आधुनिक काव्य में धर्म का विरोध और खण्डन हुआ। इस क्रान्ति-गीत का आरम्भिक स्वर बच्चन के मधु-गीतों में सुनाई दिया जिनमें कवि ने यह कहकर कि 'रक्त से सींची गई है राह मंदिर मस्जिदों की' धर्म की ऐतिहासिक परम्पराओं के अनर्थ का उद्घाटन किया। प्रगतिवाद तथा अन्य आधुनिक क्रान्तिवादी कविताओं में सहस्र कंठों से उठकर यह क्रान्ति-गीत आधुनिक कविता का परिचित कोलाहल बन गया है। दूसरी ओर धार्मिक प्रतीकों और परम्पराओं को एक मानवीय और सांस्कृतिक रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न हो रहे हैं। इन प्रयत्नों का उद्देश्य अतीत के साथ नवयुग के भविष्य की संगति स्थापित करना है। इन प्रयत्नों की प्रेरणा इस धारणा में है कि अपने इतिहास से उच्छिन्न होकर कोई भी समाज सांस्कृतिक क्षेत्र में नवीन योजनाओं को मंगलमय बनाने में सफल नहीं हो सकता। पंत का 'अशोक वन' और 'पार्वती' महाकाव्य इसी दिशा के प्रतिनिधि हैं।

काव्य के साथ सत्य के किसी भी रूप का संबन्ध सामान्यतः काव्य के विषय के रूप में ही होता है। किन्तु सूक्ष्म रूप में यह संबन्ध काव्य तथा सत्य के

स्वरूप पर भी निर्भर करता है। दोनो ही प्रकार से काव्य के साथ सत्य का सबन्ध विचारणीय है। साहित्य की आलोचनाओ में काव्य के स्वरूप और सत्य, श्रेय आदि के स्वरूप तथा उनके परस्पर सबन्ध के विषय में प्राय कम विचार किया गया है। अधिकाश आलोचनाओं मे सत्य को तत्व-रूप में काव्य का विषय मान कर तत्व के रूप में ही उसका विवेचन किया गया है। ऐसा विवेचन दर्शन और शास्त्र के क्षेत्र मे तो उचित है, क्योकि उनमे तत्व ही प्रधान होता है तथा अभिव्यक्ति के कलात्मक रूप का अधिक महत्व नही होता। किन्तु काव्य मे केवल तत्व के रूप मे इनका विवचन पर्याप्त नही है। काव्य एक कला है, वह तत्व-शास्त्र नहीं है। उसमें कलात्मक अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की प्रधानता होती है। कला की दृष्टि से यह सौन्दर्य ही उसका स्वरूप है। शब्द क सार्थक माध्यम के कारण तत्व के विविध रूप काव्य के उपादान बन जाते हैं। ये तत्व सत्य के विविध रूप हैं। इनका अपना स्वरूप और महत्व है। किन्तु काव्य में इनका महत्व स्वतत्र रूप में नहीं वरन् काव्य के स्वरूप के साथ समवेत रूप में होता है। अत इस समवेत रूप में ही सत्य अथवा तत्व की मीमासा आलोचना की सही दिशा है। केवल उपादान रूप म ग्रहीत सत्य अथवा तत्व आलोचना मे प्रमुख होने पर अपने स्वतन्त्र महत्व के द्वारा काव्य के कलात्मक सौन्दय के महत्व को कम कर देता है और काव्य की समग्रता एव पूर्णता को भग कर दता है। स्वतत्र रूप में तत्व को महत्व देना काव्य की आलोचना नही वरन् उसकी उपेक्षा है। सत्य के अनेक रूप हैं। काव्य के साथ समवाय के प्रसग मे इन सब रूपो की स्थिति समान नही है। अत काव्य के साथ सत्य के सम्बन्ध के सामान्य विवेचन के साथ साथ सत्य के विविध रूपो की स्वरूपगत भिन्नता के आधार पर उनका पृथक विवेचन भी आवश्यक है।

इस प्रसग मे धार्मिक सत्य की स्थिति एक विशेष महत्व रखती है। धर्म के स्वरूप को समझने की चेष्टा मनुष्य की बुद्धि करती है यद्यपि धर्म पूर्णत एव मुख्यत बुद्धि का विषय नही है। धर्म का मर्म भाव और साधना मे मिल सकता है। किसी सीमा तक बौद्धिक जिज्ञासा का विषय होने के अर्थ मे भी धर्म को 'सत्य' कहा जाता है। किन्तु वस्तुत जीवन की गभीर और व्यापक आकाक्षाओ का लक्ष्य होने के अर्थ मे धर्म अधिक सत्य है। आराधना के रूप मे सक्रिय होने के कारण सत्य के अन्य बौद्धिक रूपो की अपेक्षा धर्म सत्य का अधिक सजीव रूप

है। सक्रिय और सजीव होने के कारण धर्म का स्वरूप काव्य के अधिक अनुकूल है। धर्म में भाव की प्रचुरता इस अनुकूलता को और बढ़ाती है। 'भाव' तत्व का अतिशय है। तत्व का अतिशय रूप के अतिशय का सहयोगी बनकर काव्य में तत्व और रूप सौन्दर्य के सामञ्जस्य को सम्भव बनाता है। इसीलिए प्राकृतिक, नैतिक आदि सत्यों के साथ प्राय कवियों ने भाव का संयोग करके उन्हें काव्य में समञ्जसित किया है। किन्तु सत्य के इन रूपों में भाव का यह योग एक बाहरी आरोपण हो सकता है। धर्म की स्थिति ऐसी नहीं है। 'भाव' धर्म के स्वरूप का अन्तर्तम मर्म है। अत काव्य के रूप के साथ उसकी सहज संगति सम्भव है। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय साहित्य को छोड़कर संसार की किसी भाषा और किसी देश के साहित्य में धार्मिक काव्य का आदर पूर्ण स्थान नहीं है। इसका यही कारण हो सकता है कि इन देशों और भाषाओं में धार्मिक काव्य का जो रूप मिलता है, उसमें धार्मिक तत्व के साथ काव्य के सौन्दर्य का समुचित समवाय नहीं हो सका है। इसका आगे समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि कदाचित् इन देशों और भाषाओं के धर्मानुरागियों में अधिक काव्य प्रतिभा नहीं थी तथा कवियों में धार्मिक भावना इतनी प्रबल नहीं थी कि वह उत्तम धार्मिक काव्य की प्रेरणा दे सकती। इसका एक तीसरा कारण इन धर्मों के रूढ़िवादी स्वरूप में भी मिल सकता है। इन धर्मों की परम्परा में मूल धार्मिक ग्रन्थ और धर्म के आदि प्रवर्तक पैगम्बर के प्रति इतनी कठोर आस्था है कि इसकी छाया में काव्य और कला का पनपना कठिन है। कला चेतना की स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति है। धर्म की रूढ़िवादिता उसकी स्वतन्त्रता को कम करती है। इस्लाम धर्म में तो कला एक प्रकार से वर्जित है। ईसाई धर्म में कला का निषेध नहीं है फिर भी रूढ़ि के प्रभाव के कारण श्रेष्ठ धार्मिक काव्य की रचना उक्त कारणों से नहीं हो सकी। मिल्टन के काव्य में विषय की दृष्टि से बाइबिल का विपुल आधार है किन्तु उसमें धर्म की उत्तम और मृदुल भावना नहीं है। ईसा के बलिदान पर आश्रित भी कदाचित् कोई काव्य पश्चिमी भाषाओं में नहीं मिलता। ईसाई धर्म-परम्परा में चित्रकला के कुछ श्रेष्ठ नमूने अवश्य मिलते हैं। लियोनार्डो द विन्ची के 'ईसा का अन्तिम भोज', 'मोना लीसा' आदि चित्र इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। चित्रकला के इन अपवादों का कारण इन कलाकारों में उत्कृष्ट कौशल के साथ साथ धार्मिक भाव की प्रबलता में मिल सकता है। किन्तु काव्य में ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं। चित्रकला में इन अपवादों तथा काव्य

में इनके अभाव का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मों के मूल ग्रन्थ भाषा के माध्यम में रचित होने के कारण साहित्य पर उनकी रूढिवादिता का प्रभाव सबसे अधिक हुआ। इस प्रभाव से यह रूढिवादिता काव्य में उत्कृष्ट धार्मिक रचनाओं की अर्गला बनी है। किसी अश मे कवित्वहीनता इन धर्म ग्रन्थो मे भी पाई जाती है। गेय होते हुए भी इन धर्म-ग्रन्थो के रूप और भाव म इतना अधिक कवित्व नही है जितना कि वैदिक धर्म परम्परा म मिलता है। इन धर्म-ग्रन्थो में शासन विधि की प्रधानता है। इनमे धर्म के अनुयायियो के लिए विहित आदेश, उपदेश और नियम अधिक हैं। भारतीय परम्परा में इनकी तुलना वेद से नहीं वरन् धर्म-शास्त्रो से की जा सकती है। भारतीय धर्म शास्त्रो के समान इन्ह भी काव्य की कोटि मे नही गिना जा सकता। किन्तु भारतीय धर्म-शास्त्र मौलिक धर्म ग्रन्थ नही हैं। वे वेद के सहायक ग्रन्थ हैं। वेद मे भी आगे चलकर विधि का आरोपण किया गया किन्तु यह विधि वेद का सर्वस्व नही है। दूसरे यह विधि धर्म और साधना के स्वतत्र उद्योग की प्रेरणा मात्र है। अन्य धर्मो के मूलग्रन्थो की भाति लौकिक सामाजिक, आर्थिक आदि क्षेत्रो मे शासन के नियम इस विधि मे नही हैं। व्याकरण के मत में विधि का प्रयोग निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न प्रार्थना आदि अनेक अर्थो में होता है, केवल आदेश अथवा शासन के अर्थ में नहीं। इसके अतिरिक्त वेदो में जीवन के चित्रण के रूप में सुन्दर और सगीतमय काव्य बहुत है। वस्तुत यही काव्य वेदो में प्रधान है। वेदो में 'विधि' की प्रधानता नहीं है। वेदो का यह काव्य सर्वोत्तम काव्य का उदाहरण है। इसमें जीवन कला और सस्कृति का पूर्णतम समवाय है। वेदो के मन्त्र किसी एक पैगम्बर के आदेश नहीं वरन् स्वतन्त्रता और समात्मभाव से परिप्लुत जन-समाज की आत्मा के उदात्त स्वर है। वेदो के इसी स्वतन्त्र और भावमय काव्य का प्रकाश ही परवर्ती धार्मिक काव्य की मौलिक प्रेरणा रहा है।

श्रेष्ठ और सुन्दर धार्मिक काव्य भारतीय साहित्य की एक मौलिक और महती विशेषता है। भारतीय साहित्य में धार्मिक काव्य इतने विपुल परिमाण में मिलता है जितना कि कदाचित् ससार की अन्य किसी भाषा के साहित्य में नही मिलता। मध्यकाल का हिन्दी काव्य तो प्रधानत धार्मिक है। इस कारण साहित्य के इस युग को ही 'भक्ति युग' कहा जाता है। इस युग क भक्त कवि सूर और तुलसी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। मीरा की मन्दाकिनी भी भक्ति के मधुर मार्ग मे ही प्रवाहित हुई है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक सत कवियो तथा कृष्ण परम्परा के

अनेक कवियो का काव्य भी धार्मिक कोटि मे ही है। आधुनिक काव्य मे 'निराला' और महादेवी के अनेक गीतो मे भक्ति की भाव-प्रवणता है। सस्कृत काव्य म हिन्दी काव्य के समान धर्म और भक्ति की भावना की प्रधानता तो नही है, फिर भी सस्कृत साहित्य मे भी धार्मिक भावना से ओत प्रोत और भक्ति-प्रवण काव्य प्रचुर परिमाण मे मिलता है। तुलसी के काव्य के समान सम्पूर्ण रूप मे भक्ति-प्रवण तो कदाचित् कोई महाकाव्य सस्कृत मे नही है, किन्तु प्रसिद्ध महाकाव्यो मे भी धार्मिक आस्था और भक्ति की भावना का पर्याप्त प्रभाव है। 'कुमार सभव' मे शृगार के सौन्दर्य के साथ साथ शिव के प्रति कालिदास की श्रद्धा भी साकार हुई है। 'रघुवश' और 'मेघदूत' मे भी अनेक स्थानो पर भक्ति की छाया मिलती है। 'रघुवश' का मगलाचरण ही भक्ति काव्य का उत्तम उदाहरण है। जिस सहज गभीर भाव से कालिदास ने पार्वती-परमेश्वर की वन्दना की है वह भक्ति का सर्वोत्तम रूप है। वस्तुतः इस मगलाचरण में भक्ति और काव्य दोनो के उत्तम रूप साकार एव समवेत हुए है। इस मगलाचरण में पार्वती और परमेश्वर के समान तथा वाक् और अर्थ के समान भक्ति एव काव्य भी परस्पर अभिन्न साम्य में सम्पृक्त है। इसके अतिरिक्त रघुवश के 'असौ महाकालनिकेतनस्य', 'रामाभिधानो हरिरित्युवाच' 'भस्मागरागा-तनुरीश्वरस्य' तथा मेघदूत के 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' 'मैथलीवोन्मुखी सा' आदि अनेक स्थलो में कालिदास के काव्याकाश मे भक्ति के ज्योतिर्मय नक्षत्र बिखरे हुए है। भारवि का 'किरातार्जुनीय' शिव चरित पर आधारित है और उसमे शिव के प्रति कवि की श्रद्धा काव्य के शब्दो मे अर्थ गरिमा के समान व्याप्त है। माघ का 'शिशुपाल वध' कृष्ण चरित की महिमा का काव्य है। पाण्डित्य और प्रतिभा के साथ अलक्ष्य रूप से प्रवाहित भक्ति की सरस्वती माघ के काव्य में कालिदास की उपमा, दण्डी के पद लालित्य और भारवि के अर्थ-गौरव की त्रिवेणी की भाँति पाण्डित्य, प्रतिभा और भक्ति की त्रिवेणी की रचना करती है। सस्कृत साहित्य के इन प्रधान काव्यो के अतिरिक्त अन्य ऐसी अनेक काव्य कृतियाँ है जो भक्ति की भावना से परिप्लुत हैं तथा कला की दृष्टि से श्रेष्ठ काव्य के अन्तर्गत गिनी जा सकती हैं। जयदेव का 'गीत गोविन्द' तो भक्ति के मधुर काव्य का सर्वोत्तम उदाहरण है। इसके अतिरिक्त जगद्धर भट्ट की 'स्तुति कुसमाजलि', शकराचार्य की 'सौन्दर्य-लहरी', पडितराज जगन्नाथ की 'गगालहरी', आदि अनेक भक्ति-प्रवण काव्य सस्कृत साहित्य मे मिलते हैं और वे साहित्य के इतिहास म अपना प्रतिष्ठित स्थान रखते है। सस्कृत

वे जो साहित्यकार मुख्य रूप से भक्त अथवा कवि नहीं है उनकी रचनाओं में भी मगलाचरण के रूप मे भक्ति काव्य के उत्तम उदाहरण मिलते हैं। न्याय-वैशेषिक जैसे शुद्ध बौद्धिक एव तार्किक दर्शन के ग्रन्थो म भी शकर मिश्र के 'उपस्कार' के निम्न मगलाचरण—

ऊर्ध्वबद्धजटाजूटनोडत्रीडत्सुरापगम् ।
नमामि यामिनीकान्तकान्तभालस्थल हरम् ॥

तथा तर्क सग्रह' के निम्न मगलाचरण—

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नम ससारमहीरुहस्य बीजाय ॥

के समान भक्ति प्रवण श्लोक मिलते हैं। ये भावपूर्ण मगलाचरण सस्कृत साहित्य के अपवाद नहीं वरन् नियम हैं तथा सभी शास्त्रो के ग्रन्थो के आरम्भ में पाये जाते हैं। मगलाचरण और भक्ति-प्रवण रचनाओं की प्रथा अर्वाचीन तथा समकालीन सस्कृत साहित्य मे भी प्रचलित हैं। ये मङ्गलाचरण भी सस्कृत साहित्याकाश मे जगमगाते हुए भक्ति की आभा से ज्योतिष्मान नक्षत्रो के समान हैं। काव्य मे भक्ति के इन उदाहरणो और प्रमाणो के अतिरिक्त पुराणो आदि मे पूर्ण रूप से भक्ति-प्रवण काव्य भी बहुत परिमाण मे मिलता है। श्रीमद्भागवत विद्वानो की निकषमणि ही नहीं वरन् भक्ति की चिन्तामणि भी है। इनके अतिरिक्त अर्वाचीन भक्त कवियो की अनेक उत्कृष्ट रचनाय सस्कृत साहित्य में मिलती है।

हिन्दी और सस्कृत साहित्य में भक्ति की यह विपुलता भारतीय काव्य की एकागी प्रवृत्ति नहीं है। अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य में भी इस परम्परा की धारायें प्रवाहित हुई हैं। बगला काव्य म कृत्तिवास की 'रामायण' और चडीदास के पद वही स्थान रखत हैं जो हिन्दी काव्य म रामचरितमानस' और सूरदास के पद रखते हैं। अष्टछाप के कवियो की भाति चण्डीदास के अतिरिक्त अनेक भक्त कवि मध्यकालीन बगला काव्य को गौरवान्वित बनाते हैं। अर्वाचीन बगला काव्य मे मधुसूदन दत्त पर तो यूरोपीय काव्य का प्रभाव है किन्तु रवीन्द्रनाथ के काव्य मे भक्ति काव्य की अन्तर्ध्वनि सुनाई देती है। तामिल कवि कबन की 'रामायण' दक्षिण का रामचरितमानस है। इसके अतिरिक्त आडवारो के भक्ति गीतो से

लेकर अर्वाचीन कवि सुब्रह्मण्यम् 'भारती' तक के काव्य में धार्मिक विषय और भक्ति की भावना का विपुल प्रवाह मिलता है। मराठी भाषा के काव्य में तो हिन्दी काव्य की भाँति ही भक्ति की प्रचुरता है। एकनाथ की 'रामायण' रामदास का 'दासबोध' तुकाराम के 'अभंग' और ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' मराठी भक्ति काव्य के दिव्य प्रसाद के चतुःस्तम्भ हैं। इनके अतिरिक्त मध्यकालीन हिन्दी काव्य की भाँति मध्यकालीन मराठी काव्य में भी भक्ति काव्य की अनेक रचनायें मिलती हैं। मध्यकालीन हिन्दी और मराठी काव्य की भाँति गुजराती काव्य में भी भक्ति की प्रधानता है। हिन्दी अथवा राजस्थानी की मीराबाई गुजराती काव्य की भी अनन्य विभूति मानी जाती हैं। नरसी मेहता तथा गुजराती भक्त कवियों की मधुर रचनायें सूरदास और चंडीदास के पदों के समान ही भक्ति के रस से आप्लावित हैं।

इस प्रकार भारतीय काव्य में भक्ति काव्य की इतनी प्रचुरता है जितनी की अन्य किसी देश के काव्य में मिलना कठिन है। भारतीय साहित्य का यह भक्ति-काव्य धार्मिक काव्य ही है। भक्ति धर्म का सर्वस्व नहीं है; फिर भी वह धर्म का मर्म अवश्य है। धार्मिक आस्था में काव्य के सौन्दर्य का समन्वय होने पर भक्ति-काव्य की सृष्टि होती है। किसी रूप में धर्म का प्रभाव अन्य देशों तथा समाजों में भी है, वरन् उनमें धर्म का आग्रह भारतवर्ष से अधिक है किन्तु धर्म में काव्य के सौन्दर्य का ऐसा समन्वय वहाँ नहीं मिलता जैसा कि भारतवर्ष में मिलता है। इसीलिए भारतवर्ष के जैसा भक्ति काव्य भी अन्यत्र दुर्लभ है। यह ध्यान देने योग्य है कि दूसरे देशों में और उनकी भाषाओं में जो कुछ धार्मिक रचनायें मिलती हैं उनकी साहित्य के अन्तर्गत गणना नहीं की जाती और न उन्हें साहित्यिक आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसका कारण यही है कि इन रचनाओं की धार्मिक भावना में कलात्मक सौन्दर्य का पर्याप्त समन्वय नहीं है। अन्य देशों और भाषाओं की परम्परा में यह समन्वय सम्भव न होने का कारण उनके धर्मों की रूढ़िवादिता है। धर्मग्रन्थों से अधिक इन धर्मों की प्रचार पद्धतियों की रूढ़िवादिता इस समन्वय का मार्ग अवरुद्ध कर देती है। इसके विपरीत भारतवर्ष की समस्त भाषाओं के धार्मिक काव्य की गणना श्रेष्ठतम साहित्य के अन्तर्गत की जाती है। भारतीय भाषाओं के इस विपुल धार्मिक काव्य का आदि स्रोत वेद मन्त्रों के उदार और उदात्त काव्य के उन्नत हिमालय में है। भारतीय धर्म परम्परा में स्वतन्त्रता और अनेक रूपता की प्रेरणा एक ओर कलात्मक सौन्दर्य का मर्म है तथा दूसरी ओर वह धार्मिक काव्यों के

मुक्त प्रवाहो का अजस्र वेग है। स्वतन्त्रता और उससे प्रसूत अनेक रूपता के मौलिक वैदिक वरदान ने भारतीय परम्परा में धर्म में कला के समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया है। कला सृजनात्मक है और स्वतन्त्रता उसका आदि स्रोत है। सृजनात्मक स्वतन्त्रता से कलात्मक सौन्दर्य धर्म के तत्वो और रूपो में अन्वित होता है। भारतीय धर्म सम्प्रदायो के रूपों में कलात्मक सौन्दर्य का यह अन्वय धर्म को कलात्मक बनाता है। धर्म की कलात्मकला भारतीय परम्परा की एक विशेषता है। भारतीय भाषाओं में उत्तम धार्मिक काव्य की प्रचुरता इसी परम्परा का एक अंश है। भारतीय धर्म-सम्प्रदायो के इस कलात्मक रूप में आचार और उपासना के तत्व भी सौन्दर्य से समन्वित हो गये है। नृत्य, सगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, काव्य आदि विविध कलाओं के रूप का सौन्दर्य धर्म मे समवेत हुआ है। धर्म में भाव की इतनी विपुलता है कि तत्व का अतिशय सहज हो व्यजना के सौन्दर्य की प्रेरणा बन जाता है। भाव (तत्व) का अतिशय कलात्मक रूप के अतिशय मे अन्वित होकर धर्म और कला के समन्वय को सम्पन्न बनाता है। भावो मे अभिव्यक्ति की अधिक नवित होने के कारण भारतीय परम्परा मे धार्मिक काव्य विपुलता से मिलता है। धार्मिक श्रद्धा की अलौकिकता में कुछ लौकिक रूपो का ऐसा अद्भुत सगम हुआ है कि इससे धर्म का रूप कलात्मक होने के साथ साथ अधिक सजीव रूप में मानवीय बन गया है। भारतीय धर्म परम्परा का अवतारवाद इस मानवीयता का सूत्र है। वात्सल्य और सख्य के योग से राम और कृष्ण के अवतार भारतीय धर्म की कलात्मक मानवीयता के अधिक समर्थ अवलब रहे हैं। धार्मिक काव्य मे उक्त भाव विपुलता से मिलते हैं। यह भाव मध्यकालीन बगला और हिन्दी काव्य की विशेष विभूति है। कदाचित इन भावो का अवकाश न होने के कारण शिव धार्मिक काव्य के प्रिय अवलब न बन सके। शिव का कलात्मक और तपोमय जीवन भक्ति का उदात्त आदर्श है, फिर भी माधुर्य के अनुराग के कारण राम और उनसे भी बढ कर कृष्ण के चरित ने भक्तों और कवियो को अधिक प्रेरित किया।

अध्याय २५

आध्यात्मिक सत्य और काव्य

प्राकृतिक सत्य से लेकर धार्मिक सत्य तक के ये सभी रूप एक दृष्टि से आंशिक सत्य माने जाते हैं। ये सत्य के विविध पक्ष हैं, उसके सम्पूर्ण रूप नहीं। दर्शन का तत्त्व शास्त्र सत्य का पूर्ण और अन्तिम रूप निर्धारित करने का दावा करता है। वह इसे परम सत्य अथवा निरपेक्ष सत्य का नाम देता है। वेदान्तो मे उसको 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' भी पूर्ण है। उपनिषदो के शान्तिपाठ मे उसे 'पूर्ण' (पूर्णमिद) कहा गया है। इस पूर्ण सत्य का निर्धारण दर्शन का उद्देश्य माना जाता है। इस पूर्ण सत्य की कोई सर्वमान्य कल्पना तो किसी दर्शन मे नही मिलती, किन्तु उसका सबसे अधिक-मानवीय रूप वह है, जिसमे सत्य के समस्त कल्पनीय रूपो का एक व्यापक परि-कल्पना मे समाहार करने का प्रयत्न किया जाता है। वेदान्त का 'ब्रह्म' और पश्चिमी अध्यात्म शास्त्र का 'निरपेक्ष सत्य' ऐसी ही परिकल्पनाये हैं। एक विरोध-मुखी और प्रगतिशील तर्क-प्रणाली से चलकर जर्मन दार्शनिक हीगल सत्य के ऐसे स्वरूप की परिकल्पना तक पहुँचा, जिसमे समस्त सापेक्ष प्रत्ययों का समाहार हुआ। ब्रैडले ने इस बौद्धिक सत्य मे अनुभूति का समन्वय कर समस्त प्रतीतियो के लिए उस पूर्ण सत्य की व्यवस्था मे स्थान बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु वस्तुत वह पूर्ण सत्य एक ओर हमारी कल्पना से अग्राह्य रहा तथा दूसरी ओर अपनी निरपेक्ष सार्वभौमता के कारण उसमे व्यक्ति के गौरव और जीवन की आकाक्षाओ के लिए उचित स्थान न बन सका। परम सत्य की कल्पना तक पहुँचते पहुँचते व्यक्तित्व और जीवन का विलय हो जाता है।

वेदान्त के ब्रह्म की कथा भी कुछ ऐसी ही है। वह भी तुरीय और तर्क से अतीत है। पश्चिमी पूर्ण सत्य की भाँति ब्रह्म भी अखिल और सर्वव्यापक है। **किन्तु पूर्वीय और पश्चिमी अध्यात्मवादो के दृष्टिकोण में एक मौलिक भेद है।** पश्चिमी अध्यात्मवाद का आधुनिक स्रोत हीगल के तर्कवाद मे है। तर्क प्रणाली के द्वारा ही हीगल ने चरम सत्य का एक पूर्ण बौद्धिक व्यवस्था के रूप मे प्रतिपादन किया। यद्यपि ब्रैडले ने इसके बौद्धिक रूप मे अनुभूति का समन्वय करके उसे अधिक

पूर्ण और सन्तोषजनक बनाने का प्रयत्न किया, फिर भी इस सम्प्रदाय मे तर्क का मौलिक आग्रह था। इसलिए इसमें अन्त तक सत्य का रूप बौद्धिक ही बना रहा और तर्क के साथ अनुभूति के समन्वय को कठिनाई बनी रही। ब्रैडले ने तर्क की आत्महत्या का प्रस्ताव रखकर इस कठिनाई को हल किया। किन्तु इससे पश्चिमी अध्यात्मवाद की समस्त बौद्धिक साधना निष्फल हो गई। बुद्धिवाद के चरम सत्य की व्यवस्था मे व्यक्ति का कोई स्थान न रहने के कारण अनुभूति का आधार ही उच्छिन्न हो गया। भारतीय वेदान्त का आरम्भ ही अनुभूति के सिद्धान्त से हुआ है। सत्य के स्वरूप के उद्घाटन के लिए तर्क की प्रणाली का आश्रय अवश्य लिया गया है, (किसी भी दर्शन मे यह अनिवार्य है) किन्तु वेदान्त मे यह तर्क साधन मात्र है, सिद्धान्त नही। उपनिषदो में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'।[२०] शकराचार्य ने भी तर्कादि साधनो का आदर करते हुए अन्त मे अनुभव मे ही सबका अवसान माना (अनुभवावसानत्वात्सर्वसाधनानाम्)।[२१] वेदान्त के अनुसधान का आरम्भ ही अनुभूति से होता है और अनुभूति के ही पूर्ण रूप मे वेदान्त की साधना का पर्यवसान है। अनुसधान के आरम्भ मे इस अनुभूति का आश्रय व्यक्ति का अहकार है। इसी आरम्भिक अनुभूति के सीमित रूप के विश्लेषण द्वारा वेदान्त असीम ब्रह्म की कल्पना तक पहुँचता है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह सत्य है कि इस असीम ब्रह्म मे अहकार मूलक व्यक्तित्व की सत्ता नही रहती। व्यक्तित्व के असीम विस्तार के रूप मे भी इसे समझना कठिन है, क्योकि व्यक्तित्व मूलत एक सीमित तत्व है। सिद्धान्त की दृष्टि से व्यक्तित्व और व्यवहार के समाधान की समस्या अध्यात्मवाद का एक मौलिक प्रश्न है। किन्तु भारतीय वेदान्त में सिद्धान्त और व्यवहार का एक अद्भुत समन्वय है। जीवन्मुक्ति का सिद्धान्त व्यक्तित्व और व्यवहार के साथ ब्रह्मवाद के समन्वय का जीवन्त रूप है। इस समन्वय मे आत्मभाव अथवा समात्मभाव के विस्तार में व्यक्तित्व के दोषो का विलय हो जाता है और एक अत्यन्त उदार करुणामय तथा आनन्दमय मानवीय भावना का उदय होता है। यही उदार मानवीय भावना सस्कृति और लोक मगल का मूल है।

वेदान्त का ब्रह्म इसी की पूर्णता का एक दार्शनिक रूप है। वस्तुत. प्रेम और सद्भावनामय जीवन उसका व्यवहारिक रूप है। वेदान्त की इसी मौलिक मानवीय भावना के कारण वह पूर्णत बौद्धिक सम्प्रदाय न रह सका। स्वय शकराचार्य की

रचनाओ मे 'सौन्दर्य लहरी', 'आनन्द लहरी, तथा अन्य स्तोत्रो मे महामनीषी आचार्य की महती भावना का स्रोत फूट पडा है। ब्रह्मवाद के सिद्धान्त के शीर्ष पर प्रेम और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। शृगेरी मठ मे श्रीचक्र की स्थापना का यही रहस्य है। वेदान्त का तात्त्विक सत्य केवल एक बौद्धिक और निरपेक्ष सत्ता नहीं है। ब्रैडले के अनुसार वह मानवीय चेतना की समस्त आकाक्षाओ का समाधान है। हीगल के बुद्धिवाद का अनुसरण करने के कारण ब्रैडले चरम सत्य का समन्वित और सन्तोषजनक रूप प्रस्तुत नही कर सका। वेदान्त की प्रणाली अधिक मानवीय होने के कारण सत्य का पूर्ण और समन्वित रूप इसमे अधिक सफल रूप मे उदित हुआ है। कबीर से लेकर महादेवी तक भारतीय रहस्यवाद के अनेक रूपो को वेदान्त ने प्रेरणा दी है। रवीन्द्रनाथ और निराला के काव्य पर उपनिषदों के वेदान्त का बहुत प्रभाव है। शकराचार्य के बाद रामानुज, वल्लभाचार्य आदि के सम्प्रदायो मे शकराचार्य की भावना का रस-स्रोत अधिक प्रबल रूप से प्रवाहित हुआ। प्रेम का यह प्रवाह भक्ति की मन्दाकिनी के रूप मे भारतीय धार्मिक साहित्य की विभूति बना। हिन्दी के भक्ति काव्य की धारा इसी का प्रसाद है। यह दूसरी बात है कि भक्ति के शृगारिक प्रतीको के कारण मुक्ति के गगासागर मे मिलने के स्थान पर भक्ति की यह धारा वासना के गर्त मे विलीन हो गई और उसके कर्दम से समाज और साहित्य दोनो कलकित हुए।

पश्चिमी साहित्य में न तो धर्म से प्रेरित भक्ति काव्य का कोई महत्वपूर्ण स्थान है और न दार्शनिक अध्यात्मवाद के पूर्ण सत्य ने किसी महत्वपूर्ण कवि को प्रेरणा दी। पादरियों की भक्तिमय अथवा रहस्यमय धार्मिक रचनाओ को साहित्य के इतिहास मे कोई स्थान नही मिलता। यों प्रत्येक महान कवि की रचना मे जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण मिलता है। किन्तु पश्चिमी कवियो मे किसी मुख्य दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखने मे नही आता। ब्लेक और वर्ड्सवर्थ के काव्य पर किसी दर्शन का ऐसा प्रभाव नहीं है, जैसा कि मध्यकाल के हिन्दी काव्य पर भक्ति-मूलक वेदान्तो का है अथवा रवीन्द्रनाथ और निराला पर अद्वैत वेदान्त का है अथवा मोहम्मद इकबाल पर काण्ट और नीत्शे के दर्शन का है। एमर्सन जैसे अध्यात्मवादी कवि पश्चिम मे अपवाद हैं और उनके काव्य का साहित्य के इतिहास मे कोई महत्वपूर्ण स्थान नही है। किन्तु पूर्व में वेदान्त और उसके मुसलमानी सस्करण सूफी मत ने अनेक कवियो को प्रेरित किया। स्वय शकराचार्य की प्रकीर्ण रचनायें

श्रेष्ठ काव्य का उदाहरण हैं। भक्ति काव्य में भी अद्वैत का बहुत प्रभाव है। रहस्यवाद की मूल प्रेरणा भी अद्वैत वेदान्त में है। ब्रह्म अथवा ईश्वर की असीम, अखिल और अन्तिम सत्ता का सत्य भारतीय काव्य की एक महती प्रेरणा रहा है। आधुनिक युग में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं की प्रतिक्रिया के कारण काव्य में जीवन के कुछ लौकिक पक्ष अधिक प्रबलता और प्रायः उग्रता के साथ प्रकट हुए हैं। प्रगतिवाद चाहे इसे अध्यात्म एवं भक्ति की प्रतिक्रिया और उनका प्रतिरोध ही माने किन्तु वस्तुतः वेदान्त के मानवीय सिद्धान्त का प्रगतिवाद की शिष्ट और संगत आकांक्षाओं से कोई मौलिक विरोध नहीं है। सत्य यह है कि वेदान्त की एकात्मता और समात्मभाव की भावना के बिना कोई भी भौतिक समाजवाद अपने सांस्कृतिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह नहीं कर सकता। वेदान्त वस्तुतः एक आध्यात्मिक साम्यवाद है जो प्रगति और साम्य की सभी योजनाओं की प्रेरणाओं और सफलता का मूल मंत्र है। रहस्यमय होते हुए भी समात्मभाव शारीरिक संवेदना को छोड़कर समस्त सामाजिक और सांस्कृतिक भावनाओं का बीज है। काम के समान कुछ शारीरिक संवेदनाओं में भी समात्मभाव की अनुभूति सम्भव है। इसीलिए उपनिषदों में ब्रह्म और आत्मा के समात्मभाव की उपमा पति पत्नी के परिष्वजन से दी है तथा तुलसीदासजी ने राम के प्रति ऐसी अनुरक्ति की कामना की है जैसी कि कामी को नारी के प्रति होती है।

वेदान्त में ब्रह्म को आनन्दमय माना गया है। इसी ब्रह्म भाव की मोक्ष संज्ञा है। सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक आचार में जितने सफल रूप में इस तादात्म्य का निर्वाह होता है उतना ही आनन्द का उदय होता है। समाजवाद और साम्यवाद में जिस समानता सामंजस्य और सुव्यवस्था की बाह्य योजना अभीष्ट है, उसका आन्तरिक अनुप्राणन समात्मवादी अध्यात्म से ही प्राप्त हो सकता है। इस आन्तरिक सूत्र के बिना समस्त बाह्य योजनायें विशृंखल हो जायेगी। वेदान्त का यह मूल आध्यात्मिक तत्व ही मानवीय संस्कृति का चिरन्तन सम्बल है। आध्यात्मिक होते हुए भी मानवीय होने के नाते यह पूर्णतः लौकिक है। साधारण से साधारण मनुष्य के स्नेह और सहानुभूतिमय जीवन में इस आध्यात्मिक सत्य का आभास मिल सकता है। • वेदान्त का यह सत्य हमारे हृदय का निकटतम तथ्य है। वह धर्म और ईश्वर के कुछ रूपों की भाँति अलौकिक नहीं है। वस्तुतः वेदान्त के इस अध्यात्म मूलक समात्मभाव में ही कविता की मूल प्रेरणा है। इसीलिए भक्ति की अलौकिकता

ः उपेक्षित होने के बाद भी वेदान्त का आध्यात्मिक तत्व स्नेह और सद्भावना तथा मानवीय संस्कृति की प्रेरणा बनकर कविता का सनातन स्रोत बना रहेगा। उपनिषदों में इस अध्यात्म तत्व को शान्त, शिव और अद्वैत कहा गया है। यही सुन्दर भी है। 'सौन्दर्य-लहरी' में इसी का सौन्दर्य तरंगित हो उठा है। वस्तुतः वेदान्त के इस पूर्ण सत्य में सत्य के साथ-साथ शिवम् और सुन्दरम् का भी समन्वय है। तात्विक सत्य का यह पूर्ण और समन्वित रूप ही मानवीय संस्कृति तथा साहित्य की सुदृढ़ प्रतिष्ठा है।

पश्चिमी विद्वानों ने वेदान्त के इस आध्यात्मिक सत्य के संबन्ध में अनेक तात्त्विक आपत्तियाँ उठाई हैं। ईसाई होने के कारण इन आलोचकों की आपत्तियों का आधार ईसाई धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। इन सिद्धान्तों को अखण्डनीय और अन्तिम सत्य मानकर ये पश्चिमी आलोचक इनसे भिन्न सभी धार्मिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों को मिथ्या मानते हैं। इन आलोचकों की तार्किकता और उदारता कुछ ऐसी ही अद्भुत प्रकार की है। प्रायः मनुष्य की तार्किकता कुछ ऐसी अद्भुत रही है कि वह तर्क को तलवार की तरह दूसरों के खंडन करने का ही शस्त्र मानता रहा है। तलवार के द्वारा आत्मघात तो उतना ही अनुचित है जितना कि किसी दूसरे का घात है, किन्तु तर्क के द्वारा अपनी मान्यताओं में छिपी हुई भ्रान्तियों को दूर कर लेना विचारशील मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है, जिसका पालन दूसरों के खण्डन की अपेक्षा अधिक लाभकारी है तथा जिसके द्वारा हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकते हैं। किन्तु विचार के क्षेत्र में, विशेषतः धर्म के क्षेत्र में, मनुष्य तर्क का उपयोग प्रायः दूसरों के खण्डन के लिए करता रहा है। इस खण्डन का श्रेय पश्चिमी धर्मों को सबसे अधिक मिला है। भारतवर्ष में दर्शन और धर्म के अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए हैं। दर्शन के बौद्धिक क्षेत्र में विवाद और खण्डन भी बहुत होता रहा है। किन्तु धर्म परम्परा में एक दूसरे के मतों का खंडन बहुत कम किया गया है। भारतीय परम्परा में यह खण्डन अपवाद रूप में ही मिल सकेगा। शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन का खंडन तथा सगुण वेदान्तियों के द्वारा अद्वैतवाद का खण्डन इन अपवादों में प्रमुख हैं। ये खण्डन दार्शनिक भूमि पर ही हुए हैं। धर्म और आराधना की भर्त्सना इनमें नहीं की गई है। इनके अतिरिक्त भारतवर्ष में अन्य अनेक धर्म सम्प्रदाय हैं। इनमें परस्पर विरोध की वृत्ति नहीं रही। वैदिक प्रेरणा की मौलिक स्वतन्त्रता के कारण ये सभी धर्म सम्प्रदाय अपने-अपने क्षेत्र में फलते-फूलते रहे।

अध्यात्म के क्षेत्र मे तो यह स्वतन्त्रता रहस्यवाद की सीमा तक पहुँच गई। **प्रचार और खडन के स्थान पर आध्यात्मिक सम्प्रदायो में गोपन की प्रथा रही जो अध्यात्म के अनुरूप और उचित है।** अध्यात्म का सत्य बहुत सीमा तक अनिर्वचनीय है। साधना के द्वारा अनुभव म उसका साक्षात्कार *किया जा सकता है।* किन्तु अभिव्यक्ति के किसी भी माध्यम के द्वारा दूसरो के प्रति उसका प्रकट करना कठिन है। **उसका प्रचार तो एक प्रकार से अध्यात्म के मौलिक रूप के विपरीत है।** दूसरो के प्रति सत्य के वितरण मे कोई दोष नही है, वरन् एक प्रकार से यह वितरण सत्य का साक्षात्कार करने वालो का सामाजिक कर्तव्य है। किन्तु *प्रचार मे प्राय व्यक्ति अथवा वर्ग के अहकार तथा उनकी धारणा की श्रेष्ठता का* अनुरोध आ जाता है। इसी कारण भारतीय परम्परा मे धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रचार का कोई यत्न नही अपनाया गया। साधारण रूप मे तत्वो की व्याख्या करके दूसरो को उन्हे स्वीकार करने अथवा न करने के लिए स्वतन्त्र माना गया। धर्म और अध्यात्म के रहस्य तत्व वेत्ताओ के द्वारा दूसरो के प्रति तब ही व्यक्त किये जाते थे, जबकि वे इस सम्बन्ध मे आन्तरिक जिज्ञासा प्रकट करते थे। **भारतीय धर्म और अध्यात्म का यह दृष्टिकोण प्रचारवादी धर्मो के दृष्टिकोण के बिलकुल विपरीत है। इस दृष्टिकोण में मानवीय स्वतन्त्रता और जनतन्त्र की भावना ओतप्रोत है।** *अध्यात्म के क्षेत्र में गोपन की प्रथा एक प्रकार से इसी भावना को* **सुरक्षित रखने के लिए है।** उसका उद्देश्य स्वतन्त्र इच्छा से तत्व की जिज्ञासा रखने वाले व्यक्तियो का उससे वचित करना नही है। गोपन का अभिप्राय उनकी जिज्ञासा की यथार्थता और गम्भीरता को परखना था। जिज्ञासु की स्वतन्त्र और आन्तरिक इच्छा की गम्भीरता प्रमाणित होने पर तत्व का गोपन करने वाले तत्वज्ञानी ही स्नेह और उदारतापूर्वक अध्यात्म मार्ग मे जिज्ञासुओ का दिग्दर्शन करते थे। **प्रचार के विपरीत गोपन अध्यात्म की गरिमा और अध्यात्म के प्रति मनुष्य के स्वतन्त्र अधिकार एव उत्तरदायित्व का प्रमाण है। प्रचार इनका अनधिकार खडन करता है।** *अध्यात्म के तत्वो का प्रचार एक प्रकार से अध्यात्म का उपहास है।* मनुष्य के स्वभाव म प्रकृति का इतना प्रबल अनुरोध है कि प्रचार के द्वारा भी अध्यात्म के प्रति उसकी अभिरुचि होना कठिन है। अध्यात्म स्वरूप से ही स्वतन्त्र है, अत अपनी स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा ही उसम मनुष्य की अभिरुचि हो सकती है। दूसरे, अध्यात्म के तत्व अनिर्वचनीय होने के कारण दूसरो के प्रति

उनका व्यक्त करना कठिन है। आन्तरिक जिज्ञासा होने पर मनुष्य अपनी साधना के द्वारा ही इन तत्वों का साक्षात्कार कर सकता है। प्रचार के प्रसग मे प्राय अध्यात्म के स्थान पर प्राकृतिक विकारो और अतिचारो का ही प्रसार अधिक हुआ है। जो सम्प्रदाय स्वय प्रचार के दोषो हैं उन्ही की ओर से भारतीय अध्यात्म पर गोपन का दोष लगाया गया है।

गोपन के अतिरिक्त भारतीय अध्यात्मवाद के प्रति, विशेषत अद्वैत वेदान्त के प्रति, एक अन्य आपत्ति यह उठाई गई है कि ब्रह्म के निर्वैयक्तिक रूप मे मनुष्य के व्यक्तित्व का विलय हो जाता है। ईसाई आलोचको का वेदान्त के प्रति यह सबसे प्रबल आक्षेप है। उनके इस आक्षेप के दो आधार हैं—एक आधार धार्मिक है और दूसरा प्राकृतिक है। ईसाई धर्म मे ईश्वर को एक व्यक्तित्व-पूर्ण सत्ता माना जाता है। वह बहुत कुछ वैष्णव धर्मो के सगुण ईश्वर के समकक्ष है। श्रेष्ठ मानवीय गुणो का वैभव ही उसको व्यक्तित्व प्रदान करता है। ईसाई धर्म का ईश्वर वैष्णव सम्प्रदायो के सगुण ईश्वर के समान है। इसीलिए ईसाई आलोचको ने वैष्णव वेदान्त का खण्डन नही किया है और केवल अद्वैत वेदान्त पर ही अपने आक्रमण को केन्द्रित किया है। अद्वैत वेदान्त के ब्रह्मवाद के खण्डन का एक दूसरा कारण व्यक्तित्व के प्रति मनुष्य का प्राकृतिक मोह है। कदाचित् व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर मे भी मनुष्य का विश्वास इसी मोह के कारण होता है। ईश्वर अथवा मनुष्य दोनों मे किसी के भी व्यक्तित्व के प्रबल अनुरोध मे नि सदेह धार्मिक विश्वास के साथ-साथ इस प्राकृतिक मोह की प्रेरणा रहती है। भारतीय धर्म सम्प्रदायो के सगुण ईश्वर म उदार और दिव्य व्यक्तित्व प्रतिष्ठित हुआ है। किन्तु अद्वैत वेदान्त के ईसाई आलोचको की भाति इस व्यक्तित्व का आग्रह इन सम्प्रदायो मे नही पाया जाता। जहाँ तक तर्क का सम्बन्ध है, वहाँ तक तो ईश्वर के सम्बन्ध में मनुष्य को कोई भी तर्क और आग्रह केवल ईश्वर का अपमान और मनुष्य के दभ का प्रमाण है। ईश्वर की दिव्य सत्ता ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष और बौद्धिक अनुमान दोनो से परे है। अत मनुष्य की अपनी आस्था और उसके अनुभव के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण इस प्रसग मे सगत नही है। आस्था और अनुभव दोनो मनुष्य के स्वतन्त्र अधिकार हैं। तर्क और प्रचार दोनो का ही आग्रह इस विषय मे अनुचित है। अनुभव के सबन्ध म अनेक व्यक्तियो के अनुभवो मे कुछ साम्य की सभावना हो सकती है। आस्था मे भी ऐसा साम्य सभव हो सकता है। किन्तु फिर भी स्वरूप से वह मनुष्य

का अधिक स्वतन्त्र और व्यक्तिगत अधिकार है। आस्था अनुभव से अधिक अन्तर्मुखी होती है। अत संवाद की ओर उसकी प्रवृत्ति नही होती। आन्तरिक होते हुए भी अनुभव मे अभिव्यक्ति और संवाद की सहज प्रवृत्ति होती है। वेदान्त का ब्रह्म अनुभव-स्वरूप है। अत उसमे तर्क के लिए अधिक अवकाश नही है। इसीलिए वेदान्त की परम्परा मे ब्रह्म के विषय मे तर्क का अधिक अधिकार नही माना गया है। व्यक्तित्व के अनुरोध पर आश्रित ईसाई आलोचको के तर्क ब्रह्म के विषय मे अधिक समीचीन नही हैं। अद्वैत वेदान्त मे ब्रह्म के निरूपण को सभव नही माना गया है। ऐसा निरूपण लौकिक और बौद्धिक ज्ञान की सीमा मे ही हो सकता है। 'ब्रह्म' ज्ञान के इन सभी परिमेय रूपो से परे है तथा दूसरी ओर इन सब का अनन्त आधार है। 'नेति-नेति' के द्वारा एक निषेधात्मक रूप मे ही ब्रह्म का सकेत किया गया है कि वह ज्ञान के सभी अवच्छेदको से परे है। ब्रह्म हमारी चेतना का अलक्ष सागर है। ज्ञान के परिमेय रूप उसके तरग और भ्रमर हैं। ब्रह्म वस्तुत आन्तरिक अनुभव का महान् और गभीर मर्म है। सामान्य रूप में व्यक्तित्व के आश्रय मे ही यह मर्म विभासित होता है। किन्तु व्यक्तित्व का अनुरोध इसकी महानता के सामने कितना तुच्छ है, यह अनुभव के द्वारा ही विदित हो सकता है। **उसमें व्यक्तित्व का विलय हो जाता है, यह कहना भी बुद्धि और तर्क का दभ है।** ब्रह्मानुभव मे मनुष्य को अपनी सत्ता की अधिक सार्थकता और अपने व्यक्तित्व की अधिक सम्पन्नता का अनुभव हो ऐसी सभावना अधिक सगत हो सकती है। ऐसी सभावना के बिना ब्रह्म की परम सत्ता मनुष्य की आस्था का विषय न बन सकेगी। अध्यात्म और काव्य के रहस्यवादी सम्प्रदायो मे परम सत्ता के साथ मनुष्य के तादात्म्य की तीव्र आकाक्षा मिलती है। किन्तु सम्भवत यह आकाक्षा भी उसी सम्भावना से प्रेरित है, जिसका सकेत हमने ऊपर किया है। अध्यात्म के अनिर्वचनीय सत्यो का निर्णय अनुभव के साक्षात्कार और सवाद मे ही हो सकता है।

कला एव काव्य के स्वरूप मे ही अनुभव एव अध्यात्म की मौलिक प्रेरणा का आधार रहता है। कला और काव्य ऐसी वैवरयपूर्ण और निरपेक्ष अनुभूति नही हैं जैसा की क्रोचे तथा उनके अनुयायी मानते हैं, फिर भी यह असदिग्ध है कि एक गहन आध्यात्मिक अनुभूति में ही इनका मूल स्रोत है। अध्यात्म और कला में केवल इतना अन्तर है कि जिस अनुभूति में कला का स्रोत है वह कैवल्य की निरपेक्ष

अनुभूति नहीं है, वरन् उस अनुभूति में जीवन के अनेक-रूप और प्राकृतिक यथार्थ का सामंजस्य भी रहता है। इसी सामंजस्य के द्वारा कलात्मक अनुभूति सम्प्रेष्य माध्यमों में अभिव्यक्त और साकार होती है। कला और अध्यात्म में यह भेद होते हुए भी कला में अध्यात्म का मर्म असंदिग्ध है। इसी कारण कुछ आचार्यों ने समाधि को काव्य-कौशल का एक अंग माना है। किसी न किसी परिमाण में समाधि की इस आन्तरिक तीव्रता और तन्मयता का आभास प्रत्येक कवि को अपनी साधना में होता है। कला और काव्य की महिमा तथा उसके सौन्दर्य एवं उसकी श्रेष्ठता का बहुत कुछ रहस्य इस समाधि की तीव्रता और गम्भीरता में रहता है। कला और काव्य का गुण बहुत कुछ इसी पर निर्भर होता है, यद्यपि कला और काव्य के विषय एवं उपादानों की सम्पन्नता लौकिक अनुभव, शिक्षा आदि से प्राप्त होती है। सरल और संक्षिप्त रूप में 'अध्यात्म' चेतना का आन्तरिक प्रकाश है। 'समाधि' उस प्रकाश के आन्तरिक उन्मीलन का साधन है। कला के प्रसंग में उसे आत्मा के प्रकाश और आत्मा की प्रतिभा के केन्द्रीयकरण की विधि कह सकते हैं। आत्मा का प्रकाश प्रतिभा के साथ साथ शक्ति का भी स्रोत है। सौन्दर्य के रूपों के सृजन तथा उन रूपों में समवेत जीवन के सत्यों की अभिव्यक्ति कौशल विशेष में यह साकार होती है। 'अध्यात्म' चेतना का मौलिक भाव है। सभी कलाओं में उसकी मौलिक प्रेरणा रहती है। किन्तु काव्य में शब्द के सार्थक माध्यम के कारण अध्यात्म की प्रेरणा अन्य कलाओं से भी अधिक रहती है। 'अर्थ' चिन्मय भाव है और वह काव्य का उपादान है। अन्य कलाओं में 'भाव' का समवाय रहते हुए भी 'रूप' की प्रधानता रहती है। किन्तु काव्य में रूप का वैभव अभीष्ट होते हुए भी भाव की विपुलता रहती है। अतः अध्यात्म का आधार काव्य में अन्य कलाओं से अधिक रहता है। किन्तु जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, कला और काव्य का आधारभूत अध्यात्म कैवल्य का निरपेक्ष अध्यात्म नहीं है। हमारे मत में आन्तरिक और आत्मिक होते हुए भी इस अध्यात्म को समात्मभाव कहना अधिक उचित है। प्रकृति के कुछ विकार-पूर्ण अवच्छेदकों से परे होते हुए भी 'समात्मभाव' दार्शनिक कैवल्य या निरपेक्ष अध्यात्म नहीं है। इस दृष्टि से यदि हम उसे सापेक्ष भी कहें तो अनुचित न होगा। इसकी सापेक्षता इसकी सीमा नहीं, वरन् इसकी सजीवता और सम्पन्नता का अनुपम मात्र है। अध्यात्म में जिस आन्तरिक अनुभव की कल्पना की जाती है वह एक ओर व्यक्ति में केन्द्रित तथा दूसरी ओर केन्द्र एवं परिधि से हीन,

अतएव निरपेक्ष और अनन्त होता है। पूर्णत अन्तर्मुखी होने के कारण इस आध्यात्मिक 'अनुभूति' को 'अभिव्यक्ति' कहना भी कठिन है। आन्तरिक प्रकाश के उन्मीलन के अर्थ में यह अभिव्यक्ति कही जा सकती है। किन्तु निर्विषय और नीरव अभिव्यक्ति की कल्पना वस्तुत कठिन है। अभिव्यक्ति में कुछ रूप और बहिर्मुखता का अनुषग रहता है। समात्मभाव में विषयो के उपकरणो से अभिव्यक्ति को रूप मिलता है तथा चेतना के केन्द्रो के परस्पर सवाद में बहिर्मुखता भी प्रकट होती है। समात्मभाव में आन्तरिक अनुभूति और बहिर्मुखी अभिव्यक्ति का एक ऐसा अद्भुत साम्य होता है कि वह कैवल्य के निरपेक्ष अध्यात्म और लोक के प्राकृतिक जीवन के बीच सेतु बनकर एक दिव्य सामजस्य उपस्थित करता है। अध्यात्म और जीवन का यह सामजस्य सस्कृति और कला मे किस प्रकार होता है इसकी तर्क-सगत व्याख्या करना तो कठिन है। किन्तु कला और सस्कृति मे यह सामजस्य सजीव एव साकार रूप म मिलता है। इनमे साक्षात् होते हुए भी अध्यात्म और जीवन के साथ उसका सामजस्य बहुत कुछ अनिर्वचनीय ही रहता है। अनेक दार्शनिको ने अध्यात्म के इस रहस्य के बौद्धिक निरूपण तथा बुद्धि के साथ उसकी सगति के स्थापन का प्रयत्न किया है। किन्तु बुद्धि के ये प्रयत्न अन्तत अनधिकार हैं। अग्रेज दार्शनिक ब्रैडले ने परम सत्य को आध्यात्मिक मानते हुए भी उसके बौद्धिक निरूपण का प्रयास किया है। जो सगति विचार का लक्षण है उस सगति को ही ब्रैडले ने परम आध्यात्मिक सत्य का लक्षण माना है। इस प्रकार ब्रैडले के अध्यात्म पर हीगल के बुद्धिवाद की स्पष्ट छाया है। इसी परम्परा के प्रभाव मे डा० राधाकृष्णन् ने आध्यात्मिक अनुभव को बुद्धि स अतीत मानते हुए भी बुद्धि से अविरुद्ध माना है। डा० राधाकृष्णन् के मत का पूर्व भाग भारतीय परम्परा के अनुकूल है। किन्तु इसके उत्तरार्द्ध मे पश्चिमी बुद्धिवाद की छाया है। भारतीय आस्था के कारण डा० राधाकृष्णन् अध्यात्म के परम सत्य मे पश्चिमी दार्शनिको की भांति बौद्धिक लक्षण तो नही खोजते, फिर भी पश्चिमी प्रभाव क कारण वे इतना अवश्य मानते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव तर्क का और बुद्धि का विरोध नही करता। ऐसी सभावना अध्यात्म की उदारता के अनुकूल हो सकती है, फिर भी अविरोध तर्क का ही लक्षण है तथा आध्यात्मिक अनुभूति मे उसका अनुरोध अध्यात्म मे तर्क का आग्रह ही है। इस अविरोध का प्रतिपादन बौद्धिक एव तार्किक सीमा के भीतर हो हो सकता है। आध्यात्मिक सत्य इस सीमा से परे है, अतएव अन्तत अनिर्वचनीय है। व्यक्ति

की साधना में ही उसका स्वरूप प्रकाशित होता है। समात्मभाव के लौकिक एवं सांस्कृतिक साम्य में उस अनन्त सागर के कुछ साक्षात् स्रोत प्रवाहित होते हैं। कला और संस्कृति के निर्झर इन स्रोतों के ही विलास हैं। अध्यात्म की भाँति निर्वैयक्तिक न होने के कारण समात्मभाव की अभिव्यक्ति अधिक स्फुट और ग्राह्य होती है। प्राकृतिक जीवन की भाँति वह व्यक्तित्व की इकाई में सीमित नहीं रहता। व्यक्तित्व की कुछ सीमाओं से ऊपर उठकर अध्यात्म की प्रेरणा से चेतना के बिन्दुओं का कुछ ऐसा अद्भुत साम्य समात्मभाव में चरितार्थ होता है कि उनमें सौन्दर्य और आनन्द का सागर लहराता है।

अनिर्वचनीय होने के कारण आध्यात्मिक सत्य को काव्य का उपादान बनाना कठिन है। कला और काव्य की मौलिक प्रेरणा के रूप में तो अध्यात्म को उनका आधार माना जा सकता है। किन्तु काव्य का माध्यम भाषा है। भाषा में शब्दों के द्वारा अर्थ का निर्वचन होता है। प्रधानतः यह निर्वचन निश्चित विषय एवं अर्थ का अभिधान है। वैज्ञानिक और लौकिक व्यवहार में अर्थ का यही अभिधान अभीष्ट होता है। ऐन्द्रिक और बौद्धिक विषय एवं अर्थ इस अभिधान की सीमा में समाहित हो सकते हैं। किन्तु विषय अथवा उपादान के रूप में अध्यात्म अभिधान के निर्वचन के योग्य नहीं है। कैवल्य का निरपेक्ष अध्यात्म तो पूर्णतः अनिर्वचनीय है, किन्तु समात्मभाव का कुछ सापेक्ष अध्यात्म भी मौलिक रूप में अभिधेय नहीं है। उसके लौकिक अनुषंग और रूप ही अभिधान के उपकरण बन सकते हैं, किन्तु उसका आध्यात्मिक मर्म अनिर्वचनीय ही बना रहता है। किन्तु शब्द में अभिधान के अतिरिक्त व्यंजना की भी शक्ति है। व्यंजना शक्ति के द्वारा शब्द अनभिधेय एवं अनिर्वचनीय भावों को भी व्यक्त करता है। यह व्यंजना कुछ अंश में तो वस्तुतः शब्द से अतीत शक्ति है, किन्तु उस शक्ति का केन्द्र और आधार शब्द में ही रहता है। शब्द और अभिधान के सूत्र से ही व्यंजना अनिर्वचनीय भावों को लक्षित करती है। शब्द की इस अद्भुत शक्ति के द्वारा अध्यात्म और जीवन के अनिर्वचनीय भाव काव्य के विषय बनते हैं। काव्य में यह अध्यात्म मुख्यतः समात्मभाव के रूप में ही रहता है। कैवल्य के निरपेक्ष अध्यात्म को व्यंजना का विषय बनाना भी कठिन है, यद्यपि शंकराचार्य ने 'अपरोक्षानुभूति', 'आत्मबोध' आदि ग्रन्थों में उसे विषय बनाने का प्रयत्न किया है। वेदान्त परम्परा के 'शिवोऽहम्' नामक स्तोत्र में अध्यात्म की अनिर्वचनीय अनुभूति अत्यन्त सुन्दर रूप में मुखरित हुई है। फिर भी

उसकी व्यंजना में सापेक्षता के अनुषंग शेष रह ही जाते हैं। निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्य की व्यंजना एक दूर का संकेत मात्र है। व्यंजना के सूत्र निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्य के लोक का दिग्दर्शन मात्र करते हैं, वे अन्ततः इस लोक तक चेतना का निर्वहन नहीं करते। व्यंजना से उन्मीलित भावों के उत्प्लवन के द्वारा ही चेतना उस लोक में पहुँच सकती है। समात्मभाव के लौकिक और सांस्कृतिक भावों का आध्यात्मिक मर्म भी अन्ततः अनिर्वचनीय है, किन्तु लौकिक माध्यमों के साथ उसका सामंजस्य निरपेक्ष अध्यात्म की अपेक्षा अधिक होता है। अतः शब्द की व्यंजना शक्ति उसकी अभिव्यक्ति में अधिक समर्थ होती है। अधिकांश काव्य में समात्मभाव के रूप में ही अध्यात्म की अभिव्यक्ति मिलती है। निरपेक्ष अध्यात्म की अभिव्यक्ति भारतीय साहित्य के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय साहित्य में भी यह काव्य में बहुत कम मिलती है। कुछ वेदान्तियों और भक्तों की रचनाओं में ही उसके उदाहरण मिलते हैं। वेदान्तियों की रचनाओं में अध्यात्म की कलापूर्ण व्यंजना की अपेक्षा उसका दार्शनिक प्रतिपादन अधिक मिलता है। भक्तों के काव्य का अध्यात्म निरपेक्ष नहीं वरन् ईश्वर के साथ समात्मभाव से परिपूर्ण है।

फिर भी कई रूपों में अध्यात्म की अभिव्यक्ति काव्य में प्रचुरता से मिलती है। भक्ति के काव्य भी अध्यात्म के क्षितिज तक पहुँचते हैं। उनमें भी ऐसी अलौकिकता और तन्मयता मिलती है जो भक्ति को अध्यात्म के समकक्ष बना देती है। कबीर और तुलसीदास के राम वेदान्त के परब्रह्म के समकक्ष हैं। कबीर के अध्यात्म में योग का सम्पुट है। योग अध्यात्म के तादात्म्य का साधन है। नाथ-पंथ के प्रभाव से अध्यात्म की परम्परा में योग का आग्रह हठयोग की सीमा तक पहुँच गया। यद्यपि कबीर ने 'सहज समाधि' को ही श्रेष्ठ बताया है (संतो सहज समाधि भली) फिर भी कबीर के अध्यात्म में योग का बहुत प्रभाव है। योग की यह परम्परा पतंजलि से भी प्राचीन है। उपनिषद काल में भी यह अध्यात्म के साधन के रूप में पाई जाती है। हिन्दी साहित्य की आलोचनाओं में कबीर के इस अध्यात्म को 'रहस्यवाद' कहा जाता है। रहस्यवाद की व्याख्या हिन्दी-आलोचना में जीवात्मा की उस अनिर्वचनीय आकांक्षा के रूप में की जाती है, जिसमें वह अनन्त परमात्मा में लीन होने के लिए आकुल हो उठती है। अनन्त की यह अभिलाषा ही काव्य के रहस्यवाद का मर्म है। कबीर के बाद वह भारतीय साहित्य में रवीन्द्रनाथ ठाकुर में मिलती है। आधुनिक हिन्दी काव्य में उसका सबसे अधिक मार्मिक रूप महादेवी

के गीतो मे मिलता है। सिद्धान्त की दृष्टि से काव्य का यह रहस्यवाद अद्वैत वेदान्त के बहुत निकट है। किन्तु जीवन और काव्य मे अध्यात्म समात्मभाव के रूप मे ही साकार होना है। आध्यात्मिक काव्य के उक्त उदाहरण मे भी यह अध्यात्म समात्मभाव के रूप मे मिलता है। कबीर का रहस्यवाद भक्ति की भावना से ओत-प्रोत है। कबीर ने परब्रह्म को अपना स्वामी (साई) तथा अपने को 'राम की बहुरिया' बतलाया है। इन रूपको मे व्याप्त भाव समात्मभाव के अधिक अनुरूप है। अद्वैत के अनुसार जीवात्मा का अन्तिम रूप परब्रह्म है। वही इसका स्वरूप है। वेदान्त मे इस तत्व का दार्शनिक प्रतिपादन किया गया है। योग इस तत्व के साक्षात्कार का साधन है। साधना के इन मार्ग मे भाव का उद्गम आवश्यक नही है। भाव का उदय होते ही योग और अध्यात्म भक्ति में परिणत होने लगते है। शंकराचार्य के प्रकीर्ण काव्यो मे भी भक्ति का यह भाव ओत-प्रोत है। कबीर और महादेवी के रहस्यवाद मे यह और भी अधिक स्पष्ट है। कबीर मे योग की सूक्ष्मताय अधिक हैं। महादेवी के काव्य मे दाम्पत्य भाव के सम्पुट से यह रहस्यवाद अत्यन्त मर्मस्पर्शी बन गया है। भक्ति के क्षेत्र मे इसकी तुलना गोपियो और मीरा के प्रेम से ही की जा सकती है। महादेवी आधुनिक हिन्दी काव्य की मीरा है। पत के उत्तरकालीन काव्य में श्री अरविन्द के अध्यात्म का प्रभाव मिलता है। समात्मभाव के अर्थ में हम भक्ति-काव्य को भी आध्यात्मिक कह सकते हैं। भाव से सरस होने पर अध्यात्म और भक्ति में बहुत कम भेद रह जाता है। सूफी काव्य में अध्यात्म का यह सरस रूप मिलता है। सूफी मत मे जीवात्मा के परमात्मा मे लीन होने की आकुलता और दोनो की अन्तिम एकता अद्वैत वेदान्त के अध्यात्म के अनुरूप है। कबीर मे एकता का अधिक आग्रह नही है। कबीर का भाव भक्ति के अधिक निकट आ जाता है। हिन्दी के भक्त कवियो पर वैष्णव वेदान्तो का अधिक प्रभाव है। राम और कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए भी तथा उनमें तन्मय होते हुए भी सैद्धान्तिक तादात्म्य का आग्रह उसमे नही है। वे न अपने अस्तित्व को परब्रह्म मे विलीन करने के लिए आतुर हैं और न उसकी रक्षा के लिए उत्सुक हैं। सेवा और प्रेम में ही उनकी भक्ति कृतार्थ है। तादात्म्य के सत्य का अनुरोध अध्यात्म और सूफी रहस्यवाद की विशेषता है। भाव की विपुलता भक्ति की विभूति है। महादेवी के रहस्यवाद मे तो विरह के पृथक्त्व का प्रबल अनुरोध है। उस विरह मे व्यक्तित्व की इकाई के सरक्षण की अपेक्षा वेदना की मर्मानुभूति को अमर बनाने की आकांक्षा अधिक है।

महादेवी इस वेदना को ही जीवन और अध्यात्म का सत्य मानती हैं। रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद में भी अध्यात्म और भक्ति का ऐसा ही सामंजस्य है। श्री अरविन्द के काव्य में तथा उनसे प्रभावित सुमित्रानन्दन के काव्य में अध्यात्म का अधिक शुद्ध और निरपेक्ष रूप मिलता है।

अस्तु, भारतीय काव्य में कई रूपों में अध्यात्म के साथ काव्य का संयोग मिलता है। **यह काव्य अध्यात्म का पद्यबद्ध रूप मात्र नहीं है; इसमें काव्य का वह समस्त सौन्दर्य मिलता है जो लौकिक काव्य के अन्य रूपों को कला की विभूति बनाता है। भाव और रूप के सुन्दर साम्य से युक्त यह काव्य श्रेष्ठतम काव्य कहलाने का अधिकारी है। भारतीय साहित्य के इतिहास में इस काव्य का परिमाण और मान दोनों ही विपुल हैं।** समय और पश्चिम के प्रभाव से समकालीन काव्य में अध्यात्म का प्रभाव बहुत कम हो रहा है। प्रगतिवाद में यथार्थ का आग्रह अधिक रहा। प्रयोगवाद और नई कविता में अभिव्यक्ति के रूप का आग्रह बढ़ रहा है। स्वरूपतः अध्यात्म का काव्य से बड़ा घनिष्ठ सबन्ध है। काव्य की मौलिक प्रेरणा के रूप में अध्यात्म के आधार को अध्यात्म के विरोध में भी अस्वीकृत नहीं कर सकते। उपादान के रूप में अध्यात्म का ग्रहण कवियों की रुचि और आस्था पर निर्भर है। **भारतीय दर्शन और संस्कृति की आध्यात्मिकता के कारण भारतीय साहित्य में आध्यात्मिक काव्य जितने विपुल परिमाण में मिलता है, लौकिक और प्राकृतिक जीवन के प्रबल अनुरोध के कारण पश्चिमी काव्य में वह उतना ही विरल है।** भारतीय साहित्य में भी संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवियों में स्फुट रूप में अध्यात्म का प्रभाव नहीं दिखाई देता। लौकिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विषयों में सौन्दर्य का समवाय कठिन किन्तु संभव है। **भाव और रूप के साम्य की भाँति लौकिक और आध्यात्मिक सत्य के सामंजस्य से पूर्ण काव्य मानवीय दृष्टि से सर्वोत्तम है।** इस दृष्टि से प्रसिद्ध पश्चिमी कवियों का प्रकृति प्रधान काव्य तथा शंकराचार्य, कबीर और श्री अरविन्द का प्रमुखतः आध्यात्मिक काव्य एकांगी है। 'रामचरित मानस' 'कामायनी' और 'पार्वती' में लौकिक और आध्यात्मिक सत्य के सामंजस्य का उत्तरोत्तर अधिक निर्वाह हुआ है।

अध्याय २६

सांस्कृतिक सत्य और काव्य

परम सत्य की कल्पना जीवन के एक सजीव और सम्पूर्ण सत्य की ओर संकेत करती है। प्राकृतिक तथ्य से लेकर परम सत्य तक की सभी कल्पनाओं का इस सम्पूर्ण सत्य मे समाहार हो सकता है। जीवन के चरम सिद्धान्त और लक्ष्य के रूप मे हम इसे 'सत्य' कह सकते हैं, किन्तु इसमे शिव और सुन्दरम् का भी समन्वय है। वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टि से 'सत्य' एक निरपेक्ष प्रत्यय है। किन्तु जीवन की पूर्णता और कृतार्थता जिन सिद्धान्तो और लक्ष्यो मे होती है, वे भी अपने मे पूर्ण होने की दृष्टि से सापेक्ष नही है, तथापि वे जीवन से निरपेक्ष नहीं हैं। जीवन की पूर्णता और कृतार्थता उनमे होती है। अत बौद्धिक सत्य होने के साथ साथ वे जीवन्त मगल और सजीव सौन्दर्य के प्रतिनिधि भी हैं। जीवन की पूर्णता की दृष्टि से शिव जीवन का सबसे बड़ा सत्य है। सुन्दरम् इसी शिव-रूप सत्य की पूर्णता का सौन्दर्य है। क्षीर सागर मे शेष शय्या पर विष्णु भगवान का आसन है। शेष फण पर पृथ्वी है। कैलाश पृथ्वी का चूडामणि है। कैलाश पर शिव का निवास है। इस पौराणिक कल्पना में शिव की सर्वोच्च स्थिति का तात्पर्य यही है कि 'शिव' जीवन के चरम लक्ष्य के प्रतीक हैं। मंगल जीवन का सर्वोपरि सत्य है। शिव का अद्भुत और अपार सौन्दर्य इसका सकेत है कि सौन्दर्य ही जीवन के मगल की सच्ची अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार सास्कृतिक सत्य की पूर्ण कल्पना में शिव और सुन्दरम् का समन्वय है। सास्कृतिक सत्य प्रकृति के आधार पर समृद्ध और प्रगतिशील चेतना का विधान है। अत प्राकृतिक सत्य के सभी रूप उसके आधार और उपकरण हैं। प्राकृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि तथ्यो के रूप उस सास्कृतिक सत्य की भूमिका का निर्माण करते हैं। किन्तु इस भूमिका के लिए प्रकृति का सस्कार अपेक्षित है। पशुओ मे प्रकृति अपने पवित्र और शुद्ध प्राकृतिक रूप मे है। उसमे एक नैसर्गिक मर्यादा है, जो सभी अतिचारो की अर्गला है। विकृतियो और अतिचारो कल्पनायें, मद्य तथा साधन पशु समाज मे विकसित नही हुए हैं। किन्तु मनुष्य-समाज

मे चेतना की स्वतन्त्रता, बुद्धि, यन्त्र और साधनो के विकास के कारण विकृति और अतिचार की असीम सम्भावनाय उत्पन्न हो गई हैं। समाज और सस्कृति की व्यवस्था के लिए मनुष्य की विकारशील और अतिचारी प्रकृति की मर्यादा आवश्यक है। प्रतिरोध दमन का रूप लेकर विकृतियो का ही कारण बनता है। अत प्रकृति की प्रेरणाओ का सस्कार ही सभ्यता और सस्कृति का सूत्र है। यह सस्कार ही उच्छृ-ङ्खल और अतिचारी प्रकृति को सास्कृतिक निर्माण का पवित्र पीठ बनाता है। **'सस्कार' प्रकृति की सफलता और सस्कृति की सम्भावना का सन्धि सूत्र है।**

सस्कार' प्रकृति पर मानवीय चेतना का अनुशासन है। यह अनुशासन दमन का शासन नही वरन् आदर और उत्कर्ष की मर्यादामय प्रेरणा है। इस सस्कार और अनुशासन के सिद्धान्त समृद्ध और उदार मानवीय चेतना के विधान हैं। ये ही विधान सास्कृतिक सत्य की सम्पूर्ण कल्पना के तत्त्व हैं तथा शिव और सुन्दरम् को निश्चित आकार देते हैं। मानवीय और सचेतन जीवन के सास्कृतिक निर्माण की कल्पना भी इसी मे पूर्ण और कृतार्थ होती है। धार्मिक, नैतिक, तात्त्विक और सास्कृतिक सत्य की धारणाये इसी मे पूर्ण होती हैं। प्रकृति के पीठ इसी सास्कृतिक निर्माण से धन्य होकर जीवन के तीर्थ बनते हैं। **सृजन जीवन का मूल सास्कृतिक सत्य है।** सृजन मे ही प्रकृति की जड सत्ता मे जीवन का उदय हुआ। जड प्रकृति के आन्तरिक परिवर्तनो की प्रक्रिया को सृजन मे प्रकृति का एक नवीन पथ मिला। समृद्धि और सौन्दर्य की अभिलाषा को सृजन म एक अपूर्व साधना का मन्त्र मिला। प्रकृति के सृजन मे यद्यपि इतनी स्वतन्त्रता नहीं है, फिर भी उसमे समृद्धि और सौन्दर्य का पर्याप्त उत्कर्ष है। समृद्धि का रूप विभाजन और विकास है। सौन्दर्य का रूप सामजस्य है। मनुष्येतर जीवो म भी आत्म विभाजन ही सृजन की विधि है। कीट पतगो तथा वृक्षो वनस्पतियो म जीव से बीज और बीज से जीव की उत्पत्ति होती है। बीज इस सृजन मे जीव का आत्मदान है, जो प्रकृति और सस्कृति के विधान मे विकास का मूल सूत्र है। बीज का आत्म विभाजन विकास का आरम्भ और सृजन की समृद्धि है।

यह सृजन ही जीवन का मौलिक सत्य है। जड सत्ता की समृद्धि और उसके सौन्दर्य का रहस्य भी सृजन के सूत्र मे ही निहित है। मानवीय सस्कृति के कला, काव्य आदि जितने भी उपकरण हैं उन सब मे सृजन की ही महिमा अधिक है। जीवन के विकास क्रम मे इस सृजन के बीज से ही सस्कृति के अन्य तत्व पुष्पित

और पल्लवित हुए हैं। मानवेतर जीवों में अधिक स्वतन्त्रता न होते हुए भी उनके सृजन में समृद्धि और सौन्दर्य है। लगभग सभी छोटे पौधे सुन्दर लगते हैं और सभी पशुओं के शावक सुन्दर तथा प्रिय मालूम होते हैं। इसका मुख्य कारण सृजन का मौलिक सौन्दर्य है। किन्तु पादपों और शावकों की अंग व्यवस्था का सामंजस्य भी सौन्दर्य का एक महत्वपूर्ण कारण है। सामंजस्य सौन्दर्य के रूप का संतुलित विन्यास है। वृक्षों में तो रूप का यह सामंजस्य प्रायः बड़े होकर भी रहता है। इसीलिए वृक्ष बड़े भी सुन्दर मालूम पड़ते हैं। पशुओं में भी अंगों के पुष्ट और स्वस्थ रहने पर रूप का यह सामंजस्य बड़े होने पर भी बना रहता है और वे सुन्दर मालूम होते हैं। जिस संतुलन के साथ वृक्षों में पुष्प और फल आते हैं, वे उनके रूप के सामंजस्य को बढ़ाकर उनके सौन्दर्य की और भी वृद्धि करते हैं। पुष्प सदा से सौन्दर्य के प्रतीक माने जाते हैं। देवताओं की अर्चना में उनका उपयोग होता है। वस्तुतः वे सौन्दर्य के यथार्थ प्रतीक हैं। पुष्प की पंखुड़ियों का संतुलित विन्यास रूप के सामंजस्य और सौन्दर्य का आदर्श है। कमल में दीर्घ और अधिक पंखुड़ियाँ होने के कारण इस सामंजस्य का रूप सबसे अधिक समृद्ध है। इसीलिए भारतीय परम्परा में कमल सौन्दर्य की दिव्य विभूति महालक्ष्मी का आसन है।

सृजन के सत्य में आत्मदान के शिव और सामंजस्य के सुन्दरम् का समन्वय प्रकृति के नैसर्गिक विधान में भी है। जीवों के विकास क्रम में सृजन की समृद्धि में अन्य सांस्कृतिक तत्वों का उद्भव हुआ है। इसमें स्वतन्त्रता मुख्य है। वनस्पतियों में स्वतन्त्रता सबसे कम है। स्थावर होने के कारण वे गति में असमर्थ हैं। उनका सृजन भी परतन्त्र है। पशुओं के सृजन में वृक्षों से अधिक स्वतन्त्रता है। मनुष्य के सृजन में यह स्वतन्त्रता सबसे अधिक समृद्ध है। मनुष्य पशुओं की अपेक्षा प्रकृति से कम परवश है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सृजन में मानवीय सृजन की पूर्णता नहीं है। मनुष्य का प्राकृतिक सृजन भी पशुओं की अपेक्षा अधिक अपूर्ण होता है। मनुष्य की सन्तान पशुओं की सन्तान की अपेक्षा अधिक असमर्थ होती है। मनुष्य की सन्तान का प्राकृतिक विकास भी माता-पिता का बहुत सहयोग चाहता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य के विकास का एक सांस्कृतिक पक्ष है, जिसके बिना उसका विकास पूर्ण नहीं होता। यह सांस्कृतिक विकास मूलतः चेतना की समृद्धि है। इस सांस्कृतिक विकास में माता-पिता का तथा समस्त समाज का और भी अधिक सहयोग अपेक्षित है। सहयोग का सूत्र आत्मदान है। यही आत्मदान शिव का स्वरूप है। प्रेम

इसका मन्त्र है और आनन्द इसका फल है। आत्मदान के द्वारा सहयोग मनुष्य की चेतना का स्वतन्त्र धर्म है। स्वतन्त्र होने के कारण ही सामाजिक जीवन में वह न्यूनाधिक मात्रा मे मिलता है। स्वतन्त्रता चेतना का सामान्य लक्षण है। सभी मनुष्यो की वह समान विभूति है। सहयोग का आत्मदान जहाँ एक ओर कर्त्ता की चेतना का स्वतन्त्र धर्म है, वहाँ दूसरी ओर आत्मदान के पात्रो की स्वतन्त्रता का आदर भी है। **व्यक्तित्व का समान आदर सृजन और सहयोग से प्रसूत होने वाला मानवीय संस्कृति का एक मूल मन्त्र है।** समानता इसका सूत्र है। स्वतन्त्रता सहयोग, आदर, प्रेम और समानता के तत्व मौलिक मानवीय चेतना की आत्मगत समृद्धि के फल हैं। **वस्तुत ये ही शिवं के पंचशील हैं। इन्हें हम पंचानन शिव के पाँच मुख कह सकते है।** मनुष्यो के देह में मुख ही प्रमुख है और अंग सौष्ठव के साथ-साथ वही सौन्दर्य का मुख्य मानदण्ड है। अत चेतना की समृद्धि के ये पाँच प्रमुख रूप ही सास्कृतिक समृद्धि के मूल तत्व हैं। आत्मदान का शिव इन्ही के रूप मे अपनी विभूति का विस्तार करता है। इन पाचमुखों से सृजन की परम्परा अपने प्राकृतिक ऐश्वर्य और सास्कृतिक वैभव के समृद्ध रूपो मे पल्लवित, पुष्पित और फलित होती हैं। जीवन के कुसुम की इन पखुडियों के सतुलन और सामजस्य में स्फुटित होकर सस्कृति का सौन्दर्य शिव की विभूति बनता है।

सक्षेप में यह शिवं ही जीवन का सांस्कृतिक सत्य है। चेतना इसका माध्यम और आधार है। समृद्धि इसका स्वरूप है। यह समृद्धि स्वतन्त्रता, समानता सम्मान आदि के रूप में फलित होती है। सृजन इस समृद्धि का मूल स्रोत और साधन है। इस सृजन मे ही चेतना की समृद्धियो को अवकाश मिलता है। विकास अथवा प्रगति इस समृद्धि के वैज्ञानिक और दार्शनिक नाम हैं। दोनो शब्दो मे कुछ बहिर्गत लक्ष्यो की ओर बढने का सकेत है। किन्तु वस्तुत ये लक्ष्य आत्मा के स्वरूप की सीमाये हैं और इनकी प्राप्ति आत्मा का स्वरूप-लाभ ही है। **इसीलिए सृजन का आत्मदान दूसरे अर्थ में आत्मलाभ है।** प्रकृति मे भी यह सृजन समृद्धि का ही पर्व है। यह समृद्धि प्रकृति मे वसन्त और यौवन की एक निरन्तर परम्परा के रूप मे सर्वदा रहती है। बीज अथवा बीज-कोष का विभाजन और वृद्धि इस समृद्धि का सूत्र है। यही विभाजन और वृद्धि जीवन का रूप है। प्रकृति की परम्परा जीवन की इस परिभाषा को प्रमाणित करती है। मानवीय जीवन मे सृजन, विभाजन और समृद्धि के रूप कुछ प्राकृतिक नियमो से अतिक्रान्त हैं। आत्मा

की पूर्णता और अविनश्वरता का कुछ आभास सृजन की सांस्कृतिक परम्परा मे ही मिलता है। सृजन का आत्म दान आत्मलाभ भी है। उसकी अनेकता मे चेतना के समभाव के द्वारा एक निराली एकता भी बनी रहती है, जिसे वेदान्त की भाषा मे 'अद्वैत' कहना अधिक उचित है। सम्पूर्ण दान के बाद भी वह अपने मे पूर्ण रहती है। उपनिषदो के 'पूर्णमिद पूर्णमद' का यही तात्पर्य है। वस्तुत सृजनात्मक दान से आत्मा की समृद्धि होती है। पूर्ण की समृद्धि की कल्पना असगत होने के कारण इसे समृद्धि न कहकर आत्मा के पूर्णस्वरूप का प्रकाश ही कहा जाता है। किन्तु यह दार्शनिक तर्क की स्थिति है। लौकिक व्यवहार मे इसका अनुभव चेतना की समृद्धि के रूप मे ही होता है। जीवन और सस्कृति मे सृजन के सभी रूप इसके प्रमाण हैं। सन्तान के जन्म से लेकर गृह निर्माण तथा कला और काव्य की रचनाओ तक सृजन के सभी रूपो मे यह समृद्धि कृतार्थ होती है। प्राकृतिक सृजन की अपेक्षा मानवीय जीवन की रचनाओ में अधिक स्वतन्त्रता है। यही स्वतन्त्रता समानता और सम्मान बनकर शिव के त्रिकोण का निर्माण करती है। इसी पारदर्शी त्रिकोण से तिर्यंचित होकर जीवन का आलोक सास्कृतिक रूपो के सतरगी इन्द्रधनुष का निर्माण करता है। इसी निर्माण मे जीवन और सस्कृति का रस और सौन्दर्य स्फुटित होता है। रस चेतना के समात्मभाव का आनन्द है। सुन्दरम् का स्वरूप अभिव्यक्ति और रूप का सामजस्य है। वस्तुत जिस प्रकार सृजन जीवन का मूल सत्य है, उसी प्रकार रस जीवन का शिव और सामजस्य सुन्दरम् का मौलिक रूप है। प्रकृति की सत्ता का सत्य सृजन की समृद्धि मे चरितार्थ होता है, किन्तु प्रकृति की सृष्टि मे रस ही उसका मगलमय जीवन स्रोत है। इस मौलिक रस के प्रवाह से ही वृक्षो का जीवन है। पुष्पो, पल्लवो और फलो मे इसी रस की स्फूर्ति सौन्दर्य मे साकार होती है। वस्तुत. सौन्दर्य इस रस की अभिव्यक्ति का ही रूप है। सामजस्य उस सौन्दर्य का आकार है। वृक्ष और पुष्प इस सामजस्य की सजीव मूर्ति हैं। 'सामजस्य' अगो के सन्तुलन की एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें रूपो का अनुपात और उनकी स्थिति एक समग्रता का निर्माण करते हैं।

इस रस और सामजस्य के अनुरूप ही प्रकृति की मगलमयी व्यवस्था का निरन्तर विकास होता रहता है। प्रकृति मे जीवो के जन्म और विकास के इसी क्रम के अनुसार उनके स्वस्थ और सुन्दर देहो का निर्माण होता है। रस के प्रवाह मे विक्षेप होने पर जीवन दोषपूर्ण और सकटापन्न हो जाता है। विकास की व्यवस्था

मे सामजस्य भग होने पर वृक्षो और जीवो के देह मे अर्बुद का निर्माण होता है, जो कुरूपता का कारण होने के साथ-साथ घातक भी है। पशुओ और मनुष्यो मे यह रस रक्त बन गया है। रक्त वर्ण जीवनी शक्ति का प्रतीक है। रक्त लाल सूर्य की सबसे अधिक ओजस्विनी किरणो का रूप है। वनस्पति जगत मे पल्लवो और पुष्पो मे विकीर्ण होने वाली शक्ति और लालिमा मानो पशुओ और मनुष्यों के रक्त मे समाहित हो गई है। इस रक्त की रसमयता और उसका प्रवाह ही जीवन है। रस के एक कण का भी जड होना प्राणघातक है। रस के प्रवाह का विक्षेप मृत्यु है। इस रस की सजीवता और सरसता से देह और इन्द्रियो को सुख की सवेदना और क्षमता प्राप्त होती है। देह की स्थिति और सवेदना मन, बुद्धि और आत्मा के आनन्द का आधार है। मन, बुद्धि और आत्मा के लोक मे चेतना के रस का प्रवाह है, और जीवन के रूपो मे उसकी अभिव्यक्ति सामजस्य के अनुरूप होती है, तभी उसमे सौन्दर्य का उदय होता है। यह रस ही जीवन की सत्ता और उसके मगल का स्वरूप है। इसीलिए विश्व मगल के प्रतीक शिव के शीष से गगा की धारा का प्रवाह होता है। योगियो के ब्रह्माण्ड मे आत्मानुभूति के रस के अजस्र स्रोत उमडते हैं। सामाजिक व्यवस्थाओ और सास्कृतिक रचनाओ मे आत्मदान और अभिव्यक्ति के माध्यम से रस का प्रवाह और सामजस्य का निर्वाह ही जीवन मे शिव की साधना और सुन्दरम् की अर्चना है।

प्रकृति का वसन्त और जीवन का यौवन सृजन के सत्य के पीठ पर इसी शिवम् और सुन्दरम् का उत्सव तथा पर्व है। वसन्त प्रकृति का यौवन है और यौवन जीवन का वसन्त है। दोनो मे जीवन का रस और सामजस्य मागलिक धर्मो तथा सुन्दर रूपो मे सजीव और साकार हो उठता है। दोनो मे सृजन की समृद्धि मे सत्ता का सत्य कृतार्थ होता है। प्रकृति का वसन्त भौतिक दृष्टि से रस का पर्व है। नवीन पल्लवो, पुष्पो और फलो मे जीवन का यह रस मूर्त होता है। पुष्पो के सन्तुलित विन्यास और फलो की सन्तुलित व्यवस्था मे प्रकृति का सौन्दर्य साकार होता है। प्रकृति जीवन की भूमिका है। वह मनुष्य-जीवन की जननी है, अत प्रकृति से मनुष्य का आत्मीय सम्बन्ध है। भारतीय सस्कृति मे जीवन का रस-पर्व प्राचीनकाल से ही वसन्तोत्सव के रूप मे मनाया जाता है। यह प्रकृति के साथ जीवन के सामजस्य का ही एक प्रमाण है। प्रकृति की वासन्ती भूमिका मे मनाया जाने वाला जीवन का रस-पर्व प्रकृति और जीवन दोनो के यौवन का उत्सव है।

यह भी एक प्राकृतिक संयोग की बात है कि इस समय सरिताओं के रस-स्रोत भी नवीन उद्रेक से उल्लसित होने लगते हैं। सरिताओं और वनस्पतियों के रस के साथ चेतना के रस का उल्लास सत्ता के त्रिलोकों में वर्तमान सामंजस्य को सूचित करता है।

इस रसपर्व का लोकोत्सव शिव और सुन्दरम् का सजीव आधार है। चेतनाओं के समात्मभाव में आत्मदान के द्वारा चेतना की अनन्त समृद्धि का आत्मलाभ इसमें प्राप्त होता है। रस की पिचकारियाँ हृदयों से उमड़ते हुए अनुराग के उत्स हैं। उस रस में सराबोर होकर देह धन्य और चेतना आनन्द में विभोर हो जाती है। नृत्य और गीतों में मानों उसी रस की प्रवाहिनी तरंगित और मुखरित हो उठती है। **लोकोत्सव का यही पूर्ण और समृद्ध रूप संस्कृति और कला की परिणति है।** अभिव्यक्ति की एकात्मता और समृद्धि में शिव को आकार मिलता है। इसी अभिव्यक्ति के सामंजस्य में सुन्दरम् साकार होता है। नृत्य और गीत में गीत एवं स्वरों का सामंजस्य सौन्दर्य का एक सजीव रूप है। इस रस की मन्दाकिनी के प्रवाह से मन और जीवन के कण पवित्र होते हैं। इस रस की सात्विकता में जीवन का राग अनुराग बन जाता है और तमस् आलोकित हो उठता है। एकात्मता की इस समृद्धि और सामंजस्य में कृतार्थ होकर सृजन का सत्य नवीन 'शिवतर' और 'सुन्दरतर' निर्माणों की भूमिका बनता है। भारतीय वर्ष के अन्त और नवीन वर्ष के आरम्भ की सन्धि की रागमयी सन्ध्या में रस और राग के वासन्ती पर्व की प्रथा जीवन और संस्कृति के अन्तर्तम सत्य की शिव और सुन्दर परम्परा है। इस पर्व का प्रतिष्ठान भारतीय सांस्कृतिक प्रतिभा के तत्वदर्शन का सूर्य है। इस सांस्कृतिक महोत्सव में प्रकृति और जीवन के यौवन की सन्धि का सौन्दर्य एक मांगलिक आचार बन जाता है। प्रकृति और जीवन, व्यतीत और नवीन वर्ष की सन्धि के समान रस से आप्लावित और सामंजस्य से पुष्ट यौवन का स्वास्थ्य और सौन्दर्य इस पर्व की प्रवाहिनी में अवगाहन कर कृतार्थ होता है। प्रकृति और जीवन के इस महान पर्व के अनुरूप रस, उत्कर्ष, ओज, अनुराग, स्वास्थ्य, सौष्ठव, सामंजस्य और समात्मता से समन्वित होने पर ही कला और काव्य शिवं और सुन्दरम् की विभूति से समृद्ध हो सकते हैं। इसी समृद्धि में चेतना की अवगति का सत्य सृजन के सत्य से एक होकर तादात्म्य और सृजन के शिव की साधना तथा अभिव्यक्ति और सामंजस्य के सुन्दरम् की अर्चना का दिव्य दीप बन सकता है।

सत्य का यह समग्र और परिपूर्ण रूप अन्ततः एक है और निरपेक्ष है। अपरिच्छिन्न होने के कारण यह ब्रह्म के समान अनन्त है। इसमे भेद और अनेकता के लिए स्थान नही है। यह सत्य किसी भी भेदमूलक व्यापार का विषय नही हो सकता। कला और काव्य से उसका कोई सबन्ध नही है, यह तो नही कहा जा सकता। उसमे सुन्दरम् का भी समाहार है। किन्तु कला और काव्य की बाह्य अभिव्यक्ति इस अनन्त सत्य के साथ अधिक सगत नहीं है। वह भेदमूलक व्यापार है। क्रोचे की अनुभूति के समान कला का पूर्ण निरपेक्ष और आन्तरिक रूप ही सत्य की इस कल्पना के साथ सगत हो सकता है। फिर भी कला और काव्य मे कुछ प्रतीको के द्वारा इस सत्य के निकट पहुँचने वाली कल्पनाये प्रस्तुत की गई हैं। इन कल्पनाओ मे रहस्यवाद सबसे प्रमुख है। कबीर के समय से रहस्यवाद काव्य मे इस पूर्ण सत्य को साधना का सूत्र बना रहा है। एक, अनन्त और पूर्ण सत्य से एक हो जाने की साधना रहस्यवाद की मूल प्रेरणा है। साधना की स्थिति मे भेद रहने के कारण रहस्यवाद मे प्रेम के लिए अवकाश है। किन्तु यह भेद पूर्ण पृथकत्व नही है। इसी भेदाभेद के भाव पर रहस्यवाद की अनेक सुन्दर कल्पनाये आश्रित हैं। इनमे भी अभेद मुख्य है, भेद गौण है। कबीर के 'तेरा साईं तुज्झ मे ज्यो पुहुपन मे बास' तथा 'जल मे कुम्भ, कुम्भ मे घट है, बाहर भीतर पानी' से लेकर निराला के 'तुम तु ग हिमालयशृंग और मैं चचल जल कल सरिता' तथा महादेवी वर्मा के 'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ' तक यही भावना काव्य मे साकार हुई है। उर्दू कवियो के 'इन्तजार' की भाँति इन कवियो मे महादेवी वर्मा ने भेद और विरह मे अपने अस्तित्व की साधना अमर बनाने के लिए विरह के ही अमरत्व की कामना की है—'मिलन का मत नाम लो मैं विरह मे चिर हूँ।' कवियो की अभेद-मूलक कल्पनाये परम्परागत वेदान्त के 'समुद्रतरग' के रूपक का स्मरण दिलाती हैं। रवीन्द्रनाथ के काव्य मे वेदान्त की अद्वैत भावना की प्रकृष्ट प्रेरणा है। संस्कृत काव्य रहस्यवाद को इस भावना से सामान्यत मुक्त है। कुछ मुक्तक रचनाओ, विशेषत स्तोत्रो, को छोडकर मुख्य काव्यो मे यह दुर्लभ है। सस्कृत काव्य की दृष्टि इतनी अन्तर्मुखी नहीं है, जितनी रहस्यवाद के लिये अपेक्षित है। पराधीनता के युग मे जिस प्रकार मध्यकाल मे भारतीय चेतना भक्ति की ओर अभिमुख हुई, उस प्रकार आधुनिक काल मे रहस्यवाद की ओर प्रवृत्त हुई। स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी काव्य लौकिक जीवन को सास्कृतिक आकाक्षाओ के प्रति अधिक सजग हुआ है।

प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त भी सामान्यत नवीनतम हिन्दी काव्य म अनेक धरातलो पर रहस्यवाद की अलौकिक और दिव्य भावना के विपरीत लौकिक और मानवीय भावनाओ की ही अभिव्यक्ति अधिक हो रही है। किन्तु सत्य के जिस समग्र और सजीव रूप मे समात्मभाव की भूमिका मे सत्य, शिव और सुन्दरम् का समन्वय है वह किसी प्रतिभा की कलाकृति की अपेक्षा भारतीय लोक सस्कृति की परम्परा मे अधिक सजीव और समृद्ध रूप मे साकार हुआ है।

प्रेरणा और आधार के रूप में अध्यात्म की भाँति सस्कृति से भी कला और काव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। समात्मभाव के रूप में 'अध्यात्म' सस्कृति, कला और काव्य का मौलिक आधार और इनकी निगूढतम प्रेरणा है। सस्कृति, कला और काव्य की साधना न प्राकृतिक व्यक्तित्व की इकाई में सभव है और न दार्शनिक अध्यात्म की निरपेक्ष निर्वैयक्तिकता में कल्पनीय है। इन दोनो की सीमाओ के सामजस्य की स्थिति मे समात्मभाव की भूमिका मे ही सस्कृति, कला और काव्य की साधना चरितार्थ होती है। समात्मभाव की स्थिति मे अध्यात्म का आत्मिक और आन्तरिक सत्य प्रकृति के अनुबन्धो और उपकरणो को अपने उदार और सरस भाव से अभिसिचित कर उनका सस्कार एव उन्नयन करता है। इस सस्कार और उन्नयन के द्वारा प्रकृति के सघर्ष-बीज सस्कृति के साम्य एव सौन्दर्य मे फलित होते हैं। इसके साथ साथ अध्यात्म का निरपेक्ष सत्य सस्कृति के सुन्दर रूपो म साकार होता है। प्रकृति और अध्यात्म के सामजस्य से पूर्ण सस्कृति का क्षेत्र ही जीवन के सौन्दर्य और आनन्द के स्वर्ग का कल्प-कानन है। मानवीय साधना के इसी कल्प कानन में कला की कल्पलतायें और काव्य के कल्पवृक्ष फलते हैं। सस्कृति की सृजनात्मक परम्परा मे अध्यात्म का निरपेक्ष सत्य साकार और सजीव होकर मानवीय जीवन की अमृत विभूति बनता है। सस्कृति का यह अमृतत्व निरपेक्ष सत्ता का कालातीत शाश्वत भाव नही है वह काल के सजीव क्रम की अनन्त परम्परा मे समाहित सृजनात्मक परम्परा की उत्तरोत्तर गति है। सस्कृति का यह गतिशील अमृतत्व अध्यात्म के जड प्रतीत होने वाले अमृतत्व से भिन्न है। विचार और अनुभव की एकागी दृष्टि से प्राय आध्यात्मिक सत्य को जीवन का परम सत्य माना जाता है। किन्तु जीवन की सर्वांग और सजीव दृष्टि से सस्कृति ही जीवन का परम एव जीवन्त सत्य है। एकागी अध्यात्म में साक्षात् जीवन के अनिवार्य प्राकृतिक सत्य का समाधान नहीं होता। मायावाद आदि के सिद्धान्त जगत की सत्ता की

समुचित और सन्तोषजनक व्याख्यायें नहीं है। दूसरी ओर एकागी प्रकृतिवाद भी स्वार्थ, अहकार, सघर्ष आदि की अवाछनीय विषमताओं के कारण अपनी सीमा मे ही जीवन का सन्तोषजनक रूप प्रस्तुत नही कर सकता। सस्कृति के साम्य मे अध्यात्म और प्रकृति दोनो का ऐसा सामजस्य होता है कि उसमे दोनो ही कृतार्थ हो जाते हैं। प्रकृति के उपकरणो मे साकार होकर सस्कृति अध्यात्म की विभूति को सजीव और सफल बनाती है। **अत प्रकृति और अध्यात्म के एकागी सत्यो की तुलना में सस्कृति जीवन का पूर्णतर सत्य है। कला और काव्य सस्कृति के इसी कल्पवृक्ष की शाखायें हैं।**

सस्कृति के इस परम और पूर्णतर सत्य मे अध्यात्म और प्रकृति का सामजस्य एक सृजनात्मक परम्परा में साकार होता है। एक प्रकार से प्रकृति भी सृजनात्मक है। वनस्पति-जगत और जीव जगत् मे वह नवीन रूपो का प्रसव करती है। किन्तु यह सृजन प्रकृति का एक सहज और अचेतन धर्म है। इसमे प्रकृति के स्वतन्त्र कर्तृत्व की प्रेरणा का सूत्र नही मिलता। सचेतन होने के साथ-साथ कर्तृत्व मे स्वतन्त्रता का भी भाव रहता है। शक्ति और क्रिया की स्वच्छन्दता म ही स्वतन्त्रता का अनुभव होता है। निषेधात्मक रूप म अनिवार्यता और विवशता का अभाव स्वतन्त्रता को प्रमाणित करता है। स्वतन्त्रता का यह प्रमाण सृजन के रूपो का विकल्प और उनकी विविधता मे साकार होता है। प्रकृति के सृजन मे विविध-रूपता तो दिखाई देती है किन्तु विकल्प की सभावना उसमे नही है। विकल्प चेतना का धर्म है। प्रकृति को सचेतन न मानने के कारण उसम कर्तृत्व और विकल्प की स्वतन्त्रता का अनुभव मान्य नहीं है। दूसरी ओर अध्यात्म का सत्य सचेतन होता है। किन्तु दार्शनिक अध्यात्म का निरपेक्ष सत्य सृजनात्मक नही होता। **अध्यात्म और प्रकृति का सामजस्य होते हुए भी सस्कृति सृजनात्मक है और इस दृष्टि से इन दोनो से विलक्षण है। इस रूप में अध्यात्म और प्रकृति के समवाय से सम्भूत होने पर भी सस्कृति एक मौलिक सत्य के रूप में प्रकट होती है। सृजनात्मकता इस सत्य का निगूढतमरहस्य है।** सस्कृति के इस सृजन के उपकरण और सम्भवत इस सृजन की नियात्मक गति प्रकृति से प्राप्त होती है। किन्तु रूप विधान के विकल्प और स्वातन्त्र्य का स्रोत कदाचित् आध्यात्मिक चेतना मे है। सस्कृति के इस सृजन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। प्राकृतिक सत्ता और प्रसव के सभी रूप इस सृजन के उपकरण बनकर जीवन एव सस्कृति के अलकार बनते हैं। मुख्यत यह सृजन 'रूप' का ही सृजन है। भौतिक तत्व' का

सृजन तो मनुष्य का अधिकार नहीं है किन्तु विविध भौतिक तत्त्वों के उपयोग और उनकी व्यवस्था में मनुष्य की स्वतन्त्रता कुछ नवीन तत्त्व-योगों का निर्माण करती है। यह निर्माण नवीन रूपों की अभिव्यक्ति का निमित्त भी बन जाता है। जीवन के सचेतन क्षेत्र में मनुष्य के सृजन का अधिकार अधिक है। उसमें वह 'भाव' की भी सृष्टि कर सकता है। जीवन के प्राकृतिक उपकरणों में भी ये भाव मूर्त होते हैं। इस प्रकार भाव और रूप के सृजन में संस्कृति साकार होती है।

प्रकृति से संस्कृति का स्पष्ट विवेक न करने के कारण पश्चिमी विचारधारा में जीवन की समस्त गतिविधियों को संस्कृति के अन्तर्गत माना गया है। मनुष्य के कर्तृत्व के अतिरिक्त इन सब में अन्य कोई सामान्य लक्षण मिलना कठिन है। इस कर्तृत्व में भी विकल्प और स्वातन्त्र्य के भावों के आधार पर सूक्ष्म विवेक नहीं किया गया है। ऐसा विवेक करने पर मनुष्य की समस्त गतिविधियों का श्रेय समान रूप से मनुष्य को नहीं मिल सकता। मनुष्य की गतिविधियों के समस्त रूपों में कोई समानता न होने के कारण उन्हें पृथक-पृथक रूप में सांस्कृतिक माना जाता है। संस्कृति की यह कल्पना एक प्रकार से संकलनात्मक है। कला, दर्शन, धर्म, व्यवसाय, शासन जैसे परस्पर विषम व्यापार समान रूप से संस्कृति में सम्मिलित किये जाते हैं। इस धारणा के अनुसार धर्म, कला आदि सभी संस्कृति के अंग हैं। संस्कृति इन सबका संयोग अथवा संकलन है। इनका सम्बन्ध मनुष्य के जीवन के अलग-अलग पक्षों से है। इनमें कोई भी अंग सम्पूर्ण जीवन का रूप नहीं है। किन्तु हमारे मत में न मनुष्य के जीवन की समस्त गतिविधियाँ समान रूप से सांस्कृतिक कहलाने की अधिकारी हैं और न संस्कृति के रूप उसके अङ्ग मात्र हैं। मनुष्य की जिन गतिविधियों में विकल्प और स्वातन्त्र्य का कर्तृत्व अधिक होता है उन्हें अधिक सांस्कृतिक मानना होगा। कर्तृत्व के अतिरिक्त कृतियों के रूपों में साम्य भी हमारे अनुसार संस्कृति का महत्वपूर्ण लक्षण है। संस्कृति में यह साम्य अनेक रूपों में प्रकट होता है। व्यक्तियों के सम्बन्धों एवं हितों का साम्य इसका प्रमुख रूप है। जीवन के विविध प्राकृतिक उपकरणों और जीवन की प्रवृत्तियों आदि के साथ भाव एवं रूप का साम्य इसका दूसरा महत्वपूर्ण उदाहरण है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत तथा भारतीय विद्वानों द्वारा स्वीकृत संस्कृति की व्यापक एवं वैज्ञानिक परिभाषा में इस साम्य का कोई स्थान नहीं है। मनुष्य के कर्तृत्व के सम्बन्ध में भी उसमें सूक्ष्म विचार नहीं किया गया है। हमारे मत में सांस्कृतिक गतिविधियाँ जीवन के अलग-अलग रूपों में चरितार्थ नहीं होतीं।

हमारे मत में सस्कृति का सर्वोत्तम और सम्पन्न रूप सम्पूर्ण जीवन के साथ काव्य और कर्तृत्व से पूर्ण सस्कृति के सौन्दर्य का समवाय है। इस मत के अनुसार सस्कृति सम्पूर्ण जीवन का साक्षात् और सुन्दर रूप बन जाती है। सस्कृति का यह रुप कला, धर्म, दर्शन आदि की एकागी साधना से अधिक उत्तम है। सस्कृति का यह रूप समग्र और साक्षात् जीवन की जीवन्त एव सृजनात्मक परम्परा मे साकार होता है। कला, धर्म, दर्शन आदि भी इसमे अपना योग दे सकते हैं। किन्तु सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे इनका यह योग इनकी स्वतन्त्र साधना से भिन्न है। इनकी स्वतन्त्र साधना म ये जीवन के अग रहते हैं तथा जीवन इनका विषय बन सकता है। सस्कृति की जीवन्त परम्परा मे जीवन इन साधनाओ का विषय नही बनता वरन् वह अपने स्वरूप की स्वतन्त्र महिमा मे प्रतिष्ठित रहता है। साधना के ये विभिन्न रूप समवेत-रूप मे योग देकर इस जीवन को वैभव-पूर्ण बनाते हैं। **सस्कृति की पश्चिमी धारणा जीवन को खण्डित और गौण बनाकर साधना के एकागी रूपो को प्रधान बना देती है। इसके विपरीत हमारी परिभाषा जीवन के स्वरूप और उसकी महिमा को अखण्डित रखती है तथा साथ ही जीवन को अधिक वैभवपूर्ण बनाती है।** जीवन को गौण बनाकर साधना के विभिन्न रूप सस्कृति के अभीष्ट साम्य को भी भग करते हैं। कृतित्व का कुछ लक्षण होने के कारण साधना के इन रूपो को सास्कृतिक अवश्य कहा जा सकता है किन्तु साम्य के सम्पन्न रूपो की दृष्टि से वे सस्कृति की जीवन्त परम्परा से अवर ही ठहरते हैं। **भारतीय सामाजिक जीवन की परम्परा में सस्कृति का यह सम्पूर्ण सत्य अत्यन्त सुन्दर रूप में साकार हुआ है।** समात्मभाव का उदार, गम्भीर और सम्पन्न साम्य जीवन्त भारतीय सस्कृति के इस दिव्य वैभव का स्रोत है। अन्य देशों और समाजो की परम्पराओ मे नेतृत्व और व्यक्ति-पूजा की विषमता के कारण समात्मभाव का यह साम्य इतने सुन्दर और सम्पन्न रूपो म साकार न हो सका। अपने देश की परम्परा मे प्राप्त न होने के कारण विदेशी विद्वान सस्कृति के इस जीवन्त और उत्तम रूप का आदर नही कर सके। मानसिक दासता के कारण भारतीय विद्वान और विचारक अपनी इस वैभव पूर्ण और अद्भुत सास्कृतिक परम्परा की महिमा को न पहचान सके। **इन प्रमादो के रहते हुए भी यह सत्य असन्दिग्ध है कि सस्कृति की सम्पन्न समृद्ध एव जीवन्त परम्परा ही सस्कृति का सर्वोत्तम रूप है।** सस्कृति की इस परम्परा मे ही सृजन का धर्म एक मानवीय और समाजिक परम्परा मे साकार होता है। कला, साहित्य, धर्म आदि की साधना

में सृजन की यह परम्परा मानवीय और सामाजिक नहीं बन पाती। कला, धर्म, दर्शन आदि में वह व्यक्तिगत साधना, विचार आदि के एकांगी रूपों में ही सीमित रह जाती है। सस्कृति की जीवन्त परम्परा और साधना के इन रूपों का साम्य सस्कृति का एक दूसरा रूप है जिसमें सस्कृति की सजीवता और सम्पन्नता अक्षुण्ण बनी रहती है।

सांस्कृतिक सत्य के साथ काव्य के सबन्ध का विवेचन सस्कृति के इन तीनों रूपों के प्रकाश में करना उचित है। भारतीय सस्कृति की जीवन्त परम्परा में कला का रूप सौन्दर्य, धर्म की पवित्रता और दर्शन की सार्थकता इस जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा के विचित्र और अर्थहीन प्रतीत होने वाले रूपों में विपुलता से समाहित हैं। रूप के अतिशय का सौन्दर्य तो इस परम्परा में आलेखनों, गीतों आदि तक में छलकता है। धर्म की पवित्र शान्ति इसकी समस्त विधियों में व्याप्त है। जीवन के सार्थक मूल्य भी इनमें स्पष्ट नहीं किन्तु निश्चित रूप से अन्तर्निहित हैं। काव्य का भी इस परम्परा में बहुत योग है। विवाह आदि सस्कारों के अवसर पर वेद मन्त्रों का पाठ होता है तथा लौकिक छन्द भी कहे जाते हैं। रामायण, भागवत आदि काव्यों का पाठ भी इस परम्परा में प्रचलित है। इस प्रकार कला, काव्य, धर्म, दर्शन आदि का योग भारतीय सस्कृति की इस जीवन्त परम्परा को वैभवपूर्ण बनाता है। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह इनके सामान्य रूपों का ही योग है। इनके विशेष और ऐतिहासिक रूप इतनी उदारता के साथ इस सांस्कृतिक परम्परा में समवेत नहीं है। इनके विशेष और ऐतिहासिक रूप सस्कृति की उसी एकांगी और अभिजात साधना के अन्तर्गत हैं, जिसे पश्चिमी मत में 'सस्कृति' का समानार्थक माना जाता है। जीवन के अंगों के रूपों में इन साधनाओं की सांस्कृतिकता का विवेचन एक पृथक प्रसग है। जीवन तथा जीवन्त सस्कृति की परम्परा के साथ स्वतन्त्र साधना के रूपों के साम्य का विवेचन एक दूसरा प्रसग है। कला और काव्य के स्वरूप में कृतित्व और साम्य दोनों ही बहुत कुछ सीमा तक चरितार्थ होते हैं। भाव और रूप का साम्य कला का आदर्श है। भाव और रूप की रचना में कृतित्व भी कला में साकार होता है। कला में गृहीत भाव जीवन से ही प्रेरित होते हैं। इस प्रकार कुछ अंश में जीवन के साथ साम्य भी कला का साध्य बन जाता है। जिस व्यापकता और गभीरता के साथ जीवन को कला अथवा काव्य में समाहित किया जाता है, उसी के अनुरूप इस साम्य की

सम्पन्नता उसको प्राप्त होती है। किन्तु अपने स्वरूप में रचनात्मक होने के नाते कला और काव्य निःसन्देह सांस्कृतिक हैं। स्वतन्त्र साधना के रूप में वे जीवन के 'अंग' भले ही हों किन्तु रचनात्मक होने के अर्थ में इनका सांस्कृतिक स्वरूप असंदिग्ध है। कुछ कलाओं में रूप की प्रधानता होती है। काव्य प्रायः भाव-प्रधान बन जाता है। किन्तु भाव और रूप दोनों का सम्पन्न साम्य काव्य को उत्तम बनाता है। भारतीय काव्य में वाल्मीकि, कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, रवीन्द्रनाथ आदि प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में यह साम्य सफल हुआ है। जीवन और संस्कृति की जीवन्त परम्परा के साथ भी इन कवियों की रचनाओं का अधिक साम्य है। इसी कारण ये कवि साहित्य के इतिहास में कीर्ति और अमरता के भागी हुए। इतना अवश्य है कि इन कवियों की रचनाओं में भी जीवन के अनेक अंग उपेक्षित तथा अछूते रह गये हैं। भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्पराओं का भी अधिक उपादान इन कवियों की रचनाओं में नहीं हुआ है। कालिदास के विवाह वर्णनों के अतिरिक्त काव्य में इस परम्परा के जीवन्त सत्य की झलक मिलनी कठिन है। एक सम्पन्न सांस्कृतिक परम्परा में पोषित कवियों का यह प्रमाद अक्षम्य नहीं तो आश्चर्यजनक अवश्य है। जीवन के उपादानों में भाई-बहिन का सम्बन्ध, आदर्श पति, आदर्श पिता, आदर्श गुरु, संतति का निर्माण आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिनका प्रसंग काव्य में अपवाद के रूप में भी मिलना कठिन है। सांस्कृतिक पर्वों, उत्सवों आदि के साथ साथ इनकी उपेक्षा भी काव्य का एक शोचनीय अभाव है। भारतीय काव्यों में और संभवतः विश्व के काव्यों में 'रामचरितमानस' इस दृष्टि से एक अद्भुत अपवाद है कि तीनों ही प्रसंगों में वह सबसे अधिक सांस्कृतिक है। जीवन के भाव और कला के रूप का साम्य उसमें विपुल है। जीवन्त संस्कृति की परम्पराओं का तो नहीं किन्तु भारतीय संस्कृति की धार्मिक, नैतिक और सामाजिक परम्पराओं का ग्रहण उसमें पर्याप्त रूप में किया गया है। इसके साथ साथ वह स्वयं भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा का एक अभिन्न अंग बन गया है। संस्कृति की जीवन्त परम्परा के साथ यह समवाय स्वतंत्र रूप में कदाचित् ही किसी काव्य को प्राप्त हुआ हो। संस्कृति के साथ काव्य के सम्बन्ध की दृष्टि से 'रामचरितमानस' संभवतः संसार का सबसे अधिक सांस्कृतिक काव्य है।

संस्कृति के साथ काव्य के संबन्ध के प्रसंग में जीवन के प्राकृतिक और आध्यात्मिक पक्षों का काव्य में स्थान भी विचारणीय है। प्रकृति' जीवन का

अनिवार्य उपकरण है। अध्यात्म मनुष्य के स्वतंत्र अध्यवसाय का सर्वोच्च रूप है। संस्कृति में जीवन की इन धाराओं का संगम होता है। प्रकृति की धरती और अध्यात्म के आकाश के उदार क्षितिज पर ही संस्कृति के इन्द्रधनुष जीवन के स्वर्ग की वन्दनवार रचते हैं तथा संस्कृति की सरस रंजित मेघमालायें जीवन की अर्चना करती हैं। अध्यात्म की प्रेरणा से स्वार्थ और संघर्षमयी प्रकृति उदार बनती है तथा जीवन के अभिशाप को वरदान बनाती है। उदार और संस्कृत प्रकृति में साकार होकर जीवन का निरपेक्ष अध्यात्म भी सफल होता है। प्रकृति और अध्यात्म के इस संगम को कला का रचनात्मक सौन्दर्य अलंकृत करता है। कला का यह सौन्दर्य संस्कृति की अनमोल विभूति है। अध्यात्म की सरस्वती तो संस्कृति की इस त्रिवेणी के संगम में अलक्षित ही रहती है, यद्यपि अलक्षित रहते हुए भी वह अपने अनहदनाद से संस्कृति की रागिनी के स्वर को अनुप्राणित करती है। प्रकृति के उपादान और कला का रूप-सौन्दर्य संस्कृति की त्रिपुटी में अधिक प्रकट रहते हैं। कला और काव्य में प्रकृति और अध्यात्म दोनों का ही ग्रहण हुआ है। भारतीय कलाओं में एक ओर खजुराहो आदि की मूर्तियों में प्रकृति का शृंगार अपने उन्मद यौवन में साकार हुआ है। दूसरी ओर अनेक मूर्तियों और चित्रों में अध्यात्म के सूक्ष्म तत्वों की विवृति हुई है। भारतीय काव्य में आध्यात्मिक कृतियाँ भी अन्य देशों के काव्य की अपेक्षा अधिक परिमाण में मिलती हैं। धार्मिक और आध्यात्मिक काव्य भारतीय साहित्य की एक अतुलनीय विशेषता है। जीवन, कला और काव्य में प्रकृति के उपादान सभी देशों में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। प्रकृति का यह ग्रहण कला और काव्य को यथार्थता का बल अवश्य देता है किन्तु इसका ग्रहण अपने आप में कोई गौरव की बात नहीं। कलाकार और कवि मनुष्य होते हैं। प्रकृति का आकर्षण मनुष्य की सहज प्रवृत्ति का परिणाम है। प्राकृतिक सत्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति को कवि अथवा कलाकार का कौशल मानना अवश्य उचित है। कला की दृष्टि से रचनात्मक होने के कारण ऐसी कृतियों को सांस्कृतिक भी मानना होगा। किन्तु उपादान की दृष्टि से वे सांस्कृतिक की अपेक्षा प्राकृतिक ही अधिक हैं। यूरोपीय काव्य में प्रकृति के ये उपादान अत्यन्त प्रबल और उग्र रूप में मिलते हैं। ग्रीक भाषा और शेक्सपीयर के दुःखान्त नाटकों में गृहीत प्रकृति का यह रूप मानव-मन को विकम्पित कर देता है। भारतीय साहित्यकारों की रुचि प्रकृति के इन उग्र और भीषण रूपों की ओर नहीं रही। भारतीय कवियों की रुचि

का निर्माण अध्यात्म, धर्म और सस्कृति के उदार सस्कारो से हुआ है। कला और काव्य मे प्रकृति का प्रभाव शृगार के रूप मे ही अधिक मिलता है। कालिदास, तुलसीदास, प्रसाद, रवीन्द्रनाथ आदि कवियो मे इस शृगार को भी अध्यात्म की पवित्रता और धर्म का शील प्राप्त हुआ है। अन्य अनेक कवियो के शृगार मे प्राकृतिक भाव की प्रबलता भी है। शृ गार प्रकृति का सौम्य और मधुर रूप है। अत अध्यात्म से सस्कृत भारतीय कवियो की रुचि इस ओर अधिक रही है। सामान्य रूप से जहा योरोपीय काव्य मे प्रकृति की प्रधानता है तथा अध्यात्म और सस्कृति प्राय उपेक्षित रहे हैं, वहा भारतीय काव्य मे अध्यात्म को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान मिला है तथा जीवन के प्राकृतिक उपादानो से निर्मित काव्य मे भी आध्यात्मिक शील और सास्कृतिक सौन्दर्य का व्यापक प्रभाव है।

आमन्त्रण

'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का अवलोकन करने वाले साहित्य के विद्यार्थियों, अनुरागियो और आलोचकों तथा साहित्यकारों को मैं अत्यन्त विनम्र एवं सद्भावपूर्वक संस्कृति, कला, साहित्य, काव्य आदि के सम्बन्ध में परस्पर विचार-विमर्श के लिए आमन्त्रित करता हूँ। साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियो का परस्पर समात्मभाव विदेशों के साहित्य की समृद्धि का एक मुख्य कारण है। इस समात्मभाव की मन्दता हिन्दी साहित्य की वर्तमान दीनता का एक प्रमुख हेतु हैं। मैं साहित्य के विद्यार्थियों और अनुरागियो तथा अनुसंधान-कर्त्ताओं के साथ सक्रिय समात्मभाव के आदान-प्रदान द्वारा हिन्दी में गम्भीर साहित्य की अभिवृद्धि के संयुक्त पुण्य का भागी बनकर कृतार्थ होने का अभिलाषी हूँ। साहित्यिक सहयोग के आदान-प्रदान के इच्छुक मुझे अपने सम्पर्क से अनुग्रहीत करें।

पुष्पवाटिका छात्रावास
महारानी श्री जया कॉलिज, भरतपुर
मकर संक्रान्ति सं० २०१६ विक्रमी

विनीत—
रामानन्द तिवारी
'भारतीनन्दन'

परिशिष्ट 'क'

संदर्भ और टिप्पणियाँ

१ Outline of Philosophy of Art P 54
२ पराचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू —कठ उपनिषद
३. Datta—Contemporary Philosophy P 96
४ Loc Cit
५ Outline of Philosophy of Art
६ सौन्दर्य-शास्त्र पृष्ठ २३६
७ Outline of Philosophy of Art P 45
८ Ibid P 14 15
९ Ibid P 45
१०. रघुवंश पृष्ठ १-४६
११ कुमारसम्भव पृष्ठ ७ ११
१२. सरस्वती अप्रैल १६५६
१३ सौन्दर्य शास्त्र पृष्ठ ८६
१४ Thought and Reality P 126
१५ प्रश्न उपनिषद भाष्य
१६ कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछताना।
१७ श्रूयता धर्म सर्वस्व श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्
आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्। —महाभारत
१८ अय तु परमो धर्म यद् योगेन आत्मदर्शनम्। —याज्ञवल्क्य स्मृति
१९ धृति क्षमादमोऽस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्म लक्षणम्। —मनुस्मृति
अहिंसा सत्यमक्रोधो शौचमिन्द्रियनिग्रह
दान दया दमो क्षान्ति सर्वेषा धर्म साधनम्। —याज्ञवल्क्य स्मृति
२० नैषा तर्केण मतिरापनेया। —कठ उपनिषद् १ २-९
ब्रह्मसूत्रभाष्य ४ १ ११-१ २

परिशिष्ट 'ख'

सहायक पुस्तको की सूची

१	बलदेव उपाध्याय	भारतीय साहित्य शास्त्र
२	,, ,,	भारतीय-दर्शन
३.	डॉक्टर नगेन्द्र	काव्य शास्त्र की भूमिका
४	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	कला और संस्कृति
५	डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा	सौन्दर्य शास्त्र
६	डॉ० फतहसिंह	साहित्य और सौन्दर्य
७	डॉ० देवराज	संस्कृति का दार्शनिक विवेचन
८	मम्मट	काव्यप्रकाश
९	विश्वनाथ	साहित्य दर्पण
१०	आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
११	राजशेखर	काव्य मीमांसा
१२	K C Pandey	Indian Aesthetics
१३	,,	Western Aesthetics
१४	Bernard Bosanquet	History of Aesthetics
१५	Lord Listowell	A Critical History of Modern Aesthetics
१६	R G *Collingwood*	*Outline of Philosophy of Art*
१७	Rakesh Gupta	Psychological Studies in Rasa
१८	E F Carritt	Theory of Beauty
१९	,, ,,	Introduction to Aesthetics
२०	S Radhakrishnan	Idealist View of Life
२१	D M Datta	Contemporary Philosophy
२२	F H Bradley	Truth and Reality
२३	P T Raju	Thought and Reality.
